प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय विश्वविद्यालयों की डिग्री कक्षाओं के पाठ्यक्रमानुसार मुद्रा अधिकोषण, विदेशी विनिमय एवं राष्ट्रीय आय के सिद्धान्तों तथा सम्बन्धित भारतीय समस्याओं का सरल भाषा में विशद् विवेचन करते हुए आधुनिक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

आशा है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए लाभदायक सिद्ध होगी। पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के लिए सुझाव आमंत्रित किये जाते हैं।

विशम्भर सहाय
अयोध्या प्रसाद मिश्र

१ जुलाई १९६०

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

प्रथम खंड

मुद्रा
विदेशी विनिमय
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
राष्ट्रीय आय

अध्याय १

मुद्रा का आविष्कार, विकास, परिभाषा एवं कार्य

विनिमय का विकास—विभिन्न देशों के आर्थिक इतिहास से यह प्रकट होता है कि प्रत्येक देश को अपने आर्थिक विकास के प्रारम्भिक युग में ही विनिमय की सुविधा के लिए मुद्रा का सहारा लेना पड़ा। अति प्राचीन काल में जबकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यक वस्तुओं का स्वयं उत्पादन कर लेता था, विनिमय की कोई आवश्यकता नहीं थी। अतः विनिमय के माध्यम का कोई प्रश्न नहीं होता; पर धीरे-धीरे लोगों की आवश्यकतायें बढ़ती गईं; उनकी पूर्ति करना बिना दूसरों की सहायता के असम्भव हो गया। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उत्पादित वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के उपभोग की आवश्यकता होने लगी। अतः विनिमय प्रथा का प्रारम्भ हुआ। पहले वस्तुओं का पारस्परिक आदान-प्रदान हो जाता था। एक व्यक्ति अपनी उत्पादित वस्तुओं से दूसरे की उत्पादित वस्तुओं को बदल लेता था। परन्तु ज्यों-ज्यों सभ्यता के विकास के कारण मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती गईं वस्तुओं के पारस्परिक अदल-बदल में कठिनाइयाँ बढ़ती गईं। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए किसी विनिमय-माध्यम की आवश्यकता हुई। यही विनिमय का माध्यम मुद्रा कहलाता है। इसके प्रचलन से वस्तुओं का पारस्परिक अदल-बदल न होकर मुद्रा के द्वारा अदल-बदल प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार विनिमय दो प्रणालियों के अनुसार हो सकता है।

(१) **प्रत्यक्ष वस्तु विनिमय प्रणाली** (Direct Exchange or Barter)—इसके अनुसार गेहूँ उत्पादन करने वाला व्यक्ति अपने उपभोग से बचे हुए गेहूँ को चना उत्पादन करने वाले व्यक्ति के उपभोग से बचे हुए चने से बदल लेता है।

(२) **अप्रत्यक्ष क्रय-विक्रय प्रणाली** (Indirect Exchange or Purchase and Sale)—इसके अनुसार पहला व्यक्ति अपने अतिरिक्त गेहूँ को बेचकर मुद्रा प्राप्त करता है और उस मुद्रा से चना खरीदता है। इसी प्रकार दूसरा व्यक्ति अपने अतिरिक्त चने को बेचकर मुद्रा प्राप्त करता है और उस मुद्रा से गेहूँ खरीदता है।

अदल-बदल की असुविधाएँ—यहाँ यह जान लेना आवश्यकीय प्रतीत होता है कि व्यक्तियों को प्रत्यक्ष विनिमय में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिनसे बचने के लिए मुद्रा का आविष्कार किया गया। प्रत्यक्ष विनिमय की सबसे

पहली कठिनाई द्विपक्षी आवश्यकताओं की पूर्ति के संयोग के अभाव से उत्पन्न हुई, अर्थात् ऐसा संयोग कठिनता से प्राप्त होने लगा जिसमें गेहूँ देने वाले व्यक्ति को चना देने वाला ऐसा व्यक्ति मिल जाय जिसे गेहूँ की आवश्यकता हो। उपरोक्त दो व्यक्तियों में प्रत्यक्ष वस्तु विनिमय तभी हो सकता जब गेहूँ वाले को चने की आवश्यकता हो तथा चने वाले को गेहूँ की आवश्यकता हो। यदि गेहूँ वाले को चने की आवश्यकता हो तथा चने वाले को चीनी की आवश्यकता हो तो ऐसी अवस्था में प्रत्यक्ष वस्तु विनिमय से काम नहीं चल सकता। मुद्रा के प्रचलन में यह कठिनाई शीघ्र हल हो जाती है। गेहूँ वाला व्यक्ति गेहूँ बेचकर चना खरीद लेगा। चना वाला व्यक्ति चना बेचकर चीनी खरीद लेगा।

मुद्रा के प्रयोग के कारण—सर्वमान्य मूल्य-मापक का अभाव। पहली कठिनाई यदि सामने न भी आवे तो प्रत्यक्ष वस्तु विनिमय करने वालों के सामने एक अन्य कठिनाई आ सकती है कि एक व्यक्ति अपनी वस्तु की कितनी मात्रा दूसरे व्यक्ति की वस्तु की कितनी मात्रा में बदले। जिस व्यक्ति के पास २ मन अतिरिक्त गेहूँ है वह ४ मन चने चाहता है और दूसरा व्यक्ति १ मन गेहूँ चाहता है, यद्यपि उसके पास ६ मन चने हैं। इस अवस्था में क्या २ मन गेहूँ के बदले में ४ मन चने प्राप्त किये जायँ अथवा ६ मन चने के बदले में १ मन गेहूँ प्राप्त किया जाय या दोनों के अदल-बदल में दूसरा कोई अनुपात निर्धारित किया जाय। इस प्रकार विनिमय दर निर्धारित करने की कठिनाई भी प्रत्यक्ष वस्तु विनिमय प्रणाली की एक मुख्य कठिनाई है। यह कठिनाई भी मुद्रा से दूर हो जाती है। मुद्रा के प्रचलन से प्रत्येक वस्तु की कीमत मुद्रा में निर्धारित हो जाती है। गेहूँ १ रुपये में २ सेर मिलता है तथा चना २॥ सेर। स्पष्ट है कि २ सेर गेहूँ का मूल्य २½ सेर चना हो गया। मुद्रा के माध्यम से विनिमय दर निर्धारण सरलता से हो गया।

अविभाजकता—बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनका मूल्य विभाजन करने से कम हो जाता है और कुछ वस्तुओं का तो मूल्य विभाजन से नहीं के बराबर हो जाता है। यदि किसी व्यक्ति के पास इस प्रकार की वस्तु है तो उसे विनिमय में प्रत्यक्ष रूप से कठिनता हो सकती है। एक व्यक्ति के पास घड़ी है और उसके बदले में वह गेहूँ, चना, चीनी तथा चावल चाहता है और यह चारों वस्तुएँ पृथक-पृथक चार मनुष्यों से प्राप्त हो सकती हैं। घड़ी के चार टुकड़े नहीं किये जा सकते क्योंकि ऐसा करने से घड़ी का मूल्य प्रायः नहीं के बराबर हो जायगा और सम्भव है कि वह टुकड़े उन चार व्यक्तियों में से किसी के काम न आवें, अतः वह चारों वस्तुओं को प्राप्त नहीं कर सकता। अधिक से अधिक वह अपनी घड़ी किसी एक व्यक्ति को दे तथा किसी एक ही वस्तु को प्राप्त करे। मुद्रा के प्रचलन से यह कठिनाई भी समाप्त हो जाती है। घड़ी रुपयों में बेची जाती है और इन रुपयों से आवश्यकतानुसार गेहूँ,

चना, चीनी, चावल इत्यादि लिया जा सकता है। इस प्रकार आर्थिक विकास के प्रारम्भिक युग में प्रत्यक्ष विनिमय की उपरोक्त कठिनाइयों को दूर करने के लिए मुद्रा का आविष्कार किया गया।

मुद्रा का प्रयोग—बहुत दिन तक मुद्रा केवल विनिमय के माध्यम के रूप में ही कार्य करती रही। इसे धन के रूप में संचय आदि करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठा था। परन्तु धीरे-धीरे मुद्रा का महत्व बढ़ता चला गया तथा इसे विनिमय के माध्यम तथा सर्वमान्य मूल्य-मापक के अतिरिक्त और भी कार्यों को करना पड़ा।

उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि जैसे-जैसे विनिमय की आवश्यकता और कठिनाई बढ़ती गई, मुद्रा की खोज आरंभ हो गई। ऋग्वेद कालीन भारत में गाय का मुद्रा के स्थान पर प्रयोग होता था। कौड़ियाँ, मूँगे, मोती, सूखे फल आदि अनेक वस्तुओं का मुद्रा के स्थान पर प्रयोग किया गया। जहाँ तक सिक्कों के चलन का प्रश्न है विद्वानों की राय से लीडिया (Lydia) में सर्व प्रथम धातु के सिक्कों का चलन हुआ। मिश्र में दीनार का सिक्का प्रचलन में रहा। कालान्तर में यह मानव समाज तथा आर्थिक-विकास का आवश्यक अंग बन गया। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया और व्यापार एवं वाणिज्य का विकास हुआ मुद्रा की अधिक आवश्यकता पड़ी। इस बढ़ी हुई आवश्यकता ने धातु के स्थान पर कागजी-मुद्रा को जन्म दिया जो कि बाद में बैंकों के विकास एवं विश्वसनीय सरकारों की स्थापना के साथ-साथ सार्वभौमिकता एवं सर्वप्रियता पकड़ती गई।

- **मुद्रा की परिभाषा**

मुद्रा की परिभाषा विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने अपने दृष्टिकोण से विभिन्न प्रकार से की है। क्राउदर (Crowther) के अनुसार जो वस्तु विनिमय के साधन के रूप में साधारणतया सर्वग्राही हो तथा उसी समय मूल्य-मापन तथा मूल्य-संचय का कार्य करती हो वही मुद्रा है। मार्शल (Marshall) के अनुसार ऐसी सब वस्तुएँ जो बिना किसी सन्देह तथा बिना विशेष जाँच के सेवाओं और वस्तुओं के क्रय एवं सब प्रकार के व्ययों के भुगतान में स्वीकृत कर ली जाय वही मुद्रा है। राबर्टसन (Robertson) के अनुसार कोई भी वस्तु जो माल के भुगतान में अथवा अन्य प्रकार के व्यापारिक ऋणशोधन में सर्वत्र स्वीकृत हो वही मुद्रा है। सेलिगमैन (Seligman) के शब्दों में मुद्रा वह वस्तु है जिसमें सर्वग्राहिता हो। हाटले विदर्स (H. Withers) ने मुद्रा की परिभाषा विचित्र ढंग से की है—"मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करती है।" वास्तव में विदर्स की परिभाषा से मुद्रा के विषय में कोई विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं होता कि मुद्रा क्या है। हाँ इस परिभाषा से एक बात अवश्य स्पष्ट होती है कि कोई

भी वस्तु मुद्रा हो सकती है यदि समाज उसे मुद्रा के रूप में मान ले। कुछ और परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

प्रो० ऐली (Ely) के अनुसार "मुद्रा ऐसी कोई भी वस्तु है जिसका विनिमय के माध्यम के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तांतरण होता है और जो ऋणों के अंतिम भुगतान के रूप में सामान्यतया स्वीकार की जाती है।"

क्राउदर (Crowther) का कहना है कि मुद्रा वह चीज है जिसे साधारणतः विनिमय का माध्यम मान लिया गया हो और साथ ही जो मूल्य की माप और उसके कोष का काम करती हो।

हॉम की परिभाषा में मुद्रा शब्द का उपयोग विनिमय-माध्यम तथा मूल्य-मान दोनों ही के लिए किया गया है।[1]

अन्य विचारानुसार "मुद्रा में वे वस्तुएँ सम्मिलित होती हैं जो किसी एक समाज में सामान्य रूप में स्वीकार की जाती हैं और उनका विनिमय के माध्यम के रूप में स्वतंत्रतापूर्वक हस्तान्तरण होता है......किन्तु कोई वस्तु ऐसी नहीं होती है जो सभी स्थानों पर स्वीकार की जाती हो और इस अर्थ में मुद्रा सदैव स्थानीय होती है।[2]

मुद्रा के लिये किसी विशेष प्रकार की वस्तु की आवश्यकता नहीं। वह तो किसी भी वस्तु की बनाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त यदि उपरोक्त विभिन्न परिभाषाओं को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो सबसे यही ध्वनित होता है कि मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जिसका चलन सब प्रकार के भुगतानों में मान्य है। मुद्रा विनमय के साधन, मूल्य-मापन तथा मूल्य संचय का कार्य करने वाली सर्वग्राह्य वस्तु है। जो वस्तु सम्पूर्ण ऋण शोधन के लिये एक दूसरे के प्रति बिना किसी संदेह के अबाध रीति से हस्तान्तरित होती रहे तथा जो देने वाले व्यक्ति की साख के सोच-विचार के बिना निसंदेह स्वीकृत होती है ऐसी किसी भी वस्तु को हम मुद्रा कह सकते हैं। इस प्रकार किसी प्रकार के प्रतिबन्धरहित सर्वग्राहिता ही मुद्रा का विशेष लक्षण है।

चूँकि प्रत्येक वस्तु मुद्रा हो सकती है यदि समाज उसे मुद्रा के रूप में मान ले इसलिये विभिन्न देशों ने समय-समय पर विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को मुद्रा के रूप में माना है। मौद्रिक इतिहास के पढ़ने से पता चलता है कि आदि प्राचीन काल में किसी प्रकार का अनाज, पशु, पत्तियाँ, कौड़ियाँ आदि वस्तुएँ भी मुद्रा के रूप में

---

1 "Money has been used to designate the medium of exchange as well as the standard of value."—Halm (*Monetary Theory*, p. 3.)

2 "Money consists of those things which, within a society, are of general acceptability passing from hand to hand as a medium of exchange.........No commodity is, however, acceptable everywhere and in this sense money is always local."

उपयोग में आती थीं। कालान्तर में आवश्यकतानुसार इन मुद्रा पदार्थों में परिवर्तन होता गया और ज्यों-ज्यों मुद्रा का महत्व अधिक होता गया और मुद्रा के कार्यों में वृद्धि होती गई त्यों-त्यों मुद्रा पदार्थ के चयन में भी परिवर्तन होता गया, यहाँ तक कि अधिकांश रूप से सम्पूर्ण देशों में सोना या चाँदी ही मुद्रा के लिये विशेष उपयुक्त धातुएँ समझी जाने लगी। और जब तक कागजी मुद्रा का चलन न हुआ सोने तथा चाँदी की मुद्राएँ ही चलती रहीं।

यह समझने के लिये कि सोना तथा चाँदी ही मुद्रा के लिये उपयुक्त धातुएँ क्यों मानी गईं मुद्रा के कार्यों का जानना आवश्यक है क्योंकि मुद्रा के कुछ आधुनिक कार्य ऐसे हैं जिनको मुद्रा सफलतापूर्वक तभी कर सकती है जब वह सोने या चाँदी की बनी हों।

साधारण तौर पर आधुनिक काल में मुद्रा के निम्नलिखित कार्य हैं—

साधारणतया मुद्रा के कार्य तीन भागों में विभाजित किये जाते हैं—प्राथमिक कार्य, गौण कार्य और आकस्मिक कार्य।

मुद्रा के प्राथमिक कार्य वे प्रारम्भिक तथा मुख्य कार्य हैं जिनके लिये मुद्रा का आविष्कार हुआ और जो प्रत्येक प्रकार की मुद्रा प्रत्येक देश व प्रत्येक काल में सफलतापूर्वक कर सकती है। ये कार्य निम्नांकित हैं—

(१) **विनमय माध्यम**—मुद्रा सर्वग्राह्य होती है। इसे प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक प्रकार के भुगतान में स्वीकार कर लेता है। इसलिये विनिमय कार्य इसी के द्वारा किया जाता है। व्यक्ति अपनी वस्तुओं अथवा सेवाओं को बेचकर उनके बदले में मुद्रा प्राप्त करता है और उस मुद्रा से दूसरे की वस्तु या सेवा मोल ले लेता है। इस प्रकार यह विनमय के माध्यम का कार्य करती है।

(२) **मूल्यमापक**—प्रत्येक वस्तु के मूल्यांकन करने में भी मुद्रा सहायता करती है, जिस प्रकार दूरी नापने के लिये फीट या गज़ इत्यादि का प्रयोग होता है, वज़न नापने के लिये मन, सेर, छटाँक का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार वस्तुओं का मूल्य मुद्रा में मापा जाता है। इसकी सहायता से वस्तुओं के पारस्परिक मूल्यों की तुलना भी सरलता से हो जाती है।

मुद्रा के गौण कार्य वे कार्य हैं जो मुद्रा को समाज के आर्थिक विकास होने के पश्चात् करने पड़ते हैं। इन कार्यों की आरम्भ में समाज को कोई आवश्यकता ही नहीं होती परन्तु बाद में यह कार्य भी आवश्यक हो जाते हैं। यह कार्य भी दो हैं—

(१) **प्रथम मूल्य संग्रह**—समाज का आर्थिक विकास होने पर समाज के व्यक्तियों को पूँजी की आवश्यकता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है तथा असाधारण अवस्थाओं में असाधारण रूप से धन व्यय करने की सम्भावनाएँ भी बढ़ती जाती हैं। यह तभी हो सकता है जब धन एकत्रित किया जाय। वस्तुओं में धन का एकत्रीकरण

करना कठिन है। वस्तुओं को रखने के लिये स्थान अधिक चाहिये। मौसम तथा कीड़े-मकोड़ों से बचाने के लिये देखभाल अधिक चाहिये, फिर भी दूध, दही आदि कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जो बहुत समय तक एकत्रित नहीं की जा सकती हैं तथा उन सम्पूर्ण अगणित वस्तुओं का एकत्रित करना और भी कठिन है जिनकी आवश्यकता एक व्यक्ति को भविष्य में हो सकती है। यह कार्य मुद्रा को ही करना पड़ता है। मनुष्य मुद्रा इकट्ठा कर लेता है और इसी एकत्रित मुद्रा से मनवांछित सामान अथवा वस्तुएँ प्राप्त कर लेता है। मुद्रा का संग्रह ही धन का संग्रह है। इस प्रकार मुद्रा का मूल्य संचन कार्य भी आजकल एक महत्वपूर्ण कार्य हो गया है।

(२) मुद्रा का दूसरा गौण कार्य स्थगित देयमान है। भविष्य में ऋणशोधन का कार्य भी मुद्रा द्वारा ही भली प्रकार से हो सकता है; क्योंकि मुद्रा की कीमत अन्य वस्तुओं की कीमतों की अपेक्षा अधिक स्थिर रहती है। इसलिये वर्तमान समय में लिया हुआ ऋण भविष्य में मुद्रा के द्वारा ही सरलता से चुकाया जा सकता है।

आधुनिक काल में पूँजीवादी उत्पादन के कारण मुद्रा को कुछ और भी कार्य करने पड़ते हैं जिन्हें आकस्मिक कार्य कहते हैं। इन कार्यों का महत्व, आधुनिक अर्थव्यवस्था में ही है। अति प्राचीन काल में इस प्रकार के कार्यों की आवश्यकता ही नहीं होती थी तथा निकट भूतकाल में इस प्रकार के कार्य कम महत्व के थे। पर अब ऐसे कार्यों का महत्व अधिक बढ़ गया है। ये आकस्मिक कार्य निम्नाङ्कित हैं—

(१) **मुद्रा साख का आधार** है—आजकल विशेषकर व्यापारियों में हुण्डी, चेक, बिल आदि साखपत्रों का प्रचलन बहुत अधिक हो गया है। व्यापारी वर्ग में विनिमय के कार्य साखपत्रों की सहायता से ही अधिक होते हैं। पर ये साख-पत्र मुद्रा के आधार पर ही चलते हैं। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साख-पत्र को इसी आशा पर स्वीकार करता है कि उसे उसके बदले में मुद्रा मिल जायगी। एक दूकानदार अपने ग्राहक से नक़द रुपया न लेकर उसका चेक इसी आशा पर ले लेता है कि उस चेक के बदले में उसे रुपया मिल जायगा। यदि इस प्रकार की कोई आशा न हो तो वह चेक कभी न ले। बैंक भी साख-पत्रों के द्वारा अपना कार्य करते हैं परन्तु उन साख-पत्रों के मूल्य में मुद्रा ही आधार है। साख-पत्र तो केवल मुद्रा के आदान-प्रदान की असुविधा से बचने के लिये प्रयोग में लाये जाते हैं। मुद्रा प्राप्ति की आशा के बिना साखपत्र समाज में चल ही नहीं सकते। इस प्रकार आजकल के समाज में साख-पत्र मुद्रा का कार्य करती है।

(२) मुद्रा वितरण का कार्य सन्तोषजनक रूप से करती है। आजकल उत्पादन बड़ी मात्रा पर होता है। बहुत से व्यक्ति मिलकर एक वस्तु का उत्पादन करते हैं। उस उत्पादन में भूमि, श्रम, पूँजी, व्यवस्था आदि सबका भाग होता है।

इन सबका भाग मुद्रा में ही सरलता से दिया जा सकता है। क्योंकि कोई कारखाने वाला विभिन्न रुचि तथा जीवन-स्तर वाले हजारों श्रमिकों के उपभोग योग्य पदार्थों का संग्रह नहीं कर सकता। यह कार्य मुद्रा के द्वारा ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त सीमान्त उत्पादन का मूल्यांकन मुद्रा के कारण सरलता से हो जाता है और इसी सीमान्त उत्पादन के आधार पर उत्पादन के साधनों को पारिश्रमिक दिया जाता है। इस प्रकार मुद्रा की सहायता से वितरण की समस्या सरलता से हल हो जाती है।

(३) मुद्रा उपभोक्ता को सम-सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करने में सहायक होती है। प्रत्येक उपभोक्ता वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता मुद्रा की सहायता से ही आँकता है तथा इसी की सहायता से सम-सीमान्त उपयोगिता के अनुसार उपभोग के लिये विभिन्न वस्तुओं की मात्रा को निर्धारित करता है। ऐसा वह सफलतापूर्वक मुद्रा की सहायता से ही कर सकता है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु से मिलने वाली उपयोगिता की तुलना उस पर व्यय होने वाली मुद्रा से की जाती है तथा इस प्रकार विभिन्न वस्तुओं की सम-सीमान्त उपयोगिता के आधार पर मात्रा निर्धारित की जाती है। अतः मुद्रा उपभोक्ताओं को सम-सीमान्त उपयोगिता को सफलतापूर्वक लागू कराके उन्हें उनकी आय से अधिकतम सन्तोष प्राप्त करने में सहायक होती है।

(४) मुद्रा सब प्रकार की सम्पत्ति तथा पूँजी को एक सामान्य रूप देती है। आजकल के उत्पादन में विभिन्न प्रकार की पूँजी प्रचुर मात्रा में चाहिये। तरह-तरह की मशीनें, इमारतें, कच्चा माल इत्यादि, अनेक वस्तुएँ एक कारखाने वाले को चाहिये। इन सब का संग्रह करना कारखाने वालों के लिये असम्भव ही है। मुद्रा इस कार्य को सरलतापूर्वक कर देती है क्योंकि मुद्रा से प्रत्येक प्रकार की पूँजी आवश्यकतानुसार पर्याप्त मात्रा में प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार मुद्रा विभिन्न प्रकार की सम्पत्ति तथा पूँजी का एक सामान्य रूप में प्रतिनिधित्व करती है।

मुद्रा का महत्व (Importance of Money)

प्रत्येक वस्तु का महत्व उसकी उपयोगिता से स्पष्ट होता है। समाज के लिये मुद्रा की उपयोगिता, मुद्रा के कार्यों तथा मुद्रा के प्राप्त लाभों में प्रकट होती है। इन कार्यों तथा लाभों को देखते हुए समाज के लिये मुद्रा के महत्व के बारे में कोई सन्देह नहीं रह जाता। साधारण तौर पर तो समय की प्रगति के साथ अधिकांश वस्तुओं की उपयोगिता कम होती जाती है परन्तु मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जिसकी उपयोगिता बराबर बढ़ रही है। अतः यह समाज के लिये उत्तरोत्तर अधिक महत्वपूर्ण होती जा रही है। एक समय था जब कि मुद्रा को कोई जानता ही नहीं था। धीरे-धीरे इसका प्रचलन प्रारम्भ हुआ पर अब मुद्रा इतनी महत्वपूर्ण वस्तु हो गई है कि मुद्रारहित सभ्य समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। वर्तमान समय में प्रत्येक कार्य के लिये मुद्रा की

आवश्यकता होती है तथा मुद्रा की सहायता से ही विविध कार्य सरलता से हो सकते हैं। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है बड़े मात्रा के उत्पादन बिना मुद्रा के असंभव है और बिना बड़ी मात्रा के उत्पादन के न तो समाज का जीवन-स्तर ऊँचा हो सकता है न इतनी अधिक आर्थिक समृद्धि हो सकती है। यह सब मुद्रा के कारण होता है। एक प्रचलित ग्रामीण कहावत "सबसे बड़ा रुपया" मुद्रा के महत्व का संकेत करती है। यदि वर्तमान समाज को मुद्रामय कहा जाय तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं होगी।

मुद्रा का इतना महत्व होते हुए भी यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिये कि मुद्रा स्वयं कोई महत्वपूर्ण वस्तु नहीं है क्योंकि वास्तव में मुद्रा उसकी क्रय-शक्ति के लिए एकत्रित की जाती है न कि स्वयं उसके लिये। एक १००) के नोट का महत्व इसलिये है कि हम उससे किसी भी समय किसी भी वस्तु को खरीद सकते हैं। यदि ऐसा न हो तो १००) के नोट की कोई कीमत न रहे और वह बिलकुल महत्वहीन हो जाय। इससे स्पष्ट है कि मुद्रा का महत्व समाज में इसीलिये है कि वह प्रत्यक्ष विनिमय की कठिनाइयों को दूर करती तथा अन्य मौद्रिक कार्य करती है।

मुद्रा के उपर्युक्त कार्य ही मुद्रा से होने वाले लाभों को स्पष्ट करते हैं। मुद्रा का सबसे प्रथम तथा मुख्य लाभ यही है कि इससे प्रत्यक्ष वस्तु विनिमय की सम्पूर्ण कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। मुद्रा का प्रचलन होने के कारण किसी भी व्यक्ति को अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त करने के लिये ऐसे व्यक्ति को तलाश करने में अपने समय तथा शक्ति को नष्ट करने की आवश्यकता नहीं कि जिसके पास उसकी इच्छित वस्तु हो और जो बदले में उसकी वस्तु लेना चाहे। वह अपनी वस्तु को बेचकर दूसरी वस्तु खरीद सकता है। इसी प्रकार अब वस्तुओं के अदल-बदल के लिए विनिमय दर निर्धारण करने में किसी प्रकार के वाद-विवाद की आवश्यकता नहीं और न एक वस्तु की विभिन्न वस्तुओं से विनिमय दर की लम्बी तालिका रखने की आवश्यकता है। सब वस्तुओं का मूल्य मुद्रा में निर्धारित होता है और इसकी सहायता से उनके पारस्परिक मूल्य का अनुपात भी निकाला जा सकता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष वस्तु-विनिमय की तीसरी कठिनाई को भी मुद्रा समाप्त कर देती है। अब किसी वस्तु को व्यर्थ में विभाजित करने की आवश्यकता नहीं। उसको बेचकर अन्य वांछित वस्तुयें खरीदी जा सकती हैं।

इन कठिनाइयों को दूर करने के अतिरिक्त मुद्रा अपने कर्त्तव्यों द्वारा समाज के आर्थिक विकास में पर्याप्त रूप से सहायक हुई है। विनिमय का माध्यम तथा सर्वमान्य मूल्यमापक होने के नाते विनिमय के कार्य बड़ी आसानी से हो जाते हैं। इसी कारण से आजकल बाजार तथा व्यापार का क्षेत्र बहुत अधिक बढ़ गया है। यद्यपि इस क्षेत्र के बढ़ने में यातायात का भाग मुख्य रूप से रहा है फिर भी मुद्रा का योग भी

महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार मुद्रा की सहायता से बड़ी मात्रा का उत्पादन सफल हुआ है। मुद्रा की सहायता से वस्तुओं को आसानी से प्राप्त कर लेने के कारण विभिन्न प्रकार के व्यक्ति दूर-दूर से आकर एक स्थान पर कार्य करने लगते हैं। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में मुद्रा ने बड़ी मात्रा के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया, विनिमय की कठिनाइयों को दूर करके विनिमय की मात्रा में वृद्धि की तथा इसके क्षेत्र को अधिक व्यापक बना कर समाज को अधिक वस्तुएँ उपभोग के लिये दी जिससे व्यक्तियों का जीवन-स्तर उच्च हुआ और वे अपनी आय से अधिकतम सन्तोष प्राप्त करने में सफल हुए। वितरण की समस्या हल करने में भी मुद्रा ने काफी योग दिया। आधुनिक कल्याणकारी राज्य के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए कार्यों को सफल बनाने में मुद्रा पर्याप्त सहायता करती है। यदि मुद्रा न हो तो सरकार द्वारा इतने सारे कार्य विभिन्न वस्तुओं के एकत्रीकरण तथा पारिश्रमिक वितरण की कठिनाई के कारण कभी पूरे न हो सकें। सामाजिक दृष्टि से भी मुद्रा का लाभ सराहनीय रहा है। बहुत से व्यापारियों के आर्थिक बन्धन को छुड़ाकर उन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता तथा सामाजिक समानता प्राप्त करने में मुद्रा यथेष्ट रूप से सहायक हुई है। उदाहरण के लिये भारतीय ग्रामों में आज से २५ वर्ष पहले सामाजिक परम्पराओं का बोलबाला था। एक गाँव के मिस्त्री को वर्ष पर्यन्त कृषकों का कार्य करने के पश्चात् उसे फसल पर एक निश्चित मात्रा में अनाज मिल जाया करता था। वह कोई दूसरा कार्य कर नहीं सकता था। उसे अपने जीवन-यापन के लिये कृषकों पर ही निर्भर रहना पड़ता था तथा समाज में उसका कोई विशेष आदर नहीं था। यद्यपि गावों में कुछ सीमा तक यही प्रथा अब भी प्रचलित है परन्तु वहीं मिस्त्री यदि एक शहर में आकर बस जाय तो उसे कार्य के बदले में रुपये मिलने लगेंगे तथा वह जितना काम करेगा उसके अनुपात में उसकी आय होगी। उसे किसी विशेष वर्ग का मुँह नहीं ताकना पड़ेगा तथा शहर में उसका सामाजिक स्तर भी निम्न नहीं रहेगा क्योंकि उसे मुद्रा के कारण उन रूढ़ियों से छुटकारा मिल गया जो ग्रामीण क्षेत्र में मुद्रा के अभाव में उसे दबाये रखती थी। इस प्रकार मुद्रा ने मानव को सामाजिक लाभ भी पहुँचाया है।

मुद्रा के दोष

कोई भी वस्तु केवल लाभमय या केवल दोषमय नहीं होती। प्रत्येक वस्तु में लाभ व दोष दोनों हैं। मुद्रा के लिये भी यही बात सत्य है। उपरोक्त लाभों के होते हुए भी मुद्रा में कुछ दोष हैं। इसका मुख्य दोष इसके मूल्य का उतार-चढ़ाव है। इसके मूल्य में परिवर्तन होते रहते हैं जिससे समाज के कुछ वर्गों को हानि होती रहती है। बाज़ार में कभी तेज़ी कभी मन्दी का कारण अधिकांश रूप में मुद्रा की मात्रा होती है। कीमतों के स्थिरीकरण न होने से कुछ वर्गों को हानि हो जाती है।

मुद्रा के कारण कुछ लोग आवश्यकता से अधिक धन संग्रह करने में सफल होते हैं और वे अन्य व्यक्तियों का शोषण करने लगते हैं। इस प्रकार मुद्रा असमान धन वितरण तथा शोषण का कारण बन जाती है, फिर भी मुद्रा अवांछनीन नहीं कही जा सकती। वास्तव में मुद्रा के यह दोष उसमें स्वाभाविक नहीं हैं। ये दोष तो मुद्रा पूर्ति करने वाली संस्था की अनुभवहीनता तथा अनुपयुक्त संचालन तथा नियंत्रण नीति के कारण मुद्रा में आ जाते हैं। इन दोषों के लिये समाज की आर्थिक व्यवस्था ही मुख्य उत्तरदायी है न कि मुद्रा स्वयं।

प्रश्न

१. मुद्रा की आलोचनात्मक परिभाषा दीजिये तथा उसकी प्रकृति समझाइये।

(आगरा बी० कॉम०, भाग १, १९५६)

2. "Money is what money does". Explain fully the meaning of this statement. What will happen if money suddenly disappears from the country?

(*Agra, B. Com.* 1, 1956)

3. Discuss the importance of money in a civilized society and explain the different forms in which it circulates in a country.

(*Agra, B. Com.* 1, 1957)

अध्याय २

मुद्रा का वर्गीकरण, ढलाई एवं अच्छी मुद्रा

मुद्रा का वर्गीकरण

मुद्रा का वर्गीकरण विभिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से हो सकता है। व्यवहारिक दृष्टिकोण से मुद्रा दो प्रकार की होती है। प्रथम, धातु-मुद्रा, द्वितीय, पत्र मुद्रा। धातु-मुद्रा धातु की बनी होती है। विशेषकर इस प्रकार की मुद्रा के अन्तर्गत सोना और चाँदी के सिक्के का चलन होता है। पत्र-मुद्रा काग़ज़ी मुद्रा होती है। किसी विशेष व्यक्ति, संस्था अथवा कोष द्वारा यह मुद्रा निकाली जाती है। सरकार स्वयं काग़जी मुद्रा छाप सकती है। काग़जी मुद्रा की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा कुछ नियम बना दिये जाते हैं। मूल्य के आधार पर धातु मुद्रा प्रायः दो प्रकार की होती है। प्रधान मुद्रा तथा गौण मुद्रा। प्रधान मुद्रा उस धातु से निर्मित की जाती है जो किसी भी देश में वहाँ के विधानानुसार विनिमय माध्यम तथा मूल्यमापक के रूप में निश्चित की जाती है। यह सोना अथवा चाँदी दोनों की हो सकती है। ये सिक्के निश्चित आकार, परिमाण, वजन, मूल्य तथा शुद्धता वाले बनाये जाते हैं। इन सब बातों का निर्देश प्रत्येक देश के टकंन विधान द्वारा किया जाता है। इस प्रकार के मुद्रा के प्रधान लक्षण तीन होते हैं—

(१) **स्वतंत्र, प्रथक मुक्ति टकंन**—प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार धातु के बदले में टकंशाला से मुद्रा प्राप्त कर सकता है। समान वज़न तथा समान मूल्य की धातु देकर सिक्कों के परिवर्तन की स्वतंत्रता प्रत्येक व्यक्ति को होती है। इसमें सरकार की ओर से किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता। यह बात अवश्य है कि सरकार धातु को मुद्रा में परिवर्तन के कार्य के लिये कुछ शुल्क ले और यदि वह चाहे तो न भी ले। इस दृष्टि से सिक्का परिवर्तन करने का टंकन शुल्क तीन प्रकार का हो सकता है—

(अ) **निश्शुल्क टंकन**— इस प्रणाली के अन्तर्गत जनता से किसी भ प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता है। टकसाल के अधिकारी बिना कुछ लिये हुए ही धातु के बदले में सिक्का दे देते हैं। सिक्कों की पूर्ति पर जो कुछ व्यय होता है व सरकार अन्य करों के द्वारा जनता से वसूल कर लेती है।

(ब) **टंकन शुल्क**—इसके अन्तर्गत टकसाली अधिकारी जनता से उतन

शुल्क लेते हैं जितना सिक्कों के बनाने में व्यय होता है। इस प्रकार इस प्रथा के अन्तर्गत टकसाली शुल्क तथा टकसाली व्यय में समानता होती है।

(स) **अतिरिक्त टंकन शुल्क**—इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार शुल्क के रूप में वास्तविक व्यय से अधिक धन-राशि प्राप्त करती है अर्थात् इसके अन्तर्गत जनता से टकसाली शुल्क टकसाली व्यय से अधिक लिया जाता है। यह शुल्क दो प्रकार से वसूल किया जाता है। एक तो उतनी कीमत की धातु सिक्के में से निकाल-कर कम कीमत वाली धातु की मिलावट करके। दूसरे धातु को सिक्के में परिवर्तन करते समय में ही सम्बधित व्यक्ति से सिक्कों के रूप में निर्धारित शुल्क लेकर।

जब सिक्के ढालने का एकाधिकार केवल सरकार तक ही सीमित रहता है जनता का कोई भी व्यक्ति टकसाल में धातु देकर सिक्के प्राप्त नहीं कर सकता। जब सिक्के बनाने तथा निकालने का पूर्ण अधिकार केवल सरकार को ही होता है तब इस प्रणाली को प्रतिबन्धित टंकन प्रणाली कहते हैं।

(२) **आंतरिक तथा बाह्य मूल्य में समानता**—प्रधान सिक्के के ऊपर जो मूल्य अंकित होता है उसे बाह्य मूल्य कहते हैं और सिक्के की धातु को बेचकर जो मूल्य प्राप्त हो सके उसे आन्तरिक मूल्य कहते हैं। प्रधान सिक्के के इन दोनों मूल्य में समानता होनी चाहिये। उदाहरण के लिये भारतीय रुपये के ऊपर १०० नये पैसे अंकित होते हैं अर्थात् इसका बाह्य मूल्य १०० नये पैसे हैं। यदि इसकी चाँदी को बेचकर १०० नये पैसे प्राप्त हो जाय तो रुपये के बाह्य तथा आन्तरिक मूल्य में समानता हो गई। सिद्धान्त रूप से प्रत्येक देश के प्रधान सिक्के में यह गुण होना चाहिये। उसके बाह्य तथा आन्तरिक मूल्य में समानता होनी चाहिये। रुपया भारत का प्रधान सिक्का हैं। परन्तु इसका बाह्य मूल्य आन्तरिक मूल्य से अधिक है और इस दृष्टि से भारतीय रुपया प्रधान सिक्के की श्रेणी में नहीं आता।

(३) **असीमित विधि ग्राह्यता**—मुद्रा का मुख्य कार्य विभिन्न प्रकार के लेन-देन का भुगतान करना होता है। यह तभी सम्भव है जब मुद्रा प्रत्येक प्रकार के लेन-देन में असीमित संख्या में स्वीकार की जा सके। इसीलिये कानून द्वारा प्रधान मुद्रा को यह विशेषता प्रदान कर दी जाती है जिसके अनुसार देश के प्रत्येक व्यक्ति को यह मुद्रा असीमित संख्या में कानूनन स्वीकार करना पड़ता है। उदाहरण के लिये भारतीय रुपया असीमित विधि ग्राह्य है। अतः यदि कोई ऋणी अपने धनी को २०००) रुपये का ऋण २०००) रुपये के सिक्कों में चुकावे तो धनी को २०००) के सिक्के लेने पड़ेंगे। वह यह नहीं कह सकता कि इनका तो बोझ अधिक हो जायगा मुझे तो सौ-सौ रुपये के २० नोट दे दीजिये। इसी प्रकार यह कितनी ही बड़ी रकम क्यों न हो यदि इसका भुग-तान रुपयों में किया जाय तो लेने वाला किसी भी दशा में इन्कार नहीं कर सकता।

गौण मुद्रा—गौण मुद्रा को सांकेतिक तथा प्रतीक मुद्रा भी कहते हैं। यह मुद्रा छोटे-छोटे भुगतानों के काम में लाई जाती है। इस प्रकार यह मुद्रा प्रधान-मुद्रा के सहायक का काम करती है तथा यह कम क़ीमती धातु की बनाई जाती है। इस प्रकार की मुद्रा को केवल सरकार ही ढाल सकती है। इसका बाह्य मूल्य आन्तरिक मूल्य से अधिक होता है। यह सिक्के लेन-देन में एक निश्चित संख्या तक ही काम में लाये जाते हैं। उदाहरण के लिये भारत में १, २, ५, १० नये पैसों के सिक्के इसी प्रकार के सिक्के हैं। ये १० रुपये तक ही लिये जा सकते हैं। १० रुपये से अधिक लेन-देन को इन सिक्कों में भुगतान लेने से धनी इन्कार कर सकता है। उदाहरण के लिये यदि किसी को १५) रुपये देने हैं और वह १५) रुपये १० नये पैसे के सिक्कों में देना चाहे तो धनी यह कह सकता है कि मुझे इन नये पैसों के सिक्कों के बदले में १५ रुपये ही दीजिये और कानूनन ऋणी को यही करना पड़ेगा। १०) रुपये तक का भुगतान इन सिक्कों में हो सकता है क्योंकि सरकार द्वारा यह सिक्के १०) रुपये तक ही विधि-ग्राह्य घोषित किये गये हैं। इस प्रकार गौण मुद्रा के निम्न तीन लक्षण होते हैं—

(१) **प्रतिबन्धित टंकन**—इसके अन्तर्गत जनता को धातु के बदले में मुद्रा प्राप्त करने का अधिकार नहीं होता।

(२) **बाह्य मूल्य की आन्तरिक मूल्य से अधिकता**—मुद्रा पर अंकित मूल्य उसकी धातु के बाजारी मूल्य से अधिक होता है।

(३) **सीमित विधि ग्राह्यता**—विभिन्न प्रकार के भुगतानों में यह एक निश्चित सीमा तक ही स्वीकार की जा सकती है।

पत्र-मुद्रा—आधुनिक युग में पत्र-मुद्रा का बोलबाला है। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में सब देशों में धातु मुद्रा का साम्राज्य था। प्रत्येक देश की प्रधान मुद्रा सोने अथवा चाँदी ही की हुआ करती थी। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् औद्योगिक तथा व्यापारिक उन्नति के कारण अधिकाधिक विनिमय क्रियाओं के लिये मुद्रा की माँग बढ़ती गई। इसके लिये सोने-चाँदी की पूर्ति पर्याप्त मात्रा में नहीं थी। इसके साथ ही साथ मौद्रिक समितियों तथा बैंकों के कार्यों का विकास होता गया। धातु मुद्रा के कतिपय दोषों को दूर करने के लिये पत्र-मुद्रा का चलन प्रारम्भ हुआ। यह चलन प्रथम युद्ध के पश्चात् ही तीव्र गति से बढ़ने लगा और इस समय तो प्रायः पत्र-मुद्रा ही सब देशों में चलती है।

धातु मुद्रा के चलन में सबसे बड़ा दोष तो यह था कि इसके लिये बहुत बड़ी मात्रा में सोने अथवा चाँदी की आवश्यकता पड़ती थी। इसके ढलाने में भी व्यय बहुत होता था। इसके घिसावट के कारण बहुमूल्य धातुओं में पर्याप्त हानि हो जाती थी। अधिक मात्रा में इधर-से-उधर ले जाने में भी इसमें कुछ-न-कुछ असु-

विधा होती ही है। सरकार संकटकालीन अवस्था में पूर्ति वांछित मात्रा में नहीं बढ़ा सकती। इन दोषों के कारण धातु मुद्रा की लोकप्रियता कम हो गई, और अब पत्र-मुद्रा ही अधिक लोकप्रिय है।

पत्र-मुद्रा तीन प्रकार की हो सकती है—

(१) **प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा**—इस प्रकार की पत्र-मुद्रा बहुमूल्य धातु का प्रतिनिधित्व करती है। जितने मूल्य की पत्र-मुद्रा छापी जाती है उतने ही मूल्य का सोना व चाँदी किसी अधिकोष के निधि में अथवा देश के खजाने में रख ली जाती है। वास्तव में इस प्रकार की पत्र-मुद्रा चलाने का उद्देश्य यह होता है कि मुद्रा ढालने का व्यय कम हो जाय और देश बहुमूल्य धातु की घिसावट की हानि से बच जाय।

(२) **परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा**—यह पत्र-मुद्रा किसी भी समय में धातु के प्रधान सिक्कों में बदली जा सकती है। पत्र-मुद्रा निर्गमनक संस्था यह आश्वासन देती है कि उस पत्र-मुद्रा के बदले में किसी भी समय माँगने पर प्रधान धातु की मुद्रा दे दी जायगी। इसी विश्वास पर जनता इसे स्वीकार करती है। इस पत्र-मुद्रा के चलाने में एक यही लाभ होता है कि इसके वास्तविक मूल्य के बराबर सोने-चाँदी के रखने की आवश्यकता नहीं होती। इसके लिये सोना-चाँदी कम मूल्य में रक्खा जाता है और शेष मूल्य किसी प्रकार के स्वीकृत विनियोगों में जमा रहता है। अतः इस प्रकार की पत्र-मुद्रा के चलाने के लिये उतने मूल्य की सोने-चाँदी की आवश्यकता नहीं पड़ती जितनी पत्र-मुद्रा के चलाने के लिये पड़ती है।

(३) **अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा**—जैसा नाम से स्पष्ट है इस प्रकार की पत्र-मुद्रा के बदले में किसी प्रकार के सिक्के अथवा धातु देने के लिये सरकार किसी प्रकार से बाध्य नहीं होती। इस पत्र-मुद्रा का चलन का आधार सरकार की साख में विश्वास होता है। जनता सरकार की साख में विश्वास करती है और इसी आधार पर उसे स्वीकार करती है। सरकार इस प्रकार की मुद्रा तभी निकालती है जब सरकार को इतनी अधिक मुद्रा की आवश्यकता पड़े कि उसके लिये निधि में जमा करने को उचित मात्रा में सोना-चाँदी प्राप्त न हो सके।

मुद्रण अथवा ढलाई (Coinage)

सिक्कों के उपयोग के साथ-ही-साथ सिक्कों की ढलाई की समस्या भी उत्पन्न हुई। लीडिया तथा मिश्र में पहिले-पहल सिक्कों की ढलाई का काम चालू किया गया। सिक्कों की ढलाई की कला ही मुद्रा का टंकण अथवा मुद्रण कहलाती है। सिक्कों में आधुनिक सुधार कई चरणों (Steps) में किए गए प्रयत्नों का परिणाम है। मुद्रण (Coinage) निम्नांकित उद्देश्यों से किया जाता है:—

सिक्कों में से धातु को काट कर अथवा गला कर निकालने की प्रवृत्ति को रोकना; सब सिक्के समान तौल, समान आकार और समान शुद्धता के हों, इनके चलन में कम-से-कम धोखेबाजी एवं जालसाजी हो; कम-से-कम घिसाई हो और इन पर इनके निकालने वाली सरकार के कलात्मक एवं ऐतिहासिक स्मारक हों। इन तमाम उद्देश्यों की पूर्ति तभी हो सकती है जब कि मुद्रा-ढलाई जनता के द्वारा न हो। अतः प्रायः सभी देशों में मुद्रा की ढलाई का काम वहाँ की सरकारों को सौंपा जाता है।

दो प्रकार की प्रमुख मुद्रण प्रणालियाँ पाई जाती हैं—

(१) **स्वतंत्र मुद्रण** (Free Coinage)—इसे असीमित मुद्रण भी कहते हैं। इस प्रणाली में जनता को यह अधिकार रहता है कि वह धातुओं को सरकारी टकसाल पर ले जाकर सिक्कों में ढलवा ले। सरकार ढलाई के प्रति-फल में शुल्क लेती भी है और नहीं भी। जब शुल्क लेकर ढलाई की जाती है तो इसे सशुल्क ढलाई (Brassage) कहते हैं। इस शुल्क में ढलाई का वास्तविक मूल्य ही सम्मिलित होता है, लाभ नहीं। जब सरकार ढलाई बिना किसी शुल्क के करती है तो इसे निःशुल्क मुद्रा ढलाई (Gratuitous Coinage) कहते हैं। कभी-कभी सरकार सिक्कों की ढलाई के लिए मुद्रण व्यय से अधिक दाम जनता से वसूल करती है। इस अधिकता को मुद्रण लाभ कहते हैं और इस प्रकार के मुद्रण को सलाभ मुद्रण (Seigniorage) कहते हैं। प्राचीन काल में स्वतंत्र मुद्रा ढलाई कई देशों में—जापान, भारत, इंगलैंड, यू. एस. ए., फ्रांस आदि में प्रचलित थी। भारत में १८९३ ई० तक स्वतंत्र मुद्रण प्रणाली प्रचलित थी। हरशेल समिति के सिफारिश के अनुसार चाँदी का स्वतंत्र मुद्रण रोक दिया गया।

(२) **सीमित मुद्रण** (Limited Coinage)—इस प्रणाली के अंतर्गत सिक्के सरकारी आज्ञा पर ही तैयार किये जाते हैं। सरकार को मुद्रा पूर्ति का एका-धिकार रहता है। सरकार स्वयं धातु खरीद कर मुद्रा की ढलाई कराती है। जनता को स्वतंत्र मुद्रा ढलाई की सुविधा नहीं होती।

मुद्रा-वस्तु की विशेषताएँ (Qualities of a good money material)

ऊपर लिखा जा चुका है कि किसी भी वस्तु की मुद्रा बनाई जा सकती है। जिस वस्तु को समाज के लोग मुद्रा मान लें वही मुद्रा का कार्य कर सकती है। समय-समय पर मुद्रा-वस्तु में परिवर्तन भी होता रहा। जब समाज को किसी विशेष मुद्रा-वस्तु से असुविधा प्रतीत हुई तो दूसरी मुद्रा-वस्तु चुन ली गई, क्योंकि किसी भी वस्तु में मुद्रा बनने के लिए कुछ ऐसे गुणों की आवश्यकता है कि जिससे वह मुद्रा के कर्त्तव्यों का सफल पालन कर सके। उदाहरण के लिए मुद्रा का एक कार्य मूल्य

संचय है, इसलिये यह आवश्यक है कि जिस वस्तु की मुद्रा बनाई जाय वह टिकाऊ हो, अधिक दिनों तक रह सके। यदि वह शीघ्र नष्ट होने वाली हो तो उसके द्वारा मूल्य अथवा धन का संचय नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य कार्यों के करने के लिये मुद्रा-वस्तु में कुछ और भी गुण होने चाहिये। अतः मुद्रा के विभिन्न कार्यों को सफलतापूर्वक करने के लिये मुद्रा-वस्तु में निम्नांकित गुणों का होना आवश्यक है—

(१) सर्वग्राह्यता—मुद्रा-वस्तु ऐसी होनी चाहिये जिसे समाज के सब व्यक्ति स्वीकार कर लें। इसके लिये मुद्रा-वस्तु में उपयोगिता का गुण होना आवश्यक है। वैसे कानून के द्वारा प्रत्येक मुद्रा सर्व-ग्राह्य बना दी जाती है, फिर भी यदि वह वस्तु स्वयं उपयोगी है, मुद्रा के अतिरिक्त वह और भी किसी प्रकार के काम में लाई जा सकती है तो इस प्रकार से बनी हुई मुद्रा में सवग्राह्यता का गुण स्वाभाविक हो जाता है और इस प्रकार की मुद्रा संकटकालीन अवस्था में भी सरलता से अपना कार्य करती रहती है। इसके अतिरिक्त उपयोगी वस्तु की मुद्रा का प्रयोग दूसरे देश में भी किया जा सकता है। सोने का सिक्का अपने देश में तो चलेगा ही पर वह विदेशों में भी यदि सिक्के के रूप में नहीं तो धातु के रूप में अपना मूल्य रक्खेगा। कागज़ी-मुद्रा में यह बात नहीं है। अतः मुद्रा को अधिकाधिक क्षेत्र में सर्वग्राह्य बनाने के लिये मुद्रा वस्तु में यह गुण होना आवश्यक है। अर्थात् मुद्रा-वस्तु में मौद्रिक मूल्य के साथ ही साथ उसका वास्तविक अथवा आन्तरिक मूल्य भी होना चाहिये।

(२) टिकाऊपन, दीर्घायुतिका, दीर्घकालीनता—मुद्रा-वस्तु ऐसी होनी चाहिये जो शीघ्र नष्ट होने वाली न हो। जो अधिक दिन तक टिक सके। यदि वह बहुत दिनों तक रक्खी जाय तो कीड़े, मकोड़ों तथा मौसम आदि के द्वारा नष्ट न की जा सके। उदाहरण के लिये यदि मुद्रा के लिये किसी लकड़ी को चुना जाय तो वह बहुत दिनों तक संग्रह नहीं की जा सकती जबकि सोने-चाँदी के सिक्के बहुत दिनों तक संग्रह किये जा सकते हैं। मुद्रा को धन-संग्रह का कार्य करने के लिये मुद्रा-वस्तु में यह गुण होना आवश्यक है।

(३) वहनशीलता—मुद्रा-वस्तु हल्की होनी चाहिये, उसके एक टुकड़े का मूल्य तो अधिक पर वजन बहुत कम होना चाहिये जिससे मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने में व्यक्तियों को किसी प्रकार की असुविधा न हो तथा उसके स्थानान्तर में व्यय भी अधिक न हो। यह गुण सोने-चाँदी के सिक्कों में लोहे आदि के सिक्कों से अधिक मात्रा में पाया जाता है। एक तोले सोने या चाँदी का मूल्य एक तोले लोहे के मूल्य से कहीं अधिक है। इसीलिए सोने-चाँदी के सिक्के ही बनाये जाते हैं लोहे के नहीं।

(४) समरूपता—जिस वस्तु की मुद्रा बनाई जाय वह वस्तु ऐसी होनी चाहिये जिसके किसी एक टुकड़े अथवा एक पिंड के गुण अथवा मूल्य में भिन्नता

न हो। यदि उससे और भी छोटे-छोटे टुकड़े कर दिये जायँ तो समान-आकार वाले सब टुकड़ों के मूल्य बराबर ही रहें। यदि ऐसा न हो तो इस प्रकार की वस्तु से बने हुए सिक्कों के मूल्यों में विभिन्नता आ जायगी। उदाहरण के लिये यदि दो फीट शीशम की लकड़ी ली जाय तो हो सकता है कि इस लकड़ी का कोई भाग कच्चा हो तथा कोई भाग पक्का हो। पक्के भाग का मूल्य अधिक होता है कच्चे का कम। यदि इस लकड़ी के सिक्के बनाये जायँ तो कच्चे तथा पक्के भाग के सिक्कों की सर्वग्राह्यता में अन्तर पड़ जायगा। कच्चे भाग के सिक्के शीघ्र खराब हो सकते हैं, इसीलिये इन्हें लोग कठिनाई से लेंगे। इसके विपरीत सोने की दो फीट छड़ में इस प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ेगा। उस छड़ में से तो कहीं भी टुकड़े काटे जायँ समान टुकड़ों का समान मूल्य रहेगा। यह गुण सोने तथा चाँदी के टुकड़ों में पाया जाता है, इसीलिये उन्हीं दो धातुओं को सिक्कों के लिये लोगों ने अधिक उपयुक्त समझा है।

(५) सुगेयता- मुद्रा-वस्तु ऐसी होनी चाहिये जिसके पहचानने में कि वह असली है या नक़ली किसी प्रकार की कठिनाइ न पड़नी चाहिये क्योंकि यदि यह पहचान ठीक प्रकार से न हो सके तो समाज में नक़ली सिक्कों का प्रचलन बहुत बढ़ सकता है। असली वं नक़ली सोना चाँदी भी आसानी से पहचानी जा सकता है और इसीलिये ये धातुएँ सिक्कों के लिये अधिकतर प्रयोग में लाई जाती हैं।

(६) सुविभाजता—मुद्रा-वस्तु ऐसी होनी चाहिये कि जिसके टुकड़े करने से मूल्य का ह्रास बिलकुल न हो। जितना मूल्य किसी एक मात्रा के टुकड़े का हो यदि उसके और भी छोटे-छोटे टुकड़े कर लिये जायँ तो उन सबका मूल्य मिला कर पहले वाले टुकड़े के बराबर होना चाहिये। अथवा बहुत से टुकड़ों को मिलाकर एक बड़ा टुकड़ा बना लिया जाय तो भी उसका मूल्य उतना ही रहना चाहिये। यदि मुद्रा-वस्तु में यह गुण न हो तो ऐसी वस्तु की मुद्रा बनाने में हानि उठानी पड़ेगी। १० तोले सोने की एक छड़ का जितना मूल्य है ठीक उतना मूल्य उसको १०० टुकड़ों में भी बेचकर प्राप्त किया जा सकता है और यदि इन टुकड़ों को पिघला कर फिर एक कर दिया जाय तो भी उतना मूल्य मिल जायगा अर्थात् सोने के टुकड़े को और भी छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित कर लेने से उसके मूल्य में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता। यह बात लकड़ी के टुकड़े में नहीं है। इसी गुण के कारण सोना-चाँदी एक अच्छी मुद्रा-वस्तु मानी गई है।

(७) सुलभाान्वता— वस्तु ऐसी होनी चाहिये जिस पर किसी प्रकार का ठप्पा या चिह्न भली प्रकार अंकित हो सके तथा उसके मूल्य में परिवर्तन न हो। उदाहरण के लिए यदि कोई धातु मुद्रा-वस्तु चुनी जाय तो उसमें इस प्रकार से पिघलने की शक्ति होनी चाहिये कि उसमें विशेष आकृति के टुकड़े बनाये जा सकें, उस पर विशेष

प्रकार की मोहर छापी जा सके, किनारे ढाले जा सकें। एक टुकड़े को पिघलाकर छोटे-छोटे टुकड़े किये जा सकें तथा छोटे टुकड़ों को पिघलाकर बड़ा टुकड़ा किया जा सके। यदि मुद्रा-वस्तु के लिये कोई कागज़ चुना गया हो तो वह कागज तथा छापने की स्याही इत्यादि इस प्रकार की हो कि उस पर आसानी से छापा जा सके तथा जो छपे वह बिगड़ न सके और न उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन किया जा सके। सिक्कों के ऊपर की अंकित सामिग्री वैसी ही बनी रहनी चाहिये।

(८) मूल्य-स्थिरता—मुद्रा वस्तु का मूल्य स्थिर रहना चाहिये। उस वस्तु के मूल्य में समय-समय पर अधिक परिवर्तन नहीं होना चाहिये। वस्तु के बाजार मूल्य में बार-बार परिवर्तन होने से मुद्रा के चलन में कठिनाई हो सकती है। सिक्के का मूल्य धातु के रूप में अधिक हो सकता है। ऐसी दशा में लोग सिक्कों को पिघलाकर धातु के रूप में बेचने लगेंगे तथा सरकार सिक्कों की पूर्ति करने में असफल हो जायगी। इसके साथ ही साथ ऋणों के भुगतानों में भी कठिनाई होगी। लेन-देन का कार्य तभी सफलतापूर्वक हो सकता है जब मुद्रा-वस्तु का मूल्य प्रायः स्थिर रहे।

(९) सीमितता—मुद्रा-वस्तु की पूर्ति सीमित होनी चाहिये। वह वस्तु लोगों को आसानी से न मिल जानी चाहिये। जिस वस्तु की पूर्ति सीमित नहीं होती अधिक मात्रा में हर समय हर स्थान पर मिल जाती है, उसका कोई मूल्य नहीं रहता अथवा बहुत कम मूल्य होता है। इस प्रकार की वस्तु की मुद्रा सफल नहीं हो सकती। जिस वस्तु की मुद्रा बनाई जाय उस वस्तु की पूर्ति बहुत ही कम अर्थात् सीमित होनी चाहिये। सोने-चाँदी में यह बात पाई जाती है। इन धातुओं की पूर्ति बहुत ही कम होती है, इसीलिये इनको मुद्रा के लिये आदर्श धातु माना जाता है।

उपरोक्त गुण मुद्रा के आधुनिक कार्यों के लिये अति आवश्यक है। मुद्रा विनिमय माध्यम का कार्य सफलतापूर्वक तभी कर सकती है जब मुद्रा वस्तु में सर्वग्राह्यता, वहनशीलता तथा सुगमनीयता के गुण हों। मूल्य मापक होने के लिये मुद्रा-वस्तु का समरूप तथा सुगेय होना आवश्यक है। मूल्य संचय का कार्य करने के लिये मुद्रा-वस्तु के मूल्य में स्थिरता होनी चाहिये तथा वह अधिक दिनों तक टिकनेवाली होनी चाहिये। इसी प्रकार मुद्रा के द्वारा स्थगित देयमान का कार्य भली भाँति तभी हो सकता है जबकि मुद्रा-वस्तु के मूल्य में स्थिरता हो। इस प्रकार मुद्रा के कर्त्तव्यों तथा मुद्रा-वस्तु के गुणों में घनिष्ठ संबन्ध हो। उपरोक्त गुणों के न होने में मुद्रा अपने सारे कार्यों का सफलतापूर्वक संचालन नहीं कर सकती। सोने-चाँदी में प्रायः ये सब गुण पाये जाते हैं। और इसीलिये इन दोनों धातुओं को मुद्रा के लिये आदर्श माना गया है।

आधुनिक काल में धातु मुद्रा का चलन बहुत कम हो गया है। अब अधिकतर कागजी मुद्रा का ही प्रयोग हो रहा है। अतः मुद्रा-वस्तु सोने-चाँदी के स्थान में

कागज ही है। कागज में वे सब गुण नहीं पाये जाते जो गुण एक मुद्रा-वस्तु में होने चाहिये और सम्भव है कि मुद्रा सम्बन्धी आर्थिक संकट वर्तमान समय में कागज़ी मुद्रा अपनाने से ही उत्पन्न हो गया है।

मौद्रिक नीतियाँ

प्रत्येक मौद्रिक नीति का अन्तिम उद्देश्य मुद्रा के आन्तरिक व बाह्य मूल्यों में स्थिरता लाना होता है, क्योंकि तभी पदार्थों के मूल्यों में स्थिरता आती है। मूल्यों की स्थिरता देश के औद्योगिक तथा व्यापारिक उन्नति के लिये आवश्यक है। इसलिये देश की सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक को समय-समय पर परिस्थितियों के अनुसार ऐसी मुद्रा नीति अपनानी पड़ती है जिससे मूल्यों की स्थिरता बनी रहे।

प्रायः मुद्रा के मूल्यों में परिवर्तन मुद्रा प्रसार अथवा मुद्रा संकुचन से अधिक होते हैं। इसलिये यदि मुद्रा प्रसार अथवा मुद्रा संकुचन नियंत्रित किया जा सके अथवा इन अवस्थाओं को दूर किया जा सके तो मूल्यों में स्थिरता आने की सम्भावना हो जाती है। मुद्रा प्रसार को रोकने के लिये दो प्रकार के उपायों का प्रयोग किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी के उपायों के द्वारा मुद्रा प्रचलन की मात्रा में कमी की जाती है तथा द्वितीय श्रेणी के प्रयत्नों में उत्पत्ति में वृद्धि की जाती है। मुद्रा चलन की मात्रा को कम करने के लिये प्रायः निम्नांकित उपायों का प्रयोग किया जाता है—

(१) नवीन पत्र-मुद्रा का निर्गमन बंद कर दिया जाय।

(२) प्रचलित मुद्रा को समाप्त कर दिया जाय और उसके स्थान पर कम मात्रा में नवीन मुद्रा चालू की जाय।

(३) वेतनों, मजदूरियों तथा बैंकों में जमा की हुई धन-राशि अनिवार्य रूप से कम कर दी जाय। वेतन तथा मज़दूरी कम करने से जनता के पास कम मुद्रा पहुँचती है। बैंकों में जमा की हुई रकम कम करने से बैंकों द्वारा उधार दी जाने वाली रकम कम हो जाती है।

प्रश्न

१. नियंत्रित चलन (Managed Currency) से आपका क्या तात्पर्य है ? इसके लाभ तथा हानियों की विवेचना करो। (आगरा, बी० ए० १९५९)

2. "Metallic money has lost its importance in modern economic life." Explain and amplify this statement.

(*Agra B. Com. Pt.* I, 1957)

अध्याय ३

मुद्रा-मान (Monetary Standards)

मुद्रा-मान एक अधिक विस्तृत शब्द है। मुद्रा संबंधी सभी प्रकार के नियम, सभी प्रकार की व्यवस्थाएँ, आदि इस क्षेत्र में आती हैं। इस में प्रामाणिक सिक्के, सांकेतिक सिक्के, कागजी-नोट, साख-मुद्रा का विकास, बहुमूल्य धातुओं का क्रय-विक्रय एवं आयात-निर्यात तथा मूल्य-मान सम्मिलित हैं। मूल्य मान का तात्पर्य उस मुद्रा इकाई से है जिसमें किसी देश की सभी वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य नापा जाता है। एक आदर्श मुद्रा मान कीमतों को स्थिरता प्रदान कर आर्थिक अनिश्चितता को दूर करता है तथा देश में ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित करता है जिनमें देश का व्यापार, व्यवसाय एवं वाणिज्य पनप कर उन्नति कर सके। इस प्रकार मुद्रा-मान का अधिक महत्व बढ़ गया है।

मुद्रा-मान दो प्रकार के होते हैं:—(अ) धातु मान (Metallic Standard) जिसमें धातु की मुद्रा चलन में रहती है, और (ब) पत्र मान (Paper Standard) जिसमें कागज़ी मुद्रा का ही मूल्य के मान के रूप में उपयोग किया जाता है।

(अ) धातु-मान के इस प्रकार से भेद किये जा सकते हैं—

(१) **एक धातुमान** (Monometallism) केवल एक ही प्रकार की धातु के सिक्के चलन में रहते हैं। चलन में स्वर्ण अथवा रजत धातु ही (कोई एक) रहती है। भारत में १८९३ ई० तक रजत-मान रहा था। इंगलैंड में १९३१ तक तथा फ्रांस में सन् १९३६ तक स्वर्णमान रहा। जब मुद्रा स्वर्ण की या उसका मूल्य स्वर्ण के आधार पर आँका जाता है तो उसे स्वर्णमान कहते हैं और जब मुद्रा चाँदी की होती है तो उसे रजत मान (Silver standard) कहते हैं।

(२) **द्विधातुमान** (Bimetallism) जब दो धातुओं—प्रमुखतः स्वर्ण एवं रजत—के सिक्के एक साथ ही प्रामाणिक सिक्कों के रूप में चलन में रहते हैं तो इसे द्विधातु मान कहते हैं। दोनों प्रकार के सिक्के असीमित विधि-ग्राह्य होते हैं तथा दोनों धातुओं की विनिमय दर कानून द्वारा निश्चित की जाती है, परन्तु जब दोनों धातुओं के सिक्के चलन में हों और उनमें से एक सिक्के की ढलाई स्वतन्त्र होती हो और दूसरी धातु के सिक्कों की ढलाई सीमित हो तो इस प्रकार के द्विधातु मान को पंगु धातुमान (Limping bimetallism) कहा जाता है। इस मान को पंगु

या लँगड़ा इसलिए कहा जाता है कि जिस धातु के सिक्के की स्वतंत्र ढलाई नहीं होती वह कठिनाई के साथ चालू रहता है— मुद्रा-मान की एक टाँग बेकार रहती है। फ्रांस में इस प्रकार का मान प्रचलित था जहाँ चाँदी के सिक्कों की स्वतन्त्र ढलाई नहीं थी। जब दोनों धातुओं के सिक्के असीमित विधिग्राह्य एवं स्वतन्त्र ढलाई वाले हों परन्तु परस्पर विनिमय कानून द्वारा निश्चित (जैसा कि द्विधातुमान में होता है) न होकर बाजारू कीमतों के आधार पर निश्चित होने के लिए छोड़ दिये जाते हैं तो इस प्रणाली को सामानुपाती द्विधातु मान (Parallel bimetallic standard) कहते हैं। यह टकसाली अनुपात स्थिर न होकर कीमतों के परिवर्तन के साथ बदलता रहता है।

(३) **प्रादिष्ट मान** (Fiat standard)—प्रादिष्ट मान में मुद्रा की इकाई की कीमत स्वर्ण अथवा अन्य किसी प्रकार की धातु की एक निश्चित मात्रा के बराबर नहीं रखी जाती। इस प्रकार की मुद्रा की इकाई का मूल्य दूसरी किसी भी वस्तु की कीमत से स्वतन्त्र रूप में निर्धारित होती है। सरकार जानते हुए भी ऐसी मुद्रा की निकासी कर सकती है जिसका धातु-मूल्य नहीं के बराबर हो। सन् १८६२ से १८७६ ई० के बीच तक इस प्रकार का मान संयुक्त राज्य अमेरिका में चालू रहा। इस प्रकार के मान से एक लाभ यह है कि मुद्रा और साख को इतना बढ़ाया जा सकता है कि देश के मनुष्यों को यथेष्ट रोजगार मिल सके। दूसरे, यथेष्ट प्रबंध द्वारा इस मान को धातु-मान की अपेक्षा अधिक लोचवान (elastic) बनाया जा सकता है। परन्तु इसके प्रचलन में दो मुख्य कठिनाइयाँ हैं :—(१) यदि सभी देश इस मान को अपना लें तो अतर्राष्ट्रीय व्यापार में बहुत उलझन पैदा हो जायगी तथा, (२) यह भय सदैव बना रहता है कि प्रादिष्ट मुद्रा की अधिक निकासी न हो जाय।

एक धातुमान के लाभ (Advantages of monometallism)

(१) ऐक ही धातु की मुद्रा चलन में रहने के कारण यह मान लोगों की समझ में आसानी से आ जाता है तथा ग्रेशम का नियम, कि दो धातुओं के चलन में अच्छी धातु के सिक्के चलन से लुप्त हो जाते हैं, भी लागू नहीं हो पाता।

(२) बहुमूल्य धातु—सोना या चाँदी के सिक्के चलन में रहने के कारण इस मान में जनता का विश्वास भी अधिक बना रहता है।

(३) स्वर्ण या रजत पर मह मान आश्रित होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा लेन-देन में सुविधाजनक रहता है।

(४) स्वर्ण या रजत की कीमतों में उतार-चढ़ाव बहुत कम होते हैं। अतः इस मान के भी अन्तर्गत मूल्यों में स्थिरता बनी रहती है।

एक धातुमान के दोष (Disadvantages)

(१) संसार भर में सोने अथवा चाँदी की मात्रा के अपर्याप्तता के कारण सब देश इस मान को एक साथ नहीं अपना सकते।

(२) इस मान के अंतर्गत आवश्यक लोच का अभाव रहता है। यदि मुद्रा की आवश्यकता हो परंतु पर्याप्त स्वर्ण या रजत कोष में न हो तो मुद्रा की निकासी नहीं हो सकती, जैसे युद्ध काल में। इसी कारण से प्रथम विश्व युद्ध के उपरांत अधिकांश देशों ने इस मान को त्याग दिया।

द्विधातुमान (Bimetallism) भी संसार में पर्याप्त समय तक प्रचलित रहा। इंगलैंड, अमरीका, फ्रांस, इटली आदि देशों ने इस मान को अपनाया। १६०६ ई० में इस मान का अंत हुआ। द्विधातुमान की सफलता के लिए निम्नांकित चार बातों की आवश्यकता रहती है—

(अ) प्रत्येक द्विधातुमान देश को अपनी मुद्रा की इकाई की कीमत सोने की निश्चित मात्रा के बराबर घोषित करनी पड़ती है और साथ-साथ मुद्रा इकाई को एक निश्चित मात्रा के बराबर रखना पड़ता है।

(ब) सरकार सोना और चाँदी की स्वतंत्र ढलाई तथा स्वतंत्र बाजार की व्यवस्था करती है ताकि देश के भीतर और बाहर सोने और चाँदी के सिक्कों की कीमत उनके वास्तविक मूल्य (intrinsic value) के बराबर रहे।

(स) सोना और चाँदी के सिक्के दोनों ही अपरिमित विधि ग्राह्य घोषित करने पड़ते हैं।

(द) एक प्रकार के सिक्कों के बदले में दूसरे प्रकार के सिक्कों को बदलने की गारंटी देनी होती है।

द्विधातुमान के लाभ (Advantages)

(१) द्विधातुमान प्रणाली के अंतर्गत सुरक्षित कोष विस्तृत रहते हैं और जनता का विश्वास बना रहता है। मुद्रा की परिवर्तनशीलता बनी रहती है; क्योंकि यदि एक धातु कम प्राप्त होती है तो दूसरी धातु उसकी पूर्ति कर देती है। यह बात एक धातुमान में नहीं होती।

(२) इस प्रणाली में कीमतें अधिक स्थिर रहती हैं। सोना और चाँदी दोनों ही चलन में रहने के कारण यदि एक धातु का मूल्य कम हो जाता है तो दूसरी का बढ़ सकता है अथवा एक की पूर्ति अधिक हो तो दूसरी की कम हो सकती है और इस प्रकार से मुद्रा के क्षति पूरक कार्यों (Compensatory actions) द्वारा मूल्यों का स्थिरीकरण हो जाता है। यदि एक ही धातु का कोष है तो सुरक्षित कोष की कीमत में भारी परिवर्तन होने का भय रहता है।

(३) द्विधातु मान वाले देश का विदेशी व्यापार उन सभी देशों के साथ सुविधापूर्वक चल सकता है जिनकी मुद्रा सोने या चाँदी की है। एक धातुमान वाले देश का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार इतना विस्तृत नहीं हो सकता और न विदेशी विनिमय में अधिक स्थिरता ही आ सकती है।

द्विधातुमान प्रणाली के दोष (Defects)

(१) इस प्रणाली के अंतर्गत ग्रेशम का नियम लागू होता है, जिसके अनुसार अच्छी मुद्रा चलन से बाहर हो जाती है। इससे विनिमय अनुपात नष्ट हो जाता है और एक धातुमान स्थापित हो जाता है।

(२) द्विधातुमान प्रणाली तभी सफल होती है जब संसार के अन्य देश इस प्रणाली को मानते हों। अंतर्राष्ट्रीय सहयोग से दोनों धातुओं के बाजारू तथा टकसाली अनुपात में समानता रखी जा सकती है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान स्थापित हो जाने से ग्रेशम का सिद्धान्त लागू नहीं होगा। परंतु संसार के देश अपने व्यक्तिगत हितों की ओर ही अधिक देखते हैं, अतः अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की संभावना कम रहती है।

(३) द्विधातुमान प्रणाली के अन्तर्गत सोने और चाँदी की सट्टेबाजी को भी खूब प्रोत्साहन मिलता है। प्रत्येक व्यापारी को वस्तुओं के दाम सोने और चाँदी में अलग-अलग लिखने पड़ते हैं। बाजार में दोनों सिक्कों के अनुपात बदलते रहते हैं और साथ ही वस्तुओं का मूल्य भी बदलता रहता है। इससे आन्तरिक व्यापार में बड़ी कठिनाई उत्पन्न होती है।

(४) दो धातुओं के सिक्के चलन में रहने के कारण सदैव मुद्रा प्रसार की सम्भावना बनी रहती है जिससे आर्थिक व्यवस्था गड़बड़ हो जाती है जिसका सामाजिक व आर्थिक प्रभाव बड़ा गम्भीर पड़ता है। इसके अतिरिक्त दोनों धातुओं के सिक्कों में घिसावट की हानि भी रहती है।

(५) दो धातुओं के चलन में क्षतिपूर्ति कार्य (Compensatory action of the double standard) तभी तक पूरा होता है जब कि दोनों प्रकार के पर्याप्त कोष हों। एक धातु की कीमत गिरने के कारण जो वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होती है वह दूसरी धातु के मूल्य में वृद्धि होकर वस्तुओं के मूल्य कम कर सकती है। इस प्रकार यह क्षतिपूर्ति का कार्य होता है। व्यावहारिक जीवन में दोनों धातुओं के कोष कभी भी पर्याप्त नहीं हो पाते जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान स्थापित नहीं हो सकता।

ग्रेशम का नियम (Gresham's Law)

बुरी मुद्रा की अच्छी मुद्रा के चलन से बाहर कर देने की प्रवृत्ति को ही

ग्रेशम का नियम कहते हैं। सर टामस ग्रेशम इंगलैंड की महारानी एलिजाबेथ प्रथम के आर्थिक सलाहकार थे। ग्रेशम ने मुद्रा सम्बन्धी अध्ययन करके यह नियम प्रतिपादित किया कि यदि किसी देश में एक ही समय अच्छी और बुरी मुद्रा का चलन हो तो बुरी मुद्रा की प्रवृत्ति सदैव अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकालने की रहती है (Bad money drives good money out of circulation)। अच्छी मुद्रा से अभिप्राय उन सिक्कों से था जो वज़न में पूरे होते हैं, वैधानिक रूप से असीमित मात्रा में ग्राह्य हों तथा दूसरी मुद्रा में परिवर्तनशील हों। बुरी मुद्रा से उनका अर्थ घिसे-पिटे अथवा सीमित, अपरिवर्तनशील सिक्कों से था। महारानी ने मुद्रा सुधार के लिए बाजार में पूर्णकाय (full-bodied) सिक्के प्रसारित हुए परन्तु अनुभव विपरीत दिशा में रहा कि अच्छे सिक्के चलन में आते ही बाजार से अदृश्य हो जाते रहे और निकृष्ट सिक्के ही चलन में रह गए। ग्रेशम ने अध्ययन के पश्चात् उपरोक्त नियम निकाला जिसको बाद में मार्शल ने इस प्रकार स्पष्ट किया "घटिया मुद्रा, यदि संख्या में परिमित नहीं है, तो वह बढ़िया मुद्रा को चलन से निकाल बाहर करेगी।" (An inferior currency, if not limited in quantity, will drive the superior currency out of circulation— Marshall)। मार्शल की परिभाषा में 'यदि मात्रा में परिमित नहीं है' जुड़ा है। इस वाक्य का आशय यही है कि यदि किसी देश में खराब मुद्रा सीमित मात्रा में हुई तो आगे चलकर यह मुद्रा समाप्त हो जायेगी और उसका स्थान नई मुद्रा ले लेगी। परन्तु अपरिमित हो तो खराब मुद्रा ही चलन में रहती है अच्छी मुद्रा को जनता जमा (hoard) कर लेती है। टेलर का कहना है कि जो मुद्राएँ विनिमय या धातु मूल्य में घटिया होती हैं वे उन मुद्राओं की अपेक्षा जो विनिमय या धातु मूल्य में अधिक श्रेष्ठ होती हैं, चलन में रहने की अधिक ग्राहकता या दृढ़ता (tenacity) दिखलाती हैं।

नियम के लागू होने के कारण (Why does the law operate)— इस प्रश्न को समझना, कि अच्छी मुद्राएँ चलन से किस प्रकार अलग हो जाती हैं, अधिक कठिन नहीं है, क्योंकि प्रथमतः लोगों में मुद्रा जमा करने अथवा एकत्रित रखने की (hoarding), स्वभावतः इच्छा होती है और इन उद्देश्यों के लिये पूर्णकाय सिक्के, नये सिक्के व नोटों ही का प्रयोग रहता है और दैनिक चलन के लिये बुरी मुद्रा अर्थात् घिसी, कम वजन या कम मूल्य की मुद्रा से ही काम चलाते हैं। दूसरे, सिक्कों को गलाने के लिये और आभूषण आदि बनवाने के लिये भी पूर्णकाय, नये सिक्के ही लाभदायक रहते हैं। पुराने, कम वजन वाले सिक्कों में हानि होने की सम्भावना रहती है। अतः इस प्रकार के सिक्के बाजार में चलन में रखे जाते हैं और अच्छे सिक्के चलन से बाहर हो जाते हैं। तीसरा कारण है विदेशी भुगतान तथा

निर्यात का। विदेशों के भुगतान के लिये धातु के सिक्के ही विदेशियों द्वारा स्वीकृत किये जाते हैं और इन सिक्कों को तौल के हिसाब से लिया जाता है। यही कारण है कि विदेशी भुगतान अथवा निर्यात के लिये सबसे अच्छे सिक्के लिये जाते हैं और खराब सिक्के चलन में रह जाते हैं।

नियम का क्षेत्र (Scope of the Law)

ग्रेशम का नियम मनुष्य की प्रकृति को ही प्रदर्शित करता है और प्रत्येक मुद्रा-मान में लागू होता है, जैसे—

(१) एक धातुमान (Monometallism) **प्रणाली में**— जब एक ही धातु के प्रामाणिक अथवा सांकेतिक सिक्के चलन में रहते हैं तो उनमें से कुछ घिसे, कम वजन वाले या पुराने सिक्के हो सकते हैं और कुछ नये, वजन में पूर्ण हो सकते हैं। पिछली प्रकार के सिक्के चलन से बाहर हो जाते हैं और प्रथम प्रकार के सिक्के चलन में बने रहते हैं। और यदि सांकेतिक एवं प्रामाणिक सिक्के चलन में हैं तो सांकेतिक सिक्के ही चलन में रहेंगे और प्रामाणिक सिक्के जमा किये जाने लगेंगे। जार्ज पंचम और विक्टोरिया के सिक्के भारत में एक ही समय चलन में थे। विक्टोरिया के सिक्के चलन से बाहर हो गये क्योंकि उनमें चाँदी का अधिक अंश था।

(२) द्विधातुमान (Bimetallism) **पद्धति में**—यदि दो बहुमूल्य धातुओं के सिक्के एक कानूनी निश्चित दर पर चलते हों तो जिस धातु का टकसाल पर अधिक मूल्य लगाया जाता है वह उस धातु के सिक्कों को चलन से हटा देगा जिसका मूल्य टकसाल पर बाजार से कम लगाया जाता है। उदाहरणार्थ किसी देश में सोने और चाँदी के सिक्कों का टकसाली मूल्य १ : १५ है अर्थात् १ सोने का सिक्का १५ चाँदी के सिक्कों के बराबर है। अब यदि बाजार में चाँदी का भाव गिर जाता है और बाजार भाव १:१६ हो जाता है परन्तु टकसाल पर वही मूल्य प्रचलित है अर्थात् चाँदी का मूल्य अधिक लगाया जा रहा है और सोने का मूल्य कम। अतः सोने से सिक्के दबा कर रख लिये जायँगे और चाँदी के सिक्के ही चलन में रहेंगे। दूसरे शब्दों में अतिमूल्यत सिक्के (Overvalued Currency) अवमूल्यत मुद्रा (undervalued currency) को चलन से बाहर कर देगा।

(३) पत्र-मुद्रा चलन (Paper Currency) में—यदि एक ही प्रकार की पत्र-मुद्रा चलन में है तो सड़े-गले; फटे-पुराने नोट चलन में रहेंगे और अच्छे नए नोट लोग जमा कर लेंगे। यदि परिवर्त्तनशील तथा अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा एक साथ चालू हैं तो परिवर्त्तनशील पत्र-मुद्रा अच्छी समझी जाने के कारण चलन से बाहर हो जायगी और अपरिवर्त्तनशील मुद्रा चलन में रहेगी।

नियम के अपवाद (Exceptions or Limitations of the Law)

ग्रेशम का विचार था कि यह नियम सभी दशाओं में लागू होता है परंतु निम्नांकित परिस्थितियों में यह नियम लागू नहीं होता—

(१) किसी देश की अच्छी और बुरी समस्त प्रकार की मुद्रा की मात्रा, वास्तविक मुद्रा की माँग से अधिक न हो तो यह नियम लागू नहीं होता क्योंकि सभी प्रकार के सिक्के चलन में आवश्यक होंगे। हाँ यदि मुद्रा की कुल मात्रा उसकी संपूर्ण माँग से अधिक हो तो अतिरिक्त मात्रा के बराबर अच्छे सिक्के चलन से बाहर हो जायँगे।

(२) यदि समस्त समाज बुरे सिक्कों का पूर्ण रूपेण बहिष्कार कर दे तो बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर नहीं कर सकेगी।

(३) यदि मुद्रा इतनी खराब हो चुकी है कि लोग उसे अस्वीकार करने लगे हैं तो वह नोट या सिक्का स्वयं प्रचलन से निकल जायगा।

(४) यदि बुरी मुद्रा की मात्रा सीमित है तो यह नियम लागू नहीं होता क्योंकि सीमित होने के कारण आगे चल कर उनका चलन समाप्त हो जायेगा।

(५) यदि सभी राष्ट्र द्विधातु मान प्रणाली को अपना लें तो उसमें क्षति-पूरक प्रभाव के कारण ग्रेशम का नियम लागू नहीं होगा क्योंकि यह प्रणाली निश्चित समानुपातिक आधार पर प्रचलित होती है।

(६) यदि देश में बैंकिंग व्यवस्था पूर्णतः विकसित हो चुकी है और लोग चेकों का प्रयोग करते हैं तो फिर मुद्रा के चलन का प्रश्न ही नहीं उठता और न फिर ग्रेशम का नियम ही लागू होता है।

धातुमान और द्विधातुमान के अंतर्गत यह नियम विशेष रूप से प्रतिपादित होता है। धातुमान का अंत होने के साथ एवं कागजी मान के विकसित होने के साथ इस नियम में शिथिलता आ गई है। परंतु फिर भी यह नियम सत्य है। सन् १९४०-४२ में भारत में चाँदी का रुपया इसी नियम के अंतर्गत बंद हुआ था।

प्रश्न

१—"जब अच्छे द्रव्य और बुरे द्रव्य मुद्रा में प्रचलित हैं और दोनों में से किसी में भी ऋण का भुगतान किया जा सकता है तो अच्छे द्रव्य को या तो गला देते हैं या देश के बाहर भेज देते हैं।" इस नियम की विवेचना कीजिए। (आगरा बी. ए. १९५७)

2. Discuss the essentials of a good currency system. Does the Indian currency system satisfy the test of a good currency system? (*Agra B. Com.* 1957)

3. Discuss the advantages and dangers of paper money. How can its overissue be checked? (*Agra B. Com.* I, 1957)

अध्याय ४.

स्वर्णमान

एक धातुमान का सुप्रसिद्ध एवं सर्वप्रिय मान स्वर्णमान रहा है। इसके अंतर्गत स्वर्ण को मूल्यमान के रूप में उपयोग किया जाता है। अर्थात् देश की मुद्रा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है। रॉबर्टसन (Robertson) ने इस मान की परिभाषा इस प्रकार से की है, "स्वर्णमान वह स्थिति है जिसमें एक देश अपनी मौद्रिक इकाई-मूल्य एवं स्वर्ण की निश्चित मात्रा का मूल्य परस्पर बराबर रखता है।" (Gold standard is a state of affairs in which a country keeps the value of its monetary unit and value of a defined weight of gold at an equality with one another,—Robertson.) कालबोर्न (Coulborn) की परिभाषा भी इसी से मिलती-जुलती है—"स्वर्णमान एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अंतर्गत एक चलन की मुद्रा की मुख्य इकाई एक निश्चित स्वर्ण की मात्रा में बदली जा सकती है।" (The gold standard is an arrangement whereby the chief piece of money of a country is exchangable with a fixed quantity of gold of a specific quality.) स्वर्णमान वाले देश में विधान द्वारा कोषागार, या केन्द्रीय बैंक पर यह उत्तरदायित्व डाल दिया जाता है कि वह निश्चित दरों पर देश की मुद्रा को स्वर्ण में बदलता रहे। उदाहरणार्थ बैंक ऑफ इंगलैंड पर यह उत्तरदायित्व था कि ४.२४०६ पौंड प्रति औंस की दर पर प्रत्येक विक्रेता से स्वर्ण क्रय करे एवं ४.२४७७ पौंड प्रति औंस की दर पर प्रत्येक क्रेता को सोने का विक्रय करे।

स्वर्णमान के लिए आवश्यक दशाएँ (Conditions for gold standard—स्वर्णमान को बनाए रखने के लिए निम्नांकित दशाएँ आवश्यक हैं —

देश को अपनी प्रचलित मुद्रा तथा मान की इकाई को सोने के मूल्य में निश्चित करना होता है। यह भी दो प्रकार से संभव हो सकता है। प्रथमतः मुद्रा-इकाई में सोने की मात्रा निश्चित कर दी जाती है, जैसा इंगलैंड में किया गया था। तथा दूसरे सोने की टकसाली (Mint value) मूल्य निर्धारित कर दिया जाता है जैसे भारत में एक तोले सोने का मूल्य २१।≡) १० घोषित किया गया था जो अब ६२ रु० ५० नए पैसे निर्धारित किया गया है।

(२) बैंक या किसी अन्य मुद्रा अधिकारी को इसी निश्चित कीमत पर स्वर्ण विक्रेताओं से क्रय करना चाहिए तथा क्रेताओं को बेचना चाहिए।

(३) चालू मुद्राएँ (Token coins) मुख्य मुद्राओं (standard coins) में परिवर्त्तनशील होनी चाहिए।

(४) स्वर्ण के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का भी प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए।

सरकार स्वर्णमान के प्रचलन के लिए आवश्यक नियम बनाती है और यह भी निश्चित करती है कि स्वर्णमान को किस रूप में स्वीकृत किया जाय।

स्वर्णमान के रूप (Forms of gold standard)

स्वर्णमान के निम्नांकित चार रूप देखने को मिलते हैं।

(अ) स्वर्ण मुद्रा मान (Gold currency standard)—इस मान को स्वर्ण टंक मान (gold coin standard) या स्वर्णमान मुख्य (gold standard proper) भी कहते हैं। इस प्रकार के मान की ये विशेषताएँ हैं—

(१) सोने के सिक्के चलन में रहते हैं।

(२) सोने की स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई होती है।

(३) भुगतान के लिए स्वर्ण अपरिमित विधि ग्राह्य होता है।

(४ स्वर्ण का आयात-निर्यात अप्रतिबन्ध रूप से होता है।

(५) चलन की मुद्रा की मात्रा स्वर्ण कोष पर निर्भर होती है। कोष के घटने-बढ़ने के साथ ही मुद्रा मात्रा में भी कमी या वृद्धि होती है।

(६) सभी प्रकार की मुद्रा स्वर्ण में परिवर्त्तनशील रहती है।

प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व चीन और भारत आदि देशों को छोड़ कर सभी देशों में इस मान का प्रचलन था। इंगलैंड में सॉवरेन (Sovereign) के रूप में स्वर्ण की मुद्रा प्रचलित थी। इस सॉवरेन में ११३ १/६२३ ग्रेन शुद्ध सोना होता था तथा शेष टाँका जिसकी कीमत ३ पौंड १७ शि० १०½ पैंस होती थी तथा इसी कीमत पर बैंक ऑफ इंगलैंड सोना बेचता था और आवश्यकता पर ३ पौं० १७ शि० ९ पं० के मूल्य पर क्रय करता था। अमेरिका ने यह मान १९३३ ई० में छोड़ा था। इस मान में मुद्रा की मात्रा स्वर्ण कोष पर निर्भर करती है, अतः मुद्रा में प्रसार एवं अत्यधिक संकुचन का भय अधिक नहीं रहता। इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति प्रकृति पर छोड़ दी जाती है। अंतर्राष्ट्रीय बाजार में भी विनिमय दरों में परिवर्त्तन आयात तथा निर्यात व्यय की सीमाओं तक ही संकुचित रहता था। स्वर्ण का स्वतंत्र आयात-निर्यात होने के कारण देश के स्वर्ण कोषों में परिवर्त्तन होते रहते थे जिससे कीमत भी उतरती-चढ़ती रहती थी जिसका प्रभाव देश के स्वर्ण के आयात-निर्यात पर पड़ता था।

स्वर्ण-मुद्रा मान के लाभ (Advantages of G. C. S.)

इस मान के प्रमुख लाभ निम्नांकित हैं—

(१) इसमें स्वर्ण के सिक्के चलन में रहने के कारण जनता का विश्वास बना रहता है। यदि अंकित मूल्य (face value) समाप्त भी हो जाय तो उस सिक्के के आंतरिक मूल्य (intrinsic value) बनी रहती है जिससे स्वर्ण किसी दूसरे उपयोगी कामों मे लिया जा सकता है। इस प्रणाली में पत्र-मुद्रा एवं अन्य छोटे सिक्के स्वर्ण में परिवर्त्तनशील रहते हैं जिससे विश्वसनीयता और बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त स्वर्ण कोष के बराबर ही मुद्रा निकाली जाने की प्रथा होने के कारण भी विश्वास बढ़ जाता है।

(२) यह प्रणाली स्वयं संचालित होती है, कारण कि स्वर्ण के आयात-निर्यात पर सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं होता। स्वर्ण के अनुसार ही मुदा की मात्रा रहती है। जब सोना अधिक आयात हो जाता है तो मुद्रा की मात्रा बढ़ती है जिससे मूल्य स्तर बढ़ जाते हैं और आयातों को प्रोत्साहन मिलता है। परिणामतः प्रतिकूल भुगतान संतुलन (unfavourable balance of trade) होता है और स्वर्ण (जो अधिक था) निर्यात कर दिया जाता है। इस प्रकार मूल्य-स्तर स्वतः ही ठीक हो जाते हैं। सरकार को स्वयं-संचालकता लाने के लिए भी अधिक प्रयत्न नहीं करने पड़ते।

(३) मूल्यों में अधिक उतार-चढ़ाव नहीं होते। मूल्यों में परिवर्त्तन का प्रमुख कारण मुद्रा की क्रय शक्ति में परिवर्त्तन रहता है। परंतु सोने की मात्रा में बहुत ही कम परिवर्त्तन होते हैं और स्वयं धातु के मूल्य में स्थिरता बनी रहती है। इससे देश के मूल्यों में भी अधिक उतार-चढ़ाव नहीं हो पाते।

(४) इस प्रणाली में विदेशी विनिमय दर भी स्थिर रहती है। जब सभी देशों में स्वर्णमान का चलन होता है और उनकी मुद्राओं की कीमत सोने की कीमत पर आधारित होती है तो उन देशों की पारस्परिक विनिमय दरो में भी स्थिरता आ जाती है। इससे विदेशी व्यापार में वृद्धि होती है।

स्वर्ण मुद्रा-मान के दोष (Disadvantages)

वास्तव में देखा जाए तो स्वर्णमान के लाभ काल्पनिक हैं। व्यावहारिक जीवन में अनेक दोष दृष्टिगोचर हुए हैं, जैसे—

(१) यह मान देश की मुद्रा-प्रणाली को प्रकृति पर निर्भर एवं बेलोच (inelastic) बना देता है। मुद्रा की मात्रा स्वर्ण-कोष पर निर्भर रहती है, अतः इसे वही राष्ट्र अपना सकते हैं जो धनवान हैं। सब राष्ट्र या कम स्वर्ण रखने वाले देश इस प्रणाली को अपनाने में असमर्थ रहते हैं। साथ ही यह मान केवल शांति के समय ही प्रतिपादित हो सकता है संकट-काल या युद्ध-काल में नहीं। इसीलिये इसे अच्छे दिनों का साथी (fair weather friend) कहा गया है।

(२) यह प्रणाली बहुत खर्चीली है। स्वर्ण का एक बड़ा भाग ताले में बंद पड़ा रहता है। इससे उस स्वर्ण का देश के अन्य आर्थिक हितों में प्रयोग नहीं हो पाता और न उस पर ब्याज के रूप में कुछ आय ही प्राप्त हो पाती है। फिर स्वर्ण के सिक्के प्रचलन में रहने के कारण उनमें घिसावट आती है। यह राष्ट्रीय हानि है जिसे शायद ही कोई राष्ट्र बर्दाश्त कर सके।

(३) स्वर्णमान तभी सफल हो सकता है जब कि उसे अंतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त हो और सभी देश स्वर्णमान के नियमों का पालन करें। परंतु प्रथम महायुद्ध के समय और बाद में कोई देश अपने निर्यात-आयात निर्बाध रूप से नहीं कर सका और प्रतिबंधित मुद्रा-प्रणाली अपनानी पड़ी।

(४) विदेशी विनिमय दरों में स्थायित्व लाने के लिए स्वर्ण-कोष इतना आवश्यक नहीं है जितना कि आपसी मौद्रिक सहयोग (International Monetary Fund) बिना स्वर्ण मान की स्थापना के ही आवश्यक कार्य कर रहा है। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों के अनुसार स्वर्णचलन मान विनिमय दरों की स्थिरता को भग करता है। और साथ ही कीमतों की स्थिरता सभी परिस्थितियों में उचित भी नहीं होती। उसमें आवश्यक लोच रहनी ही चाहिए। इस प्रकार स्वयं विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता भी दोषों से मुक्त नहीं है।

(५) वास्तव में देखा जाय तो सोने के प्रत्येक परिवर्त्तन के साथ-साथ मूल्य-स्तर में भी परिवर्त्तन होते हैं। यह स्वर्ण के मूल्य में परिवर्त्तन कई कारणों से हो सकता है। जैसे नई खानों की खोज या पुरानी खानों की समाप्ति। पुनः सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि स्वर्ण-कोषों का संसार में असमान वितरण है। संसार का $\frac{२}{३}$ स्वर्ण अमेरिका पर ही है। यह असमान वितरण कीमतों में स्थिरता पहले तो लाने नहीं देता और फिर इस प्रकार यह न्यायसंगत भी नहीं रहेगा।

इन्हीं दोषों को देखते हुए अन्य प्रणालियाँ प्रयोग में लाई गई।

(ब) स्वर्णपाट मान अथवा स्वर्ण धातुमान (gold bullion standard)—यह मान स्वर्ण चलन मान का दूसरा रूप है। इसकी विशेषतायें निम्न हैं।

इस स्वर्ण मान के अन्तर्गत सोने के सिक्के का प्रचलन नहीं होता है। चलन में कम कीमती धातु के सिक्के प्रथम कागजी नोट चलते रहते हैं। इसमें सोने की ढलाई की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती। पत्र मुद्रा के पीछे शतप्रतिशत स्वर्ण निधि भी नहीं होती। सोने की कीमत सरकार द्वारा निश्चित कर दी जाती है तथा सरकार को ही नियत कीमत पर असीमित मात्रा में सोना खरीदने तथा बेचने की व्यवस्था करनी पड़ती है। सुविधा के लिए एक न्यूनतम मात्रा निश्चित कर दी जाती हैं जिससे कम मात्रा में एक बार सोना नहीं बेचा जा सकता। सरकार द्वारा इस बात का प्रबन्ध

किया जाता है। विदेशी भुगतानों के लिये प्राप्त करने में किसी को कठिनाई न हो इस प्रकार स्वर्णपाटमान में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है। देश में सांकेतिक सिक्के अथवा पत्रमुद्रा चालू रहती है। और ये दोनों सरकार द्वारा निश्चित दरों पर सोने में बदली जा सकती हैं।

स्वर्णपाटमान के लाभ

इस मान में स्वर्णचलनमान के सम्पूर्ण गुण होने के अतिरिक्त उसके दोषों से मुक्ति होती है। इसमें सिक्कों के मुद्रण का व्यय बच जाता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत सिक्कों का चलन ही नहीं होता। इसके साथ-ही-साथ घिसावट द्वारा सोने का विनाश बच जाता है तथा सोने के सिक्कों का प्रयोग न होने से सोने के उपयोग में जो बचत होती है वह राष्ट्रीय सुरक्षित कोषों के स्थापित करने में काम में आ जाती है। सोना छोटे-छोटे व्यक्तिगत कोषों में जमा न होकर एक स्थान पर सरकारी कोषागार अथवा देश की केन्द्रीय बैंक में एक ही स्थान पर जमा होता है। इस मान में मुद्रा की पूर्ति में पर्याप्त लोच भी रहती है; क्योंकि यदि सुरक्षित कोष तथा चलन के बीच का अनुपात कम कर दिया जाय तो थोड़े ही सोने के आधार पर अधिक मुद्रा चलाई जा सकती है। इस मान में विनिमय दरों की स्थिरता भी स्वर्ण प्रचलन मान की अपेक्षा अधिक होती है और यदि स्वर्णमान नियमों का पालन किया जाय तो इसमें भी स्वयं संचालकता का गुण आ जाता है। जिस समय समाज में मुद्रा की माँग कम हो जाती है तो लोग सोना खरीदने लगते हैं। स्वर्ण कोषों में कमी आ जाती है तथा चलन की मात्रा घट जाने के कारण चलन की पूर्ति तथा माँग में सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है और जब मुद्रा की माँग अधिक हो जाती है तो लोग सोना बेचने लगते हैं जिससे स्वर्णकोषों में सोना अधिक जमा होने लगता है। यह मुद्रा की पूर्ति बढ़ाने मे सहायक होता है और इस स्थिति में भी माँग तथा पूर्ति में सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। इसी दृष्टि से यह मान स्वयं संचालित समझा जाता है।

उपरोक्त गुणों के होते हुए भी स्वर्णपाटमान में निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं:—

(१) यह मान भी स्वर्णचलन मान की भाँति साधारण परिस्थितियों में ही ठीक प्रकार से कार्य करता है। संकटकालीन अवस्था में इस मान के अनुसार आवश्यक मुद्रा पूर्ति नहीं हो पाती, चूँकि इस मान के अन्तर्गत सोने का सिक्का नहीं चलता। सोना जनता के समक्ष चलन में न आने के कारण जनता का विश्वास इस मान में इतना दृढ़ नहीं होता जितना स्वर्णमान में होता है। इसके अतिरिक्त स्वर्ण चलन मान की अपेक्षा इस पद्धति में सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता भी अधिक पड़ती है। सरकारी हस्तक्षेप के कारण त्रुटियों की सम्भावना अधिक बढ़

जाती है। इस मान में किसी सीमा तक अपेक्षाकृत व्यय भी अधिक होता है। एक तो सोना सुरक्षित कोषों में व्यर्थ पड़ा रहता है, उसके उचित संरक्षण के लिये व्यय करना पड़ता है तथा सांकेतिक व काग़जी मुद्रा का उचित प्रबन्ध और नियन्त्रण रखने के लिये निरीक्षण आदि के प्रबन्ध में काफी व्यय पड़ जाता है।

स्वर्ण मुद्रा मान तथा स्वर्ण धातुमान की तुलना

स्वर्ण धातु मान	स्वर्ण मुद्रा मान
१. स्वर्ण का प्रयोग मूल्य-मान के रूप में ही होता है, विनिमय-माध्यम के रूप में नहीं।	१. सोने का प्रयोग विनिमय का माध्यम तथा मूल्यमान दोनों के ही रूप में किया जाता है।
२. न तो सोने के सिक्कों का चलन ही रहता है और न स्वतंत्र मुद्रा ढलाई ही।	२. सोने के सिक्के चलन में रहते हैं और स्वर्ण की ढलाई स्वतंत्र होती है।
३. सैद्धांतिक दृष्टि से स्वर्ण का क्रय-विक्रय किया जा सकता है परन्तु व्यवहार में स्वर्ण केवल विदेशी भुगतानों के लिये ही प्राप्त रहता है।	३. सोना घरेलू आवश्यकता तथा विदेशी आवश्यकता दोनों ही के लिए उपलब्ध रहता है।
४. विनिमय दरों की स्थिरता पर अधिक जोर दिया जाता है।	४. देश के आन्तरिक मूल्यों की स्थिरता का विशेष ध्यान रखा जाता है।
५. स्वर्ण के आयात-निर्यात पर सरकारी हस्तक्षेप नहीं रहता और मूल्यों का निर्धारण स्वयं रहता है।	५. सरकार का स्वर्ण मूल्य पर पूर्ण अधिकार रहता है और स्वर्ण की विनिमय दर बार-बार निर्धारित करनी पड़ती है।

(स) स्वर्ण विनिमय मान (Gold exchange standard)—उपरोक्त दोषों को दूर करने के लिये एक अन्य प्रकार का स्वर्णमान व्यवहार में लाया गया जिसको लोग स्वर्ण विनिमयमान (Gold exchange standard) कहते हैं। इस पद्धति की निम्न विशेषतायें हैं :- देश में सोने का सिक्का नहीं चलता और न प्रतिनिधि पत्रमुद्रा। सांकेतिक सिक्का कम कीमती धातुओं के सिक्के तथा पत्रमुद्रा का ही चलन होता है। देश की प्रामाणिक मुद्रा को एक निश्चित दर पर स्वर्णचलनमान अथवा स्वर्णपाटमान वाले देश की मुद्रा से जोड़ दिया जाता है और व्यवहार में केवल विदेशी भुगतानों के लिये विदेशी विनिमय रूप में सिक्का दिया जाता है और इसी प्रकार विदेशी भुगतान भी किसी स्वीकृत विदेशी मुद्रा में ही स्वीकृत किये जाते हैं। संक्षेप में इस मान के अन्तर्गत सोने का उपयोग न तो विनिमय माध्यम के रूप में होता है और न मूल्यमान के रूप में। परोक्षरूप से कीमत स्तर सोने की कीमतों द्वारा ही निश्चित किया जाता है।

स्वर्ण विनिमय मान के निम्नांकित गुण हैं—

इस मान के द्वारा किसी शक्तिशाली स्वर्णमुद्रा के साथ देश की मुद्रा को जोड़कर कम सोने वाला एक निर्धन देश भी स्वर्णमान के सब लाभों को प्राप्त कर सकता है। विदेशी विनिमय दर को नियंत्रित करके विदेशी विनिमय दर स्थिर रक्खी जा सकती है। यदि देशी मुद्रा को जोड़ने वाली विदेशी मुद्रा का उचित चयन किया जाय तो विदेशी भुगतानों के सम्बन्ध में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं रहती। चूँकि इस मान के अन्तर्गत सोना न बाहर भेजा जाता है और न बाहर से मँगाया जाता है इसलिये इसमें सोने के आयात तथा निर्यात सम्बन्धी खर्च बच जाते हैं। इसी प्रकार सिक्कों की घिसावट से होने वाला व्यय भी बच जाता है। सोना सुरक्षित कोषों में बेकार नहीं रहता। उसका उपयोग मुद्रा के अतिरिक्त अन्य कार्यों में किया जा सकता है। इस मान में सरकार को कुछ आय भी हो जाती है। विदेशों में रक्खे जाने वाले निक्षेपों को विनियोग करने से कुछ ब्याज प्राप्त होता है। विदेशी विनिमय खरीदने तथा बेचने की दरों में अन्तर रखकर भी कुछ लाभ कमाया जाता है। इसके अतिरिक्त स्वर्णमान संचालन सम्बन्धी सारा उत्तरदायित्व विशेषकर विदेशी सरकार के ऊपर होता है जिसकी मुद्रा से देशी मुद्रा का सम्बन्ध जोड़ दिया जाता है। देश की सरकार को तो केवल विदेशी विनिमय दर की स्थिरता पर ही ध्यान देना पड़ता है।

स्वर्ण विनिमय मान के दोष

इस मान के सफल संचालन के लिये विदेशों से मौद्रिक सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ करना पड़ता है जिससे कठिन परिस्थितियों में इस मान के टूट जाने का भय रहता है। देश को मौद्रिक नीति में सम्बधित विदेशी मौद्रिक नीति के सहारे चलना पड़ता है और यदि जिस देश से मौद्रिक सम्बन्ध जोड़ा गया है वह स्वर्णमान का परित्याग कर दे तो सम्बन्धित देशों की मुद्राओं की परिवर्तनशीलता अपने आप समाप्त हो जाती है। जिस देश की मुद्रा से विभिन्न देशों की मुद्राएँ सम्बन्धित की जाती हैं उस देश की मुद्रा प्रणाली कुछ सीमा तक असुरक्षित हो जाती है। उस देश के पास सोने का कोष तो सीमित होता है परन्तु सोने की माँग अधिक हो जाने की सम्भावना रहती है। ऐसी अवस्था में उस देश की मुद्रा-प्रणाली ही अस्तव्यस्त हो सकती है। इस मान के अन्तर्गत तरल आदेशों (Liquid Assets) का एक देश से दूसरे देश को हस्तान्तरण में कठिनता होती है। इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय सन्तुलन को बनाये रखना भी कठिन हो जाता है। यह प्रणाली इतनी कठिन है कि जन साधारण की समझ में सरलता से नहीं आती। जनता इस पर विश्वास कठिनाई से करती है। जनता को सदैव यह शंका बनी रहती है कि कहीं इस प्रकार की मुद्रा चलन से बाहर न हो जाय तो उसके पास कोई क्रय-शक्ति ही न रहे। इस प्रणाली के अन्तर्गत कभी-कभी अधिक कोषों के रखने की आवश्यकता होती है। यह

स्वयं संचालक नहीं होती। इस प्रकार के मान में मुद्रा की पूर्ति भी अधिक लोचदार नहीं होती।

हिल्टन यंग कमीशन ने स्वर्ण विनिमय मान के व्यावहारिक परिचालन की जाँच करते समय कुछ दोषों का वर्णन किया था कि यह प्रणाली जनसाधारण की समझ से परे है। अत्यधिक सिद्धांतों पर निर्भर रहने के कारण जनता का विश्वास नहीं जमने पाता। भारत में अनेक कोषों का निर्माण हो गया था जैसे स्वर्णमान कोष, पत्र-मुद्रा कोष। इसका परिचालन विदेशी चलन पर निर्भर हो जाता है और इसमें आवश्यक लोच की भी कमी है।

स्वर्ण समता प्रणाली (Gold parity standard)

यह स्वर्ण समता मान अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अंतर्गत स्थापित हुआ माना जाता है। यह स्वर्णमानों का एक नवीनतम परिष्कृत रूप है। इस मान के अंतर्गत मुद्रा अधिकारी राष्ट्र की मुद्रा की विदेशी विनियम दर एक निश्चित स्वर्ण राशि के बराबर स्थायी रखने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है।

स्वर्णमान का संक्षिप्त इतिहास

१६ वीं शताब्दी में चाँदी की कीमतों में इतने अधिक परिवर्तन हुए कि रजत-मान अपनाना असम्भव हो गया। अतः स्वर्णमान ही का प्रचलन रहा। १६१४ ई० से पूर्व समस्त स्वर्णमान वाले देशों में स्वर्ण मुद्रा मान प्रचलित था। इसमें स्वर्ण मुद्रा-मान की सभी विशेषताएँ पाई जाती थीं। इसी समय कुछ देशों में स्वर्णविनिमय-मान भी चलन में था विशेषकर उन देशों में जहाँ स्वर्ण-कोष कम थे। उदाहरणार्थ भारत, हालैंड, डेन्मार्क, हंगरी आदि देश थे। स्वर्ण-विनिमय मान भारत में सन् १६०७-८ में स्थापित किया गया और १६१७ तक प्रचलित रहा। आंतरिक उपयोग के लिए चाँदी का रुपया प्रामाणिक सिक्का था जो विदेशी व्यापार के लिए स्टर्लिंग में १ शि० ४ पें० प्रति रुपया के हिसाब से परिवर्त्तनशील था। युद्ध काल तक स्वर्ण मुद्रा मान अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के आधार पर सफलतापूर्वक चलता रहा। परन्तु प्रथम युद्ध के प्रारम्भ होते ही देशों ने सोने का संचय प्रारम्भ कर दिया और आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी देशों ने स्वतन्त्र रूप से पत्र-मुद्रा को चालू कर दिया और अंत में स्वर्ण-मान व्यवस्था जीर्ण-शीर्ण हो गई।

युद्ध समाप्ति पर ब्रूसेल्स में सन् १६२० में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें स्वर्णमान पुनः स्थापित करने पर जोर दिया गया। आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए भी मुद्रा-मूल्यों में स्थिरता होना आवश्यक थी। अमेरिका ने स्वर्ण के आयात-निर्यात पर से प्रतिबन्ध हटा कर इस ओर प्रथम कदम बढ़ाया।

१६२७ में भारत में भी यह अपनाया गया। इस पुनर्स्थापना का उद्देश्य युद्ध-पूर्व जैसी आर्थिक व्यवस्था कायम करना था। इस पुनर्स्थापना में प्रत्येक देश की अलग-अलग समस्याएँ थीं। युद्ध-रत देशों—इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी में—मुद्रा प्रसार हो गया, अतः इन देशों ने स्वर्ण-धातु मान अपनाया। परन्तु परस्पर देशों में पुरानी मौद्रिक सह-योगिता समाप्त हो जाने से स्वर्णमान की सफलता में भीषण कठिनाइयाँ आती गईं। व्यापार पर प्रतिबन्ध लगने लगे और धीरे-धीरे इंगलैंड, अमेरिका और फ्रांस आदि देशों ने इस मान को १६३६ ई० तक छोड़कर संसार से समाप्त कर दिया।

स्वर्णमान में स्वयं-संचालकता के लिए कुछ गुण आवश्यक हैं जैसे :— (१) अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिबन्ध न हो अन्यथा व्यापार शेष (balance of trade) में उचित दिशा में परिवर्तन नहीं होता। इधर स्वर्ण का वितरण भी प्रत्येक देश की आवश्यकतानुसार हो जाता है और मुद्रा का प्रसार भी कोष के अनुरूप ही हो पाता है। (२) स्वर्ण के आयात-निर्यात के कारण देश के मूल्य पर जो प्रभाव पड़ता है उसको स्वयं ठीक होने देना चाहिए। (३) सरकार देश में शांति और सुरक्षा बनाये रखे ताकि मुद्रा को गाड़ने की (hoarding) प्रवृत्ति कम हो सके। स्वर्ण-मान समाप्त हो जाने के निम्न कारण थे—

(१) स्वर्ण के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाकर तथा व्यापार शेष में सरकार द्वारा परिवर्त्तन करके स्वर्णमान के नियमों का पालन नहीं किया गया। इससे स्वर्ण अमरीका, फ्रांस आदि कुछ देशों में ही एकत्रित हो गया।

(२) युद्ध काल की जर्जरित एवं भावी युद्ध से सुरक्षिता के लिए आर्थिक व्यवस्था करना आवश्यक हो गया। इससे आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाये गए। संरक्षण एवं प्रशुल्क नीति अपनाई जाने से भी स्वर्णमान को धक्का लगा।

(३) स्वर्णपाटमान और स्वर्ण विनिमय मान के अपनाने से स्वर्णमान का संचालन आसानी से न हो पाया और स्वयं-संचालकता के गुण जाते रहे।

(४) बैंकों के विकास ने साख मुद्रा को विकसित किया जिसके फलस्वरूप सरकार को मुद्रा नीति में हस्तक्षेप करना पड़ा और प्राचीन मान में शिथिलता आ गई।

(५) युद्धोत्तर काल की राजनैतिक चालों ने भी स्वर्णमान को तोड़ने में सहायता दी। अमेरिका ने युद्ध-रत परास्त देशों से हर्जाना वसूल करना प्रारम्भ कर दिया जिससे डॉलर की माँग बढ़ गई और देश स्वर्णमान को छोड़ने के लिए बाध्य हो गये ताकि विनिमय दर स्थिर रख सकें। इस प्रकार आर्थिक कठिनाइयों के कारण इस मान का परित्याग कर दिया गया।

(६) स्वर्णमान अपनाने से मूल्यों में एकरूपता आ गई। यदि कोई देश अपने यहाँ मुद्रा प्रसार या संकुचन करने लगा तो उसका कुप्रभाव सभी देशों पर

पड़ता था। इससे भी देशों ने स्वर्णमान अपनाना परिस्थितियों का दास बनना समझा और वे मुक्ति प्राप्त करने लगे।

(७) सबसे गहरा कुप्रभाव महान् अवसाद (Great Depression) का पड़ा। अमरीका के वाल-स्ट्रीट संकट (१९२९ई०) ने संसार भर में मन्दी, निराशा एवं अति-उत्पादन की भावना फैला दी जिसके परिणामस्वरूप दूसरे स्वर्णमान वाले देशों ने सुरक्षा के लिए, इस मान को छोड़ना प्रारम्भ कर दिया।

परन्तु फिर भी स्वर्णमान का महत्व भुलाया नहीं जा सकता क्योंकि स्वर्ण ने अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के माध्यम तथा मूल्यमान का काम किया है और इस प्रकार व्यापार के विस्तार की दशाएँ उपस्थित की हैं। दूसरे स्वर्ण ने विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता लाने में भी सफलता प्राप्त की है क्योंकि इस धातु के स्वयं का मूल्य अधिक घटता-बढ़ता नहीं। अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में भी अधिक अन्तर नहीं रह जाता।

अतः प्रश्न उठ सकता है कि क्या स्वर्णमान पुनः स्थापित किया जा सकता है? अब स्वर्णमान की सफलता के लिए जो दशाएँ लिखी जा चुकीं उनका पालन करना कठिन जान पड़ता है। क्राउदर (Crowther) का कथन है कि "स्वार्थी व्यापारिक प्रणाली के सहारे चल कर किसी भी प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली चाहे वह राष्ट्र के हित में ही क्यों न हो, सफल नहीं हो सकती।" कीन्स भी इसी विचार से मिलते-जुलते शब्द लिखते हैं कि स्वर्णमान स्थापित होना, अब असम्भव-सा है, कारण कि मूल्यों की अस्थिरता के कारण स्वर्ण में मुद्रा-क्षेत्र ने अपनी प्रियता खो दी है। अतः पत्र-मुद्रा मान ही नियन्त्रित रूप में सम्भव है। जब तक स्वर्णमान को सारे देश स्वीकार नहीं कर लेते, स्वर्णमान कोषों का ठीक वितरण नहीं होता, मुद्रा स्थिति की नीति एवं संरक्षण नीति का परित्याग नहीं किया जाता, अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों की मात्रा कम नहीं होती, और देशों में राजनैतिक स्थिरता कायम नहीं होती, तब तक स्वर्णमान की स्थापना का विचार एक स्वप्न मात्र ही रहेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा भुगतानों की सुविधा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से १९४४ ई० अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development) की स्थापना की गई है, जिसके अनुसार स्वर्ण को अब भी आधारिक महत्व (basic importance) दिया गया है—(१) सदस्य देश को अपने अंश का निश्चित प्रतिशत स्वर्ण में जमा करना होता है। (२) सदस्य देश को अपनी मुद्रा की कीमत सोने में बतानी पड़ती है जिसके आधार पर विनिमय दर निर्धारित होती है। (३) कोष (IMF) किसी मुद्रा को सोना देकर खरीद सकता है।

रजत-मान (Silver standard)

इस मान में स्वर्ण के स्थान पर चाँदी का प्रयोग होता है। अन्य सभी नियम स्वर्णमान के ही रहते हैं। चीन काफी समय तक रजत मान अपनाये रहा। भारत में यह मान १८३५ से १८६३ ई० तक चलन में रहा। परन्तु बाद में चाँदी की मात्रा बढने से, माँग कम होने से, चाँदी की कीमतें गिरने लगीं। हरशेल समिति की सिफारिशों पर सन् १८६३ ई० में रजत मान समाप्त कर दिया गया।

प्रश्न

1. Describe fully the gold standard (*Agra, B. A,* 1957)

२. स्वर्ण मान तभी अच्छी प्रकार सफल हो सकता है जब कि वह वास्तव में स्वर्ण मान हो जिससे प्रत्येक देश The rules of gold standard के अनुसार कार्य करता रहे ताकि मुद्रा मान से किसी को अविश्वास न हो सके। इस कथन की व्याख्या कीजिए।

(आगरा, बी. ए. १९५६)

३. स्वर्ण विनिमय मान का संक्षिप्त वर्णन कीजिये। इसके अवगुणों पर प्रकाश डालिए।

(बी. ए. १९५४, आगरा वि०)

अध्याय ५

पत्र-मुद्रा-चलन

(Paper Currency Standard)

कागज का आविष्कार एवं कागजी मुद्रा का प्रारंभ सर्वप्रथम चीन में हुआ। ९ वीं शताब्दी के प्रारंभ में चीनी सम्राट ईसेनटुंग (Isientung) के समय पत्र-मुद्रा का चलन हुआ। धीरे-धीरे यह मुद्रा एशियाई देशों में स्थान पाती गई और १७ वीं शताब्दी के अंत में परिवर्त्तनशील पत्र-मुद्रा एवं १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सरकारी आज्ञानुसार अपरिवर्त्तनशील पत्र-मुद्रा संसार में चलने लगी। इन नोटों का आकार-प्रकार, रंग आदि विभिन्न देशों में विभिन्नता लिए हुये थे। प्रथम महायुद्ध में पत्र-मुद्रा को प्रोत्साहन मिला, इधर स्वर्णमान के टूटने पर भी अधिकांश देशों ने पत्र मुद्रा चलन को ही अपनाया। द्वितीय युद्ध काल में तो पत्र-मद्रा चलन को आश्चर्यजनक प्रोत्साहन मिला ।

पत्र-मुद्रा के लाभ (Merits of paper money)

पत्र-मुद्रा की लोकप्रियता सर्वव्यापी है। यह लोकप्रियता इस चलन में निहित लाभों के कारण है जिनको इस प्रकार गिनाया जा सकता है—

(१) मूल्यवान धातु की बचत—कागजी मुद्रा के चलन से केवल बहुमूल्य धातु की आवश्यकता ही कम नहीं हुई अपितु इस बची हुई (सोने-चाँदी) धातु को देश के अन्य भौतिक एवं कलात्मक कार्यों में अधिक उपयोगी बनाने का अवसर भी प्राप्त हुआ है। धातु मुद्रा के चलन से टूट-फूट में जो राष्ट्रीय क्षति होती थी वह दूर हुई है।

(२) स्थानांतर की सुविधा—मूल्य के अनुपात में कागजी नोटों का भार बहुत ही कम होता है। एक स्थान से दूसरे स्थान को अधिक सुविधानुसार एवं सुरक्षापूर्ण ले जाये जा सकते हैं।

(३) मितव्ययता—पत्र-मुद्रा के उत्पादन में व्यय धातु मुद्रा की अपेक्षा बहुत ही कम पड़ता है। इस प्रणाली में धातु को निकालना, साफ करना, गलाना तथा ढालना आदि कार्यों पर बिल्कुल ही व्यय नहीं होता। कागजी-मुद्रा में तो केवल छपाई का थोड़ा-सा व्यय रहता है। इस प्रकार इसमें पूँजी और श्रम दोनों की बचत होती है जिन्हें अन्य उपयोगी कार्यों पर लगाया जा सकता है।

(४) लोच (Elasticity)—पत्र-मुद्रा प्रणाली में आवश्यक लोग पैदा करने का महत्वपूर्ण गुण होता है! सोने-चाँदी के सिक्कों को माँग के अनुसार-

घटाने-बढ़ाने में पर्याप्त व्यय एवं हानि का सामना करना पड़ता है परंतु पत्र-मुद्रा में चलन आसानी से न्यूनाधिक किया जा सकता है।

(५) संकटकालीन मित्र—जब स्वर्णमान अच्छे मौसम का मित्र है तो पत्र मुद्रा संकटकालीन मित्र अवश्य मानी जानी चाहिए; क्योंकि संकट काल (युद्ध अथवा मंदी) में सरकार कागजी नोट छाप कर अपनी आय प्राप्त कर लेती है।

(३) अन्य लाभ—इन लाभों के अतिरिक्त अन्य लाभ भी हैं जैसे पत्र मुद्रा के गिनने एवं सम्हाल कर रखने की सुविधा रहती है। पत्र मुद्रा की समानता एवं एकरूपता एक विशेष गुण है जिससे कि निश्चित मूल्य की मुद्रा आसानी से पहिचानी जा सकती है।

पत्र-मुद्रा की हानियाँ—(Evils of paper money)

जहाँ पत्र मुद्रा से अनेक लाभ हैं वहाँ इससे अर्थ व्यवस्था जनता में दोष उत्पन्न होने का भय भी सदैव बना रहता है। इन हानियों एवं दोषों को निम्न प्रकार से देख सकते हैं।

(१) जनता के विश्वास की कमी—पत्र मुद्रा में केवल वाह्य मूल्य (Face Value) ही होती है आंतरिक मूल्य (Intrinsic Value) नहीं। उसका चलन बंद होते ही कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता। अतः जनता का इस पत्र-मुद्रा में कम विश्वास रहता है।

(२) मुद्रा प्रसार का भय—सरकार अपनी इच्छानुसार किसी भी मात्रा में नोट छपवा सकती है। कोष इत्यादि रखने के सख्त नियम नहीं होते और अपरिवर्तनशील मुद्रा में तो यह मात्रा बिल्कुल ही अप्रतिबंधित होती है। इस प्रकार इस चलन में मुद्रा प्रसार का भय सदैव बना रहता है जिसके भयानक परिणाम जनता को भोगने पड़ते हैं। जर्मनी में युद्ध काल में भीषण मुद्रा प्रसार हो गया था और वहाँ की अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी।

(३) नष्ट होने का भय—पत्र-मुद्रा का गलने, फटने, सड़ने एवं तेल लगने से खराब होने का भय सदा बना रहता है। फिर इसको सुरक्षा के लिए गाड़ भी नहीं सकते।

(४) चलन का सीमित क्षेत्र—धातु मुद्रा एक निश्चित मूल्य पर विदेशी भुगतानों में काम आती है परंतु कागजी मुद्रा का क्षेत्र सीमित होता है उसका आंतरिक मूल्य कुछ भी नहीं होने के कारण दूसरे देशों में इसका मूल्य कुछ भी नहीं रहता।

(५) मूल्यों में अनिश्चितता—पत्र-मुद्रा वाले देश में मूल्य स्तरों में उच्चावचन अधिक परिमाण में होते हैं जिससे देश की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ता नहीं पकड़ पाती और विदेशी विनिमय दरों में उथल-पुथल रहती है।

६. परिकल्पना (Speculation) **को प्रोत्साहन**—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था वाले देशों में पत्र-मुद्रा एवं साख-मुद्रा की निकासी की अनियमितताएँ एवं अनिश्चितताएँ व्यापारिक चक्रों (Trade Cycles) के मुख्य कारण हैं। एक अर्थशास्त्री के विचार में कोई भयंकर से भयंकर बीमारी किसी व्यक्ति को जितना अधिक से अधिक कष्ट दे सकती है, उससे भी अधिक कष्ट पत्र-मुद्रा के कारण समाज को होता है।

परंतु उपरिलिखित दोषों में अधिकांश दोष स्वयं पत्र-मुद्रा के न होकर पत्र-मुद्रा के व्यवस्थापकों एवं सरकार के कारण हैं। किसी वस्तु की अच्छाई-बुराई उसके उपयोग करने वालों पर निर्भर करती है। पत्र मुद्रा को समुचित व्यवस्थित कर एवं नियंत्रण में रख कर अविकसित एवं अर्द्ध विकसित देशों की आर्थिक व्यवस्था को उन्नतशील बनाने तथा समाज को अधिक कल्याणकारी बनाने में उपयोगी बनाया जा सकता है।

पत्र-मुद्रा मान (Paper standard or currency exchange standard)

पत्र-मुद्रा-मान में किसी धातु-मुद्रा को आधार नहीं बनाया जाता। देश में अपरिवर्त्तनीय पत्र-मुद्रा का चलन रहता है और यही देश की प्रामाणिक मुद्रा के रूप में प्रयुक्त होती है। यह मुद्रा अपरिमित विधिग्राह्य होती है। चलन की पूर्ति को उसकी मांग के बराबर बनाये रख कर कीमतों की स्थिरता सुरक्षित रखी जाती है। परंतु विदेशी भुगतान के लिए स्वर्ण कोष की आवश्यकता रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष की स्थापना से यह आवश्यकता भी दूर हो गई है।

प्रादिष्ट मान (Fiat standard) **को कभी-कभी नियंत्रित पत्र चलन मान** (Managed paper currency standard) भी कहते हैं। इसमें मुद्रा का आंतरिक मूल्य कुछ भी नहीं होता, यह अपरिवर्त्तनीय रहती है। क्रय-शक्ति भी किसी धातु पर आधारित नहीं होती। लोगों का विश्वास है कि संकट काल में तो पत्र मुद्रा से ही नहीं अपितु सरकार पर से और धातु मुद्रा पर से भी विश्वास हटने लगता है। अतः प्रादिष्ट मान को एक स्थायी रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए ताकि देश के मानवीय एवं भौतिक साधनों का पूर्ण विकास हो सके।

एक आदर्श पत्रमुद्रा चलन प्रणाली में निम्नलिखित लक्षणों का होना आवश्यक है—

(१) विश्वास (Confidence)—पत्रमुद्रा में जनता का विश्वास होना अनिवार्य है। इस विश्वास के लिये पत्र मुद्रा को परिवर्त्तनशील बनाये रखने के लिये इसके आधार में उचित मात्रा में धातुक निधि रक्खी जानी चाहिये।

(२) परिवर्त्तनशीलता (Convertibility)—इसके अनुसार पत्र-मुद्रा हर समय व्यक्ति के इच्छानुसार धातु अथवा धातु मुद्रा में परिवर्तित हो जानी चाहिये। यह तभी सम्भव है जब यह उचित धातु निधि पर आधारित हो।

(३) **चलनाधिक से रक्षित** (Security against over-issue)—अर्थात् पत्रमुद्रा का चलन ऐसा न हो कि जिसमें पत्र मुद्रा निर्गमनक संस्था पर पूर्ति की मात्रा के बढ़ाने में किसी प्रकार की रोक न लगा सके। यदि पत्रमुद्रा सरकार अथवा बैंक द्वारा इच्छापूर्वक कितनी भी मात्रा में बढ़ाई जा सके तो फिर चलनाधिक का भय सदैव बना रहता है। इस प्रकार की पत्रमुद्रा में जनता में विश्वास नहीं होता। उसका कोई मूल्य भी नहीं रहता। इसके लिये भी उचित मात्रा मे धात्तुक निधि का रखना अनिवार्य है।

(४) **लोच** (Elasticity)—पत्रमुद्रा का मुख्य उद्देश्य यही है कि इसका निर्गमन धातु मुद्रा के समान अलोचदार न रहे। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है धातु मुद्रा की पूर्ति धातु की मात्रा पर निर्भर होती है और मुद्रा की माँग इतनी अधिक हो सकती है कि उसकी पूर्ति के लिये पर्याप्त मात्रा में धातु प्राप्त न हो सके। इसी दोष को मिटाने के लिये पत्रमुद्रा का चलन प्रारम्भ हुआ था। इसीलिये पत्र-मुद्रा का लोचदार होना एक मुख्य लक्षण माना गया है। यह तभी सम्भव है कि पत्रमुद्रा चलन के आधार रूप धात्विक मुद्रा की निधि इतनी रहे कि जिसके आधार पर पत्रमुद्रा चलन में पर्याप्त लोच रक्खी जा सके। इस गुण को बनाये रखने के लिये इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि चलनाधिक के दोष की सम्भावना न हो जाय।

(५) **मितव्ययता** (Economy) पत्रमुद्रा चलन मितव्ययी होना चाहिये। एक प्रकार से पत्रमुद्रा स्वयं मितव्ययी है इससे धातु की बचत तथा उसके घिसावट की बचत होती है और इसका संचालन व्यय भी धातु मुद्रा संचालन व्यय से कम रहता है। काग़ज़ी नोट छापने में इतना व्यय नहीं होता जितना धातु के सिक्के ढालने में। इसके अतिरिक्त पत्रमुद्रा को अधिक मितव्ययी बनाने के लिये दो अन्य बातों का ध्यान भी रखना आवश्यक है। इसके लिये इस प्रकार का कागज निर्मित किया जाय जो अपेक्षाकृत अधिक समय तक टिकाऊ रहे। जिससे थोड़े ही चलन में वह खराब न हो जाय नहीं तो खराब पत्रमुद्रा के बार-बार बदलने में व्यय बढ़ जायगा। दूसरी बात पत्रमुद्रा के मुद्रण-विधि को भी मितव्ययी बनाना आवश्यक है। इसके छापने का खर्च कम से कम होना चाहिये। इसके लिये पत्रमुद्रा के आकार-प्रकार तथा डिज़ाइन आदि पर ध्यान देना आवश्यक है।

पत्र-मुद्रा संचालक-संस्था

अर्थशास्त्रियों का इस बात पर बहुत समय से मतभेद चला आ रहा है कि पत्र-मुद्रा का संचालन किसके अधिकार में रहे। इसका संचालन केवल सरकार द्वारा हो अथवा देश के विभिन्न बैंकों द्वारा अथवा केवल केन्द्रीय बैंक द्वारा। जहाँ तक विभिन्न बैंकों का सम्बन्ध है प्रायः सब अर्थशास्त्री एक मत हैं कि पत्र-मुद्रा संचालन

का अधिकार विभिन्न बैंकों को नहीं दिया जाना चाहिये। एक तो इन बैंकों का क्षेत्र सीमित होता है दूसरे ये बैंक आपस में प्रतिस्पर्धा कर सकते हैं जिसके कारण पत्र-मुद्रा की पूर्ति आवश्यकता से अधिक हो सकती है। इसके अतिरिक्त ये बैंक पत्रमुद्रा संचालन सम्बन्धी नीति इस प्रकार अपना सकते हैं कि विभिन्न नीतियाँ विरोधात्मक हो जायँ। इन बैंकों के द्वारा सम्पूर्ण देश में पत्र मुद्रा सम्बन्धी एक-सी नीति का पालन नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न बैंकों द्वारा संचालित पत्रमुद्रा विभिन्न प्रकार की होने के कारण आसानी से नहीं पहचानी जा सकती। इस प्रकार की पत्रमुद्रा के लिये विभिन्न बैंकों के द्वारा सुरक्षित निधि की मात्रा भी अधिक होगी तथा विभिन्न बैंकों द्वारा पत्रमुद्रा संचालन में नियंत्रण अथवा निरीक्षण की भी सुगमता नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त आधुनिक युग केन्द्रीयकरण का युग है, अतः पत्रमुद्रा के संचालन में केन्द्रीय संस्था ही अधिक उपयुक्त होगी। उपरोक्त कारणों से देश के विभिन्न बैंकों द्वारा पत्रमुद्रा के संचालन के पक्ष में विरले ही विशेषज्ञ हैं। प्रायः सभी विद्वान यही स्वीकार करते हैं कि यदि पत्र मुद्रा संचालन का अधिकार बैंकों को दिया जाय तो देश की एक ही बैंक को दिया जाना चाहिये। विशेषकर उस बैंक को जो केन्द्रीय बैंकों के कर्त्तव्यों का पालन करे। पत्र मुद्रा संचालन का कार्य एकाधिकारी की कोटि में होना ही श्रेयस्कर है।

यह स्वीकार करने पर कि पत्रमुद्रा के संचालन में किसी भी संस्था का एकाधिकार होना आवश्यक है। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यह एकाधिकार सरकार को अथवा केन्द्रीय बैंक को मिले। इस प्रश्न पर अर्थशास्त्रियों में काफी विवाद हुआ है और दोनों पक्ष के अर्थशास्त्री अपने मतों के समर्थन में प्रबल तर्क का सहारा लेते हैं। सरकार द्वारा पत्र मुद्रा संचालन का समर्थन करने वाले विद्वान इस बात पर बहुत बल देते हैं कि जनता का विश्वास सरकारी पत्रमुद्रा में ही अधिक हो सकता है क्योंकि इस प्रकार के पत्रमुद्रा की परिवर्तनशीलता स्थापित रखने के लिये देश की सम्पूर्ण सम्पत्ति निधि के रूप में रहती है। अतः सरकारी पत्र मुद्रा अधिक सुरक्षित है। इसके साथ ही साथ सरकार पत्रमुद्रा का चलन सीमित ही रक्खेगी नहीं तो पत्रमुद्रा के परिवर्तनशीलता में कठिनाई आ सकती है। सरकारी पत्रमुद्रा संचालन राष्ट्रीयकरण तथा समाजवाद के सिद्धान्तों के अनुरूप है। वर्तमान समय में लोगों का झुकाव उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की ओर है। इसी प्रकार जनता समाजवादी आर्थिक व्यवस्था को अधिक चाहती है। सरकार द्वारा पत्रमुद्रा संचालन से इस उद्योग का राष्ट्रीयकरण स्वयं ही हो जाता है तथा इसके साथ ही साथ पत्रमुद्रा संचालन से लाभ सरकारी कोष में जायगा जो जनता ही में व्यय किया जायगा। यह समाजवादी आर्थिक व्यवस्था का एक मुख्य लक्षण है, इसलिये सरकारी पत्रमुद्रा संचालन आधुनिक विचारधारा के अनुरूप है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी पत्र मुद्रा का संचालन सरकार द्वारा ही होना चाहिये क्योंकि प्राचीन समय में मुद्रा पूर्ति का कार्य सरकार के

ही हाथ में रहा है। यही व्यवस्था पत्रमुद्रा के लिये भी उपयुक्त होगी। आजकल आर्थिक योजनाओं का युग है। आर्थिक योजनाओं का संचालन सरकार द्वारा ही होता है। इन योजनाओं की सफलता के लिये उचित परिमाण में मुद्रा चाहिये और उसी के अनुरूप देश की मौद्रिक नीति होनी चाहिये। देश की मौद्रिक नीति तथा योजना सम्बन्धी नीति में पूर्ण रूपेण सामञ्जस्य तभी हो सकता है जब योजना संचालन तथा पत्र मुद्रा संचालन दोनों कार्य सरकार द्वारा ही किये जायँ।

इसके विपरीत दूसरे पक्ष के अर्थशास्त्रियों का यह कथन है कि सरकारी काम प्रायः शिथिलतापूर्वक होते हैं। सरकार की निजी आर्थिक आवश्यकताएँ होती हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जनहित का विशेष विचार न करके सरकार अधिक पत्रमुद्रा का प्रसार कर सकती है। सरकार का देश के व्यापारी वर्ग से किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता इस कारण समाज को आर्थिक क्रियाओं के लिये कितनी पत्रमुद्रा की आवश्यकता है सरकार ठीक-ठीक रूप से नहीं जान सकती, इसका ठीक अनुमान तो बैंक ही लगा सकता है, जिसका व्यापारी वर्ग के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। बैंक औद्योगिक तथा व्यापारिक क्षेत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने के कारण मुद्रा की माँग की दशाओं का अच्छी प्रकार से ज्ञान रखता है और इसी हिसाब से वह पत्रमुद्रा का संकुचन अथवा प्रसार कर सकता है। इस प्रकार बैंक द्वारा निर्मित पत्रमुद्रा अधिक लोच वाली होती है। जहाँ तक सुरक्षिता तथा परिवर्तनशीलता का सम्बन्ध है सरकार ऐसे नियम बना सकती है जिनके कारण पत्रमुद्रा निर्गमन करने वाले बैंक को समुचित रूप में निधि रखने के लिये बाध्य होना पड़े। और यही बैंक सरकार को भी आवश्यकता पड़ने पर यथोचित् मात्रा में इस प्रकार पत्रमुद्रा दे सकती है कि उससे मुद्रा प्रसार की बुराइयाँ न आने पावें। वास्तव में दोनों पक्षों के तर्कों को ध्यान में रखते हुये केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा निर्गमन अधिक हितकर प्रतीत होता है। यदि पत्र मुद्रा संचालन का अधिकार केन्द्रीय बैंक को दिया जाय तो देश के मुद्रा तथा साख बाजार पर अधिक सफलतापूर्वक नियंत्रण रक्खा जा सकता है। इससे बैंक द्वारा निर्गमित पत्रमुद्रा के सम्पूर्ण लाभ समाज को प्राप्त हो सकते हैं। इसके साथ ही साथ यदि केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय तो सरकारी पत्र मुद्रा के लाभ भी समाज को प्राप्त हो सकेंगे।

वास्तव में इस प्रश्न पर विवाद अब केवल सिद्धान्त की दृष्टि से महत्वपूर्ण रह गया है व्यवहार में पत्रमुद्रा संचालन का पूर्ण अधिकार प्रायः राष्ट्रीयकृत केन्द्रीय बैंक को ही दिया जाता है। यह प्रथा श्रम विभाजन सिद्धान्त के आधार पर भी उचित है। सरकारी मशीनरी तथा अधिकारी राजनैतिक व प्रशासकीय क्षेत्र में ही अनुभवी तथा अधिक कार्यक्षमता वाले हो सकते हैं आर्थिक क्षेत्र में नहीं। विशेषकर मौद्रिक क्षेत्र के लिये तो बैंक ही उपयुक्त संस्था है। अतः पत्रमुद्रा संचालन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को ही दिया जाना चाहिये।

पत्र-मुद्रा सिद्धांत (Principles of note issue)

पत्र-मुद्रा चलन के सम्बन्ध में दूसरा विवादास्पद विषय इसके सिद्धान्त के बारे में है कि इसका चलन किस सिद्धान्त पर आधारित हो। इस सम्बन्ध में दो सिद्धान्त अभी तक प्रतिपादित किये गये हैं। प्रथम—करंसी सिद्धान्त। द्वितीय—बैंकिंग सिद्धान्त। प्रथम सिद्धान्त के अनुसार पत्र-मुद्रा को पूर्णरूप से सुरक्षित करने के लिये यह आवश्यक है कि निर्गमित पत्र-मुद्रा के मूल्य के बराबर धातु में निधि रक्खी जाय। पत्रमुद्रा चलन में वृद्धि अथवा कमी के साथ ही साथ धात्विक निधि में भी कमी अथवा वृद्धि आवश्यकतानुसार होती रहनी चाहिये। इस सिद्धान्त के समर्थकों का यह कथन है कि पत्रमुद्रा का वास्तविक उद्देश्य सोने-चाँदी की बचत करने का है। सोने-चाँदी की घिसावट आदि की हानि से बचने का है तथा साथ ही साथ मुद्रा संचालन व्यय में कमी होने का है। यह तभी सम्भव है जब पत्रमुद्रा चलन में रहे और उसके मूल्य के बराबर बहुमूल्य धातुयें निधि में रक्खी रहें। इसके साथ ही साथ इसी सिद्धान्त के अपनाने से सरकार द्वारा अति मुद्रा प्रसार का भय नहीं रहता। चलनाधिक्य से सुरक्षा तथा परिवर्तनशीलता इसी सिद्धान्त के आधार पर चालित मुद्रा में हो सकती है। परन्तु इस सिद्धान्त पर आधारित पत्रमुद्रा चलन में लोच का अभाव रहेगा। समाज की आर्थिक प्रगति के अनुसार विनिमय कार्यों की वृद्धि के साथ ही साथ मुद्रा की मात्रा भी बढ़ती रहनी चाहिये। यदि पत्रमुद्रा का आधार बहुमूल्य धातुयें रक्खी जाय तो पत्र मुद्रा चलन की वृद्धि बहुमूल्य धातुओं की पूर्ति के आधार पर हो सकेगी न कि आवश्यकता के अनुसार।

उपरोक्त दोष को दूर करने के लिये अन्य अर्थशास्त्रियों का मत है कि पत्रमुद्रा चलन अधिकोषण सिद्धान्त पर आधारत होनी चाहिये। इसके अनुसार निर्गमित पत्र मुद्रा के मूल्य के बराबर बहुमूल्य धातुओं को निधि में रखना आवश्यक नहीं है बहुमूल्य धातुओं का निधि में रखना पत्रमुद्रा की परिवर्तनशीलता को कायम रखने के लिये आवश्यक होता है पर किसी देश में चलित सम्पूर्ण पत्रमुद्रा एक ही साथ बहुमूल्य धातु अथवा धात्विक मुद्रा में परिवर्तित नहीं की जा सकती। उसका कुछ भाग ही परिवर्तित किया जाता है। इस प्रकार की परिवर्तनशीलता चलित पत्र मुद्रा के मूल्य से कम मूल्य की बहुमूल्य धातुओं को निधि में रखने से कायम रह सकती है। इसके साथ ही साथ इसी सिद्धान्त पर आधारित पत्रमुद्रा चलन में पर्याप्त लोच रह सकती है। अतः इस मतानुसार पत्रमुद्रा का चलन बैंकिंग सिद्धान्त के आधार पर ही होना चाहिये। इस सिद्धान्त के अनुसार पत्रमुद्रा चलन में चलनाधिक्य का भय ही रह सकता है। वह भय सरकारी कानून द्वारा बहुत सीमा तक कम किया जा सकता है। पत्रमुद्रा चलन के मूल्य तथा रक्षित बहुमूल्य धातुओं के मूल्य में एक अनुपात निर्धारित किया जा सकता है जिससे पत्रमुद्रा निर्गमनक संस्था अत्यधिक पत्रमुद्रा का प्रसार नहीं कर सकती।

इस प्रकार दोनों सिद्धान्तों में गुण व दोष हैं फिर भी आधुनिक समय में पत्र-मुद्रा चलन को अधिकोषण सिद्धान्त वालों का समर्थन ही अधिकांश में प्राप्त है। प्रायः सम्पूर्ण देशों में जहाँ-जहाँ पत्रमुद्रा का चलन है अधिकोषण सिद्धान्त के आधार पर ही पत्र मुद्रा का निर्गमन किया जाता है। यह अवश्य है कि इसे सुरक्षित परिवर्तनीय तथा आवश्यक लोचदार बनाये रखने के लिये धात्विक निधि के सम्बन्ध में विभिन्न प्रणालियाँ अपनाई गई हैं। इनमें से कुछ प्रणालियाँ अपने उद्देश्य में असफल रहती हैं तथा कुछ प्रणालियाँ सफल। यहाँ एक प्रश्न यह उठ सकता है कि विभिन्न प्रणालियों में कौन-सी प्रणाली अथवा पद्धति किस देश विशेष को अपनानी चाहिये। यह तय करने के लिये यह आवश्यक है कि हम पहले एक आदर्श प्रणाली के लक्षण निश्चित कर लें तथा जिस प्रणाली में अधिकतम लक्षणों का समावेश हो सके वही प्रणाली अपनायी जानी चाहिए।

पत्रमुद्रा चलन की विभिन्न विधियाँ (प्रणाली व पद्धति) (Systems of note issue)—पत्र मुद्रा चलन की निम्नांकित प्रणालियाँ प्रचलित हैं—

(१) निश्चित अधिकतम पत्रमुद्रा चलन पद्धति (Fixed maximum note issue)—इस पद्धति के अनुरूप सरकार कानून द्वारा पत्र मुद्रा चलन की एक सीमा निश्चित कर देती है जिससे अधिक पत्र मुद्रा नहीं चलाई जा सकती जब तक कि तत्सम्बन्धी कानून में परिवर्तन न कर दिया जाय। इस प्रणाली के अन्तर्गत धात्विक निधि का कोई ध्यान नहीं रक्खा जाता। सरकार बैंक की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुये अधिकतम सीमा निर्धारित करती है। सरकार बैंक की साख को ध्यान में रखते हुये कि वह किस सीमा तक पत्र मुद्रा को परिवर्तनशील बनाये रख सकती है, उसकी अधिकतम सीमा निर्धारित कर देती है। इस प्रकार की पत्रमुद्रा चलन पद्धति कुछ दिनों तक इंगलैंड में रही थी। इस पद्धति में लोच का अभाव रहता है क्योंकि निर्धारित सीमा से अधिक पत्र मुद्रा नहीं चलाई जा सकती और सीमा कानून द्वारा बार-बार नहीं बदली जा सकती।

(२) साधारण निधि-पद्धति (Simple deposite method)—इसमें पत्र मुद्रा चलन के मूल्य के बराबर सोने या चाँदी में धात्विक निधि रखना आवश्यक होता है। इस प्रकार की पत्रमुद्रा प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा कहलाती है। इस पद्धिति में लोच तथा मितव्ययता का अभाव रहता है। इस प्रकार की पद्धति में पत्रमुद्रा आवश्यकतानुसार नहीं बढ़ाई जा सकती। इसमें व्यय भी उतना ही बना रहता है। इस पद्धति में स्वरक्षिता तथा परिवर्तनशीलता का पर्याप्त लाभ रहता है।

(३) न्यूनतम-निधि पद्धति (Minimum reserve method)—इस पद्धति के अन्तर्गत कानून द्वारा निधि में रक्खे जाने वाले सोने-चाँदी की न्यूनतम सीमा निर्धारित कर दी जाती है। इससे कम निधि नहीं की जा सकती चाहे पत्रमुद्रा

चलन में कितनी ही वृद्धि क्यों न कर दी जाय। इस पद्धति में लोच, मितव्ययता तथा परिवर्तनशीलता आदि के सब गुण पाये जाते हैं परन्तु यह पद्धति आधुनिक युग में प्रायः चलन में नहीं है। क्योंकि आजकल की बढ़ती हुई मुद्रा की माँग के कारण निधि की उचित न्यूनतम सीमा निर्धारित करना कठिन है।

(४) **निश्चित विश्वसनीय निर्गमन प्रणाली** (Fixed fiduciary note issue)—इस पद्धति के अनुसार किसी प्रकार की धात्विक निधि न रखते हुये एक निश्चित मात्रा में पत्रमुद्रा का चलन हो सकता है। परन्तु उससे अधिक चलन होने पर सोना या चाँदी में धात्विक निधि रखना अनिवार्य हो जाता है।

(५) **आंशिक निधि पद्धति** (Proportional reserve method)—इस पद्धिति के अनुसार पत्रमुद्रा चलन तथा धात्विक निधि का अनुपात निश्चित कर दिया जाता है कि कितनी धात्विक निधि अधिकोष में होनी चाहिये। यह निधि सरकार की अनुमति से कम या अधिक की जा सकती है। शेष पत्रमुद्रा चलन का भाग उतने ही मूल्यों के विनियोगों द्वारा सुरक्षित किया जाता है। इस पद्धति में लोच तथा मितव्ययता के गुण होते हैं। चलनाधिक्य का भय नहीं होता। परिवर्त्तनशीलता कायम रहती है। इस पद्धति में एक मुख्य दोष यह है कि इसमें निश्चित मूल्य का सोना चाँदी व्यर्थ ही निधि में रक्खा जाता है जिसकी पत्रमुद्रा परिवर्तन के लिये भी कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती।

(६) **आंशिक अनुपात निधि पद्धति** (Percentage method)—इस पद्धति के अनुसार निधि का कुछ अंश देश में सोना-चाँदी के रूप में रक्खा जाता है। तथा कुछ विदेशीय अधिकोषों की हुण्डियों तथा विदेशी मुद्राओं में रक्खा जा सकता है। आजकल यह प्रणाली ही सबसे अच्छी मानी जाती है। अधिकांश देश अपनी पत्रमुद्रा चलन इसी प्रणाली पर आधारित किये हुए हैं।

भारत में पत्रमुद्रा चलन

भारत में पत्रमुद्रा चलन यूरोपियों के संसर्ग से ही प्रारम्भ हुआ है। वैसे इस देश में धातुमुद्रा के स्थान पर कुछ काल के लिये चर्ममुद्रा का भी प्रयोग हुआ था परन्तु बाहुल्यता धातुमुद्रा की ही है। इस देश में सर्व प्रथम १८०६ ई० में स्थापित बैंक आफ बगाल ने पत्रमुद्रा का निर्गमन किया था। इसके पश्चात् बैंक आफ बम्बई तथा बैंक आफ मद्रास को भी नोट निर्गमन का अधिकार दे दिया गया था। ये नोट प्रायः कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के शहरों तक ही सीमित थे। सरकार ने प्रत्येक बैंक के लिये नोट निर्गमन की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी थी और प्रत्येक बैंक को निर्गमित नोटो के एक-तिहाई अथवा चौथाई मूल्य के बराबर धातु निधि रखनी पड़ती थी। ये नोट सरकारी नोटों के समान विधिग्राह्य नहीं थे।

सन् १८६१ ई० में सरकार ने पत्रचलन ऐक्ट पास कर दिया जिसके अनुसार १०, २०, ५०, १००, ५००, १००० तथा १०००० रुपये के नोट चालू किये। प्रारम्भ में सम्पूर्ण देश को कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के तीन क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया था तथा प्रत्येक क्षेत्र के नोट उसी क्षेत्र में विधिग्राह्य होते थे। सन् १९१० ई० तक क्षेत्र सात हो गये थे। साधारण तौर पर नोट अपने निर्गमित क्षेत्र में ही चला करते थे। फिर भी सरकारी भुगतानों को चुकाने के लिये किसी भी क्षेत्र के नोटों में भुगतान किया जा सकता था। क्षेत्र सीमित होने से व्यापार में काफी बाधा पड़ती थी। अतः १९०३ ई० में क्षेत्रों को विस्तृत करने या तोड़ने का प्रयत्न प्रारम्भ किया गया। सन् १९०३ ई० में ५ रुपये का नोट सभी क्षेत्रों के लिये अपरिमित विधिग्राह्य बना दिया गया। इसी प्रकार १०, ५० तथा १०० रुपये के नोटे धीरे-धीरे अपरिमित विधिग्राह्य सभी क्षेत्रों के लिये कर दिये गये।

प्रारम्भ में भारतीय नोटों का निर्गमन निश्चित विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली के आधार पर किया गया था। इसके अनुसार ४ करोड़ रुपये की कीमत तक के नोट सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर निकाले जा सकते थे परन्तु इससे ऊपर के प्रत्येक नोट के पीछे रुपये के सिक्कों, धातुओं अथवा भारत सरकार की रुपया प्रतिभूतियों के रूप में १०० प्रतिशत निधि आवश्यक होती थी। विश्वासाश्रित निर्गमन की सीमा धीरे-धीरे बढ़ाकर १९१९ ई० तक २० करोड़ रुपये कर दी गई थी। इस प्रकार यहाँ की पत्रमुद्रा प्रणाली प्रारम्भ में सुरक्षित थी तथा अनावश्यक रूप से अधिक मात्रा में निर्गमन की सम्भावना बहुत कम थी। फिर भी यह प्रणाली स्वयं संचालित नहीं थी। पर्याप्त मात्रा में धातु निधि रखनी पड़ती और उसका अधिकांश भाग देश के बाहर ही रक्खा जाता था। केन्द्रीय बैंक की अनुपस्थिति में कोष निधि कोषागारों में रक्खी रहती थी और इस प्रकार देश की चलन प्रणाली पूर्णतया बेलोच थी।

प्रथम युद्ध के पश्चात् बैबिंग्टन स्थानीय समिति के द्वारा भारतीय चलन प्रणाली में कुछ सुधार के सुझाव दिये गये। समिति के सुझावों तथा सरकारी अनुभव के आधार पर सन् १९२३ ई० में एक ऐक्ट पास किया गया जिसके आधार पर पत्रमुद्रा निधि नियमों में निम्नांकित परिवर्तन हो गये—

(१) कुल निधि का कम-से-कम ५०% धातु निधि के रूप में रखना आवश्यक हो गया।

(२) शेष निधि को २० करोड़ रुपयों की प्रतिभूतियों के रूप में भारत में तथा उससे बची हुई सम्पूर्ण निधि को एकवर्षीय प्रतिभूतियों में लन्दन में रखना आवश्यक हो गया।

(३) भुनाये हुए विनिमय बिलों के आधार पर ५ करोड़ रुपयों के नोट निकालने का अधिकार सरकार को दे दिया गया।

(४) भारत सचिव लन्दन में ५० लाख पौंड की कीमत से अधिक सोना नहीं रख सकता था। अभी तक भारतवर्ष की पत्र-मुद्रा परिवर्तनशील थी। परन्तु हिलटन यंग कमीशन ने यह सिफारिश की कि नोटों को रुपयों में बदलने का उत्तर-दायित्व समाप्त हो जाना चाहिये परन्तु सरकार ने इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया। कमीशन की अन्य सिफारिशें निम्नांकित थीं—

(१) नोट का निर्गमन का एकाधिकार प्राप्त एक केन्दीय बैंक की स्थापना

(२) पत्र चलन निधि तथा स्वर्णमान निधि का ऐकीकरण

(३) अनुपातिक निधि निर्गमन प्रणाली की स्थापना। सरकार ने कुछ सुझावों को तो मान लिया। केन्दीय बैंक की स्थापना का प्रश्न स्थगित कर दिया। कालान्तर में १९३४ ई० के रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार १ अप्रैल सन् १९३५ ई० से रिजर्व बैंक ने केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

अब नोट निर्गमन का एकाधिकार रिजर्व बैंक को प्राप्त है। इस बैंक द्वारा निर्गमित पत्र-मुद्रा अपरिमित विधिग्राह्य है। इन नोटों को भारतीय सरकार की गारन्टी प्राप्त है। बैंक को सम्पूर्ण निर्गमित नोटों के मूल्य का ४०% धन सोने के सिक्कों, सोने, अथवा विदेशी प्रतिभूतियों या विदेशी मुद्राओं में निधि के रूप में रखना पड़ता है। १९४८ ई० तक विदेशी मुद्राओं में केवल स्टरलिंग ही एकत्रित किया जा सकता था। परन्तु अब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के किसी भी सदस्य देश की मुद्रा को निधि के रूप में रक्खा जा सकता है। सम्पूर्ण निधि में कम से कम ४० करोड़ रुपये की कीमत का सोना रखना आवश्यक है। शेष ६० प्रतिशत पत्र चलन के लिये रुपये के सिक्के, सरकारी प्रतिभूतियाँ, स्वीकृत विनिमय बिल तथा प्रतिज्ञापत्र का आधार होना आवश्यक है। सरकारी प्रतिभूतियों की मात्रा ५० करोड़ रुपयों से अधिक नहीं हो सकती। विशेष परिस्थितियों में राष्ट्रपति की पूर्वस्वीकृति से इस मात्रा में १० करोड़ रुपये की वृद्धि की जा सकती है। इसके अतिरिक्त विशेष परि-स्थितियों में रिज़र्व बैंक के निर्गमन सम्बन्धी नियमों में कुछ शिथिलता हो सकती है परन्तु बिना राष्ट्रपति की आज्ञा के नहीं।

इस समय भारत में १, २, ५, १०, १००, तथा १००० रुपये के नोट प्रच-लित हैं। तथा अप्रैल १९५६ ई० से ५००० तथा १०००० रुपयों के नोट भी चलन में आ गये हैं। भारतीय पत्र मुद्रा प्रणाली अपने वर्तमान रूप में देश के उपयुक्त ही प्रतीत होती है। यह पर्याप्त लोचदार है। विभिन्न चलन निधियों के एकी-करण से अब यह प्रणाली अपव्ययी नहीं रही। स्वीकृत-विनिमय बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों की आड़ में पत्र-मुद्रा निर्गमन की व्यवस्था से प्रणाली और भी अधिक लोचदार

स्थितियों के लिये समुचित व्यवस्था हो गई है। फिर भी इस प्रणाली में निम्नांकित दोष हैं—

(१) इस प्रणाली के अनुसार सरकारी हस्तक्षेप की सम्भावना बहुत बढ़ जाती है।

(२) यह प्रणाली आन्तरिक मूल्यों में स्थिरता स्थापित करने में सफल नहीं रही।

(३) कुछ लोगों के मतानुसार इस प्रणाली में यथोचित लोच नहीं है। निधि व्यवस्थायें प्रत्यक्ष कड़ी होने के कारण इसमें देशी अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकतानुसार मुद्रा मात्रा को कम अथवा अधिक करने का गुण नहीं है।

(४) यह प्रणाली स्टर्लिंग पर अब भी विशेष रूप में आधारित है। नोटों की परिवर्तनशीलता प्रायः स्टर्लिंग पर ही निर्भर है। स्टर्लिंग की कीमतों के घटा-बढ़ी का रुपये की कीमतों पर भी प्रभाव पड़ता ही है। अब भारतीय कागजी नोट वास्तविकता में अपरवर्तनीय पत्रमुद्रा मात्र ही रह गये हैं। रिजर्व बैंक अथवा सरकार नोटों को चाँदी के सिक्कों में बदलने के लिये बाध्य नहीं है।

प्रश्न

१ भारत में १६५६ में नोट जारी करने की विधि अनुपातिक कोप प्रथा (Proportional Reserve System) से बदल कर निश्चित कोप प्रणाली (Minimum Reserve System) क्या की गई? भारत के चलार्थ पर इसका क्या प्रभाव पड़ा?

(आगरा बी. ए. १६५६)

२. पत्र-मुद्रा किन-किन सिद्धांतो पर आधारित होना चाहिए? इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक के विधानों की सम्बन्धित धारणाओं का उल्लेख कीजिए। (आगरा बी. ए. १६५६)

3. Explain the various systems of note issue. Which of these systems has been adopted in India? *(Agra B. Com. I, 1957)*

4. Discuss clearly the main features of the Fiduciary Issue system and the minimum reserve method of note issue as adopted by India. Cive your arguments in support of them.

(Agra B. Com. I, 1957)

अध्याय ६

मुद्रा का मूल्य-निर्धारण एवं परिवर्त्तन

(Value of Money—its Determination and Changes)

मुद्रा मूल्य निर्धारण--मुद्रा के विषय में प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् मुद्रा के मूल्य के बारे में भी अध्ययन करना आवश्यक है। मुद्रा के मूल्य का तात्पर्य मुद्रा की क्रय शक्ति से होता है। साधारण वस्तुओं का मूल्य मुद्रा से ही मापा जाता है। परन्तु मुद्रा का मूल्य उसके द्वारा प्राप्त वस्तुओं से नापा जाता है। बाज़ार में वस्तुओं का मूल्य माँग तथा पूर्ति पर निर्भर होता है और यही शक्तियाँ प्रत्येक वस्तु का मूल्य निर्धारण करती हैं। क्या मुद्रा का मूल्य भी अन्य वस्तुओं की भाँति पूर्ति तथा माँग के द्वारा ही निर्धारित होता है ?

मुद्रा का परिमाण सिद्धांत (The Quantity Theory)

उपरोक्त प्रश्न के उत्तर में अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा परिमाण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यह सिद्धान्त सामान्य पूर्ति तथा माँग के सिद्धान्त पर ही आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार अन्य परिस्थितियाँ समान रहने पर यदि मुद्रा के परिमाण में वृद्धि कर दी जाय तो इसका मूल्य कम हो जाता है और यदि मुद्रा की पूर्ति में कमी कर दी जाय तो उसके मूल्य में वृद्धि हो जाती है। अर्थात् मुद्रा की पूर्ति तथा मुद्रा की क्रय शक्ति में विरोधात्मक सम्बन्ध है। मुद्रा की पूर्ति बढ़ने से मुद्रा की क्रय शक्ति कम हो जाती है और पूर्ति के घटने से वह शक्ति बढ़ जाती है। उदाहरण के लिये मान लीजिये किसी समाज में मुद्रा की ५०० इकाइयों की पूर्ति है और उस समाज में किसी एक वस्तु की २००० इकाइयों का क्रय-विक्रय होना है तो ऐसी अवस्था में एक मुद्रा की क्रय शक्ति ४ वस्तुओं के बराबर होगी। यदि मुद्रा का परिमाण ५०० से बढ़ाकर १००० कर दिया जाय तो प्रत्येक मुद्रा के बदले में केवल दो (२) वस्तुयें ही प्राप्त हो सकेंगी और यदि उसकी पूर्ति घटकर २५० कर दी जाय तो प्रत्येक मुद्रा ८ वस्तुओं को खरीद सकेगी। उपरोक्त उदाहरण से निम्नांकित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(१) मुद्रा का मूल्य अथवा उसकी क्रय-शक्ति मुद्रा की मात्रा के द्वारा निर्धारित होती है।

(२) मुद्रा की मात्रा के परिवर्तन से मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन हो जाता है।

(३) मुद्रा मात्रा की वृद्धि से मुद्रा का मूल्य घट जाता है। तथा मात्रा की कमी से मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है।

(४) मात्रा तथा-मूल्य का परिवर्तन प्रतिकूल अनुपातिक आधार पर होता है अर्थात् यदि मात्रा दुगनी कर दी जाय तो मूल्य आधा रह जाता है और यदि मात्रा आधी कर दी जाय तो मूल्य दुगना हो जाता है। यही मुद्रा परिमाण सिद्धान्त है।

संक्षेप में यह सिद्धांत बताता है कि मुद्रा का मूल्य तथा उसके परिवर्तन मुद्रा के परिमाण द्वारा नियंत्रित होते हैं।

सिद्धान्त का समीकरण (Equation of the Quantity Theory of Money)—प्राचीन अर्थशास्त्री मुद्रा का अर्थ केवल चलन से ही लगाते थे। साख-मुद्रा का महत्व उस समय नहीं था। अतः निम्नांकित समीकरण प्राचीन काल में प्रचलित था—

$$\frac{M}{T} = P \text{ अथवा } \frac{\text{म}}{\text{व}} = \text{क}$$

इस समीकरण में म (M) का अर्थ समय विशेष पर प्रचलित मुद्रा से है, व (T) का अर्थ वस्तुओं 'एवं' सेवाओं की मात्रा से तथा क (P) का सामान्य मूल्य-स्तर से। व (T) को स्थिर माना गया है। क (P) में परिवर्तन म (M) में परिवर्त्तन होने के कारण ही होते हैं तथा वे एक ही दिशा में होते हैं। यदि म (M) अधिक हो जाता है तो क (कीमत) भी बढ़ जायेंगी तथा म कम होने पर कीमतें (क) नीचे हो जायेंगी।

इस समीकरण में साख मुद्रा तथा रुपये की माँग को कोई महत्व नहीं दिया गया। रुपए की माँग व्यापार, वस्तुओं एवं सेवा (व (T)) द्वारा निर्मित होती हैं।

कुछ समय पश्चात् इस सिद्धान्त में अर्थशास्त्रियों को त्रुटियाँ प्रतीत होने लगीं। मुद्रा भी एक वस्तु है। अतः अन्य वस्तुओं की भाँति इसके मूल्य निर्धारण में भी पूर्ति के अतिरिक्त माँग का भी प्रभाव होना चाहिये और व्यवहार में ऐसा होता भी है। मुद्रा की माँग से तात्पर्य उन वस्तुओं तथा सेवाओं से है जिनके क्रय-विक्रय के लिये मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार मुद्रा की माँग क्रय विक्रय होने वाली वस्तुओं के परिमाण पर निर्भर होती है। वस्तुओं के इस परिमाण के परिवर्त्तन से भी मुद्रा के मूल्य में परिवर्त्तन होता है। उपरोक्त उदाहरण में ५०० मुद्रायें मुद्रा की पूर्ति है तथा क्रय-विक्रय के २००० वस्तुयें मुद्रा की माँग है। इस पूर्ति तथा माँग के अनुसार प्रत्येक मुद्रा के बदले में ४ वस्तुयें प्राप्त हो सकती हैं। यदि मुद्रा की माँग

में परिवर्त्तन कर दिया जाय तो मुद्रा के मूल्य में भी परिवर्त्तन हो जायगा। उदाहरण के लिये यदि क्रय-विक्रय करने वाली वस्तुयें २००० से घटकर १००० रह जायँ और मुद्रा की पूर्ति वही बनी रहे तो प्रत्येक मुद्रा के बदले में ४ वस्तुओं के स्थान में केवल २ वस्तुयें ही प्राप्त होगीं और यदि वस्तुओं की मात्रा बढ़ाकर ४००० कर दी जाय तो प्रत्येक मुद्रा के बदले में ८ वस्तुयें प्राप्त होंगी। इस उदाहरण से निम्नांकित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(१) मुद्रा का मूल्य मुद्रा की माँग अर्थात् क्रय-विक्रय हेतु वस्तु मात्रा पर निर्भर होती है। यदि क्रय-विक्रय हेतु वस्तु के परिमाण में परिवर्तन कर दिया जाय तो मुद्रा के मूल्य में भी परिवर्त्तन हो जाता है।

(२) वस्तु मात्रा में वृद्धि करने से मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है तथा वस्तु मात्रा कम करने से मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है।

(३ मुद्रा के मूल्य तथा क्रय-विक्रय हेतु वस्तु मात्रा परिवर्त्तन में अनुकाल अनुपातिक सम्बन्ध है अर्थात् यदि वस्तु मात्रा दुगनी कर दी जाय तो मुद्रा का मूल्य भी दो गुना हो जाता है और वस्तु मात्रा आधी कर दी जाय तो मुद्रा का मूल्य भी आधा रह जाता है।

$$\frac{MV + M'V'}{T} = P \quad \text{अथवा क} = \frac{\text{म च} + \text{स चा}}{\text{व}}$$

इस समीकरण को प्रो० फिशर ने जन्म दिया। इसमें प्रयुक्त (M) म का अर्थ कुल चलन की मात्रा, व (V) = चलन का वेग, स (M') साख की मात्रा, चा (V') साख के चलन का वेग, क (P) कीमत और व (T) = व्यापार व वस्तुओं की मात्रा। फिशर का विचार है कि अल्पकाल में व्यापार (T) स्थिर रहता है, न आबादी बढ़ती है और न उत्पादन बदलता है। उत्पत्ति की रीतियाँ तथा उपयोग की आदतें निश्चित रहती हैं और माँग (T) स्थिर रहती है। अतः "अन्य बातें समान रहें तो सामान्य मूल्य-स्तर के सभी परिवर्त्तनों का मुद्रा के परिमाण के परिवर्त्तन से प्रत्यक्ष तथा अनुपातिक संबंध होता है।"

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हुआ कि मुद्रा का मूल्य मुद्रा की पूर्ति तथा मुद्रा की माँग के ऊपर निर्भर होता है। अतः मुद्रा की पूर्ति तथा मुद्रा की माँग का स्पष्ट तात्पर्य समझ लेना आवश्यक है। अभी तक मुद्रा की पूर्ति से तात्पर्य उन सिक्कों की संख्या से लिया गया है जो किसी समय में एक समाज में चलते हैं परन्तु चलने वाले सिक्कों की संख्या ही मुद्रा की पूर्ति में सम्मिलित नहीं होती। मुद्रा की पूर्ति में सिक्कों की चलन गति (Velocity of Circulation) का भी ध्यान रखना पड़ता है; क्योंकि सिक्के की चलन गति के बढ़ने तथा घटने से मुद्रा के मूल्य में परिवर्त्तन हो जाता है। उदाहरण के लिये यदि एक रुपये ने पाँच बार विनिमय का कार्य किया

जाय तो वह पाँच रुपयों के बराबर हो जाता है। वह अकेला रुपया विनिमय क्षेत्र में इतना कार्य करता है जितना पाँच रुपये करते।

इसलिये मुद्रा की मात्रा का अनुमान लगाते समय मुद्रा की चलनगति का ध्यान रखना आवश्यक है। यही नहीं वर्तमान समय में विशेषकर औद्योगिक देशों में अधिकांश क्रय विक्रय के कार्य साख-पत्रों के द्वारा होते हैं। ये साख-पत्र मुद्रा का ही कार्य करते हैं। यदि साख-पत्रों की मात्रा में परिवर्त्तन हो जाय तो मुद्रा के मूल्य में भी परिवर्त्तन हो जाता है। वास्तव में साख-पत्र मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाते हैं। इस प्रकार मुद्रा के परिमाण में मुद्रा की मात्रा के साथ ही साथ साख-पत्रों की मात्रा का भी सम्मिलित करना आवश्यक हो जाता है। मुद्रा के समान साख-पत्र की चलनगति के ऊपर भी ध्यान रखना पड़ता है। मुद्रा की तरह एक साख-पत्र भी एक से अधिक विनिमय का कार्य कर सकता है। वेतन में प्राप्त चेक एक व्यक्ति द्वारा अनाज वाले दूकानदार को दिया जा सकता है। दूकानदार उस चेक के द्वारा वस्तु वाले से वस्तु खरीद सकता है तथा वस्तु वाला उसी चेक के आधार पर बर्तन खरीद सकता है। इस प्रकार एक ही चेक द्वारा तीन विनिमय के कार्य हो जाते हैं जिनके लिये उतनी ही धन राशि के तीन चेकों की आवश्यकता होती। अतः चेकों की संख्या में उनकी चलनगति का ध्यान रखना आवश्यक होता है। इस प्रकार मुद्रा की पूति में निम्नांकित चार तत्व सम्मिलित होते हैं—

(१) चलनमय मुद्रा की मात्रा

(२) मुद्रा चलनगति

(३) चलनमय साख पत्रों की मात्रा

(४) साख-पत्र चलनगति

नियम की सीमाएँ (Limitations of the Theory)—**अर्थशास्त्र के** अन्य विषयों की भाँति यह नियम भी कुछ सीमाएँ रखता है और लागू होने के लिए निम्नांकित दशाएँ पूरी होनी चाहिए—

(१) व्यापार की मात्रा स्थिर रहना—व्यापार की मात्रा (T) मुद्रा की माँग को निर्धारित करती है। यदि व्यापार बढ़ जाता है तो रुपए की माँग बढ़ जाएगी। इससे मुद्रा का मूल्य बढ़ेगा अथवा मूल्य स्तर गिरेंगे। अतः व्यापार की मात्रा स्थिर मानी जाती है।

(२) साख-पत्रों की मात्रा—साख-पत्रों, चेक, बिल, हुण्डी आदि से चलन की मात्रा बढ़ती है। इस सिद्धांत की मान्यता है कि साख-पत्रों की मात्रा सीमित होती है।

(३) चलन की गति में भी स्थिरता मानी जाती है। परिमाण सिद्धांत की यह मान्यता है कि देश में जनसंख्या, उत्पत्ति तथा उपभोग स्थिर रहता है ताकि वेग (v) में परिवर्तन न हो।

(४) मुद्रा संचय—सिद्धांत में यह माना जाता है कि चलन में प्रत्येक प्रकार की मुद्रा चलन में रहती है। उसका संचय (Hoarding) नहीं किया जाता अन्यथा परिवर्तन स्पष्ट होंगे।

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की आलोचना

यद्यपि इस शताब्दी में मुद्रा परिमाण सिद्धान्त में विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा आवश्यकतानुसार संशोधन किये जा चुके हैं फिर भी इस सिद्धान्त की काफी आलोचना की जाती है। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि इस सिद्धान्त में कोई विशेषता नहीं है। यह तो माँग एवं पूर्ति के नियम का ही एक रूप है। वास्तव में ऐसी बात नही है। मुद्रा मूल्य निर्धारण नहीं समझा जा सकता वरन् इसकी सहायता से मुद्रा मात्रा परिवर्तन के विभिन्न परिमाणों का ज्ञान होता है और उनके आधार पर मुद्रा परिमाण में ही परिवर्तन के द्वारा कीमतों के नियंत्रित करने के उपाय निकाले जा सकते हैं। अन्य विद्वानों के मतानुसार यह सिद्धान्त माँग एवं पूर्ति नियम पर आधारित स्वयं-सिद्ध-सत्य है। अतः इसका कोई विशेष महत्व नहीं है। वास्तव में इस सिद्धान्त के द्वारा कीमतों का समायोजन करने में विशेष सहायता मिलती है। मुद्रा एवं आर्थकोष के कार्यों की ठीक विवेचना के लिये इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण आवश्यकीय है।

तीसरा आक्षेप इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह लगाया जाता है कि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत न "अन्य परिस्थितियाँ समान रहें" वाली शब्दावली सिद्धान्त को काल्पनिक बना देती है, क्योंकि संसार में परिस्थितियों का स्थिर रहना कठिन है, प्रायः परिस्थितियाँ स्थिर नहीं रहतीं। जब वे परिस्थितियाँ जिनकी स्थिरता पर सिद्धान्त आधारित है यदि स्थिर रह सकें तो फिर व्यावहारिक दृष्टि से सिद्धान्त का कोई महत्व नहीं रह जाता। अन्य विद्वानों के मतानुसार इस सिद्धान्त में माँग की अपेक्षा पूर्ति पर ही अधिक बल दिया गया है। परन्तु माँग का प्रभाव भी मुद्रा की क्रय-शक्ति पर पड़ता है। पूर्ति के साथ ही साथ माँग भी मुद्रा के मूल्य पर अपना प्रभाव डालती है।

कुछ विद्वानों के अनुसार मुद्रा चलन के परिमाण का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। ऐसा न होने से सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्व नष्ट हो जाता है। देश में जितनी मुद्रा है वह सब एक साथ विनिमय के कार्य में नहीं लाई जाती। कुल पूर्ति का कितना भाग विनिमय के कार्य में आता है और कितना संचय के रूप में निरर्थक रहता है, इन बातों का ठीक पता लगना कठिन है। इसके अतिरिक्त किसी विशिष्ट देश की कीमतों की तेज़ी अथवा मंदी के कारणों का विवेचन इस सिद्धान्त के द्वारा नहीं हो सकता। आधुनिक काल में एक देश की कीमतें दूसरे देश की कीमतों पर भी निर्भर होती है। यह बात उन वस्तुओं

के लिये अधिक सत्य है जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है। यह सिद्धान्त मूल्य-स्तर में परिवर्तन होने की प्रक्रिया को भी नहीं बतलाता कि कीमतों के स्तर में किस प्रकार परिवर्तन होता है। कभी-कभी यह देखा गया है कि मुद्रा चलन मात्रा में परिवर्तन न होने पर भी व्यापार में मन्दी आ जाती है, वस्तुओं की कीमतें गिरने लगती हैं। इस प्रकार व्यापार चक्र के फलस्वरूप हुये कीमतों का परिवर्तन इस सिद्धान्त के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। इसी प्रकार समाज द्वारा उत्पादित सम्पूर्ण वस्तुओं का विनिमय भी मुद्रा के माध्यम से नही होता। उत्पादित वस्तुओं का कुछ भाग उत्पादक लोग स्वयं उपभोग कर लेते हैं। कुछ का विनिमय प्रत्यक्ष विनिमय प्रणाली के आधार पर होता है जिसमें मुद्रा कोई कार्य नहीं करती। इस प्रकार वस्तुओं की उस मात्रा का ठीक-ठीक पता लगाना जिसका विनिमय माध्यम मुद्रा हो अत्यन्त कठिन है। उपरोक्त कठिनाइयों के समक्ष मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता प्रायः नहीं के बराबर ही रह जाती है।

प्रोफेसर कीन्स के मतानुसार वर्तमान विनिमय के कार्य अधिकतर साख-पत्रों द्वारा होते हैं जिनका धातु निधि से बहुत कम सम्बन्ध रहता है। मुद्रा द्वारा होने वाले अधिकांश व्यवहार औद्योगिक तथा आर्थिक होते हैं। व्यापारिक विनिमय बहुत कम होता है। परन्तु सिद्धान्त के समीकरण में व्यापार शब्द का ही प्रयोग किया जाता है, जो कि त्रुटिपूर्ण है।

उपरोक्त आलोचनाओं के होते हुए भी यह सिद्धान्त नितान्त अनुपयोगी नहीं कहा जा सकता। मौद्रिक जगत में यह सिद्धान्त काफी मान्यता रखता है। मुद्रा सम्बन्धी विवेचन इस सिद्धान्त के बिना अपूर्ण ही समझा जाता है। व्यवहार में भी यह सिद्धान्त कभी-कभी उपयोगी सिद्ध होता है। प्रोफेसर फ़िशर ने यह सिद्ध किया है कि डालर स्थाइत्त मान योजना (Compensative Dollar Scheme) में इस सिद्धान्त की काफी सहायता रही है। इसी प्रकार प्रोफेसर कीन्स भी यह स्वीकार करते हैं कि संख्यात्मक जाँच के लिये मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के समीकरण की सहायता से अधिक उन्नति की जा सकती है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त कुछ सीमा तक मूल्य-परिवर्तन प्रकृति को समझाने का प्रयत्न तो करता ही है व्यवहार में प्रायः यही देखा गया है कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करने से उसकी क्रय-शक्ति कम हो जाती है। वास्तव में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इसी प्रकार के अनुभवों के आधार पर किया गया है तथा मुद्रा स्फीति काल में मुद्रा की क्रय शक्ति का कम होना सिद्धान्त की सत्यता को प्रमाणित करता है। हो सकता है कि यह सिद्धान्त प्रत्येक समय के मूल्य-स्तर परिवर्तन को समझाने में असमर्थ रहे। सम्भव है कि यह मूल्य परिवर्तन सिद्धान्त में प्रतिपादित कारणों से अधिक प्रबल कारणों के आधार पर हो गये हों जिससे सिद्धान्त की महत्ता कम प्रतीत होती है परन्तु इससे यह अर्थ

नहीं लगाया जा सकता कि यह सिद्धान्त बिलकुल काल्पनिक तथा अपूर्ण है। मौद्रिक क्षेत्र में यह सिद्धान्त अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस प्रसंग में राबर्टसन ने सत्य ही कहा है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धांत मुद्रा का मूल्य समझने के लिए एक अनुपम सत्य है। यह एक ऐसा सत्य है कि जिसका समझना वास्तविक जीवन में मुद्रा की मात्रा और वस्तुओं के मूल्य में संपर्क स्थापित करने के लिए आवश्यक है।

मुद्रा-चलन के वेग को निर्धारित करने वाले तत्व (Factors determining the Velocity of Circulation of Money)

हम मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में यह देख चुके हैं कि यह परिमाण मुद्रा चलन के वेग पर निर्भर रहता है और मुद्रा-मूल्य पर प्रभाव डालता है। मुद्रा-चलन के वेग का अभिप्राय इस चलन की गति से है जिससे वह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के हाथों विनिमय के लिए आती-जाती है। उदाहरण के लिए एक १०० रुपए का नोट एक सप्ताह में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास विनिमय के माध्यम के रूप में १० बार आती-जाती है तो उस नोट का साप्ताहिक चलन वेग १० होगा अर्थात् एक सौ का नोट १००० रुपए के विनिमय का काम करेगा। इस प्रचलन वेग पर निम्नांकित बातों का प्रभाव पड़ता है —

(१) **मुद्रा की मात्रा**—देश के आर्थिक जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए मुद्रा के निश्चित परिमाण की आवश्यकता बनी रहती है। यदि मुद्रा इस परिमाण से कम है तो विनिमय संबंधी मुद्रा की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मुद्रा के चलन का वेग अधिक हो जायेगा और यदि मुद्रा की निकासी अधिक है तो प्रचलन वेग कम रहेगा।

(२) **जनता में बचत की क्षमता**—मुद्रा चलन की गति पर इस बात का भी प्रभाव पड़ता है कि लोग अपनी आय का कितना भाग बचाते हैं और कितना भाग उपयोग के लिए रखते हैं। उपभोग के लिए जितना भाग कम होगा उतनी ही चलन की गति बढ़ेगी और बचत का भाग कम होने से गति में शिथिलता होगी।

(३) **देश में नगद लेन-देन**—नगद क्रय-विक्रय में मुद्रा की आवश्यकता सदैव पड़ती रहती है और चलन का वेग बना रहता है। जहाँ उधार लेन-देन होगा वहाँ मुद्रा की आवश्यकता कम तथा निश्चित समय के बाद होती है। अतः चलन का वेग कम रहता है।

(४) **जनता की द्रवता पसंदी** (Liquidity preference)—यदि लोग अपने पास दैनिक खर्चों को चलाने के लिए या ऋण आदि का शोधन करने के लिए जितना रुपया नगदी में अपने पास रखेंगे उतनी ही प्रचलन गति कम होगी। अर्थात् अधिक नगद कोष द्रव्य की चलन गति को मन्द करते हैं।

(५) **मजदूरी प्रणाली का रूप एवं ऋण प्राप्ति की सुविधाएँ**—यदि मजदूरी समय-समय पर दी जाती है तो प्रचलन अधिक होगा एवं लंबे समय के बाद देने की प्रथा है तो दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए लोग मुद्रा-कोष बना लेंगे और गति कम हो जायगी। इसी प्रकार ऋण की सुविधाएँ प्रचलन वेग को कम करती हैं।

(६) **सामान्य आर्थिक, व्यापारिक एवं यातायात की उन्नति**—जहाँ आर्थिक व्यापारिक उन्नति होती है एवं यातायात संचार के साधन उन्नत होते हैं वहाँ लेन-देन एवं मुद्रा के उपयोग का क्षेत्र बढ़ जाता है और मुद्रा-चलन में गतिशीलता आती है। जहाँ आर्थिक विकास नहीं होता, व्यापारिक उन्नति नहीं होती वहाँ समाज का लेन-देन वस्तु विनिमय (Barter) होने लगता है और मुद्रा की आवश्यकता कम रह जाती है। कृषि-प्रधान देशों में भी मुद्रा की प्रचलन गति कम रहती है।

(७) **साख की गतिशीलता**—साख का आधार अंतिमतः रुपया ही होता है। अतः साख के वेग में अधिकता मुद्रा-प्रचलन वेग की अधिकता का ही रूप है। जितनी जल्दी साख का भुगतान एवं हस्तांतरण होगा साख का वेग भी बढ़ेगा।

(८) **कीमतों का भावी अनुमान**—यदि भविष्य में कीमतें चढ़ जाने का अनुमान है तो सौदों की गतिविधि बढ़ जाएगी और चलन का वेग बढ़ जाएगा। भविष्य में मन्दी की आशा में क्रय-क्रय होगा और मुद्रा चलन का वेग घटेगा।

मूल्य-निर्धारण के अन्य सिद्धान्त

(१) **बचत और विनियोग का सिद्धांत** (Saving and Investment Theory)—इस सिद्धांत के मूल प्रतिपादक कीन्स का मत है कि मुद्रा का मूल्य जनता की आय तथा उसकी बचाने की शक्ति तथा बचत और विनियोग के संबंध पर निर्भर करता है। इस प्रकार से इस सिद्धांत में सभी प्रकार की आर्थिक घटनाएँ निहित हैं। इसकी आधारिक बातें इस प्रकार हैं—

(अ) किसी निश्चित समय में मुद्रा का मूल्य द्राव्यिक आय (मुद्रा की मात्रा, चलन का वेग तथा अन्य आयों) तथा वस्तुओं की मात्रा (पूँजी की मात्रा, बचत तथा लाभ) पर निर्भर रहता है। (ब) बचत का आशय है कि द्रव्य नए उपभोग की वस्तुओं पर व्यय नहीं किया जाता और विनियोग का अर्थ पूँजी को नई वस्तुओं पर व्यय करना होता है। (स) इन दोनों में कभी समानता नहीं रहती। कभी विनियोग अधिक होते हैं और कभी बचत। (द) यदि बचत विनियोग से अधिक होती है तो मूल्य स्तर गिरते हैं और जब विनियोग बचत से अधिक होते हैं तो मूल्य ऊपर चढ़ जाते हैं।

इस सिद्धांत में कुछ दोष हैं। विनियोग और बचत समान मानना केवल अपना सिद्धांत निर्दोष दिखाना है। व्यावहारिक रूप से दोनों समान नहीं हो सकते।

लुट्ज के अनुसार इस सिद्धांत में साख नीति एवं सामयिक परिवर्त्तनों का ख्याल नहीं रखा गया है।

मुद्रा मूल्य परिवर्तन (Changes in Value of Money)—मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के आधार पर प्रायः यह निश्चित है कि मुद्रा के परिमाण में वृद्धि तथा कमी से मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होता है। अर्थशास्त्रीय भाषा में मुद्रा मात्रा वृद्धि को मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा मात्रा में कमी को मुद्रा संकुचन कहते हैं।

मुद्रा स्फीति (Inflation)—जहाँ तक मुद्रा स्फीति अथवा मुद्रा प्रसार का सम्बन्ध है इसकी परिभाषा अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार से की हैं। क्राउदर के अनुसार मुद्रा स्फीति वह स्थिति है जिसमें मुद्रा का मूल्य गिरे अर्थात् वस्तुओं का मूल्य बढ़े। केमरर के अनुसार जब मुद्रा की मात्रा अधिक हो और वस्तुओं की मात्रा उत्पादन घटने के कारण कम हो जाय तब मुद्रा स्फीति कहलाती है। वास्तव में मुद्रा स्फीति की अवस्था तभी उत्पन्न होती है जब कि आवश्यकता से अधिक मात्रा में मुद्रा चलन में आ जाय अथवा उत्पादन इतना घट जाय कि अपेक्षाकृत मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से अधिक हो जाय। इस सम्बन्ध में आवश्यकता से अधिक मात्रा में मुद्रा के होने का वास्तविक अर्थ समझना आवश्यक है, क्योंकि प्रत्येक स्थिति में आवश्यकता से अधिक मुद्रा की मात्रा हानिकारक नहीं होती जब कि मुद्रा-स्फीति को लोग प्रायः हानिकारक ही समझते हैं। कुछ लोगों के विचार से जब मुद्रा की पूर्ति उसकी आय से अधिक हो जिससे कि उसकी क्रय शक्ति घट जाय और कीमतें बढ़ जायँ तो यही अवस्था मुद्रा-स्फीति की अवस्था मानी जानी चाहिये। पीगू ने मुद्रा स्फीति की परिभाषा निम्न प्रकार से की है— "मुद्रा-स्फीति की अवस्था तब होती है जब कि मौद्रिक आय उत्पादन क्रिया की तुलना में अधिक तेज़ी से बढ़ रही हो।" इस प्रकार अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा स्फीति की परिभाषा विभिन्न प्रकार से की है। जहाँ तक साधारण जनता का सम्बन्ध है वह मुद्रा स्फीति को मुद्रा की क्रय-शक्ति से समझती है। एक साधारण व्यक्ति को मुद्रा स्फीति तभी खटकती है जब कि उसकी आय बढ़ती हुई कीमतों के समान न बढ़े। अर्थात् जिस प्रकार वस्तुओं का कीमत स्तर बढ़ता चला जाय उसी अनुपात से यदि लोगों को आय में भी वृद्धि हो तो मुद्रा स्फीति किसी को अरुचिकर प्रतीत नहीं होती। लेकिन अधिकांश जनता के साथ यह बात घटित नहीं होती है और इसीलिये मुद्रा स्फीति बुरी समझी जाती है।

प्रारम्भिक दशा में विशेषकर जब कि व्यापार अवसाद से उत्कर्ष की ओर उन्नति करता है मुद्रा स्फीति हितकर होती है। परन्तु यदि मुद्रा स्फीति बराबर होती चली जाय और उत्पादन उसके अनुसार न बढ़े तो साधारण जनता को आर्थिक कष्टों का सामना करना पड़ता है। यह निश्चित करना कि किस सीमा तक मुद्रा

स्फीति हितकर है एक कठिन कार्य है। साधारण तौर पर भी मुद्रा स्फीति का हितकर व अहितकर होना जनता के विभिन्न वर्गों पर निर्भर होता है। क्योंकि मुद्रा स्फीति का प्रभाव विभिन्न वर्गों पर विभिन्न रूप से पड़ता है कुछ मुख्य वर्गों पर मुद्रा स्फीति का प्रभाव नीचे दिया जा रहा है—

(१) **उत्पादक वर्ग**—मुद्रा स्फीति से उत्पादक वर्ग को प्रायः लाभ होता है क्योंकि उनके भंडारों में एकत्रित निर्मित माल का मौद्रिक मूल्य बढ़ जाता है। जितना माल उनके भंडार में है उसकी कीमत पहले से अधिक हो जाती है। यद्यपि धीरे-धीरे यह माल समाप्त हो जाता है क्योंकि मुद्रा स्फीति के कारण कच्चे माल तथा मज़दूरी आदि का मूल्य भी बढ़ जाता है। वस्तुओं का लागतव्यय अधिक हो जाता है परन्तु व्यवहार में लागत व्यय इतनी तेज़ी से नहीं बढ़ता जितनी तेजी से निर्मित माल की कीमतें बढ़ती हैं। इसके अतिरिक्त यदि मुद्रा स्फीति के कारण लोगों की आय में वृद्धि होती है तो उनकी क्रय शक्ति बढ़ जाती है, जिससे निर्मित वस्तुओं की माँग बढ़ सकती है। बढ़ती हुई माँग की पूर्ति के लिये उत्पादन की मात्रा बढ़ानी पड़ती है और यदि उद्योग में क्रमागत उत्पादन व्यय ह्रास नियम लागू हो रहा हो तो वस्तु का लागत व्यय और कम हो जाता है तथा उत्पादकों का लाभ बढ़ जाता है। स्फीति काल में बिक्री अधिक होने के कारण भी लाभ की मात्रा बढ़ जाती है। इस प्रकार मुद्रा स्फीति काल में उत्पादकों को लाभ ही रहता है।

(२) **विनियोगी वर्ग**—जो व्यक्ति उद्योग तथा व्यवसाय में रुपया लगाते हैं उनको मुद्रा स्फीति काल में कुछ अंश तक तो लाभ होता है क्योंकि उद्योगों में अधिक लाभ होने के कारण इन लोगों की आय भी बढ़ जाती है। परन्तु कुछ विनियोगी ऐसे भी होते हैं जो निश्चित ब्याज दर पर अपना रुपया लगा देते हैं। ऐसे विनियोगी वर्ग को उपभोक्ताओं के नाते हानि होती है। क्योंकि उनकी आय तो वही बनी रहती है परन्तु कीमतें ऊँची हो जाने के कारण उनकी क्रय शक्ति कम हो जाती है। अतः उन्हें या तो अपना जीवन स्तर नीचा करना पड़ता है अथवा अपने जीवन स्तर को बनाये रखने के लिये पहले से अधिक द्रव्य व्यय करना पड़ता है और इससे उनकी बचत कम हो जाती है जिसका भविष्य में उनके विनियोग व्यापार पर भी बुरा असर पड़ता है।

(३) उपभोक्ता वर्ग पर भी मुद्रा स्फीति काल में मुद्रा स्फीति का वही प्रभाव पड़ता है जो निश्चित आय वाले विनियोगियों पर। उपभोक्ताओं को मुद्रा की क्रय शक्ति कम हो जाने के कारण पहले से अधिक व्यय करना पड़ता है और यदि अधिक व्यय करने की गुंजायश नहीं है तो अपने जीवन स्तर को निम्न बनाना पड़ता है अर्थात् उन्हें अपनी उपभोग सामग्री में कमी करनी पड़ती है। कुछ सीमा के पश्चात्

यह कमी उनकी कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव डालती है। कार्यक्षमता कम हो जाती है और यह देश की आर्थिक उन्नति के लिये घातक सिद्ध होती है।

(४ **श्रमिक वर्ग**—इस वर्ग में वे सब व्यक्ति सम्मिलित किये जाते हैं जो अपनी सेवाओं अथवा अपने श्रम को बेंचकर आय प्राप्त करते हैं। इस वर्ग में कारखाने और कृषि में काम करने वाले मजदूर, नौकरी करने वाले व्यक्ति तथा अन्य श्रमिक शामिल रहते हैं। मुद्रा स्फीति के कारण जहाँ तक रोजगार की वृद्धि होती है वहाँ तक श्रमिकों को लाभ होता है। रोज़गार अधिक हो जाने के कारण आय में वृद्धि होती है परन्तु प्रत्येक श्रमिक की आय, विशेषकर वास्तविक आय कम हो जाती है। मज़दूरी इतनी अधिक नहीं बढ़ती जितनी अधिक कीमतें बढ़ जाती हैं। इस कारण से बढ़ी हुई मज़दूरी से भी पहले की अपेक्षा कम वस्तुयें तथा सेवायें खरीदी जाती हैं। इससे श्रमिकों का जीवन-स्तर नीचे गिरने लगता है और उनकी कार्यक्षमता भी कम हो जाती है। इस वर्ग में जिन व्यक्तियों को मासिक वेतन मिलता उन्हें अधिक हानि उठानी पड़ती है क्योंकि मासिक वेतन दैनिक मज़दूरी से अधिक स्थिर होता है। मुद्रा स्फीति काल में मासिक वेतनों में वृद्धि बहुत दिनों बाद होती है तथा कम होती है जब कि दैनिक मज़दूरी शीघ्र बढ़ती है और उसके बढ़ने की दर भी अधिक होती है।

(५) **साहूकार वर्ग**—जो व्यक्ति दूसरे को उधार रुपया देने का कार्य करते हैं उन्हें मुद्रा स्फीति काल में हानि उठानी पड़ती है। सबसे पहले ब्याज दर प्रायः वही रहता है जिससे ऐसे व्यक्तियों को मौद्रिक आय उतनी ही बनी रहने पर वास्तविक आय कम हो जाती है। दूसरे पहले दिये हुये ऋण की रक़म जो इस काल में उन्हें वापस मिलती है उसकी क्रय शक्ति पहले से बहुत कम होती है। अतः वस्तुओं और सेवाओं से उन्हें हानि उठानी पड़ती है। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि किसी साहूकार ने १०० रुपये ऐसे समय उधार दिये जब १० रुपये मन गेहूँ बिकता था। यदि उस समय वह गेहूँ खरीदता तो १००) से १० मन गेहूँ खरीद सकता था। अपने को १० मन गेहूँ से वंचित रखकर मान लो उसने १०० दिये जो मुद्रा स्फीति काल में उसे वापस दिये गये। इस समय गेहूँ की कीमत मुद्रा स्फीति के कारण २० मन हो जाय तो वह १००) में केवल ५ मन गेहूँ ही प्राप्त कर सकेगा। इस प्रकार उसके पास अब १० मन गेहूँ क्रय करने वाली मुद्रा के स्थान में केवल ५ मन गेहूँ क्रय करने वाली मुद्रा प्राप्त हुई। इस प्रकार मुद्रा स्फीति काल में साहूकार वर्ग को हानि उठानी पड़ती है।

(६) इसके विपरीत ऋणी वर्ग को मुद्रा स्फीति काल में लाभ होता है क्योंकि उसके लिये ऋण का बोझ हलका पड़ता है। उपरोक्त उदाहरण में मान लीजिये १००) एक किसान ने ऋण लिये थे। उन १००) से उसने उस समय १० मन गेहूँ

खरीदा लेकिन मुद्रा स्फीति काल में १००) का ऋण अदा करने के लिये उसे केवल ५ मन गेहूँ बेचने की आवश्यकता है। इस प्रकार उसे ५ मन गेहूँ का लाभ मिल जाता है।

इस प्रकार मुद्रा स्फीति काल में कुछ वर्गों को लाभ तथा कुछ वर्गो को हानि होती है फिर भी व्यावहारिक जीवन में उचित मुद्रा-स्फीति से व्यक्तियों को विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता क्योंकि इस काल में रोज़गार अधिक होने के कारण सबके हाथों में पर्याप्त मुद्रा होती है। इसलिये कुछ वर्गों के लोगों को छोड़कर मुद्रा स्फीति काल में व्यक्ति अधिक समृद्धिशाली हो जाता है। भारतवर्ष में इस समय की मुद्रा स्फीति इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इतनी तेजी अधिक होते हुये भी अधिकांश लोग इतने परेशान नहीं हैं जितने १९३५ से पहले सस्ती कीमतें होने पर भी परेशान थे। कारण यही है कि वस्तुयें सस्ती थीं। तब लोगों के पास उनके खरीदने के लिये रुपया नहीं था। आजकल वस्तुयें तेज हैं लेकिन उनके खरीदने के लिये लोगों के पास रुपया है। इससे स्पष्ट होता है कि मुद्रा संकुचन काल से मुद्रा स्फीति काल अधिक अच्छा होता है। यद्यपि आर्थिक स्थिरता की दृष्टि से दोनों स्थितियाँ अवांछनीय हैं।

मुद्रा संकुचन (Deflation)

मुद्रा संकुचन या मुद्रा विस्फीति मुद्रा प्रसार का विपरीत लक्षण है। पीगू (Pigou) के अनुसार मुद्रा-संकुचन कीमतों के गिरने की वह स्थिति है, जो उस समय उत्पन्न होती हैं, जब कि वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन मौद्रिक आय की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ता है। इस प्रकार निम्न प्रकार से मूल्य स्तर में ह्रास मुद्रा-पतन कहलाएगा—

(अ) उत्पादन यथापूर्व रहता है और मौद्रिक आय घटती हैं। (ब) मौद्रिक आय एवं उत्पादन दोनों घटते हैं परन्तु मौद्रिक आय अधिक तेज़ी से घटती है। (स) यदि उत्पादन बढ़े और मौद्रिक आय यथापूर्व रहे अथवा दोनों अवस्थाओं में वृद्धि हो परन्तु उत्पादन अधिक तेज़ी से बढ़े। (द) यदि मौद्रिक आय घटे तथा उत्पादन बढ़े।

परन्तु मुद्रा-संकुचन साधारण रूप से निम्न भाँति प्रारंभ होता है जो फिर बढ़ता ही जाता है—जब मुद्रा प्रसार की स्थिति होती है तो मुद्रा संकुचन की नीति सरकार द्वारा अपनायी जाती है। जनता से अधिक टैक्स लिया जाता है, जबर्दस्ती ऋण (Forced Loans लिए जाते हैं. प्रचलित अपरिवर्त्तनीय नोटों को रद्द किया जा सकता है, उत्पादन में वृद्धि की जाती है, जनता को बैंकों से कठिनाई से अथवा

अधिक ब्याज दर पर ऋण मिल पाते हैं, तथा कभी-कभी सरकार साख निर्माण पर भी प्रतिबन्ध लगा देते हैं।

मुद्रा संकुचन के परिणाम

मुद्रा स्फीति की भाँति मुद्रा-सकुचंन अथवा मुद्रा विस्फीति का प्रभाव समाज के विभिन्न वर्गों पर प्रथक-प्रथक रूप से पड़ता है। प्रायः इसका प्रभाव विभिन्न वर्गों पर मुद्रा स्फीति के प्रभाव से विपरीत पड़ता है। (१) उदाहरण के लिये विनियोगी वर्ग में उस भाग को लाभ होगा जिनकी आय निश्चित होती है। क्योंकि अब ऐसे व्यक्ति उतनी ही धनराशि में पहले से अधिक वस्तुयें खरीद सकेगा। परन्तु जिन विनियोगियों की आय कम हो जाती है उनको मुद्रा सकुचंन से विशेष लाभ नहीं होता। ऐसे लोगों को साधारणतया हानि ही उठानी पड़ती है। (२) उत्पादक वर्ग को हानि सहनी पड़ती है। एक तो माँग कम होने से बिक्री कम हो जाती है इसलिये आय कम हो जाती है। और दूसरे बहुत उद्योग तथा व्यवसाय बंद हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त उनके भंडार में एकत्रित माल की मौद्रिक कीमत कम हो जाती है। उन्हें पहले की अपेक्षा कम मुद्रा मिलती है। इस अवस्था में कृषकों को अधिक हानि उठानी पड़ती है क्योंकि प्रायः ऐसा देखा गया है कि मुद्रा संकुचन काल में अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कृषि उपज की कीमतें अधिक नीचे गिर जाती हैं। इस काल में व्यापारी वर्ग को भी भारी हानि उठानी पड़ती है। माल की बिक्री कम होने से आय घट जाती है तथा मुद्रा अथवा रुपये का फेर उचित रूप से न बँधने के कारण पूँजी की कमी का अनुभव होने लगता है तथा साथ ही साथ रक्खे हुए माल की कीमत गिरने लगती है।

(३) **श्रमिक वर्ग**—श्रमिक वर्ग को इस परिस्थिति में प्रायः हानि उठानी पड़ती है क्योंकि चीजों के भाव गिरने से बहुत से उद्योग-धन्धे बंद हो जाते हैं तथा बहुत से मिलों में छँटनी हो जाती है, बेकारी बराबर फैलती जाती है। श्रमिकों में काफी निराशा फैल जाती है। यद्यपि कीमतें सस्ती होने के कारण उन्हें एक निश्चित संख्या की मुद्रा में पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुयें प्राप्त होने लगती हैं पर यह लाभ महत्वहीन हो जाता है। क्योंकि बेरोजगारी फैल जाने से बहुत से श्रमिकों के पास आय का कोई साधन नहीं रहता और उन्हें कभी-कभी भूखों रहना पड़ता है।

(४) **उपभोक्ता वर्ग**—उपभोक्ताओं की दृष्टि से यह काल अच्छा काल होता है। सभी वस्तुओं तथा सेवाओं की प्रचुरता चारों ओर दिखलाई पड़ती है और अब द्रव्य की एक निश्चित संख्या से वे पहले से अधिक वस्तुयें खरीद सकते हैं तथा उनकी बहुत सी आवश्यकतायें पूरी हो जाती हैं।

(५) **जहाँ तक ऋण** तथा साहूकारों का सम्बन्ध है विस्फीति काल में ऋणी वर्ग को हानि होती है; क्योंकि उनके ऊपर ऋण का बोझ पहले से अधिक हो जाता

है। कृषक वर्ग पर इस काल में ऋण और भी अधिक हो जाता है। साहूकारों को इस काल में लाभ होता है। बात यह है कि मुद्रा की क्रय शक्ति बढ़ जाने के कारण ब्याज तथा मूलधन के रूप में मिलने वाली रक़म की वास्तविक कीमत बढ़ जाती है; परन्तु दूसरे रूप में इस वर्ग को हानि उठानी पड़ती है। व्यापार तथा उत्पादन के सकुचंन के कारण ऋणों की माँग काफी बढ़ जाती है तथा ब्याज की दरें नीचे गिर जाती हैं।

मुद्रा की इन दोनों बातों को लार्ड कीन्स ने बड़े अच्छे ढंग से कहा है, "मुद्रा स्फीति अन्यायपूर्ण है और मुद्रा संकुचन अनावश्यक तथा अनुपयुक्त है।" वास्तव में दोनों परिस्थितियाँ देश के लिये हानिकारक हैं तथा यथा-सम्भव देश की मुद्रा में स्फीति तथा विस्फीति की प्रवृतियाँ न आनी देनी चाहिये।

मुद्रा संस्फीति (Reflation)

कोल के शब्दों में कभी-कभी अवसादी प्रभाव को दूर करने के लिये जान-बूझकर मुद्रा प्रसार किया जाता है। कभी-कभी अत्यधिक मुद्रा संकुचन हो जाने के कारण मुद्रा की कीमतें बहुत ही नीचे गिर जाती हैं, जिससे उत्पादकों को अधिक हानि उठानी पड़ती है। वे लागत व्यय भी वसूल नहीं कर पाते। उद्योगों का चलना कठिन हो जाता है और देश का आर्थिक जीवन अत्यन्त संकट काल में हो जाता है। ऐसे समय में आर्थिक जीवन की रक्षा के लिये सरकार को ऐसी नीति अपनानी पड़ती है कि जिससे धीरे-धीरे कीमतों को फिर ऊँचा किया जा सके अर्थात् मुद्रा संस्फीति के द्वारा मुद्रा संकुचन काल में जो मुद्रा चलन से बाहर निकल जाती है उसे फिर चलन में लाया जाता है।

साधारण तौर पर मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा संस्फीति दोनों की एक-सी प्रवृतियाँ हैं। दोनों परिस्थितियों में मुद्रा की मात्रा का विस्तार किया जाता है और दोनों में कीमतों की वृद्धि होती है। फिर भी इन दोनों में कुछ अन्तर भी है। मुद्रा संस्फीति में कीमतें धीरे-धीरे बढ़ती हैं। मुद्रा स्फीति में वे तेजी से बढ़ती हैं। मुद्रा स्फीति के परिणाम बुरे हो सकते हैं लेकिन मुद्रा संस्फीति के परिणाम बुरे नहीं होते। मुद्रा संस्फीति गिरी हुई कीमतों को ऊँचा उठाने के लिये होती है जब कि मुद्रा स्फीति सामान्य कीमत स्तर से भी कीमतों को अधिक ऊँचा उठाने का प्रयत्न करती है। मुद्रा स्फीति प्राकृतिक भी होती है परन्तु मुद्रा संस्फीति सदैव कृत्रिम होती है।

मुद्रा अपस्फीति (Disinflation)

मुद्रा स्फीति को दूर करने की नीति को मुद्रा अपस्फीति कहते हैं। जब किसी देश में मुद्रा स्फीति इतनी अधिक हो जाती है कि वस्तुओं के दाम आवश्यकता से

अधिक बढ़ते ही चले जायँ तो सरकार को बढ़ती हुई कीमतों को रोकने के लिये मुद्रा अपस्फीति की नीति अपनानी पड़ती है। मुद्रा अपस्फीति तथा मुद्रा संकुचन दोनों की प्रकृति एक-सी है। दोनों से मूल्य स्तर गिरता है। मुद्रा संकुचन में कीमतें सामान्य स्तर से काफी नीचे गिर जाती हैं। यह मंदी की दशायें उत्पन्न करता है, जब कि मुद्रा अपस्फीति आर्थिक जीवन में स्थिरता लाने का प्रयत्न करती है।

मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा संकुचन में आजकल मुद्रा स्फीति के ही उदाहरण अधिक मिलते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री आर्थिक योजनाओं की सफलता के लिए मुद्रा स्फीति पर ही अधिक बल देते हैं। मुद्रा संकुचन की आवश्यकता तो कभी-कभी ही पड़ती है। इसके विपरीत मुद्रा स्फीति एक सामान्य नीति हो गई है। इसके फलस्वरूप अब मौद्रिक विद्वानों के समक्ष यह एक विकट समस्या उपस्थित है कि मुद्रा स्फीति की घातक प्रवृति को किस प्रकार रोका जाय। अधिकांश विद्वानों का मत है कि मुद्रा स्फीति के प्रश्न को अधिक उत्पादन के द्वारा ही सुलझाया जा सकता है।

मुद्रा-प्रसार को रोकने की रीतियाँ— ये रीतियाँ दो उपायों के रूप में हो सकती हैं—वे उपाय जिनसे मुद्रा विस्तार रोका जाए और दूसरे वे जिनसे उत्पादन में वृद्धि हो। मुद्रा मात्रा को कम करने के ये उपाय हो सकते हैं—(१) किसी विशेष प्रकार की मुद्रा को रद्द कर दिया जाए या अपरिवर्त्तनशील मुद्रा गैरकानूनी घोषित हो जाए।

(२) वेतन, मजदूरी, बैंक जमाओं, ब्याज में अनिवार्य कटौती कर दी जाए।

(३) घाटे के बजटों की व्यवस्था रोक कर संतुलित बजट तैयार किए जाएँ ताकि नोट प्रकाशन या नई मुद्रा निकासी दूर हो, चलन परिमाण कम हो जाती है।

(४) नये-नये करों द्वारा सरकार जनता से मुद्रा चलन के कुछ भाग को वापस कर सकती है जिससे शेष में जनता के पास कम मुद्रा रह जाती है। यही दशा सरकार द्वारा जनता से ऋण लेने से होती है। बचत को प्रोत्साहित करके सरकार जितना अधिक ऋण ले लेगी, उतनी ही मुद्रा चलन में कम हो जाती है।

(५) सरकार द्वारा सोना, प्रतिभूतयाँ तथा अन्य स्वीकृत वस्तुयें बेंचना प्रारम्भ कर दिया जाता है जिससे जनता के पास ये वस्तुयें जमा हो जाती हैं और इनके बदले में मुद्रा सरकार के पास पहुँच जाती है। इस प्रकार समाज में पहले की अपेक्षा कम मुद्रा रह जाती है।

(६) कम्पनियों के लाभांश बाँटने पर प्रतिबन्ध लगा देने से भी मुद्रा चलन की मात्रा कम हो जाती है।

(७) बैंक दर में वृद्धि कर देने से केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाज़ार व्यवसाय

करने से तथा अन्य वैधानिक नियंत्रणों द्वारा बैंकों की साख निर्माण शक्ति को कम करके भी मुद्रा चलन की मात्रा में कमी की जा सकती है।

द्वितीय श्रेणी के उपायों के अन्तर्गत उत्पादन वृद्धि के लिये निम्नांकित प्रयत्न किये जा सकते हैं—

(१) देश के मुख्य-मुख्य उद्योगों को विभिन्न प्रकार से प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। उदाहरण के लिये कृषि-उत्पादन वृद्धि हेतु सिंचाई आदि की सुविधाओं में वृद्धि तथा नये-नये ढंगों से खेती करने को प्रोत्साहन दिया जा सकता है। उद्योगों की उन्नति के लिये आर्थिक सहायता, करों में छूट, कच्चे मालों, कारीगरों तथा मशीनों की व्यवस्था आदि उपाय किये जा सकते हैं।

(२) ऐसे नवीन उद्योग सरकार द्वारा चलाये जा सकते हैं जिनको व्यक्तिगत पूँजीपति चलाने में असमर्थ हों। नवीन उद्योगों के प्रारम्भ करने में एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि इन उद्योगों से उत्पादन में वृद्धि प्रारम्भ से ही हो जानी चाहिये नहीं तो लोगों को कार्य अधिक मिलने के फलस्वरूप जनता में मुद्रा चलन की मात्रा के बढ़ जाने की सम्भावना रहती है।

(३) आयातों को प्रोत्साहित करना चाहिये जिससे देश के अन्दर वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि हो और साथ-ही-साथ निर्यातों की कमी होनी चाहिये जिससे देश की वस्तुयें बाहर न जा सकें।

इन उपायों के अतिरिक्त मुद्रा प्रसार के मुख्य परिणाम—बढ़ती हुई क़ीमत स्तर—को रोकने के लिये कीमतों पर नियंत्रण करना भी आवश्यक हो जाता है। सरकार को अनिवार्य आवश्यक वस्तुओं को बेंचने के लिये सस्ती दूकानें खोलनी पड़ती हैं। वितरण पर नियंत्रण रखने के लिये राशनिंग व्यवस्था भी लागू करनी पड़ती है तथा नियंत्रित प्रणाली के विरुद्ध कार्य करने वालों को कड़े-से-कड़े दंड देना पड़ता है। तभी बढ़ते हुये मूल्यों की प्रवृत्ति रोकी जा सकती है।

यदि देश में मुद्रा चलन की मात्रा कम रह जाय अथवा वस्तुओं का उत्पादन अधिक बढ़ जाय तो मुद्रा संकुचन की स्थिति आ जाती है और ऐसी दशा में वस्तुओं के मूल्य गिरने लगते हैं। वस्तुओं के मूल्यों में अधिक गिरावट की दशा भी देश के आर्थिक विकास में बाधा डालती है। अतः इस दशा को दूर करना भी आवश्यक हो जाता है और इसके लिये उपरोक्त वर्णित उपायों के विपरीत प्रयत्न करने पड़ते हैं। मुद्रा संकुचन की अवस्था को रोकने के लिये निम्नांकित उपाय दिये जा सकते हैं—

(१) केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर को कम करके तथा प्रतिभूतियों को जनता से खरीदकर बैंकों की साख निर्माण शक्ति को बढ़ा सकता है जिससे जनता के पास अधिक मुद्रा पहुँच जाती है।

(२) केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारें राष्ट्रीय विकास की योजनायें बनाकर कार्यदायित्व क्षेत्र को बढ़ा सकती है जिससे रोजगार बढ़ जाता है और जनता के हाथ में अधिक रुपया पहुँच जाता है।

(३) आयातों को कम किया जाता है जिससे देश में वस्तुओं की मात्रा अधिक न होने पावे। निर्यातों को प्रोत्साहित किया जाता है जिससे देशी वस्तुओं की माँग विदेशों में अधिक हो जाय और देशी उद्योग-धन्धों की उन्नति हो।

(४) करों तथा भूमि के लगान आदि में कमी कर दी जाती है जिससे जनता के पास अधिक मुद्रा बनी रहे।

(५) जो उद्योग कीमतों के गिर जाने के कारण चालू रहने में असमर्थ हो जाते हैं उनका काम चालू रखने के लिये सरकार विशेष प्रकार से आर्थिक सहायता देती है जिससे लोगों को रोजगार मिलता रहे और जनता के पास अधिक मुद्रा पहुँचती रहे।

(६ कभी कभी कीमतों को ऊँचा बनाये रखने के लिये पहले से उत्पन्न चीजों को नष्ट भी कर देना पड़ता है। अमेरिका में इस प्रकार के उपाय कई बार काम में लाये गये।

इस प्रकार विभिन्न उपायों से कीमतों में स्थिरता लाने का प्रयत्न किया जाता है परन्तु कीमतों की स्थिरता लाने में कुछ कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ता है। सबसे पहली कठिनाई है कि यह निष्कर्ष निकालना कि थोक अथवा खेरीज कीमतों में किन कीमतों में स्थिरता लाई जाय कठिन हो जाता है। सब प्रकार की कीमतों में स्थिरता लाना प्रायः कठिन होता है। और यदि विभिन्न वस्तुओं की तुलनात्मक कीमतों को लाने का प्रयत्न किया जाय तो यह और भी कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त कीमतों की स्थिरता भी कभी-कभी आर्थिक विकास के लिये अधिक उचित सिद्ध नहीं होती। ऐसी दशा में उत्पादकों में एक प्रकार की निराशा छा जाती है। और कभी-कभी कीमतों के परिवर्तन से बहुत पहले आर्थिक जीवन में अस्थिरता आ जाती है। इसलिये बहुत से अर्थशास्त्री क़ीमत स्थिर रखने के उद्देश्य को ही उचित नहीं समझते। यही नहीं कभी-कभी कीमतों की वृद्धि अथवा कमी देश के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकती है। उदाहरण के लिये यदि कीमतों में कमी विभिन्न प्रकार के आविष्कारों के कारण उत्पादन व्यय में कमी हो जाने से हो रही है तो इस प्रकार की कमी को रोकना देश के हित में नहीं होगा। उपरोक्त कठिनाइयों के होते हुये भी अधिकांश अर्थशास्त्रियों का यही मत है कि प्रत्येक देश को ऐसी ही मुद्रा नीति अपनानी चाहिये जो कीमतों में परिवर्तन कम-से-कम करने में सहायक हो सके। कुछ अर्थशास्त्रियों का यह भी मत है कि मौद्रिक नीति का उद्देश्य तटस्थ मुद्रा की स्थापना होना चाहिये। वस्तुओं की मात्रा में कमी और वृद्धि के कारण सामान्य

क़ीमत स्तर में होने वाले परिवर्तनों को रोकना उचित नहीं है। लार्ड कीन्स के मतानुसार मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय आय का अधिकतम करना ही होना चाहिये। जिस प्रकार वृत्तिहीनता दूर हो सके और पूर्णवृत्ति की स्थिति न हो तब तक सस्ती मुद्रा नीति द्वारा क़ीमत स्तर को ऊँचा उठाना चाहिये। इस प्रकार मुद्रा नीति के उद्देश्यों के बारे में अर्थशास्त्रियों में काफी मतभेद है। व्यावहारिक दृष्टि से तो यही कहा जा सकता है कि मौद्रिक नीति का उद्देश्य आर्थिक स्थिरता प्राप्त करना ही होना चाहिये क्योंकि अस्थिरता की दशा सदैव चिन्तनीय होती है। आर्थिक स्थिरता से तात्पर्य प्रगतिशील आर्थिक स्थिरता से है न कि जहाँ की तहाँ आर्थिक स्थिरता। प्रत्येक राष्ट्र को ऐसी मौद्रिक नीति अपनानी चाहिये जिससे देश के आर्थिक विकास में उत्तरोत्तर प्रगति होती रहे।

प्रश्न

१. द्रव्य के मूल्यों में परिवर्त्तन का उत्पादन और वितरण पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है और यह परिवर्त्तन अधिक सामाजिक महत्व रखते हैं, व्याख्या कीजिए। (आगरा १९५७)

2. Explain carefully the concepts of the supply of money and the demand for money. (*Agra B. A.* 1957)

3. Discuss critically the quantity theory of money. (*Agra B. A.* 1957)

4. What do you understand by the quantity theory of money? What are its limitations? (*Agra B. Com. Pt. I*, 1956)

अध्याय ७

निर्देशांक

(Index Numbers)

मूल्यों में होने वाले परिवर्त्तनों को मापने के लिए सूची अंकों अथवा निर्देशांकों (Index Numbers) की सहायता ली जाती है।

मूल्य निर्देशांकों का अर्थ और महत्व (Meaning & Importance)

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त मूल्य स्तर परिवर्तन समझाने में चाहे पूर्ण सफल न हो पर व्यवहार में मूल्य-स्तर परिवर्तन समय-समय पर होता रहता है। और इस मूल्य परिवर्तन के माप की आवश्यकता रहती है कि विभिन्न समयों में अथवा विभिन्न देशों में मूल्य-स्तर में किस अनुपात में परिवर्तन हुआ। अथवा मुद्रा के मूल्य या उसके क्रय शक्ति में किस अनुपात से घटा-बढ़ी हुई। अर्थशास्त्रियों ने इस प्रकार के परिवर्त्तन को मापने के लिये मूल्य निर्देशांक का सहारा लिया है। मूल्य निर्देशांक की सहायता से हम किसी पूर्व काल के मूल्य स्तरों की तुलना उत्तर काल के मूल्य-स्तर से करते हैं। मूल्य-निर्देशांक वे संख्या हैं जो एक निर्धारित समय का आधार मानकर चुनी हुई वस्तुओं की कीमतों की तुलना उन्हीं वस्तुओं की किसी दूसरे समय पर कीमतों से तुलना करने में उपयोग में लाये जाते हैं।

इस प्रकार मूल्य निर्देशांक एक ही दृष्टि में विभिन्न समयों पर मुद्रा की क्रय शक्ति अथवा मूल्य स्तर के परिवर्तन प्रकट करते हैं।

व्यवहार में यह देखा गया है कि वस्तुओं के मूल्य का परिवर्तन एक ही दिशा में नहीं होता और न एक अनुपात में होता है। उदाहरण के लिये यदि जनवरी १९५७ तथा जनवरी १९५८ में कुछ वस्तुओं के मूल्य की तुलना की जाय तो इनमें से कुछ वस्तुओं का मूल्य बढ़ा तथा कुछ वस्तुओं का कम हुआ मिलेगा। मान लीजिये गेहूँ, चना, चीनी व घी ये चार ही पदार्थ लिये जायँ तो हो सकता है कि गेहूँ की कीमत १०% बढ़ गई हो। चने की कीमत में १५% की वृद्धि हुई हो, चीनी की कीमत में ५% वृद्धि हुई हो, तथा घी की क़ीमत १०% कम हो गई हो तो ऐसी अवस्था में इन परिवर्तनों से सामान्य मूल्य स्तर के परिवर्तन का कोई आभास नहीं मिलता। इन परिवर्तनों को इसी रूप में देखने से हम यह नहीं कह सकते कि मुद्रा की क्रय शक्ति में जनवरी १९५७ की अपेक्षा जनवरी १९५८ में क्या परिवर्तन हो

गया है क्योंकि मुद्रा की क्रय शक्ति तीन वस्तुओं में विभिन्न अनुपात से बढ़ी तथा एक वस्तु में कम हुई। ऐसी दशा में तो यही कहा जा सकता है कि सामान्य तौर पर मुद्रा की क्रय शक्ति बढ़ी और न यही कहा जा सकता है कि इसकी क्रय शक्ति कम हुई। यह कठिनाई मूल्य निर्देशांक से दूर हो जाती है। उपरोक्त उदाहरण में यदि जनवरी १९५७ में गेहूँ की एक निश्चित मात्रा १०० रुपये में मिलती थी वही जनवरी १९५८ में ११० रुपये में। १०० रुपये का चना ११५ रुपये में, १०० रुपये की चीनी १०५ रुपये में, १०० रुपये का घी ९० रुपये में मिलता है। इस प्रकार जनवरी १९५७ ई० में ये चारों चीजें ४०० रुपये में मिलती थीं उतनी ही जनवरी १९५८ में ४२० रुपयों में मिलीं अर्थात् १०० रुपये की चीज़ के दाम १०५ रुपये हो गये। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामान्य तौर पर देश के मूल्य स्तर में ५% की वृद्धि हो गई अथवा मुद्रा की क्रय शक्ति में इतनी कमी हो गई। उपरोक्त प्रणाली से मुद्रा की क्रय शक्ति के परिवर्तन मापे जाते हैं तथा इसी पद्धति को मूल्य-निर्देशांक कहते हैं।

मूल्य-निर्देशांक निर्माण करने की निम्नांकित दो विधियाँ हैं :

(१) सामान्य निर्देशांक (General Index Number)
(२) भारशील निर्देशांक (Weighted Index Number)

सामान्य निर्देशांक निर्माण करने में सबसे पहले इस बात की आवश्यकता होती है कि हम उस उद्देश्य को भली प्रकार समझ लें जिसके लिये निर्देशांक बनाने हैं। क्योंकि उसी के अनुसार वस्तुओं का चयन करना ठीक होगा। यदि हमें कीमतों का ही निर्देशांक बनाना है तो बहुत सी वस्तुओं का चयन करना पड़ेगा। और यदि निर्देशांक निर्माण का उद्देश्य सीमित है तो कुछ सीमित विशेष वस्तुओं का चयन करना पड़ेगा। उदाहरण के लिये मान लीजिये मिल मज़दूरों के वेतन में वृद्धि करने की समस्या को हल करने के लिये मूल्य निर्देशांक की आवश्यकता है तो इस दशा में उन्हीं वस्तुओं का चयन करना उपयुक्त होगा जिन वस्तुओं का उपभोग मज़दूरों के द्वारा किया जाता है। यदि इस समस्या को हल करने के लिये धनी वर्ग द्वारा उपयोग की जाने वाली वस्तुयें चयन की जायँ तो यह ठीक न होगा। इसलिये मूल्य निर्देशांक बनाने के लिये सबसे प्रथम उसके उद्देश्य का ज्ञान आवश्यक भी है। उद्देश्य स्पष्ट होने पर उसके अनुसार उन वस्तुओं का चयन करना चाहिये जिनकी कीमतों के आधार पर निर्देशांक निकालना है। मूल्य निर्देशांक निर्माण के लिये तीसरी बात आधार वर्ष का चुनना है। किस वर्ष को आधार माना जाय जिससे अन्य समय की कीमतों की तुलना की जाय। आधार वर्ष ऐसा होना चाहिये कि जिसमें कीमतों का चढ़ाव-उतार अधिक न हुआ हो। कोई ऐसी घटना न घटी हो

जिससे तत्कालीन आर्थिक स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ा हो। आधार वर्ष असाधारण नहीं होना चाहिये। साधारण तौर पर प्रत्येक देश की सरकार समय-समय पर आधार वर्ष निश्चित करती है। भारत में पहले १६३६ आधार वर्ष माना जाता था। अब १६४६ आधार वर्ष माना जाता है। इसके पश्चात् कीमतों का चुनाव आवश्यक है। इनका चुनाव निर्देशांक बनाने के उद्देश्य पर निर्भर है। यदि मुद्रा के मूल्यों में परिवर्त्तन को दिखाना है तो थोक कीमतें अधिक उपयोगी होती हैं। जीवन-निर्वाह व्यय के सूचनांक बनाने के लिए फुटकर कीमतें चुनी जानी चाहिए। ये कीमतें दैनिक साप्ताहिक एवं मासिक हो सकती हैं। यह निर्देशांक बनाने वाले की सुविधा एवं उद्देश्य पर निर्भर है। पाँचवा निर्णय औसत के निर्धारण के संबंध में होता है। सामान्यतया गणित के औसत का उपयोग होता है परंतु कभी-कभी ज्यामितिक औसत (Geometrical Average) को भी अपनाया जा सकता है।

इसके चयन के पश्चात् सूचनांक बनाना सरल हो जाता है। आधार वर्ष के मूल्यों को १०० मान लिया जाता है। अभीष्ट वर्ष की कीमतें निर्देशांक निकालने के लिए रख दी जाती हैं। आधार वर्ष की कीमतों (१००) के संबंधित मूल्य (Price relatives) निकाल लिए जाते हैं और फिर औसत ज्ञात कर लिया जाता है जिससे उच्चावचन का प्रतिशत ज्ञात हो जाता है।

उदाहरण के लिए निम्न तालिका उपयोगी होगी :—

वस्तुएँ	१६३६ के मूल्य	मूल्य संबंध	१६५८ के मूल्य	नए मूल्य संबंध
गेहूँ	प्रतिमन ८ रुपए	१००	२४ रुपए	३००
चावल	,, ६ ,,	१००	२७ ,,	३००
दाल	,, १० ,,	१००	४० ,,	४००
कपड़ा	प्रति गज ६ आना	१००	१½ ,,	४००
दूध	प्रति सेर ३ ,,	१००	१० आना	३३३
		५००		१७३३
	औसत	१००	औसत	३४६

इस प्रकार १६३६ ई० की अपेक्षा १६५८ में वृद्धि ३४६ प्रतिशत हुई।

(२) **भारशील सूचनांक** (Weighted Index Numbers)—प्रत्येक वस्तु का महत्व विभिन्न वर्ग अथवा व्यक्ति के लिए विभिन्न रहता है। अतः सूचानांक बनाते समय प्रत्येक वस्तु को उचित महत्व देना चाहिए और इस प्रकार बनाए गए निर्देशांक भारशील सूचनांक कहलाते हैं। इस प्रकार इनके बनाने में सामान्य सूचनांकों से कोई विशेष अंतर नहीं है केवल भार या महत्व प्रत्येक वस्तु को दिया जाता है।

सम्भाव सूचनांक निकालना

वस्तुएँ	१९३९ आधार वर्ष			१९५८ का वर्ष		
	मूल्य	भार	भारशील औसत	मूल्य	भार	नवीन भारशील औसत
गेहूँ	८) प्रतिमन	५	१००×५=५००	२४) प्रति मन	५	३००×५=१५००
चावल	९) ,,	४	१००×४=४००	२७) ,,	४	३००×४=१२००
कपड़ा	६आ.प्र.ग.	३	१००×३=३००	१-५०,, गज	३	४००×३=१२००
दाल	१०) ,,	२	१००×२=२००	४० ,, मन	२	४००×२= ८००
दूध	३ आना प्रतिसेर	१	१००×१=१००	१० आ० प्रतिसेर	१	३३३×१= ३३३
		१५	१५०० औसत १००		१५	औसत ५०३३/१५ =३३५.५३

औसतन १९३९ के मूल्य की अपेक्षा १९५८ में इन वस्तुओं के मूल्यों में २३५.५३% वृद्धि हुई है अर्थात् रुपए की कीमत में २३५.५३% ह्रास हुआ है।

निर्देशांकों के निर्माण में कठिनाइयाँ

निर्देशांकों के निर्माण में व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक दोनों प्रकार की कठिनाइयाँ हैं। प्रथम तो प्रतिनिधि वस्तुओं को चुनना बहुत कठिन है, क्योंकि वस्तुओं का प्रयोग तथा उनकी किस्म में परिवर्त्तन होता रहता है। यदि आधारिक वर्ष की वस्तुओं का ही उपयोग होता है तब तो फल ठीक प्राप्त हो सकते हैं अन्यथा वास्तविक परिणाम नहीं निकल पाते। प्रत्येक वस्तु को भार (Weight) दिया जाता है परंतु यह व्यक्ति और समय के अनुसार बदलता रहता है। अतः प्रयुक्त औसत और भार (Weight) भी अनुमान पर ही आधारित होता है। व्यावहारिक कठिनाइयों में मूल्य का एकत्रीकरण आधारिक वर्ष का चुनाव आदि त्रुटियों से रिक्त नहीं है। अतः निर्देशांक इतने सत्य नहीं हो पाते जितने कि सोचे जाते हैं। राबर्टसन के शब्दों में मुद्रा के मूल्य परिवर्त्तनों को ठीक-ठीक नाम लेना न तो सैद्धांतिक दृष्टि से ही संभव है और न व्यावहारिक दृष्टि से ही। इतना अवश्य है कि यदि मुद्रा के मूल्य में परिवर्त्तन होते हैं और सतर्कता रखी जाती है तो प्रत्यक्ष उपभोग के लिए उसकी माप उचित रीति से की जा सकती है। मार्शल ने भी इसी विचार का समर्थन करते हुए कहा है कि "क्रय शक्ति की माप केवल असंभव ही नहीं अपितु अविचारणीय भी है।" ये

निर्देशांक केवल आर्थिक परिवर्त्तनों की केन्द्रीय प्रवृत्ति के ही द्योतक होते हैं। उन पर अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए।

प्रश्न

1. Explain the nature, construction and uses of Index Numbers of prices. (*Agra B. Com. I*, 1957)

२, निर्देशांकों की कठिनाइयाँ बताइए।

3. What are the Index Numbers? How are they prepared? Discuss fully. (*Agra B. Com.* I, 1956)

अध्याय ८

भारतीय चलन का इतिहास

(History of Indian Currency)

आधुनिक काल से नवीन देशों की अपेक्षा भारतवर्ष एक अत्यन्त प्राचीन देश है, जो भूतकाल में अपनी आर्थिक व अपनी औद्योगिक व व्यापारिक उन्नति के लिये प्रसिद्ध रहा है। कोई भी देश बिना मुद्रा के व्यापारिक उन्नति नहीं कर सकता। अतः भारतवर्ष में सिक्कों का चलन अति प्राचीन काल में भी पाया जाता है। वैदिक, पौराणिक, बौद्ध तथा मुसलिम कालीन साहित्य में कहीं-न-कहीं मुद्रा के उपयोग का वर्णन आता है। अध्ययन की दृष्टि से भारतीय मुद्रा का विवरण सन् १८३५ ई० से किया जा सकता है। इस समय इस देश में विभिन्न प्रकार के सिक्कों का चलन था। देश जितने राज्यों में विभाजित था उतने प्रकार के ही सिक्कों का चलन था। सिक्कों में भारी विविधता थी। उनके रूप, मूल्य, वजन तथा शुद्धता में अधिक अन्तर होता था जिससे व्यापार में भारी असुविधा होती थी।

सन् १८३५ ई० में जब कि ईस्ट इंडिया कम्पनी में अपने अधिकृत क्षेत्रों में एक ही सिक्के के चलन का प्रयत्न किया यहाँ पर सोने व चाँदी दोनों प्रकार के सिक्के विधिग्राह्य थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने १६५ ग्रेन शुद्ध चाँदी के तौल में १८० ग्रेन अथवा एक तोला वाले चाँदी के रुपये को प्रामाणिक सिक्का घोषित कर दिया। सिक्के का स्वतंत्र मुद्रण रक्खा गया। इस प्रकार १८३५ ई० में भारतवर्ष में रजतमान के रूप में एक धातुमान स्थापित किया गया। इस समय से सोने के रुपये की कीमत चाँदी के स्वर्ण मूल्य के अनुसार निर्धारित होने लगी। सन् १८६४ ई० में भारतीय रुपये का स्वर्ण मूल्य एक रुपया बराबर २ शिलिंग के रक्खा गया परन्तु चाँदी की पूर्ति में अधिकता के कारण तथा कुछ देशों में रजतमान की समाप्ति के कारण चाँदी की माँग कम होने से इसकी कीमत में गिरावट प्रारम्भ हुई, यहाँ तक कि १८६२ ई० में एक रुपये की कीमत केवल १ शिलिंग ३ पेंस रह गई। चाँदी की स्वर्ण में कीमतों के गिर जाने के कारण देश में चाँदी के आयात में वृद्धि हुई और स्वतन्त्र मुद्रण प्रणाली के कारण देश में मुद्रा प्रसार अधिक हो गया। क़ीमतें बढ़ने लगीं। विदेशी व्यापार पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। विदेशी पूँजी का आयात कम हो गया जिससे देश के औद्योगिक विकास में बड़ी कठिनाई होने लगी। इधर सरकार को प्रति वर्ष

अंग्रेजी सिक्कों में पर्याप्त धन-राशि (Home Charges) के रूप में भेजनी पड़ती थी। स्वर्ण में रुपये की क़ीमत गिर जाने से अधिक रुपयों की आवश्यकता होने लगी जिसके कारण सरकार को करों में वृद्धि करनी पड़ी और भारत सरकार को अपने बजट के सन्तुलन में कठिनाई अनुभव होने लगी।

उपरोक्त कठिनाई को दूर करने के लिये आवश्यक सुझाव देने के हेतु १८६२ ई० में लार्ड हर्शेल की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई जिसे निम्न प्रस्तावों पर सुझाव देने का आदेश दिया गया—

(१) क्या भारत में चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण समाप्त करके स्वर्णमान ग्रहण कर लिया जाय ?

(२) क्या भारत में सोने के सिक्के चालू किये जायँ ?

(३) क्या रुपये की Sterling (स्टर्लिंग विनिमय) दर घटाकर १ शिलिंग ६ पेंस कर दी जाय। समिति ने इस समस्या पर भली भाँति विचार करके निम्नांकित दो सुझाव दिये—

(१) चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द कर देना चाहिये और सरकार चाँदी के रुपयों के ढालने का काम स्वयं अपने हाथ में ले ले।

(२) सरकारी खजानों में सभी प्रकार के लोकदायित्वों के भुगतान में सोना १ शि० ४ पेन्स प्रति रुपये की दर से स्वीकृत किया जाना चाहिये।

भारतीय सरकार ने समिति की सिफारिशों को स्वीकार करते हुये सन् १८६३ ई० में भारतीय मुद्रण ऐक्ट पास किया इसके अनुसार चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण समाप्त कर दिया गया तथा उसकी विनिमय दर १ शिलिंग ४ पेन्स प्रति रुपये कर दी गई। रुपये की यह कीमत कुछ समय को छोड़कर १६१६ ई० तक प्रायः स्थिर बनी रही।

सन् १८६८ ई० में भारत में पूर्ण स्वर्णमान स्थापित करने के औचित्य को निश्चित करने के लिये सर हेनरी फाउलर की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने निम्नांकित सुझाव दिये—

(१) भारत में चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण नहीं होना चाहिये।

(२) सोने का स्वतन्त्र मुद्रण होना चाहिये। और ब्रिटिश सावरन को अपरिमित विधिग्राह्य मुद्रा घोषित कर देनी चाहिये।

(३) रुपया सांकेतिक सिक्का होते हुये भी अपरिमित विधिग्राह्य बना रहे। और उसकी विनिमय दर १ शिलिंग ४ पेन्स बनी रहनी चाहिये।

(४) भारतीय सरकार को विदेशी भुगतानों के लिये पर्याप्त स्वर्ण कोष रखना चाहिये। और रुपयों के मुद्रण पर जो लाभ प्राप्त हो उसे सोने में एक विशेष सुरक्षित कोष के रूप में रखना चाहिये जो अन्य प्रकार के कोषों से सर्वथा पृथक रहे।

भारतीय सरकार ने प्रायः सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया, केवल सोने के सिक्कों का स्वतन्त्र मुद्रण वाला प्रस्ताव अस्वीकृत किया गया। इस प्रकार सन् १८९९ ई० से इस देश में निम्न विशेषताओं वाला मौद्रिक मान स्थापित किय गया—

(१) देश के अन्तर्गत स्वर्ण सिक्कों के प्रचलन का न होना।

(२) देश की आन्तरिक आवश्यकताओं के लिये रुपयों का स्वर्ण में परिवर्तन न करना।

(३) भारतीय सरकार द्वारा रुपये के बदले में एक निश्चित विनिमय दर पर विदेशों को सोना भेजने की व्यवस्था करना।

(४) इस प्रसार की व्यवस्था को सफल बनाने के लिये स्वद्दित कोषों के एक आवश्यक भाग का इंगलैंड में रक्खा जाना।

उपरोक्त मौद्रिक मान देश के लिये हितकर सिद्ध नहीं हुआ। भारत में इसकी कड़ी आलोचना की गई तथा इस विषय पर भारतीय सरकार व भारत सचिव के बीच गहरा मतभेद भी था। अतः १९१३ ई० में इस समस्या को सुलझाने के लिये मिस्टर चैम्बरलेन की अध्यक्षता में एक अन्य कमीशन की नियुक्ति की गई जिसने निम्नांकित प्रमुख सुझाव दिये—

(१) स्वर्ण विनिमय मान के रूप में भारतीय मौद्रिक मान चालू रक्खा जाय।

(२) भारत में सोने के सिक्कों का मुद्रण आवश्यक नहीं है।

(३) स्वर्ण-निधि में वृद्धि होनी चाहिये और उसे लन्दन में ही रक्खा जाना चाहिये।

(४) पत्र-मुद्रा प्रणाली को अधिक लोचदार बनाने के लिये स्वर्ण मुद्रा के स्थान पर सोने के उपयोग को अधिक प्रोत्साहित किया जाना चाहिये।

(५) स्वर्णमान की रजत शाखा को बन्द कर देना चाहिये और भारतीय सरकार को विनिमय दर को गिरने से बचाने के लिये १ शिलिंग ३$\frac{२९}{३२}$ पेन्स प्रति रुपयों की दर पर भारत में लन्दन पर बिल बेचने चाहिये। भारतीय सरकार इन सिफारिशों को लागू भी नहीं कर सकी कि प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो गया।

प्रथम महायुद्ध काल में भारतीय चलन

युद्ध के प्रारम्भ होते ही सम्पूर्ण देशों के साथ ही साथ व्यापार तथा व्यवसायों में अनिश्चितता आना प्रारम्भ हो गया। विनिमय दर कम होने लगे। लोग सेविंग्ज़ बैंक से अधिक तादाद में अपना रुपया निकालने लगे और पत्र-मुद्रा को रुपये के सिक्कों अथवा सोने में बदलने लगे। यहाँ तक कि थोड़े समय में दस करोड़ रुपये के मूल्य की पत्र-मुद्रा कोषागार को लौटा दी गयी तथा भारत सरकार को उसके

लिये १८ लाख पौंड की कीमत का सोना देना पड़ा। विवश होकर भारतीय सरकार ने व्यक्तियों को सोना देना बंद कर दिया और इस प्रकार कुछ काल के लिये स्वर्ण-मान स्थगित हो गया। नोटों को रुपयों में बदलने पर भी प्रतिबन्ध लगाये गये। नोटों के प्रचलन में भारी वृद्धि हुई। सन् १९१९ ई० में युद्ध तो समाप्त हो गया परन्तु युद्धकालीन मौद्रिक कठिनाइयाँ वैसी ही बनी रहीं। चाँदी का मूल्य बराबर बढ़ता गया और नोटों को चाँदी में बदलना कठिन हो गया। अतः मौद्रिक सम्बन्धी जाँच के लिये बैबिंगटन की अध्यक्षता में १९१९ ई० में मुद्रा प्रणाली में सुधार के सुझाव देने के लिये एक नई समिति नियुक्त की गई। इस समिति के मुख्य सुझाव निम्नांकित थे—

१) रुपये की विनिमय दर एक रुपया बराबर दो शिलिंग के स्थापित की जाय।

(२) सावरन के बदले में रुपये देने का सरकारी उत्तरदायित्व समाप्त कर दिया जाय।

३) स्वर्णकोषों का अधिक से अधिक आधा भाग भारत में रक्खा जाय तथा शेष इंगलैंड में।

(४) भारतीय पत्र-मुद्रा प्रणाली में लोच उत्पन्न करने के लिये देश में अनुपातिक निधि प्रणाली ग्रहण की जाय तथा पत्र चलन विश्वासाश्रित भाग कुल चलन के ६०% से अधिक नहीं रहना चाहिये।

(५) भारत में स्वर्ण के आयात तथा निर्यात का सरकारी नियंत्रण समाप्त हो जाना चाहिये और रुपये की विनिमय दर स्टरलिंग के स्थान पर स्वर्ण में नियत की जानी चाहिये।

सन् १९२० ई० में एक भारतीय मुद्रण संशोधन ऐक्ट पास किया गया जिसके अनुसार बैबिंग्टन समिति की अधिकांश सिफारिशें मान ली गईं। भारत सरकार ने विनिमय दर को एक रुपया बराबर दो शिलिंग पर बनाये रखने का प्रयत्न किया परन्तु इससे सरकार को बड़ी हानि हुई तथा प्रयत्न सफल न हो सका क्योंकि बाज़ार में चाँदी की कीमत २ शिलिंग सोने से अधिक थी। भारत का व्यापाराशेष प्रतिकूल हो गया क्योंकि उच्च विनिमय दर के कारण निर्यात व्यापार में काफी कमी हो गई। सरकार के सभी प्रयत्न असफल होने के कारण सरकार ने विनिमय दर के नियंत्रण की नीति त्याग दी। इसके फलस्वरूप सन् १९२० ई० तक विनिमय दर गिर कर १ शिलिंग ५ पेंस रह गई। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारत सरकार ने बैबिंग्टन स्मिथ समिति की सिफारिशों को स्वीकार करके भूल की।

हिल्टन यंग कमीशन—सन् १९२५ ई० के अन्त तक इगलैंड में स्वर्णमान फिर स्थापित हो गया। इसके कारण रुपये की विनिमय दर स्टरलिंग तथा सोने दोनों

में १ शि० ६ पेन्स के बराबर हो गई। इसलिये भारतीय सरकार ने रुपये की विनिमय दर फिर से निश्चित करने के लिये इसी समय हिलटंन यंग की अध्यक्षता में एक नवीन समिति नियुक्त की। इस समिति के निम्नलिखित मुख्य सुझाव थे—

(१) भारतीय सरकार द्वारा संचालित स्वर्ण विनिमय मान को समाप्त करके स्वर्ण पाट मान स्थापित करना चाहिये क्योंकि तभी जनता का विश्वास भारतीय चलन में पूर्ण रूप से हो सकता है।

(२) रुपये की विनिमय दर स्टरलिंग व स्वर्ण में १ शि० ३ पेन्स तक स्थिर की जानी चाहिये।

(३) चलन तथा साख पर नियंत्रण रखने के लिये भारतवर्ष में भी एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जानी चाहिये। इस बैंक को पहले २५ वर्ष के लिये नोट निर्गमन का एकाधिकार दे दिया जाना चाहिये। ये नोट अपरिमित विधिग्राह्य तथा भारतीय सरकार द्वारा गारंटी प्राप्त होने चाहिये। इन कागजी नोटों के बदले में जनता को रुपये के सिक्के प्राप्त करने का वैधानिक अधिकार न हो फिर भी व्यवहार में उन्हें पत्र-मुद्रा के बदले में चाँदी के रुपये प्राप्त करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिये।

(४) स्वर्णमान निधि तथा पत्र चलन निधि को अलग-अलग रखने की प्रथा को समाप्त करके इन दोनों कोषों को मिला देना चाहिये।

(५) भारत सरकार द्वारा निर्गमित एक रुपये वाले नोट प्रस्तावित केन्द्रीय बैंक द्वारा फिर से निकाले जाने चाहिये।

उपरोक्त सिफारिशें समिति के अधिकांश सदस्यों की सिफारिशें थीं। कुछ सदस्यों ने विशेषकर श्री पुरषोत्तमदास ठाकुरदास ने इन सिफारिशों का विरोध किया था। परन्तु भारतीय धारा सभा ने बहुमतीय सुझाव को स्वीकार करके सन् १६२७ ई० में एक करंसी बिल पास कर दिया। उपरोक्त सुझावों में विनिमय दर पर ही बहुत विवाद चला और सैद्धान्तिक दृष्टि से इस विवाद का कुछ ज्ञान होना आवश्यक प्रतीत होता है। १ शि० ६ पें० की दर के पक्ष में निम्नांकित मुख्य तर्क दिये गये थे—

(१) १ शि० ६ पें० की दर विगत दो वर्षों से स्थिर थी जिससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि यही दर भारत तथा अन्य देशों की आर्थिक दशाओं के द्वारा निर्धारित होकर प्राकृतिक दर हो गई थी।

(२) इस दर पर आन्तरिक कीमत स्तर, उत्पादन व्यय तथा अन्य अर्थ व्यवस्था का समायोजन हो चुका था। इस दर में परिवर्तन करने से उपरोक्त सन्तुलन बिगड़ सकता था।

(३) इससे नीची दर स्थापित करने से केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के बजट पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। विशेषकर होम चार्जेज़ के रूप में भारतीय सरकार को पहले से अधिक रुपया इंगलैंड भेजना पड़ता। और यह तभी सम्भव था जब अधिक कर लगाये जायँ। इस प्रकार इससे नीची विनिमय दर से जनता के कर भार में वृद्धि का भय था।

(४) कम विनिमय दर पर विदेशी वस्तुयें भारत में महँगी पड़ेगी जिससे जनता को भोग में कठिनाई होगी।

उपरोक्त तर्क के विरुद्ध १ शि० ४ पेन्स के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये गये थे—

(१) रुपये की विनिमय दर १ शि० ४ पेंन्स गत बीस वर्षों से चली आ रही थी। अतः १ शि० ६ पें० के स्थान पर १ शि० ४ पेन्स वाली विनिमय दर ही अधिक प्राकृतिक थी।

(२) इस समय भारतवर्ष में कीमत स्तर १६१४ के समान थी जब कि विनिमय दर १ शि० ४ पें० थी। इसलिये इस समय भी विनिमय दर १ शि० ४ पें० होनी चाहिये। १ शि० ६ पें० की दर कृत्रिम ही कही जा सकती थी क्योंकि इस पर कीमत स्तर, उत्पादन व्यय तथा आर्थिक जीवन में सन्तुलन नहीं हो पाया था।

(३) ऊँची विनिमय दर से विवेचनात्मक उद्योग संरक्षण के लाभ समाप्त हो जायँगे। विदेशी वस्तुओं की कीमतें इस देश में कम हो जाने के कारण यहाँ के उद्योग विकसित न हो सकेंगे।

(४) ऊँची दर से भारतीय निर्यात में कमी पड़ेगी क्योंकि भारतीय वस्तुओं की कीमतें विदेशों में अधिक हो जायँगी जिससे व्यापाराशेष भारत के प्रतिकूल हो सकता है।

(५) १ शि० ६ पें० के दर में यह भय था कि यह दर केवल सोने का निर्यात करके ही स्थित किया जा सकता था और इससे देश के स्वर्ण कोषों में भारी कमी हो जाने की आशंका थी। इसके साथ ही साथ ऊँची विनिमय दर से अदृश्य मुद्रा प्रसार की सम्भावना होती है जो देश के लिये अहितकर होती है।

भारतीय सरकार ने विरोधियों के तर्क पर विशेष ध्यान न देकर बहुमतीय सुझाव को स्वीकार करके १६२७ के बिल के द्वारा रुपये की विनिमय दर १ शि० ६ पें० निर्धारित कर दी यद्यपि इस दर को बनाये रखने के लिये भारत सरकार को इंगलैंड में स्टर्लिंग ऋण भी लेना पड़ा था।

रिज़र्व बैंक

हिलटन यंग कमीशन ने देश में केन्द्रीय बैंक के कार्य करने के लिये रिज़र्व

बैंक के स्थापना की सिफारिश की थी। भारतीय सरकार ने सन् १९२७ ई० में इस विचार को स्थगित कर दिया परन्तु १९३४ ई० में केन्द्रीय सरकार द्वारा रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया ऐक्ट पास किया गया। इस ऐक्ट के अनुसार १ अप्रैल सन् १९३५ ई० को रिज़र्व बैंक की स्थापना हो गई।

प्रारम्भ में यह बैंक एक अंशधारी बैंक था, जिसकी आंशिक पूँजी ५ करोड़ रुपयों की थी और जो १०० रुपये के अशों में विभाजित की गई थी। सुविधा के लिये देश पाँच भागों में बाँटा गया था: बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा रंगून। ब्रह्मा के प्रथक हो जाने के पश्चात् चार ही क्षेत्र रह गये। इनमें से बम्बई क्षेत्र में ही अंशों का केन्द्रीयकरण अधिक रहा। बैंक का कार्यभार एक सेन्ट्रल बोर्ड आफ डायरेक्टर्स के द्वारा चलाया जाता था। इस बोर्ड के सदस्य एक गवर्नर, दो डिप्टी गर्वनर्स तथा दस डायरेकटर्स व एक सरकारी आफिसर होता था। प्रत्येक क्षेत्र एक स्थानीय बोंड होता था, जिसके सदस्य तीन मनोनीत व्यक्ति होते थे। राष्ट्रीयकरण से पहले केन्द्रीय बोर्ड में सोलह सदस्य होते थे और क्षेत्रीय बोर्ड के आठ सदस्य अधिक होते थे।

जहाँ तक रिजर्व बैंक के कर्त्तव्यों का प्रश्न है अन्य केन्द्रीय बैंकों की भाँति पत्र-मुद्रा की निकासी का एकाधिकार रिजर्व बैंक को प्रदान कर दिया गया और भारतीय मौद्रिक इतिहास में प्रथम बार भारतीय चलन पद्धति, साख नियंत्रण, एवं मुद्रा संचालन एक ही मौद्रिक संस्था (रिजर्व बैंक) को सौंप दिया गया। पत्रमुद्रा चलन कोष, स्वर्णकोष तथा अधिकोषण कोष इन तीनों का केन्द्रीयकरण कर दिया गया तथा रुपये की विनिमय दर के प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्व भी रिजर्व बैंक को सौंप दिया गया। रिज़र्व बैंक ने अपने सम्पूर्ण कार्यों का सफलतापूर्वक संचालन किया। १९४९ ई० में रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण किया गया। अंशधारियों को मुआवज़ा दे दिया गया। राष्ट्रीयकरण से इसकी कार्य प्रणाली में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं हुआ।

रिजर्व बैंक की स्थापना होते ही अमेरिका ने अधिक मात्रा में चाँदी खरीदना प्रारम्भ कर दिया था। इससे चाँदी के मूल्य में वृद्धि हुई और भारत सरकार ने संकटकालीन अवस्था के लिये एक-एक रुपये के नोट छापने का विचार कर लिया परन्तु १९३६ ई० में ही चाँदी के भाव गिर गये और सन् १९३९ ई० तक चाँदी का सरलता से निर्यात होता रहा। १९३९ ई० से द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने के कारण भारतीय चलन में विशेष परिवर्त्तन हुये। पर इससे पहले सन् १९३१ ई० में इंगलैंड द्वारा स्वर्णमान का परित्याग करने पर भारतीय मुद्रा प्रणाली पर भी काफी प्रभाव पड़ा। इसका उल्लेख करना भी आवश्यकीय है। स्वर्णमान के स्थगित करने के फलस्वरूप स्टरलिंग का मूल्य स्वर्ण में कम होने लगा। चूँकि भारतीय रुपया स्टरलिंग से सम्बन्धित कर लिया गया था इसलिये भारतीय रुपये का स्वर्णमूल्य

भी शीघ्रता से कम होने लगा। इस मूल्य पतन को रोकने के लिये भारत सरकार ने विनिमय नियंत्रण लागू किया। परन्तु जनवरी सन् १९३२ के अन्त तक ही विनिमय नियंत्रण को समाप्त कर देना पड़ा। इस काल की सबसे बड़ी विशेषता अधिक मात्रा में सोने का निर्यात रही है। प्रथम वर्ष में ही लगभग ५० करोड़ रुपये का सोना देश के बाहर चला गया। सोने का भाव रुपये में उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। परिणामस्वरूप सोने के निर्यात में भी वृद्धि होती रही। सन् १९३८ के मध्य तक लगभग ३५० करोड़ का सोना देश से बाहर चला गया था। इस स्वर्ण निर्यात के सम्बन्ध में इस समय बहुत मतभेद रहा। राष्ट्रीय विचारधारा के लोग इतनी अधिक मात्रा में स्वर्ण निर्यात को देश के लिये अहितकर समझते थे। उनके विचार से भविष्य में केन्द्रीय बैंक की स्थापना के साथ-ही-साथ भारतीय मुद्रा चलन को सुदृढ़ बनाने के लिये स्वर्ण की आवश्यकता पड़ेगी। यदि स्वर्ण इतनी मात्रा में बाहर चला जायगा तो भविष्य में स्वर्ण की कमी बढ़ सकती है। इसके अतिरिक्त जब संसार के अन्य देश स्वर्ण एकत्रित करने में लगे हुये हैं उस समय भारत को सोने का निर्यात करना उचित प्रतीत नहीं होता। अतः इस विचारधारा के लोगों ने भारतीय सरकार को स्वर्ण निर्यात पर रोक लगाने की माँग की, परन्तु भारतीय सरकार ने इस पर कोई ध्यान ही नहीं दिया वरन् स्वर्ण निर्यात को आवश्यक तथा उचित समझा। सरकारी मत के समर्थकों का कहना था कि भारतवर्ष में सैकड़ों वर्षों से सोना बाहर से इकट्ठा हो रहा है। यदि कुछ समय के लिये इसका निर्यात हो जाय तो कोई हानि नहीं। साथ-ही-साथ इस समय सोने के बेचने से भारतीय जनता को बहुत लाभ हो रहा है। क्योंकि सारा सोना सस्ते दामों पर खरीदा गया था बढ़ती हुई कीमतों का लाभ उठाने से जनता को वंचित करना ठीक नहीं है। अन्त में इस अवसाद काल में व्यापाराशेष में संतुलन स्थापित रखने के लिये स्वर्ण निर्यात आवश्यक है। इस तर्क के आधार पर सरकार ने स्वर्ण निर्यात में किसी प्रकार की बाधा डालना उचित नहीं समझा। यह अवश्य है कि यदि रुपये की विदेशी क़ीमत स्वतन्त्र रूप से निर्धारित होने दी जाती तो भारतीय सोना इतनी अधिक मात्रा में विदेशों में न जाता। परन्तु ऐसा न हो सका। १९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध के कारण परिस्थितियाँ ही बदल गईं और स्वर्ण का निर्यात भी कम होने लगा।

प्रश्न

१. प्रथम महायुद्ध कालीन भारतीय चलन की दशा का वर्णन कीजिये।

अध्याय ६

भारतीय चलन का इतिहास (क्रमशः)

द्वितीय महायुद्ध तथा भारतीय चलन

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ में भारतीय चलन की निम्नलिखित विशेषतायें थीं—

(१) भारतीय प्रामाणिक मुद्रा रुपया था।

(२) रुपये के सिक्के, नोट तथा अठन्नी के सिक्के असीमित विधिग्राह्य थे।

(३) उपरोक्त सिक्कों के अतिरिक्त देश में चाँदी तथा गिलट की चवन्नियाँ दोअन्नियाँ तथा इकन्नियाँ और ताँबे के पैसों का प्रचलन था।

(४) देश का चलन स्टरलिंग विनिमय मान पर आधारित था तथा रुपये स्टरलिंग की विनिमय दर एक रुपया बराबर एक शि० ६ पेंस के थी।

(५) सितम्बर सन् १६३६ ई० में १८०·६ करोड़ रुपयों की पत्रमुद्रा प्रचलित थी।

युद्ध प्रारम्भ होते ही देश में उत्पादन तथा व्यापार का विस्तार हुआ। कृषकों की आर्थिक दशा में पर्याप्त सुधार होने लगा। औद्योगिक तथा व्यापारिक प्रगति तथा मूल्य स्तर के ऊँचे होने के कारण मुद्रा की माँग में काफी वृद्धि हुई और इसके साथ-ही-साथ रुपये के सिक्के प्रचलन से शनैः शनैः निकलने लगे। अतः एक-एक रुपये के नोट चालू किये गये। कुछ समय के पश्चात् विशेषकर फ्रांस की पराजय के पश्चात् जनता में भारतीय पत्रमुद्रा के प्रति विश्वास कम होने लगा। इसके फलस्वरूप लोगों ने पत्रमुद्रा को रुपयों में परिवर्त्तन करना प्रारम्भ कर दिया, यहाँ तक कि करीब ५ करोड़ रुपये के नोट प्रति सप्ताह परिवर्तित किये जाने लगे। और यह अधिकांश रुपया प्रचलन में न रह कर संचित कोष में जाने लगा। इस दोष को दूर करने के लिये १५ जून सन् १६४० को भारत सरकार ने एक अध्यादेश द्वारा रुपयों का व्यक्तिगत तथा व्यावसायिक आवश्यकता से अधिक मात्रा में जमा करना दंडनीय बना दिया।

फिर भी चाँदी के सिक्कों की माँग इतनी अधिक बनी रही कि भारतीय टकसालें इस माँग को पूरा करने में असफल रहीं। इसके फलस्वरूप बाज़ार में चाँदी के सिक्कों की कीमत नोटों से अधिक हो गई तथा रुपये के सिक्कों व छोटे-छोटे

सिक्कों की भारी कमी पड़ने लगी। १६४२ व ४३ में तो छोटे-छोटे सिक्कों की इतनी अधिक कमी हो गई कि विभिन्न शहरों में पोस्टकार्ड तथा टिकट छोटे-छोटे सिक्कों का कार्य करने लगे। जनता को बहुत असुविधा होने लगी। इस असुविधा को दूर करने के लिये केन्द्रीय सरकार ने भारत सुरक्षा विधान के अन्तर्गत छोटे-छोटे सिक्कों का संचय करना दंडनीय घोषित कर दिया। साथ ही साथ इन सिक्कों की पूर्ति बढ़ाने के लिये बम्बई तथा कलकत्ते की टकसालों में पैसों का ढालना प्रारम्भ किया गया। छोटे सिक्कों की ढलाई के लिये लाहौर में एक नई टकसाल की स्थापना की गई। गिलट का अधन्ना चालू किया गया। इकन्नी तथा दोअन्नी में गिलट की मात्रा बढ़ा दी गई। पैसे का सिक्का छेद वाला तथा छोटा कर दिया गया। छोटे छेद वाले पैसों की योजना प्रायः असफल रही क्योंकि जनता इन पैसों का अन्य रूप से प्रयोग करने लगी और सरकार को इन पैसों का ढालना बन्द कर देना पड़ा। तेज़ी के साथ छोटी कीमत के सिक्के निकालने के कारण धीरे-धीरे छोटे सिक्कों की कमी दूर हो गई।

चाँदी के रुपयों की समस्या हल करने के लिये रिज़र्व बैंक ने एक रुपये का नोट निकाला, उसे अपरिमित विधि ग्राह्य घोषित किया तथा उन्हें चाँदी के रुपयों में बदलने का कोई उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लिया। इसके अतिरिक्त चाँदी की बचत करने के लिये देश में प्रचलित सभी चाँदी के सिक्कों की प्रामाणिक शुद्धता कम कर दी गई। चवन्नी अठन्नी तथा रुपये की शुद्धता ११/१२ से घटाकर १/२ कर दी गई। चाँदी के पुराने रुपयों का प्रचलन बंद कर दिया गया। ११ अक्तूबर सन् १६४० के आदेशानुसार महारानी विक्टोरिया के रुपयों व अठन्नियों का विमुद्रीकरण कर दिया गया। नवम्बर सन् १६४१ में एडवर्ड के रुपये तथा अठन्नियाँ भी बंद कर दी गईं। १ नवम्बर १६४३ से जार्ज पंचम तथा जार्ज षष्ठम की ११/१२ शुद्धता वाली अठन्नियाँ व रुपये भी बंद कर दिये गये और इनके स्थान में चाँदी की कम मात्रा वाले नवीन सिक्के चलाये गये।

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के परिणामस्वरूप भारत की मुद्रा प्रणाली में अविश्वास तथा अपर्याप्त पूर्ति के धक्कों का सरकार ने सफलतापूर्वक निराकरण कर दिया। परन्तु चलन तथा साखमुद्रा का अत्यधिक विस्तार और उसके कारण उत्पन्न होने वाली कीमत वृद्धि रोकने में सरकार असफल रही। वास्तव में इस दिशा में कोई प्रयत्न भी नहीं किया गया। प्रत्युत इस काल में सरकार की सामान्य नीति अधिक से अधिक पत्र मुद्रा निकालकर मुद्रा व्यय को पूरा करना था। अतः पत्रमुद्रा तथा साख मुद्रा बराबर बढ़ती ही चली गई। इसके फलस्वरूप मूल्य स्तर भी बराबर ऊँचा होता गया। १६४३ ई० से देश में मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गई। यद्यपि मुद्रा स्फीति को दूर करने के लिये सरकार ने जनता से ऋण लेना तथा नये नये कर

लगाना प्रारम्भ कर दिया। फिर भी इन दोनों कामों में सरकार असफल रही। न तो मूल्य स्तर बढ़ने से रुक सका और न जीवन निर्वाह व्यय ही कम हुआ।

यद्यपि मूल्य स्तर की वृद्धि होने के बहुत से कारण थे परन्तु प्रमुख कारण चलन तथा साख मुद्रा का अत्यधिक विस्तार ही था। युद्ध काल में चलन की कुल वृद्धि ११६८ : ६४ करोड़ रुपया थी जिसका ८२.५% प्रतिशत पत्रमुद्रा की वृद्धि ११.८ रुपये के सिक्कों की वृद्धि तथा ५.६ प्रतिशत के लगभग छोटे सिक्कों की मात्रा की वृद्धि के कारण हुआ था। १६३६ ई० में नोटों की चलन १८० करोड़ रुपयों के बराबर था। यह चलन १६४५ ई० में बढ़कर १०३४ करोड़ रुपयों के बराबर हो गया। इसी प्रकार १६३६ ई० मे मूल्यांक को यदि हम १०० मान लें तो १६४५ ई० में यही मूल्यांक बढ़कर २५० हो गया।

जहाँ तक विनिमय दर का सम्बन्ध है नियंत्रण होने के कारण विनिमय दर में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं हुआ यद्यपि भारत का व्यापाराशेष निरंतर अनुकूल ही बना रहा और यह अनुकूलता बढ़ती ही गई। सन् १६३८ व ३६ ई० में व्यापाराशेष की अनुकूलता १८ करोड़ रुपये के लगभग थी, जो १६४३ व ४४ ई० में ६१ करोड़ के लगभग हो गई। इस अनुकूल व्यापाराशेष के बदले में भारत को न तो सोना प्राप्त हुआ और न वस्तुयें ही। इसके बदले में बृटिश सरकार ने स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ दी जिनका उपयोग रिजर्व बैंक के द्वारा निधि के रूप में किया गया जिसके आधार पर देश में पत्र मुद्रा का विस्तार किया गया।

युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण सरकार को विनिमय नियंत्रण करना पड़ा, अतः भारत रक्षा अध्यादेश के अन्तर्गत भारतीय सरकार ने सिक्कों, धातुओं, प्रतिभूतियों तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी व्यवसायों के नियंत्रण का सारा भार रिज़र्व बैंक को सौंप दिया। प्रारम्भ से ही कड़ा विनिमय नियंत्रण लागू कर दिया गया। विदेशी विनिमय व्यवसाय के लिये केवल कुछ भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंकों तथा विदेशी बैंकों को लाइसेन्स दिये गये।

युद्धकालीन विनिमय नियंत्रण की मुख्य विशेषतायें निम्नांकित थीं—

(१) साधारण तौर पर साम्राज्य देशों की मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था।

(२) साम्राज्य के बाहर के देशों की मुद्रा के क्रय-विक्रय पर कठोर नियंत्रण लगाया गया।

(३) यात्रा व्यय तथा व्यक्तिगत भुगतानों के लिये यथासम्भव सुविधा प्रदान की जाती थी।

(४) विदेशी विनिमय व्यवसाय समय-समय पर लंदन द्वारा घोषित विनिमय दरों के आधार पर किया जाता था।

(५) रुपये की विनिमय दर १८ पेंस पर ही स्थिर रक्खी गई।

(६) रिज़र्व बैंक की आज्ञा के बिना विदेशों से प्रतिभूतियाँ खरीदना अथवा उनका निर्यात करना रोक दिया गया था।

(७) विनिमय नियंत्रण के दृष्टिकोण से कामनवेल्थ देशों को एक स्टरलिङ्ग के क्षेत्र में मान लिया गया था और इस क्षेत्र के भीतर कोषों के हस्तांतरण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। परन्तु इस क्षेत्र के बाहर कोषों के हस्तांतरण पर कड़ा नियंत्रण रक्खा गया।

उपरोक्त प्रतिबन्धों का मुख्य उद्देश्य पूँजी के निर्यात और विदेशी दरों में होने वाले ह्रास को रोकना था। इसके लिये आयात नियंत्रण तथा निर्यात नियंत्रण की कठोर नीतियाँ अपनाई गईं क्योंकि विनिमय नियंत्रण आयात व निर्यात नियंत्रण के बिना सफल नहीं हो सकता। आयात नियंत्रण के अन्तर्गत बिना लाइसेन्स के स्टरलिंग क्षेत्र के बाहर के देशों से कोई भी माल नही मँगाया जा सकता था। और न कोई बैंक बिना रिज़र्व बैंक की आज्ञा प्राप्त किये विदेशी विनिमय बेंच सकती थी। यह नीति विदेशी व्यापार के भारी असंतुलन को रोकने के लिये तथा आयातों को उचित प्राथमिकता देने के लिये आवश्यक थी। इसी प्रकार निर्यातों पर भी नियंत्रण किया गया जिससे निर्यातों की कीमत विदेशों में न रहकर भारत में आ जाय। उनकी कीमतों का भुगतान बैंक द्वारा निश्चित रीति से हो। साधारण तौर पर अमेरिका को निर्यात हुई की वस्तुओं का मूल्य बृटिश सरकार को हस्तांरित कर दिया जाता था तो उसे साम्राज्य डालर कोष में जमा करती थी और बाद में उसका उपयोग युद्ध सामग्री खरीदने के लिये किया जाता था।

युद्धोत्तर काल में भारतीय चलन

साम्राज्य डालर कोष

युद्ध के पहले स्टरलिंग क्षेत्र के अधिकांश सदस्य देश अपने-अपने विदेशी विनिमय कोषों को लन्दन में स्टरलिंग के रूप में रक्खा करते थे। स्टरलिंग का अन्तर्राष्ट्रीय मान था। अतः वह किसी भी देश की मुद्रा में परिवर्तित हो जाता था। युद्ध प्रारम्भ होते ही स्टरलिंग की परिस्थिति में परिवर्तन हो गया। अब स्टरलिंग के बदले में प्रत्येक देश की मुद्रा का मिलना कठिन हो गया। कुछ सदस्य देश अपनी विदेशी मुद्रा को अपनी संरक्षता में रखने लगे और उसके क्रय व विक्रय में प्रतिबन्ध लगाने लगे। इस विषय में समान नीति निर्धारण हेतु तथा सफल युद्ध संचालन के लिये स्टरलिंग क्षेत्र की सम्पूर्ण विदेशी विनिमय आय को एक सामूहिक कोष में रखने के लिये सम्बन्धित देशों में एक समझौता हुआ। इसके अनुसार बैंक आफ इंगलैंड तथा बृटिश कोषागार के संरक्षण में इस प्रकार का कोष रखने की व्यवस्था

की गई। इस कोष की सबसे प्रमुख मुद्रा अमेरिकन डालर थी, जिसके कारण इस कोष का नाम साम्राज्य डालर कोष रक्खा गया। इस कोष में से प्रत्येक सदस्य देश केवल उसी समय विदेशी विनिमय प्राप्त कर सकता था जब उसकी आवश्यकता अनिवार्य हो। भारतवर्ष में १९३९ ई० से १९४६ ई० तक ४०५ करोड़ रुपये की कीमत का डालर इस कोष में जमा किया था जब कि उसका समकालीन व्यय केवल २५० करोड़ रुपये के बराबर था। फिर विदेशी विनिमय व्यय को कम करने के लिये भारत सरकार सतत् प्रयत्न करती रही। कठोर आयात नियंत्रण नीति द्वारा वस्तुओं के आयात में काफी कमी की गई। १९४२, ४३ ई० में उधार पट्टा प्रणाली का प्रारम्भ हुआ जिससे डालर में भुगतान करने की आवश्यकता काफी कम हो गई। इस प्रणाली के अन्तर्गत भारत में मशीनरी, स्पात तथा अन्य सामानों का काफी आयात हुआ और जैसे-जैसे युद्ध कालीन स्थिति सरल होती गई आयात नीति उदार बनती गई। फिर भी अमरीका से भारी मात्रा में खाद्यान्न तथा अन्य उपयोगी वस्तुओं के आयात करने के कारण विदेशी विनिमय की कठिनाई बनी ही रही। स्वर्ण का भी पर्याप्त नियंत्रण रक्खा गया। सोने का निर्यात बहुत ही सीमित कर दिया गया।

हमारे पौंड पावने

द्वितीय युद्ध में भारतीय मुद्रा चलन के अन्तर्गत पौंड पावने की समस्या एक विशेष रूप से उपस्थित हुई। युद्ध से पूर्व भारत के ऊपर इंगलैंड का बहुत-सा ऋण था और यह ऋण निर्यात आधिक्य के द्वारा शनैः-शनैः अदा किया जा रहा था। युद्ध काल में निर्यात आधिक्य में इतनी अधिक वृद्धि हुई कि भारत ने अपना पुराना ऋण तो चुका ही दिया और इसके अतिरिक्त भारत का इंगलैंड पर बहुत अधिक ऋण हो गया।

इंगलैंड उस समय इस ऋण का भुगतान करने में असमर्थ था। अतः भारत से प्राप्त वस्तुओं के मूल्य को इंगलैंड अपने यहाँ स्टरलिंग प्रतिभूतियों के रूप में भारत के नाम से जमा कर लेता था और चूँकि भारतीय पत्रमुद्रा का निर्गमन स्टरलिंग प्रतिभूतियों के आधार पर हो सकता था तो भारत के नाम से जमा की गई स्टरलिंग प्रतिभूतियों के आधार पर भारत में नोट छाप लिये जाते थे और इन्हीं नोटों से भारतीय निर्यातों का भुगतान कर दिया जाता था। ये प्रतिभूतियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई जिनसे जैसा कि पहले लिखा जा चुका है देश का पुराना ऋण चुक गया और बाद में देश के नाम से यह धन राशि स्टरलिंग के रूप में जमा होती गई। इस प्रकार इंगलैंड के द्वारा भारत से माल खरीदने के कारण तथा डालर कोष में जमा किये हुये विदेशी विनिमय को भी स्टरलिंग प्रतिभूतियों में परिवर्तित कर देने

के कारण पौंड पाउने में वृद्धि होती गई, यहाँ तक कि सन् १९४७ ई० में इस पौंड पाउने का मूल्य १७०० करोड़ रुपये के लगभग था।

युद्ध के पश्चात् इन पौंड पाउनों के भुगतान करने की समस्या उपस्थित हुई। इस विषय पर चर्चा तो युद्धकाल से ही होने लगी थी और पौंड पाउने भुगतान के सम्बन्ध में इंगलैंड में दो विभिन्न मतों के व्यक्ति थे। कुछ लोग तो पौंड पाउनों के पूर्ण रूप से भुगतान करने के पक्ष में थे। उनका कहना था कि भारतवासियों ने अधिक परिश्रम करके तथा अपने स्वयं के उपभोग को कम करके कष्ट सहते हुये युद्धकाल में इंगलैंडवासियों की सहायता की थी, परन्तु यह सहायता किसी दान अथवा आभार आदि के रूप में नहीं थी। इसका आधार केवल आर्थिक था। भारतीयों ने हमें वस्तुयें दी थीं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधार पर अतः आर्थिक व नैतिक दोनों दृष्टियों से पौंड पाउनों का पूर्ण भुगतान होना चाहिये। इसके विपरीत विपक्षियों का मत यह था कि पहले तो पौंड पाउनों का भुगतान ही नहीं होना चाहिये और यदि भुगतान करने के पक्ष में निर्णय किया जाय तो पौंड पाउनों की रकम में काफी कमी करके भुगतान करना चाहिये। उनके इस प्रस्ताव का आधार यह था कि इंगलैंड युद्ध में केवल अपने स्वार्थ के लिये ही नहीं कूदा था वरन् उसने तो संसार के विभिन्न देशों की रक्षा करने के लिये यह कदम उठाया था। इंगलैंड ने युद्ध में पड़कर भारत को भी शत्रुओं के हमले से रक्षा की। इसलिये इंगलैंड द्वारा युद्ध में किये हुये व्यय के अधिकांश भाग को भारत के द्वारा भुगतान होना चाहिये। अतः भारत के नाम से जमा पौंड पाउने के धन राशि को भारत की ओर आर्थिक योग समझा जाना चाहिये। इस प्रकार भुगतान करने अथवा न करने के ऊपर बहुत दिनों तक वादविवाद चलता रहा परन्तु अन्त में इंगलैंड की सरकार ने प्रायः सम्पूर्ण धनराशि को धीरे-धीरे सुविधानुसार भुगतान करने का निश्चय किया।

१५ अगस्त १९४७ को भारत का भारतीय संघ एवं पाकिस्तान में विभाजन हुआ। इसी समय देश के चलन का भारत और पाकिस्तान में १३ और ३ के अनुपात में विभाजन किया गया। विदेशी ऋणों को चुकाने का दायित्व भारत ने लिया और पाकिस्तान ने अपना भाग भारत को किश्तों में चुकाने का वायदा किया। परन्तु इस राशि का कोई भी अंश पाकिस्तान ने नहीं चुकाया।

रुपए का अवमूल्यन (Devaluation of Indian Money)

अपने विपरीत व्यापाराधिक्य को चुकाने के इंगलैंड के सारे प्रयत्न विफल रहे तो अंत में अचानक ही १८ सितम्बर १९४९ को उसने अपने पौंड का अवमूल्यन कर दिया जिसके अनुसार डालर मूल्य ४·०३ प्रति पौंड के स्थान पर २.८० डालर प्रति पौंड रह गया। भारतीय रुपए का स्वतंत्र रूप से अंतर्राष्ट्रीय

बाजार में कोई महत्व न था। वह स्टरलिंग मुद्रा से पूर्ण रूपेण संबंधित था। पौंड की कीमत घट जाने के कारण भारत के पौंड पावनाओं में कमी होने का भय था। यद्यपि देश में मुद्रा प्रसार था और पड़ोसी देश पाकिस्तान ने मुद्रा अवमूल्यन न करना ही निश्चय किया परंतु उपरिलिखित परिस्थिति में भारत को रुपये का अवमूल्यन करना ही पड़ा। रुपए की कीमत १ शि० ६ पें० से घट कर १ शि० ४ पेंस रह गई। कहा जाता है कि इसके परिणामस्वरूप १९५० तक १७२ करोड़ रुपए की घाटे में कमी हो गई। और १९५०-५१ में घाटा केवल ४ करोड़ ही रह गया। परंतु कोरिया युद्ध के बाद व्यापारिक मंदी आरम्भ हुई और भारत का व्यापारिक घाटा २३२·९२ करोड़ १९५२-५३ ई० में और १९५६-५७ ई० में ३४० करोड़ रुपया हो गया। दूसरा परिणाम यह हुआ कि देश में कीमतें ऊँची उठनी आरंभ हुईं। तीसरे पाकिस्तानी रुपये का अवमूल्यन न होने के कारण पाक रुपये की कीमत १·४४ भारतीय रुपया हो गई। भारत ने इस दर को अस्वीकार कर दिया और नतीजा यह रहा कि भारत-पाक व्यापार स्थगित हो गया। परंतु अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रयत्नों के कारण यह खिंचाव कम हो गया। डालर क्षेत्रों से अपना व्यापार बढ़ा है।

रुपये का पुनर्मूल्यन (Revaluation)

जैसे कि पीछे लिखा जा चुका है रुपये का अवमूल्यन १९४९ में करके उसकी कीमत विदेशी बाजार में गिरा दी। अब प्रायः यह प्रश्न किया जाता है कि रुपये का पुनर्मूल्यन करके उसकी विदेशी कीमत में वृद्धि की जाए। इसके लिए निम्नांकित बातों का सहारा लिया जाता है—

पुनर्मूल्यन से खाद्यान्न, कच्चा माल व मशीनों आदि आयातित वस्तुओं की कीमत घट जायगी और निर्यातों का पहले की अपेक्षा अधिक मूल्य मिलेगा। १९४९ में अवमूल्यन द्वारा देश में मूल्य स्तर जो ऊपर चढ़ गये थे वे भी नीचे हो जायँगे और साथ ही भारत-पाक के व्यापारिक व आर्थिक संबंधों में भी सुधार होगा। इस प्रकार रुपए का पुनर्मूल्यन मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति रोकेगा। उद्योगों के लिये आवश्यक सामग्री सस्ते मूल्यों पर उपलब्ध कराएगा और आंतरिक अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ बनायेगा।

परन्तु पुनर्मूल्यन के कारण देश की आयातित वस्तुओं (जिनकी देश के आर्थिक विकास के लिए अनिवार्यता है) का आयात रुक सकता है। अथवा विदेशी लोग भारत के साथ मूल्य विभेद (Price differentiation) नीति को अपना सकते हैं और इस प्रकार आयात मूल्य में अधिक पड़ सकते हैं। फिर भारत का अनुसरण अन्य पड़ोसी देश पाक, लंका, बरमा भी कर सकते हैं और पूर्व वांछित

लाभों से वंचित होना पड़ सकता है। पुनर्मूल्यन से निर्यातों के दाम बढ़ेंगे। इससे देश को आर्थिक हानि होने की अधिक संभावना रहती है क्योंकि जूट, चाय, कपास एवं सूती वस्त्र आदि अधि मूल्यत माल विदेशों में प्रतिस्पर्द्धात्मिक रूप में नहीं ठहर सकेगा। किसी मुद्रा का बार-बार मूल्य परिवर्त्तन करते रहने से राष्ट्रीय सम्मान को आघात पहुँचता है। भूतपूर्व वित्त मंत्री श्री देशमुख के अनुसार पुनर्मूल्यन देश के घाटे को एक बड़े परिमाण में बढ़ा देगा। इधर पाकिस्तान ने रुपए का पुनर्मूल्यन करके भारतीय रुपये के पुनर्मूल्यन के प्रश्न ही को हटा दिया है।

भारत में मुद्रा स्फीति (Inflation in India)

भारत में मुद्रा स्फीति किस अंश तक है इस विषय पर विभिन्न अर्थशास्त्रियों के विभिन्न विचार हैं परन्तु इस बात से सभी लोग सहमत हैं कि देश में मुद्रा-प्रसार की स्थिति विद्यमान है और इसके प्रति उदासीन रहा गया तो यह भयंकर रूप धारण कर लेगी। मुद्रा-प्रसार के लक्षण द्वितीय युद्ध काल के समय तथा स्वाधीनता के पश्चात् ही दृष्टिगोचर होने लगे थे परन्तु भारतीय राजनीतिज्ञों का ध्यान इस स्थिति की ओर काफी समय बाद आकृष्ट हुआ।

मुद्रा प्रसार के कारणों में प्रमुख कारण ये हैं—

(१) देश में चलन तथा साख मुद्रा का विस्तार अत्यधिक मात्रा में बढ़ता जा रहा है। युद्ध काल में यह प्रसार भयंकरतापूर्वक हुआ। इसका कारण था कि युद्ध संबंधी खर्चों को चलाने के लिए सरकार ने अधिक नोटों को छापा तथा साथ ही नागरिक उपयोग को कम करने की दृष्टि से भी कीमतें बढ़ाना उचित ठहराया गया। भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार को दिये गये ऋणों के बदले में भी नोट छाप दिये थे और साथ ही डालर मुद्रा को भी साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool) में जमा कर दिया जाता था और उनके बदले में नोट छापे जाते थे। पुनः युद्ध काल के पश्चात् महँगाई भत्तों में वृद्धि हुई जो अधिक नोट छप कर ही पूरी की गई। इसी कारण चलन की मुद्रा सन् १९३९ की अपेक्षा सन् १९४८ में १३ गुनी बढ़ गई तथा साख चारगुनी। (२) वस्तुओं की कमी भी कीमतों की वृद्धि में सहायक हुई। इस कमी का कारण आयातों में कमी, देश की आंतरिक खाद्य उत्पादन का घटना, अकाल इत्यादि थे। (३) सट्टे की प्रवृत्ति ने भी लोगों में जमा करने की प्रवृत्ति बढ़ा दी तथा यातायात की असुविधा ने स्थानीय दुर्लभताओं को बढ़ा दिया। (४) युद्ध के पश्चात् सरकारों ने हीनार्थ अर्थ प्रबंध किया जिसके परिणामस्वरूप भी मुद्रा स्फीति को प्रोत्साहन मिला।

रकार द्वारा रोकने के उपाय

सरकार ने प्रारंभ में ही मूल्य नियंत्रण तथा राशनिंग द्वारा मुद्रा प्रसार का

सामना किया। सट्टा बन्द कर दिया गया, करों में वृद्धि की गई और नये कर लगाये गये। ऊँची ब्याज पर जनता से ऋण लिए गये; कंपनियों के लाभांशों पर ६% की सीमा लगा दी गई और शासन व्यय को कम कर (Economy Drive) दिया गया। उत्पादन बढ़ाने के लिये भी सरकार ने कुछ कदम उठाये जैसे अधिक अन्न उपजाओ आंदोलन को बीज, ऋण, खाद, सिंचाई की सुविधाएँ प्रदान कर प्रोत्साहित किया। अधिक भूमि को कृषि योग्य बनाया तथा उत्पादन उद्योगों को कर से मुक्त किया गया। खाद्यान्नों आदि का आयात बढ़ाया गया और नये सरकारी सहायता द्वारा नये कर उद्योगों की स्थापना की गई।

प्रथम पंचवर्षीय योजना सन् १९५१ में लागू होने पर मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति पर कुछ अंकुश लगा और कीमतें नीचे गिरने लगीं। यह गिराव १३% था। परन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजना में १८०० करोड़ रुपये की घाटे की अर्थ व्यवस्था की गई और सन् १९५६ से ही कीमतें उठनी प्रारम्भ हो गई। और आजकल मुद्रा प्रसार अपना भयंकर रूप धारण किए हुए है। अतः तृतीय पंचवर्षीय योजना में कीमतों को नीचा करना, मुद्रा प्रसार रोकना तथा कृषि उत्पादन को बढ़ा देना प्रमुख स्थान पाएँगे।

आर्थिक नियोजन (Economic Planning)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में २४०० करोड़ रुपये की व्यवस्था थी और लगभग ४०० करोड़ रुपये की हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) की संभावना थी। परन्तु द्वितीय योजना काल में विशुद्ध रूप से १२०० करोड़ रुपये की घाटे की व्यवस्था रखी गई है। परन्तु अनुमानतः इस घाटा की व्यवस्था १६०० करोड़ रुपये के लगभग होगी। इसका परिणाम यह हुआ कि देश के मूल्य-स्तरों में आशातीत वृद्धि हुई है जिससे मध्यम वर्ग और मजदूर वर्ग के रहन-सहन तथा उपभोग पर कुप्रभाव पड़ा है।

प्रश्न

१. अपने देश में द्वितीय विश्व युद्ध के समय और उसके पश्चात् मुद्रा स्फीति के कारणों का विवेचन कीजिए। राज्य द्वारा किए गए उसके नियंत्रण के उपायों का संक्षिप्त वर्णन करिए।

(आगरा, बी. काम. १९५६)

2. Trace the history of Indian currency since 1926.

(*Agra, B. Com. I*, 1956)

3. Discuss the evils of currency inflation on the different classes of people in a country, with special reference to the post-war period. (*Agra B. Com. I*, 1956)

———

अध्याय १०

भारतवर्ष में दाशमिक प्रणाली

(Metric System in India)

भारत में दाशमिक सिक्के

मौद्रिक जगत में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। प्रत्येक देश सुविधानुसार अपनी-अपनी मुद्रा प्रणाली में परिवर्तन करता रहता है। ये परिवर्तन विभिन्न समयों पर प्रथक-प्रथक रूप से होते हैं जिसके कारण विभिन्न देशों की मुद्रा प्रणालियों में अधिक विविधता आ गई है जो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग में बाधा पहुँचाती है। अतः इस अन्तर्राष्ट्रीय युग में मौद्रिक क्षेत्र में भी समानता लाना आवश्यक हो गया है। मुद्रा प्रणाली में दशमलवीयकरण की प्रवृत्ति इस विश्व में एक उचित प्रयत्न है। भारतवर्ष में भी दशमलवीयकरण के ऊपर बहुत समय से विचार हो रहा था। सबसे पहले सन् १८६७ ई० में इस विषय पर विचार किया गया था तथा सन् १८७० ई० एक दाशमिक ऐक्ट भी पास किया गया था परन्तु ये ऐक्ट लागू नहीं किया जा सका। इसके पश्चात् सन् १९३९ ई० में भारत सरकार ने एक ऐक्ट पास करके पिछले ऐक्ट की व्यवस्थाओं को समाप्त कर दिया। सन् १९४० ई० में भारतीय दाशमिक सभा स्थापित की गई। इस संस्था ने बराबर दाशमिक प्रणाली के अपनाने पर ज़ोर दिया है। दाशमिक प्रणाली के अनुसार प्रत्येक प्रामाणिक मापदंड का विभाजन तथा उपविभाजन $\frac{1}{10}$ के क्रम से होना चाहिये जिससे ऊपर से नीचे का मापदंड १० का भाग देकर तथा नीचे से ऊपर का मापदंड १० का गुणा करके प्राप्त किया जा सके। मुद्रा मूल्यों का मापदंड है और यह सब मापदंडों से अधिक महत्वपूर्ण है। इसलिये मुद्रा प्रणाली में दशमलवीयकरण आवश्यक है। इसी दृष्टि से भारतीय दाशमिक सभा अन्य मापदण्डों के साथ-ही-साथ मुद्रा प्रणाली के दशमलवीयकरण पर विशेष बल देती चली आ रही है।

भारतीय सरकार ने फ़रवरी सन् १९४६ ई० में दाशमिक मुद्रा प्रणाली लागू करने के लिये धारासभा में एक बिल पास किया। इस बिल में रुपये को प्रामाणिक सिक्का मानकर उसे १०० सेंट में विभाजित करने का सुझाव दिया गया था। परन्तु ये बिल कार्यरूप में परिणत न हो सका। सन् १९४९ ई० में भारतीय सरकार ने

एक नया बिल प्रस्तुत किया जिसके अनुसार रुपये को लंका की मुद्रा प्रणाली के आधार पर १०० सेंट में विभाजित करने का प्रस्ताव दिया गया। इसके अन्तर्गत रुपये का सिक्का अठन्नी व चवन्नी की शकल, वज़न तथा आकार वैसे के वैसे बने रहेंगे परन्तु इसके नीचे के सिक्कों में परिवर्तन किया जायगा। परन्तु यह नया बिल भी कार्य रूप में परिणत नहीं हो सका। नई मुद्रा प्रणाली संचालन करने में भारत सरकार को कुछ कठिनाइयाँ प्रतीत हुईं। सबसे पहले तो परम्परागत प्रणाली को छोड़ने का भावावेश के कारण जनता विरोध करती है तथा कुछ समय तक नई तथा पुरानी मुद्रा में साथ-ही-साथ चलने के कारण उनके परिवर्तन में साधारण जनता को कठिनाई होती है। और अन्त में और भी मापदंड प्रचलित प्रथा के आधार पर होने के कारण नई मौद्रिक प्रणाली से मेल नहीं खाते। बहुतों की दर नई मुद्रा प्रणाली के कारण परिवर्तित होनी चाहिये। उपरोक्त कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए भी अन्त में १९५६ ई० में भारतीय सरकार ने भारतीय मुद्रा सन्नियम पास किया जिसकी प्रमुख धारायें निम्नांकित हैं—

(१) देश की मुख्य मुद्रा इकाई रुपया ही रहेगी। और सबसे छोटी मुद्रा इकाई पैसा ही रहेगा परन्तु वर्तमान पैसा चलन अवधि तक यह नया पैसा कहा जायगा।

(२) वर्तमान रुपया १०० नये पैसों में विभाजित होगा।

(३) वर्तमान अठन्नी तथा चवन्नी की कीमत क्रमशः ५० और २५ नये पैसों के बराबर होगी। अन्य सांकेतिक सिक्कों के स्थान पर १०, ५, २ और एक नये पैसे के सिक्के चलाये जायेंगे। तथा प्राचीन सांकेतिक सिक्कों का शनैः-शनैः विमुद्रीकरण हो जायगा। तीन वर्ष के पश्चात् नई मुद्रा पूर्ण रूप से चालू हो जायगी यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर इस अवधि को बढ़ाया जा सकता है।

(४) रुपये तथा पैसे के अतिरिक्त ५० नये पैसे तथा २५ नये पैसे के दो सिक्के और चलाये जायेंगे परन्तु इनका निर्गमन पहले नहीं होगा।

(५) ऐक्ट की व्यवस्थाओं को सरकार सुविधानुसार लागू कर सकेगी। ये व्यवस्थायें १ अप्रेल १९५७ ई० से लागू हो गई है।

उपरोक्त ऐक्ट के अनुसार १ अप्रेल १९५७ ई० से नये सिक्कों का चलन प्रारम्भ हो गया। कम से कम तीन वर्ष तक नये व पुराने दोनों प्रकार के सिक्के चलते रहेंगे। रुपये का रूप वर्तमान रूप के समान ही रहेगा। केवल उसकी पीठ पर १०० नये पैसे अंकित रहेंगे। इस प्रकार रुपये के आधारभूत मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। उसे केवल ६४ पैसों में विभाजित न करके १०० नये पैसों में विभाजित कर दिया गया है। साधारण रूप से पुराना एक आना ६ नये पैसों के बराबर होता है और प्रत्येक तीन आने के बाद १ नया पैसा और जुड़ जाता है। उदाहरण के

लिये तीन आने १८ नये पैसे के स्थान पर १६ नये पैसे का होगा। १ पैसा २ नये पैसे के बराबर निर्धारित किया गया है। जब तक नये व पुराने दोनों प्रकार के सिक्कों का चलन रहेगा इनके परिवर्तन में लोगों को कुछ न कुछ कठिनाई अवश्य होगी परन्तु पुराने सिक्कों का चलन समाप्त हो जाने पर यह कठिनाई भी दूर हो जायगी तथा बाद में मौद्रिक प्रणाली सरल तथा सुगम रह जायगी।

अन्य आर्थिक प्रस्तावों की भाँति नई मौद्रिक प्रणाली के ऊपर भी देश में बहुत वादविवाद रहा। प्राचीन मौद्रिक प्रणाली के पक्ष वालों का मुख्य तर्क यह रहा कि देश की जनता इस प्रणाली से पूर्ण रूप से परिचित हो गई है तथा इस प्रणाली का देश के अन्य मापदण्डों से पारस्परिक सामंजस्य बैठ गया है जिससे वस्तुओं की कीमत निकालने में जनता को कोई परेशानी नहीं होती है, यहाँ तक कि व्यापारी वर्ग में बहुत से ऐसे नियम प्रचलित हैं कि जिनके आधार पर अधिक से अधिक तथा कम से कम वस्तु का ठीक-ठीक मूल्य बड़ी आसानी से निकल आता है। अतः परम्परागत मुद्रा प्रणाली का परिवर्तन करना उचित प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त सरकार को लोक कल्याण के लिये और भी बहुत से कार्य करने हैं जिनके लिये सरकार के पास उचित समय, साधन तथा कर्मचारी नहीं है। ऐसी अवस्था में एक नवीन समस्या का जन्म देना व्यावहारिक कुशलता का परिचय नहीं होता। इस विचारधारा के लोगों के अनुसार मुद्रा प्रणाली में इस समय परिवर्तन करना केवल पश्चिमी देशों के अनुसरण करने की इच्छा पर ही आधारित प्रतीत होता है। देश में इस परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं। बहुत से लोग तो दशमलवीय प्रणाली को विदेशी प्रणाली समझकर निरादर की दृष्टि से देखते हैं जब कि वास्तविकता यह नहीं है। विशेषज्ञों के अनुसार दशमलव प्रणाली का आविष्कार तो भारतीयों ने ही किया था। यद्यपि इस प्रणाली को वे व्यवहार में परिणत न कर सके। इसके अतिरिक्त नवीन मुद्रा प्रणाली के विपक्षियों के कुछ तर्क तो निराधार हैं। जनता को कठिनाई प्रत्येक समय में प्रतीत होगी चाहे नवीन पद्धति आज प्रारम्भ कर दी जाय या १०० वर्ष बाद प्रारम्भ की जाय। तथा इस सुधार में कुछ अधिक साधनों की भी आवश्यकता नहीं है। साथ ही साथ यह बात और ध्यान देने योग्य है कि इस समय ग्रामीण आर्थिक क्षेत्र के अधिकांश भाग में मुद्रा का प्रचलन होता ही नहीं। बहुत सी ग्रामीण जनता वस्तु विनिमय के आधार पर ही अपना कार्य चलाती है। परन्तु पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप मुद्रा चलन उत्तरोत्तर बढ़ता जायगा, यहाँ तक कि जो जनता इस समय मुद्रा का पूर्ण रूप से प्रयोग नहीं कर रही वह भी अपने सब कार्य मुद्रा के सहारे ही करने लगेगी तो उस अवस्था में मुद्रा परिवर्तन का कार्य वर्तमान समय से अधिक कठिन हो जायगा। वर्तमान समय में मुद्रा परिवर्तन से कम लोग प्रभावित होंगे जब कि भविष्य में इससे अधिक प्रभावित होंगे। एक बात और भी है। अब जोड़-बाकी, गुणा-भाग आदि का काफी काम मशीन भी करने लगी हैं। परन्तु भारतवर्ष में इस

प्रकार की मशीनें अभी बहुत कम प्रयोग में लाई जाती हैं। जो मशीनें काम करती भी हैं वे प्राचीन मुद्रा प्रणाली के प्रचार पर ही हिसाब लगाती हैं। पर आर्थिक उन्नति के साथ ही साथ इस प्रकार की मशीनों की संख्या भी बढ़ेगी। यदि देश की मुद्रा प्रणाली में परिवर्तन कुछ वर्षों बाद किया जाय तो उस समय वे सब मशीनें बेकार हो जायँगी जब कि इस समय थोड़ी ही मशीनें बेकार होंगी। अतः व्यय व बरबादी की दृष्टि से भी मुद्रा प्रणाली में परिवर्तन के लिए यही समय उपयुक्त प्रतीत होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी नवीन प्रणाली आवश्यक प्रतीत होती है। संसार के लगभग ५० औद्योगिक देशों ने दशमलवीय मुद्रा प्रणाली को स्वीकार कर लिया है और सब जगह यह प्रणाली सफलतापूर्वक चल रही है। इसलिये भारत में भी इसके चलन में किसी प्रकार असुविधा की आशंका नहीं है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली का अन्तर्राष्ट्रीय आधार होने के कारण देश के सभी भागों में बिना विरोध के इसे स्वीकार करने की सम्भावना है जब किसी दूसरी प्रणाली का किसी भाग में बहिष्कार हो सकता है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है संसार के प्रायः सभ्य देशों ने गणित के चिह्न दशमलवीय आधार पर ही बनाये हैं। नाप और तौल की कोई भी ऐसी इकाई असुविधाजनक नहीं हो सकती जिसमें इस दशमलवीय आधार को ग्रहण न किया जा सके। भारतवर्ष में भी जब अन्य मापदण्डों में दशमलवीय प्रथा का चलन हो जायगा तो मौद्रिक दशमलवीय प्रणाली का वर्तमान दोष भी समाप्त हो जायगा। इस प्रकार दाशमिक प्रणाली को ग्रहण करके भारत भी उन देशों में सम्मिलित हो जायगा जिन्होंने मापदंड के इस आधार को मान लिया है। ऐसा करने से भारत अपनी अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं को एक क्षेत्र में और कार्यरूप में परिणत कर सकेगा, जो इस बात का एक प्रभावशाली प्रमाण होगा कि भारत अपनी आर्थिक उन्नति में बाधा डालने वाली प्रत्येक परम्परा को तोड़ने के लिये तैयार है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार के वित्त विभाग ने दशमलवीय प्रणाली के स्थायी लाभों की गणना निम्न प्रकार से बतलाई है—

(१) इस प्रणाली से सरल तथा शीघ्र लेखा विधि का निर्माण हो सकेगा।

(२) यह प्रणाली व्यय तथा मूल्य निर्धारण की एक सही और सप्रभाविक रीति सिद्ध होगी।

(३) इस प्रणाली के द्वारा घरेलू कामों और उपभोग की वस्तुओं की कीमतें सरलता से नापी जा सकेंगी।

(४) अनावश्यक तथा विविध प्रकार की मुद्रा इकाइयों के स्थान पर नवीन तथा बोधगम्य मुद्रा की इकाइयों का चलन हो जायगा।

(५) कीमतों के छोटे-छोटे परिवर्तनों की अधिक सही नाप हो सकेगी जिससे मुद्रा का व्यय अधिक आर्थिक ढंग से किया जा सकेगा।

(६) शिक्षा संस्थाओं में हिसाब-किताब सीखने तथा उसके लगाने में विद्यार्थियों के समय तथा परिश्रम में काफी बचत हो जायगी।

(७) पूरानी मुद्रा प्रणाली के आधार पर हिसाब जोड़ने में एक ग्रेजुयेट को भी एक अशिक्षित व्यापारी के सामने नीचा देखना पड़ता है। एक अशिक्षित दूकानदार जो हिसाब आधा मिनट में मौखिक लगा देता है उसे एक स्नातक कागज पेन्सिल की सहायता से भी ५ मिनट में लगाने में असफल रहता है। दशमलवीय प्रणाली से हिसाब-किताब लगाने के क्षेत्र में शिक्षित वर्ग की यह दयनीय दशा दूर हो जायगी।

नवीन मौद्रिक प्रणाली के प्रारम्भ हो जाने से उपरोक्त वादविवाद का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं रहा है। अब तक के अनुभव से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नवीन मौद्रिक प्रणाली नापतौल की दशमलवीय प्रणाली के प्रारम्भ हो जाने पर पूर्ण रूप से सफल हो जायगी। इस समय देश में नापतौल की लगभग १४० प्रणालियाँ प्रचलित हैं जिससे व्यापार में काफी असुविधा तथा भ्रष्टाचार होता रहता है। अतः सरकार शीघ्र ही नाप तौल में भी दशमलवीय प्रणाली प्रारम्भ करने वाली है। और यह देश के लिये हितकर भी होगा। तौल की नई आधार भूत इकाई किलोग्राम रक्खी गई है जिसका वजन ८६ तोला अथवा २ पौंड तीन औंस रहेगा। यह प्रणाली निम्न प्रकार से होगी—

१० मिलीग्राम	=	१ सेन्टीग्राम
१० सेन्टीग्राम	=	१ डेसीग्राम
१० डेसीग्राम	=	१ ग्राम
१० ग्राम	=	१ डेकाग्राम
१० डेकाग्राम	=	१ हेक्टोग्राम
१० हेक्टोग्राम	=	१ किलोग्राम
१०० किलोग्राम	=	१ क्विंटल
१०० क्विंटल	=	१ मेट्रिक टन

नापतौल में दाशमिक प्रणाली धीरे-धीरे पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में लागू की जायगी। दिल्ली क्षेत्र में जनता को इसका परिचय आंशिक रूप से कराने के लिए यह लागू भी कर दी गई है। पंजाब में अमृतसर, जालंधर, लुधियाना, अम्बाला, पटियाला व गुड़गाँव जिले में तथा पंजाब कृषि जन्य पदार्थ बाज़ार अधिनियम १६३६ के अंतर्गत गाड़ियों में लागू की जायगी। उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद, आगरा, बरेली, गोरखपुर, झाँसी, कानपुर, लखनऊ, मुरादाबाद, मेरठ तथा वाराणसी म्यूनिसिपल क्षेत्र में लागू की जायगी। राजस्थान

में अजमेर, बीकानेर, जोधपुर, जयपुर तथा कोटा व उदयपुर के जिलों में पहले लागू की जायगी। यह नई प्रणाली सूती वस्त्र, लोहा व स्पात व इन्जीनियरिंग भारी रासायनिक पदार्थ, सिमेन्ट, नमक, कागज लौहतर धातुओं तथा रबर व कहवा उद्योगों में भी लागू होगी। इन उद्योगों में वर्तमान नापतौल प्रणाली केवल दो वर्ष तक कायम रह सकेगी। बाद में इसे अन्य उद्योगों व आर्थिक गतिविधियों में लागू किया जायगा।

प्रश्न

भारतीय मुद्रा प्रणाली में दशमलव प्रणाली का क्यो समावेश किया गया? हमारे समाज को इससे क्या लाभालाभ है। (आगरा बी, काम. पार्ट १ १९५६)

अध्याय ११

विदेशी विनिमय एवं विनिमय नियंत्रण

(Foreign Exchange and Exchange Control)

विदेशी विनिमय का अर्थ बहुत ही व्यापक है। इसके अंतर्गत वे रीतियाँ जिनके द्वारा विदेशी भुगतान होता है (जैसे विदेशी बिलें, बैंक ड्राफ्ट, विदेशी मुद्रा) सम्मिलित हैं। विदेशी विनिमय का अर्थ उन संस्थाओं से भी लगाया जाता है जो कि इन विनिमय पत्रों का क्रय-विक्रय करती हैं तथा इसका अर्थ उस दर से भी है जिस पर एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में परिवर्त्तन किया जाता है।

विदेशी विनिमय की आवश्यकता विदेशी व्यापार के कारण उत्पन्न होती है। प्रत्येक देश के व्यापारी अपने देश की मुद्रा ही स्वीकार करते हैं। अतः अपने देश की मुद्रा को विदेशी मुद्रा में बदलना पड़ता है।

विनिमय दरों का निर्धारण (Determination of Exchange Rate)

विनिमय दर का अर्थ उस दर से है जिस पर एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा में बदली जा सके। जैसे ५ रुपये के बदले में १ डालर मिले तो अमेरिका और भारत के बीच ५ : १ से विनिमय दर कही जायगी। यह विनिमय दर सदा स्थिर नहीं रहती और विनिमय दर देशों की मुद्रा पद्धतियों पर निर्भर रहती है। विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की मुद्रा पद्धतियाँ प्रचलित होने के कारण विनिमय दर भी विभिन्न प्रकार से निर्धारित होती है। इन पद्धतियों को हम इस प्रकार से देख सकते हैं—

१. **स्वर्णमान अथवा रजतमान वाले देशों में विनिमय दर**—जब दो देशों में मुद्राएँ सोने या चाँदी की होती है तो विनिमय दर प्रामाणिक सोने या चाँदी के सिक्कों में होने वाले शुद्ध सोने या चाँदी की मात्रा पर निर्भर रहता है। यह मुद्रा स्वर्ण में या रजत में परिवर्त्तनीय होती है। जैसे भारत में एक तोले सोने की कीमत १२० रु० है और इंगलैंड में १५ पौंड है तो दोनों देशों के बीच विनिमय-दर १२० रु० = १५ पौंड अर्थात् ८ रु० = १ पौंड हुई। ये सोने या चाँदी की मात्रा एवं कीमत देशों के विधान द्वारा निश्चित की जाती है। इसे टकसाली समानता (Mint Par of Exchange) या स्वर्ण मूल्य समानता दर (Gold Par of Exchange) कहा जाता है।

स्वर्ण समता दर (Gold Par of Exchange)- विनिमय दरों की प्रवृत्ति समानता की प्रवृत्ति दिखाती है। परन्तु यह भी व्यापार-शेष के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। जैसे भारत व ब्रिटेन के बीच विनिमय पर १ पौंड = ८ रु० है। यदि किसी वर्ष भारत ने ब्रिटेन से काफी आयात किया परन्तु निर्यात कम किया तो भारत का व्यापार शेष भारत के विपरीत हुआ जिसे वह पौंडों में चुकाएगा। पौंड की माँग बढ़ेगी। और माँग के नियम के अनुसार पौंड की कीमत बढ़ जाएगी। अतः अब ८ रु० के बदले में १ पौंड न मिलेगा बल्कि कुछ अधिक रुपयों में मिलेगा जैसे १ पौंड =८·५ रु०।

इस भुगतान को भारत या तो विदेशी बैंक से पौंड मुद्रा खरीद कर कर सकता है या स्वर्ण का निर्यात ब्रिटेन को कर सकता है। इनमें जो रीति लाभदायक होगी वही अपनाई जाएगी। स्वर्ण का निर्यात करते समय मार्ग व्यय, बीमा व्यय, पैकिंग व्यय का भी ध्यान रखा जाएगा। माना कि ये सारे व्यय ·०२ पौंड पड़ते हैं तो १ तोला सोना ब्रिटेन को भेज कर १५ पौंड के स्थान पर १४·६८ पौंड कमाएगा। यदि विनिमय बैंक से १४.६८ पौंड से अधिक मुद्रा मिलती है तो भारत सोना का निर्यात नहीं करेगा और बैंक द्वारा भुगतान करेगा। यदि विनिमय बैंक १४.६८ पौंड से थोड़ा सा भी कम मूल्य देगा तो भारत तुरंत ही सोने का निर्यात प्रारंभ कर देगा। अतः इस सीमा या बिंदु को भारत का स्वर्ण निर्यात बिंदु (Gole Export Point) कहा जाता है और ब्रिटेन के यह स्वर्ण आयात बिंदु (Gold Import Point) कहा जाएगा। स्वर्ण आयात और निर्यात बिंदुओं को स्वर्ण बिंदु (Gold Point धातु बिंदु (Specie Point) कहते हैं। इसी प्रकार भारत का ब्रिटेन को निर्यात अधिक है और आयात कम। तो ब्रिटेन भी विनिमय बैंक द्वारा या स्वर्ण निर्यात भारत को भुगतान करेगा। परंतु ऐसा करने में उसे मार्ग व्यय आदि का ध्यान रखना पड़ेगा। यदि मार्ग ·०२ पौंड हैं तो ब्रिटेन के व्यापारी को १५.०२ पौंड के बदले में १ तोला सोना भेजना होगा जो १२० रुपए के बराबर होगा। जब तक विनिमय बैंक १५·०२ पौंड के बदले में १२० रु० से अधिक देती रहेगी स्वर्ण निर्यात का प्रश्न नहीं उठता परन्तु जैसे ही कम देना स्वीकार किया ब्रिटेन भारत को स्वर्ण का निर्यात करने लगेगा। इस प्रकार १५.०२ पौंड ब्रिटेन के लिए स्वर्ण निर्यात बिंदु हुआ और भारत के लिए स्वर्ण आयात बिंदु। अतः ये बिंदु मार्ग व्यय आदि जोड़ कर या घटा कर निकाले जाते है। जब ये व्यय जोड़े जाते हैं तो मूल्य को उच्चतर धातु बिंदु (Upper Gold Points) या 'स्वर्ण निर्यात बिंदु' (Gold Export Point) कहते हैं और जब व्यय घटाए जाते हैं तो निम्नतर स्वर्ण बिंदु (Lower Gold Point) या स्वर्ण आयात बिंदु (Gold Import Point) कहते हैं। विनिमय दर इन बिंदुओं के बीच ही निश्चित हो होगी।

२. पत्र चलन प्रणाली में विनिमय दर—पत्र चलन प्रणाली में एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा से कोई संबंध नहीं होता और न यह मुद्रा किसी एक धातु में परिवर्त्तनशील ही होती है। ऐसे देशों के बीच विनिमय दर उन देशों की क्रय-शक्ति समता सिद्धांत पर आधारित होती है। इस सिद्धांत के जन्मदाता गुस्टाव कैसिल का कहना है कि स्वर्ण के स्थान पर किसी दैनिक उपयोग की वस्तु में दोनों देशों की मुद्राओं की क्रय-शक्ति का पता लगाया जा सकता है और इस क्रय-शक्ति के आधार पर परस्पर विनिमय-दर का निर्धारण हो सकता है। उदाहरणार्थ भारत में ५ रु० का उतना गेहूँ खरीदा जाता है जितना कि अमेरिका में १ डालर का। तो भारत और अमेरिका की विनिमय दर क्रय शक्ति समता सिद्धान्त पर १ डालर=५ रुपये हुई। क्रय-शक्ति उन देशों के सामान्य मूल्य स्तर से ज्ञात होती है। इस क्रय शक्ति में समान तथा तुलनात्मक दो तरह से परिवर्त्तन हो सकते हैं। समान परिवर्त्तन होने पर विनिमय दरों में कतई परिवर्त्तन न होंगे परन्तु तुलनात्मक परिवर्त्तन (एक देश की मुद्रा की क्रय शक्ति में दूसरे देश की मुद्रा की क्रय शक्ति की अपेक्षा अधिक परिवर्त्तन होना) होने पर विनिमय दर में भी उसी अनुपात में तथा उसी दिशा में परिवर्त्तन होते हैं। यदि रुपये की क्रय शक्ति पौंड की क्रय शक्ति की तुलना में २५% घट जाती है तो रुपये की क्रय शक्ति भी पौंड में ठीक इसी अनुपात में घट जाएगी। कैसिल के अनुसार नई विनिमय दर का पता लगाने के लिये आधार वर्ष की दर में प्रत्येक चलन को उस देश की निर्देशांक से गुणा कर देना चाहिए। उदाहरण के लिए भारत और ब्रिटेन में सन् १६३६ में विनिमय दर १ पौंड=४ रु० है। १६५८ में ये निर्देशांक भारत में ३०० हो जाते हैं और ब्रिटेन में १५० तो नवीन विनिमय दर प्रो० कैसिल के अनुसार इस प्रकार होगी :—

रुपया × भारत का निर्देशांक = पौंड × ब्रिटेन का निर्देशांक
४ × ३०० = १ × १५०
१२०० = १५०
८ रु० = १ पौ०

क्रय शक्ति समता सिद्धांत की आलोचनाएँ

विदेशी मुद्रा की दर भी आंतरिक मुद्रा की दर के अनुसार ही निश्चित होती है। जैसे आंतरिक मुद्रा मूल्य उसकी माँग और पूर्ति के अनुसार निश्चित होता है उसी प्रकार उसकी वाह्य दर या विनिमय बाजार में उसकी माँग और पूर्ति पर निर्भर है परंतु क्रय शक्ति समता सिद्धांत केवल क्रय शक्ति संबंधी विवेचना करता है उसकी माँग की विवेचना नहीं करता। दूसरे यह सिद्धांत केवल उन कुछ वस्तुओं के सामान्य सूचनांकों से निर्धारित होता है जो अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार में स्वतंत्रतापूर्वक प्रवेश करती

हैं और अन्य सेवाओं अथवा पूँजी के विनिमय पर कुछ भी ध्यान नहीं देता। तीसरे यह सिद्धांत टकसाली समानता के आधार पर नहीं बना वरन निर्देशांकों के आधार पर बना है जो सदैव बदलते रहते हैं। चौथे, इस सिद्धांत में प्रतिपादित किया गया है कि विनिमय दरों के परिवर्त्तन देश के आंतरिक मूल्य-स्तरों के परिवर्त्तन के परिणाम होते हैं परंतु यह भी देखा जाता है कि विनिमय दर के परिवर्त्तन स्वयं आंतरिक मूल्य स्तर में परिवर्तन कर देते हैं। जैसे अवमूल्यन का प्रभाव देश में मुद्रा प्रसार तथा मूल्य-स्तर बढ़ना होता है। पाँचवा, यदि दो देशों का व्यापार अदला-बदली पर हो, सट्टेबाजी का राजनैतिक प्रभाव हो, स्वतंत्र व्यापार न हो अर्थात् निर्यात् प्रतिबंध हों तो क्रय शक्ति समता सिद्धांत द्वारा विनिमय दर निकालना और भी कठिन हो जाता है।

विदेशी विनिमय दरों में परिवर्तन (Fluctuations)

विदेशी विनिमय दरों में होने वाले परिवर्तनों को चार भागों में बाँट सकते हैं—

१. विदेशी बिलों की माँग और पूर्ति
२. मुद्रा संबंधी कारण
३. राजनैतिक कारण
४. औद्योगिक कारण

१. विदेशी बिलों की माँग और पूर्ति—यदि किसी देश में विदेशी बिलों की माँग पूर्ति की अपेक्षा अधिक होती है तो विनिमय दर में वृद्धि हो जाती है। इस माँग के अधिक होने के कई कारण हैं :—(अ) जब व्यापारिक शेष देश के अनुकूल हो तो विदेशी लोग देश की मुद्रा की माँग करेंगे जिससे इसका मूल्य बढ़ेगा। (ब) जब विदेशी लोग हमारे देश में पूँजी विनियोग करना चाहते हैं तो हमारी मुद्रा की माँग बढ़ती है। परंतु यदि हम दूसरे देशों में विनियोग करना चाहें तो विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ेगी और विनिमय दर में वृद्धि होगी। (स) स्टाक एक्सचेंज पर जब सटोरिए विदेशी सिक्योरिटियों में रुपया लगाना चाहते हैं तो विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है जिससे विदेशी बिलों की माँग बढ़ती है और विनिमय दर बढ़ जाती है। (द) बैंक भी कभी-कभी जब विदेशी बिलों की माँग कम होती है और सस्ते होते हैं तो खरीद लेते हैं तथा तेज होने पर बेच देते हैं जिससे लाभ कमा लेते हैं और यह क्रिया भी विनिमय-दर में परिवर्तन करने में सहायक होती है।

२. मुद्रा संबंधी कारण—मुद्रा की क्रय शक्ति में होने वाले परिवर्तन भी विनिमय दर में उच्चावचन उत्पन्न करते हैं। क्रय शक्ति समता सिद्धांत यही बताता है। जब मुद्रा मूल्यों में वृद्धि होती है तो देश में पूँजी लगाने में कम लाभ होता है

और वे अपनी पूँजी देश से हटाना चाहते है इससे विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ती है और विनिमय दर में परिवर्तन होता है।

३. राजनैतिक दशाएँ—सरकार द्वारा लगाए गए आयात कर, निर्यात-कर, तट-कर इत्यादि तथा देश में असुरक्षा, राजनैतिक उपद्रव बिलों की माँग और पूर्ति पर प्रभाव डालते हैं जिससे विनिमय दर में उतार-चढ़ाव होता रहता है।

४. औद्योगिक कारण—जब देश में औद्योगिक शांति होती है, औद्योगिक विकास हो रहा होता है एवं विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन दिया जाता है तो विदेशी अपनी पूँजी उस देश में लगाना पसंद करते हैं जिससे उस देश के बिलों की माँग बढ़ती है और विनिमय दर अनुकूल होती है। इसके विपरीत यदि औद्योगिक अशांति है, उद्योगों में हानि हो रही है तो विदेशी अपनी लगी हुई पूँजी हटाना चाहेंगे जिससे विदेशी बिलों की माँग बढ़ेगी और विनिमय-दर में परिवर्तन होगा।

अग्रगामी विनिमय (Forward Exchange)

अग्रगामी विनिमय बाजार व्यापारियों को भविष्य में विनिमय-दरों में होने वाले उतार-चढ़ावों से होने वाली संभावित हानि से बचने के लिए पूरी सुविधा दी जाती है। विनिमय दर के उतार-चढ़ाव व्यापारियों को लाभदायक एवं हानिकारक दोनों हो सकते हैं। किसी भी विदेशी मुद्रा की जो मात्रा देश की मुद्रा के बदले में भविष्य की एक निश्चित तिथि को मिल सकती है, उसे अग्रगामी विनिमय दर कहते हैं। यह अग्रगामी विनिमय दर विभिन्न देशों की बैंकिंग-पद्धति, बैंक-दर, ब्याज दर, मुद्रा-नीति, विनिमय-नियंत्रण और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को ध्यान में रख कर निश्चित की जाती है। वस्तुतः इसके अंतर्गत सुरक्षा के सौदे (Hedging Contracts) होते हैं। विदेशी विक्रेता बिक्री का सौदा करते समय उस देश से माल वर्तमान भावों में क्रय (purchase) कर लेते हैं ताकि विक्रय-माल की सुपुर्दगी तक भावों में होने वाले उच्चावचनों की हानियों से बचा जाए। इसी प्रकार क्रेता भावी दामों पर विक्रय का सौदे कर लेते हैं जिससे भविष्य में हानि न हो।

विदेशी विनिमय नियंत्रण (Foreign Exchange Control)

विनिमय नियंत्रण के उद्देश्य

विनिमय नियंत्रण का अर्थ अधिकारियों द्वारा किए गए प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष हस्तक्षेप से है ताकि विनिमय दरों अथवा व्यापार को प्रभावित किया जा सके। विनिमय-नियत्रण विनिमय दर में होने वाले भयंकर उच्चावचनों को रोकने के लिए तथा उनमें स्थायित्व लाने के लिए, व्यापार-शेषों के अंतरों को समायोजित करने के लिए किया जाता है। कभी-कभी इसका उद्देश्य सरकार द्वारा आय प्राप्त करना भी होता है। आजकल विनिमय नियत्रण का प्रयोग कुछ विशेष देशों के आयात-निर्यातों को

रोकने के लिए, व्यापारिक भेद-भावों के लिए, संरक्षण प्रदान करने के लिए तथा पूँजी के निर्यातों को रोकने के लिए भी किया जाता है।

विनिमय नियंत्रण के उपाय

विनिमय नियंत्रण निम्नांकित उपायों द्वारा किया जा सकता है :

(१) आयात-निर्यात कर, कोटा, तट कर एवं लाइसेंसों द्वारा—आयात-निर्यातों द्वारा विनिमय दर बहुत प्रभावित होती है। अतः सरकार आयात निर्यात का नियंत्रण नए-नए कर तट-कर लगा कर आयातों को कम करने के लिए आयात कर लगा कर, आयात के लाइसेंस देकर तथा निर्यातों को बढ़ाने के लिए उन्हें आर्थिक सहायता देकर उनका कोटा निश्चित कर सकती है। व्यापारिक संतुलन बनाए रखने के लिए अवमूल्यन भी कर सकती है।

(२) ब्याज तथा बैंक दरों द्वारा—विदेशी विनिमय बाजार का संबंध पूँजी और विनियोग के लेनदेन से बहुत अधिक रहता है। ब्याज दर में अधिक वृद्धि कर दी जाए तो विदेशी लोग देश में पूँजी लगाते हैं और देश की मुद्रा की माँग बढ़ जाती है जिससे विनिमय दर बढ़ जाती है। ब्याज दर या बैंक दर घटाने पर लोगों को कम लाभ होते हैं जिससे अपनी पूँजी हटाते हैं और विदेशी मुद्रा की माँग करते हैं जिससे विनिमय दर गिरती है। इस प्रकार विनिमय दर का नियंत्रण केन्द्रीय बैंक द्वारा सुदृढ़ता के साथ हो सकता है।

(३) विनिमय बंधन (Pegging of Exchange)—कभी-कभी देश की सरकार अपने देश की मुद्रा विनिमय-दर की सामान्य-विनिमय दर से ऊँची या नीची रखने के लिए एक निश्चित बिंदु या मात्रा निर्धारित कर देती है। इसे ही विनिमय बंधन कहते हैं। जैसे सन् १९२८ के बाद भारत ने रुपए की विनिमय दर १ = १ शि० ६ पेंस बाँध दी थी।

(४) विनिमय समानीकरण कोष (Exchange Equalization Fund)—ब्रिटेन ने सर्वप्रथम इस प्रकार के कोष का निर्माण किया था जिसका उद्देश्य सट्टेबाजी के कारण विनिमय दर में होने वाले उत्थान-पतन को रोकना था। इस फंड की राशि स्टरलिंग बिलों और सोने में थी। इसमें स्टरलिंग के बदले अन्य मुद्राओं को खरीदा जा सकता है और विनिमय दर में स्थायित्व लाया जाता है।

(५) विनिमय प्रतिबंध—इसका तात्पर्य मुद्रा अधिकारियों को कानूनन रोकना है जिनके द्वारा विनिमय बाजार में माँग और पूर्ति प्रभावित होती हैं। यह एक अत्यन्त कठोर और अत्यधिक प्रभावशाली नीति है।

भारत में विदेशी विनिमय नियंत्रण

रिजर्व बैंक भारत में द्वितीय महायुद्ध से, विदेशी विनिमय का नियंत्रण कर

रहा है। जिसके लिए विनिमय नियंत्रण विभाग (Exchange Control Department) की स्थापना की गई है। सन् १६४७ के विनिमय नियंत्रण कानून (Foreign Exchange Control Act 1947) के अंतर्गत कुछ व्यक्तियों और संस्थाओं को विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करने के लिए अधिकार दिया गया है। यह बैंक उन्हीं कार्यों के लिए विदेशी विनिमय देता है जो सरकार द्वारा आयात-निर्यात के अंतर्गत निश्चित किए जाते हैं। ये बैंक व संस्थाएँ समय-समय पर रिजर्व बैंक को विदेशी विनिमय का लेखा-जोखा भेजती हैं ताकि उनके उपयोग का ज्ञान हो सके। सन् १६५४ से बर्मा के यात्रियों को भी मुद्रा लाने का अधिकार दिया गया है बशर्त्ते कि वे अशोक चिन्ह वाले नोट लाते हैं। इसी प्रकार सन् १६५५ से पाकिस्तानियों को अधिकार दिया गया कि वे पाकिस्तानी नोट १०० रुपए के प्रति व्यक्ति प्रति दिन के हिसाब से ले जा सकते हैं। परन्तु भारतीय नोट प्रति व्यक्ति ५० रुपए से अधिक नहीं ले जा सकते। विदेशी मुद्रा कोष को बनाए रखने के लिए भारत सरकार ने १ जनवरी १६५७ से उन विदेशी यात्रियों को जो मनोरंजन एवं व्यक्तिगत लाभ के लिए जाते हैं विदेशी विनिमय का अलाउंस देना बंद कर दिया है। इसके अतिरिक्त २७ जून १६५७ से भारत सरकार ने विदेशी मुद्रा मनीआर्डर द्वारा भेजने की सुविधा भी समाप्त कर दी है।

प्रश्न

1. What are the motives of Exchange Control ? Describe the methods of Exchange Control. (*Agra B. A.* 1957)

2. क्रय समता सिद्धांत (Purchasing Power Parity) पर टिप्पणी लिखिए (आगरा १६५७ बी. ए. बी. काम)

3. What do you understand by favourable and unfavourable rate of exchange ? What are the factors which cause the exchange rate to be favourable or unfavourable ? (*Agra B. Com. I.* 1957)

4. Show how the foreign exchange value of a country's currency is determined. (*Agra B. A.* 1959)

5. विनिमय दर को कौन-कौन सी बातें प्रभावित करती हैं ? (आगरा बी. ए. १६५६)

अध्याय १२

अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष

(International Monetary Fund)

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् संसार के प्रायः सम्पूर्ण देशों को मौद्रिक तथा विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। देशी तथा विदेशी व्यापार में भी कठिनाइयाँ सामने आने लगी। प्रत्येक देश इन कठिनाइयों को निवारण करने के लिये अपनी मौद्रिक नीति में परिवर्तन करने लगा। विनिमय अवमूल्यन तथा विनिमय नियंत्रण की प्रणालियाँ प्रायः सभी देश अपनाने लगे। ऐसी अवस्था में प्रत्येक देश अपने हित के लिये ही मौद्रिक नीति में परिवर्तन करना वांछनीय समझता था। अन्य देशों के हितों का कुछ भी ध्यान नहीं रक्खा जाता था। इस प्रकार इस काल में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के स्थान पर पारस्परिक स्पर्धा का ही अधिक बोलाबाला हो गया जिससे राष्ट्रों की आर्थिक दशा डाँवाडोल होने लगी। दूसरे महायुद्ध ने इन समस्याओं को और भी जटिल बना दिया। प्रत्येक देश में युद्ध कालीन विध्वंस के कारण आर्थिक पुनर्वासन तथा पुनर्निर्माण की गम्भीर समस्यायें आवश्यक रूप से युद्ध समाप्त होने के पश्चात् आने को थी। इन समस्यायों का हल अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बिना असम्भव था। इसके अतिरिक्त संसार के कुछ बड़े-बड़े नेताओं का यह भी विचार हुआ कि आधुनिक काल में युद्ध प्रायः आर्थिक कारणों से ही होते हैं। अतः युद्ध निवारण हेतु भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये इंगलैंड, अमेरिका तथा कनाड़ा ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की योजनायें निर्मित की। इन पर विचार करने के लिये अमेरिका ने सन् १६४४ ई० में ब्रिटनउड्ज़ नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-परिषद् बुलाई। इस परिषद् में ४४ मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। विचार-विनिमय के पश्चात् इन प्रतिनिधियों के द्वारा एक योजना स्वीकृत की गई। इस योजना के अनुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक स्थापित करने का निश्चय किया गया।

जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सम्बन्ध है इसके स्थापित करने के लिये निम्नांकित उद्देश्य घोषित किये गये—

(१) इस संस्था द्वारा स्थाई रूप से विभिन्न देशों के मध्य मौद्रिक सहयोग का विकास करना।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार और सन्तुलित विकास को सुविधा-

जनक बनाना और इस प्रकार सभी सदस्य देशों में अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को कार्य दिलाने का प्रबन्ध करना।

(३) विनिमय स्थिरता को स्थापित करना। सदस्य देशों के मध्य निर्धारित विनिमय व्यवस्थाओं को बनाये रखना तथा प्रतिस्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन को रोकना।

(४) सदस्य देशों के लिये कोष के साधनों को उपलब्ध करके उनमें विश्वास उत्पन्न करना और प्रत्येक देश की उसके शोधनाशेष की त्रुटियों को दूर करने में सहायता देना।

(५) सदस्य देशों के बीच चालू व्यवसायों के सम्बन्ध में बहुदेशीय शोधन प्रणाली की स्थापना करना तथा विदेशीय विनिमय सम्बन्धी प्रतिबन्धों को हटाने में उनकी सहायता करना।

(६ उपरोक्त व्यवस्थाओं के अनुसार सदस्य देशों के अन्तर्राष्ट्रीय शोधनाशेष के असन्तुलन की अवधि और उसके अंश को कम करना।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति के लिये विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करना।

कोष की निधि—कोष की निधि का मूल्य ८८० करोड़ डालर निश्चित किया गया जिसके लिये प्रत्येक सदस्य देश के अभ्यंश निश्चित कर दिये गये। कतिपय बड़े देशों के अभ्यंश निम्न प्रकार से हैं—

देश	अभ्यंश करोड़ डालर में
संयुक्त राज्य अमेरिका	२७५
ब्रिटेन	१३०
रूस	१२०
चीन	५५
फ्रांस	४५
भारत	४०

अन्य सम्मिलित देशों के अभ्यंश भी इसी प्रकार निश्चित कर दिये गये थे। बाद में सम्मिलित होने वाले देशों के अभ्यंश की रकम को निश्चय करने का अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को दे दिया गया था। अभ्यंश के मूल्य में परिवर्तन सम्बन्धित देश की प्रार्थना पर किया जा सकता है। प्रत्येक पाँच वर्ष के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष किसी भी देश के मुद्रा कोष को ४/५ बहुमत के आधार पर बदल सकता है यदि सम्बन्धित देश की स्वीकृति प्राप्त हो जाय। प्रत्येक सदस्य देश को अपने अभ्यंश का १/४ अथवा सरकारी स्वर्ण तथा डालर जमा का १/१० सोने में देना होता है। और शेष अपनी अपनी मुद्रा में जमा किया जाता है। स्वर्ण के अतिरिक्त शेष अभ्यंश

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अधिकर्त्ता के रूप में सदस्य देश की केन्द्रीय बैंक के पास ही रक्खा जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कोष का विधान तथा प्रबन्ध

कोष के कार्य संचालन का भार एक गवर्नर मंडल कार्यकारिणी संचालक, प्रबन्ध डायरेक्टर तथा उसके कर्मचारियों पर डाला गया है। कोष का दैनिक कार्य कार्यकारिणी संचालक समिति द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इस समिति के बारह (१२) सदस्य होते हैं ५ स्थाई तथा ७ स्थाई। प्रथम ५ उन पाँच बड़े-बड़े राष्ट्रों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं जिनके अभ्यंश सबसे अधिक हैं। २ की नियुक्ति लेटिन अमेरिका के देशों द्वारा की जाती है। और शेष का अन्य सदस्य देशों द्वारा। निर्वाचन अनुपातीय प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा होता है। कोई भी सदस्य देश साधारण सूचना देकर कोष की सदस्यता से प्रथक हो सकता है। कोष का प्रधान कार्यालय अमेरिका में है। परन्तु इसकी शाखायें सदस्य देशों में स्थापित की जा सकती हैं।

मुद्रा कोष में स्वर्ण का स्थान

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से सदस्य देशों को बिना स्वर्णमान स्थापित किये ही स्वर्णमान का लाभ प्राप्त होता रहता है। इस कोष में स्वर्ण तीन प्रकार से सम्बन्धित है :

(१) प्रथम प्रत्येक सदस्य देश के अभ्यंश का एक निश्चित भाग स्वर्ण में कोष के पास जमा होता है।

(२) प्रत्येक सदस्य देश अपने चलन का प्रारम्भिक स्वर्ण में निर्धारित करता है।

(३) किसी सदस्य देश की मुद्रा की दुर्लभता की दशा में उसे स्वर्ण में खरीदने की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अन्तर्गत स्वर्ण को चलन में रखने अथवा स्वर्णमान स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। स्वर्ण कीमतों के सामूहिक माप का काम करता है। और प्रत्येक सदस्य देश निश्चित कीमतों पर सोने को खरीदने तथा बेचने के लिये तैयार रहता है।

विनिमय दर तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

प्रत्येक सदस्य देश को अपने चलन का मूल्य १ जुलाई सन् १९४४ के आधार पर स्वर्ण अथवा अमरीकन डालर में निर्धारित करनी पड़ती है। इस प्रकार अमरीकन डालर सदस्य देशों की मुद्राओं का मूल्यमापक बन जाता है। इसके कारण विभिन्न देशों के विनिमय दरों के निर्धारण करने में कोई कठिनाई नहीं रही। प्रत्येक सदस्य देश आवश्यकतानुसार निर्धारित विनिमय दर में १० प्रतिशत तक परिवर्तन कर सकता हैं। इससे अधिक परिवर्तन के लिये कोष की आज्ञा प्राप्त करना अनिवार्य हो जाता है। २० प्रतिशत से अधिक परिवर्तन के लिये सदस्य देशों की संख्या का दो-

तिहाई बहुमत आवश्यक है। नियम भंग करने पर सम्बन्धित देश को कोष की सुविधाओं से वंचित किया जा सकता है। अथवा उसे कोष की सदस्यता से प्रथक किया जा सकता है।

कोई भी सदस्य देश एक वर्ष के अन्दर कोष से अपने चलन के बदले में अपने अभ्यंश के २५ प्रतिशत से अधिक विदेशी विनिमय नहीं खरीद सकता और योग में वह अधिक से अधिक अपने अभ्यश २००% विदेशी विनिमय खरीद सकता है। सकटकालीन अवस्थाओं में ये सीमायें ढीली की जा सकती हैं। ऋणी सदस्य को मुद्रा कोष के ऋण पर ½ % से लेकर २½ % तक ब्याज देना पड़ता है। दिये गये ऋण के विषय में कोष इस बात का भी ध्यान रखता है कि सम्बन्धित देश ऋण को कोष के विरुद्ध उद्देशों में प्रयोग न कर सके।

कोष का महत्व तथा कार्य

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग अथवा सहकारिता की भावना पर की गई है। युद्धोत्तर काल में कुछ मुद्राओं के दुर्लभ होने की सम्भावना पहले ही हो गई थी। इसलिये मुद्रा कोष के द्वारा इस प्रकार की दुर्लभता को दूर करने का प्रयत्न किया गया। यदि किसी समय कोष अपने साधनों से किसी मुद्रा की माँग को पूरा न कर सके तो वह विशेष देश से उधार ले सकता है अथवा सोना देकर खरीद सकता है। यह करने के पश्चात् भी यदि कोष मुद्रा की पूर्ति में असफल रहे तो वह दुर्लभता के कारणों की सूचना देते हुये राशनिंग व्यवस्था के आधार पर आंशिक रूप में सबकी माँग पूरी कर सकता है। इस प्रकार कोष अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की एक सुव्यवस्थित तथा आवश्यक संस्था है। यह अल्पकालीन ऋण देकर सदस्य देशों के शोधनाशेष के घाटे को दूर कर देता है अथवा कम कर देता है। इस प्रकार इस संस्था के कारण सदस्य देशों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अल्पकाल कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा। मुद्रा कोष केन्द्रीय बैंक अथवा स्थिर कोष के द्वारा ही सदस्य देशों के साथ व्यवसाय कर सकता है। और सदस्य देश भी कोष के साथ केन्द्रीय बैंक आदि संस्थाओं के द्वारा ही व्यवसाय कर सकता है। कोष शोधनाशेष सन्तुलन हेतु किसी सदस्य देश की आन्तरिक आर्थिक संगठन में हस्तक्षेप नहीं कर सकता और न उसे निजी संस्थाओं अथवा व्यक्तियों के साथ व्यवसाय करने का अधिकार है।

मुद्रा कोष का आलोचनात्मक सिंहावलोकन

यद्यपि मुद्रा कोष ने सदस्य देशों को अल्पकालीन ऋण देकर पर्याप्त सहायता पहुँचाई है फिर भी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टिकोणों से इसकी पर्याप्त आलोचना की गई है। सबसे बड़ी आलोचना कोष के अभ्यंश निर्धारण के अवैज्ञा-

निक आधार पर है। आलोचकों का कहना है कि विभिन्न देशों का अभ्यंश किसी वैज्ञानिक आधार पर निश्चित नहीं किया गया है। वास्तव में अंग्रेजों तथा अमरीकनों के आर्थिक तथा राजनैतिक स्वार्थों को ध्यान में रखते हुये अभ्यंश निर्धारित किये गये हैं। यही कारण है कि रूस को शीघ्र ही त्यागपत्र देना पड़ा और अन्य समाजवादी राष्ट्र भी इसके सदस्य नहीं हो सके। इस प्रकार की त्रुटि को दूर करने के लिये अभ्यंश सम्बन्धित देशों की विदेशी व्यापारों की मात्रा के आधार पर निर्धारित किये जाने चाहिये थे। अथवा व्यापाराशेष की स्थिति या विदेशी विनिमय की आवश्यकता को आधार बनाया जाना चाहिये था। पर ऐसा नहीं किया गया और इसीलिये बहुत से राष्ट्र इससे असन्तुष्ट रहे।

कुछ आलोचकों के अनुसार मुद्रा कोष की कार्यकारिणी की सदस्यता भी इसी प्रकार से रक्खी गई है कि अमरीकन हितों की रक्षा होती रहे। उनके अनुसार इसीलिये लेटिन अमेरिका के देशों के लिये दो (२) स्थान सुरक्षित किये गये हैं। इस प्रकार की सदस्यता से भविष्य में पश्चिमी देश अपने आर्थिक हितों की उन्नति के लिये मुद्रा कोष द्वारा इस प्रकार की नीति का पालन करवा सकते हैं जो अविकसित देशों के लिये हानिकारक हो जिसके फलस्वरूप ऐसे देशों को उसकी सदस्यता से प्रथक हो जाना पड़े। यदि ऐसा हुआ तो जिस उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष स्थापित किया गया है वह उद्देश्य ही पूरा न हो सकेगा। व्यावहारिक दृष्टि से भी कुछ लोगों ने मुद्रा कोष पर आरोप लगाये हैं। इनके अनुसार कोष ने ऋणों के प्रदान करने और आवश्यक सुविधाओं के प्रदान करने में भेद-भाव किया है। तथा शक्तिशाली देशों से यह अपनी आज्ञा का पालन नहीं करवा पाता। उदाहरण के लिये फ्रांस ने गत वर्षों में कोष की आज्ञा के विरुद्ध अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया है, फिर भी कोष ने फ्रांस को किसी प्रकार से दंडित नहीं किया।

उपरोक्त आलोचनाओं को ध्यान में रखते हुये भी कोष की उपयोगिता में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। कोई भी व्यक्ति अथवा मानव निर्मित संस्था सब सम्बन्धित लोगों को शत प्रतिशत संतुष्ट नहीं कर सकती। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष भी इसी सूत्र के आधार पर सब राष्ट्रों को सन्तुष्ट नहीं कर सकती, फिर भी यह एक सामयिक आवश्यकता को पूर्ण करती है। इसकी कार्यप्रणाली में जो छेद दृष्टिगोचर हो रहे हों वे समय-समय पर अनुभव के आधार पर दूर किये जा सकते है। और इस प्रकार यह संस्था प्रगतिशील तथा अधिक-से-अधिक देशों को हितकारक बनाई जा सकती है। इसके अभी तक के इतिहास से स्पष्ट है कि कोष ने सदस्य देशों की पर्याप्त सहायता की है जैसा कि निम्नलिखित तालिका से प्रगट होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा भारत

भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का एक महत्वपूर्ण सदस्य देश है। पहले तो भारत के दो प्रस्ताव कि भारत को कोष की कार्यकारिणी में स्थाई स्थान दिया जाय तथा इसके पौंड पाउना ऋणों को मुद्रा कोष के कार्यक्षेत्र में सम्मिलित किया जाय अस्वीकृत कर दिये गये थे। इससे भारत कोष का सदस्य बनने में संकोच कर रहा था। पर रूस के प्रथक हो जाने से भारत इसका स्थाई रूप से सदस्य बन गया तथा पौंड पाउना ऋणों के सम्बन्ध में ब्रिटेन से संतोषजनक समझौता हो गया। अतः अक्टूबर सन् १९४६ ई० में भारत ने कोष की प्रारम्भिक सदस्यता प्राप्त कर ली। इस सदस्यता से भारत को काफी लाभ हुआ है। सन् १९४८ व १९४९ में भारत ने अपने व्यापाराशेष घाटे को पूरा करने के लिये करीब ६ करोड़ डालर का ऋण कोष से लिया था। कोष की सदस्यता प्राप्त करने के पश्चात् भारत ने अधिक समय से चले आये रुपये स्टर्लिंग का वैधानिक सम्बन्ध विच्छेद कर दिया। और ८ अप्रैल सन् १९४७ ई० से रुपये का मूल्य स्वर्ण में नियत कर दिया है। भारत समय-समय पर मुद्रा कोष से ऋण लेता रहता है। जब-जब शोधनाशेष का घाटा बढ़ जाता है भारत कोष से ऋण ले लेता है और कोष यथासम्भव भारत की ऋण प्रार्थनायें स्वीकार कर लेता है। भारत ने कोष से अब तक निम्न प्रकार से ऋण प्राप्त किये हैं।

इस प्रकार भारत को कोष से काफी सहायता मिली है। वास्तव में भारत ने कोष की सुविधाओं का अधिकतम उपयोग करने में ख्याति प्राप्त की है। कोष ने १९-४९ ई० में भारत को ही अपने रुपये का अवमूल्यन करने की आज्ञा दे दी थी। अव-मूल्यन के पश्चात् भारतीय व्यापाराशेष में भी काफी सुधार हो गया है। कोष ने भारत की उद्योग संरक्षण नीति में भी कोई हस्तक्षेप नहीं किया है। प्रत्यक्ष संकट-कालीन अवस्था में मुद्रा कोष ने भारतीय सरकार को व्यापारिक प्रतिबन्ध लगाने की आज्ञा प्रदान करती है। यही नहीं कोष की सहायता के आधार पर भारत को विश्व बैंक की सहायता भी प्राप्त हुई है। विश्व बैंक ने भी भारत को उसकी विकास योज-नाओं के लिये काफी सहायता दी है। इस प्रकार कोष की सहायता से भारत को लाभ ही हुआ है।

प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M. F.) क्या है। यह किस प्रकार कार्य करता है ? इस कोष से भारत से क्या लाभ हुआ है ? (आगरा बी. ए. १९५९)

2. India's admission to the International Monetary Fund marks the inauguration of a new currency standard for India. Explain carefully and examine the existing Indian currency system. (*Agra B. A.* 1956)

अध्याय १३

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एवं भारत का विदेशी व्यापार

(International Trade and India's Foreign Trade)

देश के विभिन्न प्रदेशों अथवा क्षेत्रों में होने वाले व्यापार को देशीय, आंतरिक अथवा अंतर्स्थानीय व्यापार (Internal, Inland or Interregional Trade) कहते हैं। अंतर्राष्ट्रीय या विदेशी व्यापार से अभिप्राय दो पृथक-पृथक राष्ट्रों के बीच होने वाले व्यापार से है जैसे भारत का पाकिस्तान या अमेरिका से व्यापार। दोनों ही प्रकार के व्यापार का उद्देश्य फालतू या प्रचुर मात्रा में उपलब्ध वस्तुओं अथवा सेवा के बदले ऐसी वस्तुएँ या सेवा प्राप्त करना है जो कि उपलब्ध नहीं हैं अथवा आसानी से सुलभ नहीं होती। इस प्रकार दोनों के विनियोग से अधिकतम आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है। देश के अंदर लगभग सभी स्थानों पर ब्याज एवं मज़दूरी एक से होते हैं अतः उत्पत्ति के साधन आसानी से गतिशील होते हैं। इस कारण विभिन्न देशों में एक ही वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन व्यय में अंतर रहता है। यह उत्पादन व्यय में अंतर ही वस्तुओं के विशिष्टीकरण (Specialisation) का कारण होता है और एक ही वस्तु भी कीमत विभिन्न देशों में विभिन्न होती है। इसके अतिरिक्त श्रम, उत्पादन वितरण। स्थानीय कर एवं अन्य नियम समान रहते हैं। परंतु विभिन्न देशों में समानता नहीं रहती, इस कारण भी उत्पादन व्यय में विभिन्नता आ जाती है। देशी व्यापार में मुद्रा-प्रणाली, आयात-निर्यात, विनिमय आदि की कोई समस्या नहीं होती परंतु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सभी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। अतः राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में अलग-अलग सिद्धांतों की आवश्यकता होती हैं। परंतु मौलिक रूप में समस्याएँ एक ही हैं। ओहिलिन (Ohlin) के शब्दों में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार राष्ट्रीय व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा है।"

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का कारण

अंतर्राष्टीय व्यापार की उत्पत्ति का कारण वस्तुओं का विशिष्टीकरण एवं उनके मूल्यों में अंतर है। यह ऊपर भी वर्णन किया जा चुका है। विभिन्न देशों में इस मूल्यांतर का कारण प्राकृतिक साधन, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दशाएं होती हैं।

उपरोक्त कथन को सिद्ध करने के लिये एक काल्पनिक उदाहरण लिया जा सकता है। मान लीजिये उत्पति के निश्चित साधनों से भारत में २० गज सूती-वस्त्र

अथवा ४० गज़ जूट का समान तैयार किया जा सकता हैं परंतु पाकिस्तान में उतने ही साधनों से १० गज सूती वस्त्र अथवा ३० गज़ जूट का सामान तैयार किया जा सकता है। उपरोक्त अंको से स्पष्ट होता है कि भारत में दोनों वस्तुओं का उत्पादन पाकिस्तान की अपेक्षा सरल पड़ता है क्योंकि जितनी लागत से पाकिस्तान में १० गज़ सूती वस्त्र तैयार होता है उतनी लागत से भारत में २० गज़ तैयार होता है और उसी लागत से यदि पाकिस्तान ३० गज़ जूट का माल तैयार करता है तो भारत उसी लागत पर ४० गज़ जूट का सामान तैयार करता है। अतः एक ही लागत पर पाकिस्तान की अपेक्षा भारत में दोनों वस्तुयें अधिक मात्रा में उत्पादित होती हैं। इसलिये स्वभावतः भारत को ही इन दोनों वस्तुओं का उत्पादन करना चाहिये और पाकिस्तान को भेजना चाहिये और इसी में दोनों को लाभ होना चाहिये पर यदि गम्भीरता से अंको पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि ऐसा होते हुये भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में दोनों देशों को तभी लाभ होगा जब भारत सूती वस्त्र तैयार करे और उसे पाकिस्तान को भेजे तथा पाकिस्तान जूट का माल तैयार करे और भारत को भेजे।

यदि भारत दोनों वस्तुओं को अपने यहाँ उत्पादन करे तो एक गज़ सूती वस्त्र के स्थान पर २ गज़ जूट का सामान मिल सकेगा क्योंकि उदाहरण में २० गज़ सूती वस्त्र की लागत ४० ग जूट के सामान के बराबर है। इसलिये विनिमय दर १ गज़ सूती कपड़े के बदले में २ गज़ जूट का सामान हुई। पाकिस्तान में यही विनिमय दर १ गज़ सूती कपड़े के बदले में ३ गज़ जूट का सामान हुई होगी क्योंकि वहाँ १० गज़ सूती वस्त्र की लागत ३० गज़ जूट के सामान की लागत के बराबर है। अतः पाकिस्तान में १ गज़ सूती वस्त्र के बदले में ३ गज़ जूट का सामान मिल सकेगा जब कि भारत में १ गज़ सूती वस्त्र के बदले में २ गज़ जूट का सामान मिलेगा। ऐसी दशा में दोनों देश को लाभ तभी होता जब भारत केवल सूती वस्त्र का उत्पादन करे और पाकिस्तान केवल जूट का सामान बनाये और फिर दोनों देश आपस में व्यापार द्वारा वस्तुओं का आदान-प्रदान करें।

मान लीजिये कि इस आदान-प्रदान में विनिमय दर एक गज़ सूती कपड़े के बदले में २½ गज़ जूट का सामान निश्चित होती है तो दोनों देशों को आधे २ गज़ जूट के सामान का लाभ हो जाता है। यदि भारत दोनों वस्तुओं को अपने यहाँ उत्पादन करता तो उसे सूती वस्त्र के प्रत्येक गज़ के बदले में २ गज़ जूट का सामान मिलता जब कि पाकिस्तान से वह २½ गज़ जूट का सामान पा सकता है। इसी प्रकार यदि पाकिस्तान दोनों वस्तुओं को अपने यहाँ उत्पन्न करे तो जूट के माल के प्रत्येक ३ गज़ के बदले में १ गज़ सूती कपड़ा प्राप्त हो सकेगा और यदि वह सूती कपड़ा भारत से मँगाये तो ३ गज़ जूट के माल के स्थान पर २½ गज़ जूट का सामान देने

से ही काम चल जायेगा ½ गज़ जूट के सामान की बचत हो जायगी। इस प्रकार दोनों देशों को लाभ होगा जब कि भारत सूती वस्त्र तैयार करे और पाकिस्तान जूट का सामान तैयार करे यद्यपि दोनों वस्तुओं की लागत व्यय पाकिस्तान की अपेक्षा भारत में कम पड़ती है। इस सिद्धांत को तुलनात्मक लागत का नियम कहते हैं और इसी के आधार पर अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है। इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक देश केवल उस वस्तु का उत्पादन करता है जिसके उत्पादन में उसे अधिकतक सुविधायें हों अथवा न्यूनतम असुविधायें हों जिससे अन्य देशों की अपेक्षा वस्तु के उत्पादन में लागत व्यय कम रहे। इसी सिद्धांत के आधार पर भारतवर्ष में कपास के उत्पादन में अधिकतम सुविधायें हैं और पाकिस्तान में जूट का माल उत्पादन करने में न्यूनतम असुविधायें हैं जिससे तुलनात्मक दृष्टि से भारत में सूती वस्त्र का उत्पादन तथा पाकिस्तान में जूट के सामान का उत्पादन कम लागत पर होता है। एक निश्चित लागत व्यय पर जितना वस्त्र पाकिस्तान उत्पादन करता है उसका दुगुना भारतवर्ष में उत्पन्न होता है। परन्तु भारत उसी लागत व्यय पर जितना वस्त्र तैयार करता है जूट का सामान उससे दुगुना तैयार कर पाता है पर पाकिस्तान उसी लागत व्यय पर जितना सूती वस्त्र तैयार करता है उससे ३ गुना जूट का सामान तैयार करता है और इस प्रकार तुलनात्मक लागत व्यय के आधार पर भारत को सूती वस्त्र तैयार करने में और पाकिस्तान को जूट का सामान तैयार करने में दोनों देशों को लाभ होता है यदि वे इन वस्तुओं का आदान-प्रदान करने लगें।

उपरोक्त उदाहरण में यह दिखलाया गया है कि प्रत्येक देश को ½ गज जूट के माल का लाभ होता है क्योंकि विनिमय दर १ गज सूती वस्त्र = २½ गज जूट वस्तु के है पर वास्तव में लाभ कम या अधिक हो सकता है। यदि पाकिस्तान को सूती कपड़े की आवश्यकता अधिक है तो एक गज सूती कपड़े के बदले में २½ गज से अधिक पर ३ गज से कम जूट का माल देने को पाकिस्तान को बाध्य होना पड़ेगा। हो सकता है कि वह २¾ गज जूट का सामान देने को तैयार हो जाय। ऐसी हालत में भारत को ¾ गज का तथा पाकिस्तान को ¼ गज़ का लाभ रहा। इसके विपरीति यदि भारत की जूट सामान के लिए माँग अधिक प्रबल है और पाकिस्तान की भारतीय कपड़े की माँग अधिक प्रबल नहीं है तो भारत को १ गज कपड़े के बदले में कम से कम जूट का सामान लेने को तैयार होना पड़ेगा जो कि २ ग़ज से कम न होगा। हो सकता है कि भारत केवल २¼ गज जूट के सामान के बदले में ही एक गज़ सूती कपड़ा देने को तैयार हो जाय, ऐसी दशा में भारत की अपेक्षा पाकिस्तान को अधिक लाभ रहेगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जिस देश की वस्तु की माँग विदेश में अधिक प्रबल होती है जितनी प्रबल विदेशी वस्तु की माँग उस देश में नहीं होती तो उस देश को विदेश की अपेक्षा अधिक लाभ होता है। यह निष्कर्ष सर्वथा सत्य है। व्यापार में यातायात

के व्यय अधिक वस्तुएँ तथा अधिक देशों के होने से उपरोक्त निष्कर्ष असत्य नहीं होता है।

विदेशी व्यापार के लाभ (Advantages of Foreign Trade)

विदेशी व्यापार का आधार यह है कि इसमें प्रत्येक देश को लाभ होता है। यह निम्न प्रकार दर्शाया जा सकता है :—

१. विदेशी व्यापार द्वारा विभिन्न देशों के बीच श्रम विभाजन संभव होता है। विदेशी व्यापार के कारण प्रत्येक देश ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करता है जिन्हें न्यूनतम लागत पर पैदा कर सके। इस प्रकार विशिष्टीकरण संभव होता है और उत्पादन अनुकूल परिस्थितियों में होता है जिससे मानव का कल्याण होता है।

२. विदेशी व्यापार से उपभोग का स्तर बढ़ता है तथा उपभोग में विभिन्नता आती है। एक देश में, यदि विदेशी व्यापार है तो, ऐसी वस्तुएँ आयात की जाती हैं जो देश में उत्पन्न नहीं होतीं अथवा तेज कीमत पर उत्पादित की जा सकती हैं। विदेशी व्यापार में उस देश से माल आता है जहाँ पर कम लागत पर उत्पादन होता और उपभोक्ता उस बाजार से वस्तुएँ खरीद सकते हैं जहाँ से उन्हें सस्ती मिलती हैं।

३. विदेशी व्यापार संकटकालीन स्थिति को दूर करता है। देश में अतिवृष्टि या अनावृष्टि से दुर्भिक्ष पड़ता है या कोई वस्तु कम उत्पन्न होती है तो विदेशों से उसे मँगा सकते हैं और आर्थिक संकट दूर किया जा सकता है।

४. विदेशी व्यापार द्वारा संसार के देशों में वस्तुओं की कीमत में समानता रहने की प्रवृत्ति रहती है। इससे उपभोग का स्तर बढ़ता है।

५. विदेशी व्यापार से प्रतियोगिता को प्रोत्साहन मिलता है जिससे देश के उत्पादकों और व्यापारियों को सुधारों एवं कार्यक्षमता के प्रति सजग एवं सचेष्ट रखा जा सकता है। इस देश के प्रबंध में भी कार्यशीलता आती है और प्रतियोगिता के भय से उत्पादक या व्यापारी उपभोक्ता से अधिक मूल्य वसूल नहीं कर सकते।

६. विदेशी व्यापार की सहायता से देश में आवश्यक कच्चा माल, मशीनें, विशेषज्ञों को उपलब्ध किया जा सकता है तथा इनकी सहायता से देश के औद्योगीकरण को विकसित किया जा सकता है।

७. सामाजिक एवं सांस्कृतिक संबंध स्थापित करने की दृष्टि से भी अन्तरराष्ट्रीय व्यापार लाभकारी है।

८. इससे देश के सभी साधनों का सर्वोत्तम उपयोग होता है। देश की प्रचुर मात्रा में उपलब्ध वस्तु विदेशों में भेज कर उसे नष्ट होने से बचाया जा सकता है और आर्थिक उन्नति की जा सकती है।

परन्तु उपरिलिखित लाभ तभी दृष्टिगोचर होते हैं जब कि विभिन्न देशों

में पारस्परिक सहानुभूति हो और व्यापार पर किसी प्रकार का प्रतिबंध न हो अन्यथा विदेशी व्यापार से कभी भी इतने लाभ प्राप्त नहीं हो पाते और निम्नांकित हानियों की गुंजायश रहती है। जैसे (१) विदेशी व्यापार द्वारा प्रचुर मात्रा में मिलने वाले साधन खप जाते हैं और फिर उनका मिलना उस देश में प्रायः असंभव ही हो जाता है। (२) विदेशी व्यापार द्वारा उन्नत प्रतियोगिता का विकास होता है और इस प्रतियोगिता में केवल विकसित देश ही भाग ले सकते तथा लाभ उपार्जित कर सकते हैं। अविकसित देशों में उद्योग-धंधे या तो स्थापित ही नहीं हो पाते अथवा पनप नहीं पाते और आर्थिक विकास में और भी अधिक पिछड़ जाते हैं। (३) विशिष्टीकरण द्वारा देश का एक दिशायी विकास हो पाता है। बहुमुखी आर्थिक विकास नहीं हो पाता। इससे संकटकाल या युद्धकाल में देश को बुरे आर्थिक परिणाम भोगने पड़ सकते हैं और दूसरी ओर देश में कितने ही आर्थिक एवं प्राकृतिक साधन बेकार पड़े रहते हैं। (४) इस प्रकार विदेशी व्यापार देश की अर्थ-व्यवस्था को दूसरे देशों की अर्थ-व्यवस्था पर आश्रित कर देता है। यह पराश्रयी भावना एवं प्रवृत्ति देश के सम्मान एवं आर्थिक विकास में रोड़ा अटकाती है तथा आर्थिक संकट के समय भयंकर रूप धारण कर सकती है। (५) विदेशी व्यापार द्वारा ऐसी वस्तुएँ आती रहती हैं जिनका सेवन समाज एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक हो सकता है और आगे चल कर बुरी आदत डाल देता है। जैसे भारत में सिगरेट का प्रयोग और चीन में अफीम का उपयोग। (६) विदेशी व्यापार द्वारा दो देशों में प्रतिद्वंदिता का जन्म होता है और फिर एक राष्ट्र हमेशा दूसरे राष्ट्र को नीचा दिखाने की सोचता रहता है।

ये हानियाँ २० वीं शताब्दी में तो पर्याप्त प्रतिलक्षित होने लगी हैं और पारस्परिक द्वेष-भाव एवं अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों को जन्म दिया है और राजनैतिक शोषण का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार प्रमुख साधन बना हुआ है।

भारतवर्ष का विदेशी व्यापार

भारत विदेशी व्यापार के लिए अत्यन्त प्राचीन समय से प्रसिद्ध है। इसके व्यापारिक केन्द्र दक्षिणी चीन, मलाया, अरब, फारस, पूर्वी अफ्रीका, जावा, सुमात्रा तथा और भी अन्य देशों में थे। ईसा से ३००० वर्ष पूर्व भारत लोहे और स्पात का निर्यात विदेशों को करता था। इसके अतिरिक्त बढ़िया रेशमी कपड़ा, मलमल, हाथी दाँत का सामान तथा दुशाले आदि विदेशों में भेजे जाते थे। और विदेशों से ताँबा, टीन, शीशा तथा चीनी आदि वस्तुएँ देश में आया करती थीं। प्राचीन समय में भी भारत दूसरे देशों को जितने मूल्य का माल निर्यात करता था उससे कम मूल्य का माल आयात करता था। और इस प्रकार भारतीय व्यापार सर्वदा देश के अनुकूल रहता था।

सन् १२०० ई० के पश्चात् मुस्लिम आक्रमणों के कारण देश की राज नैतिक व्यवस्था में शिथिलता आना आरंभ हो गया और इसका प्रभाव भारतीय व्यापार पर भी पड़ा। पन्द्रहवीं शताब्दी में योरुप में व्यापारिक ज्ञाग्रति प्रारंभ हुई। योरुप निवासी अपनी व्यापारिक उन्नति के लिए नए-नए देशों का पता लगाने लगे। कुछ लोग विशेषकर पुर्तगाल निवासी भारत में व्यापारिक केन्द्र बनाने में सफल हुए। उन्होंने धीरे-धीरे भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर गोआ, डामन, ड्यू आदि स्थानों पर अधिकार कर लिया। उनके कार्यों से भारतीय व्यापार को हानि होने लगी। इसके पश्चात् योरुप की अन्य शक्तियाँ भी विशेषकर डच, फ्रान्सीसी और अँग्रेज भारतवर्ष में व्यापार करने की दृष्टि से प्रभुत्व जमाने लगे। इस होड़ में पारस्परिक झगड़े होने लगे और अंत में अंग्रेजों ने धीरे-धीरे भारत में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिए और अन्य योरुपीय शक्तियों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बन गए।

अँग्रेजों ने उस समय के मुगल सम्राटों तथा अन्य शासकों को प्रारंभ में यथासंभव संतुष्ट रक्खा। आरंभ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपने हित में भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहित करती रही, परन्तु कुछ समय बाद कम्पनी के कर्मचारियों में स्वार्थ अधिक फैल गया। इसके फलस्वरूप कम्पनी का व्यापार संबंधी एकाधिकार समाप्त कर दिया गया। इसके कारण एक दूसरी कम्पनी भारत से व्यापार करने के लिए खोली गई। परन्तु सन् १७०२ ई० में ये दोनों कम्पनियाँ मिल कर एक हो गईं। विदेशियों को उनके व्यापार के लिए सभी प्रकार की सुविधाएँ दी जा रहीं थीं क्योंकि विदेशियों ने शासकों को प्रसन्न कर लिया था। इस प्रकार भारतीय व्यापार अवनति की दिशा में चल पड़ा था।

विदेशियों में इस समय तक अँग्रेजों की व्यापारिक शक्ति बहुत बढ़ गई और उन्होंने इस परिस्थितियों से लाभ उठाकर भारतीय व्यापार को बहुत धक्का पहुँचाया। अब तक इंग्लैण्ड का सोना-चाँदी काफी परिमाण में भारत में आता था किन्तु धीरे-धीरे उसका आयात बंद कर दिया गया; क्योंकि भारत के तैयार माल का आयात इग्लैण्ड में कम हो गया और इग्लैण्ड अपने यहाँ का तैयार माल भारत को भेजने लगा। इसी समय अँग्रेजों ने मुक्त व्यापार की नीति अपनाई। इसके फलस्वरूप अँग्रेजों को इस व्यापार से अधिक लाभ होने लगा। अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत से ईस्ट इंडिया कम्पनी ने केवल १० लाख पाउन्ड का व्यापार किया। परन्तु १८३४ ई० में यह बढ़कर ८० लाख पाउन्ड की सीमा तक हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय व्यापार में बड़ा परिवर्तन हो गया। सन् १८६६ ई० में स्वेज नहर का निर्माण हो जाने से भारतीय विदेशी व्यापार में

एक नया युग प्रारम्भ हुआ। इससे पहिले भारत को आने वाले अँग्रेजी जहाजों को 'केप आफ़ गुड होप' होकर आना पड़ता था और इसमें ५,००० मील अधिक समुद्री यात्रा करनी पड़ती थी। स्वेज़ नहर के निर्माण से भारत और इंगलैण्ड की दूरी में काफी कमी आ गई। इधर १८५७ के पश्चात् भारत में अँग्रेजी राज्य काफी दृढ़ हो गया। इस राज्य की स्थापना से मुगलकालीन अशान्ति व अराजकता समाप्त हो गई। देश में शान्ति स्थापित हो गई। यातायात के साधनों का विशेषकर रेलों का काफी विकास हुआ। इन कारणों से भारतीय विदेशी व्यापार को काफी प्रोत्साहन मिला। इसी समय बम्बई और स्वेज़ के बीच में समुद्री तार से संबंध स्थापित कर दिया गया, जिससे समुद्री यातायात में सरलता हो गई। इन कारणों से अब भारतवर्ष से कम मूल्य वाली भारी वस्तुएँ विदेशों को जाने लगीं और हल्की परन्तु बहुमूल्य वस्तुएँ विदेशों से इस देश में आने लगीं। उदाहरण के लिए गेहूँ, चावल, तिलहन, चमड़ा, जूट आदि विदेशों को निर्यात किया जाने लगा और विदेशों से सूती वस्त्र, मशीनें, रेलों का समान तथा अन्य निर्मित वस्तुओं का आयात होने लगा। यद्यपि भारत से व्यापार करने की सब देशों को स्वतन्त्रता रही पर परिस्थितियाँ ऐसी सामने आई कि जिनसे भारतीय विदेशी व्यापार में इंगलैण्ड वालों का प्रमुख स्थान रहा। इसके कई कारण थे। सबसे पहिले ब्रिटेन का जहाज़ी बेड़ा सबसे अधिक शक्तिशाली तथा क्षमतावान था। बैंकों पर भी ब्रिटेन का अधिकार अधिक था। भारतीय रेलों में ब्रिटिश पूँजी लगी हुई थी। उन पर अँग्रेजों का ही अधिकार था। अतः ये रेले प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अँग्रेजी व्यापारियों को विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ दिया करती थीं जो दूसरों को उपलब्ध नहीं थी। अँग्रेजी राज्य होने के कारण देश की आर्थिक व व्यापारिक नीति भी अँग्रेजों के द्वारा निर्धारित की जाती थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक भारतीय विदेशी व्यापार में इंगलैण्ड की प्रभुसत्ता बनी रही। इस समय तक देश के आयात का ५०% तथा निर्यात का २५% अँग्रेजों के ही हाथ था। अमेरिका के ग्रह युद्ध ने भी भारत के साथ अँग्रेजी व्यापार को प्रोत्साहित करने में काफी सहायता दी, विशेषकर लंकाशायर को अमेरिका की कच्ची रुई मिलने में कठिनाई होने लगी और यह पूर्ति भारत की रुई से की गई। इससे भारत की निर्यात की मात्रा अधिक बढ़ गई। इस समय तक भारत का कुल निर्यात आयात की अपेक्षा अधिक रहा करता था और प्रति वर्ष व्यापारिक संतुलन देश के अनुकूल होने के कारण भारत का रुपया इंग्लैण्ड निवासियों पर बच रहता था।

इस प्रकार १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय विदेशी व्यापार की निम्नलिखित विशेषताएँ थी —

१—स्वेज़ नहर के निर्माण से, देश में शान्ति स्थापना से, यातायात के साधनों की उन्नति से, भारतीय विदेशी व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हुई। आयात तथा निर्यात दोनों उत्तरोत्तर बढ़ते गए। सन् १८५४-५५ ई० में आयात व निर्यात क्रमशः २६८५ व २५८५ लाख रु० के हुए। वे १६०० ई० में बढ़ कर क्रमशः ८४६८ तथा १२४६२ लाख रु० के हो गए।

२—इस काल में भारतीय निर्यात निर्मित तथा बहुमूल्य वस्तुओं के स्थान पर, कच्चे माल का अधिक होने लगा और आयात में निर्मित माल की प्रधानता होने लगी। इस दृष्टि से यह काल व्यापार तथा उद्योगों के लिए अवनति काल कहा जा सकता है क्योंकि विदेशी नीति के कारण भारतीय उद्योग नष्टभ्रष्ट होने लगे।

३—आयात और निर्यात में वस्तुओं के परिवर्तन होने पर भी व्यापार का संतुलन देश के अनुकूल ही रहता था। ऊपरी दृष्टि से यह बात संतोषजनक समझी जा सकती है पर वास्तव में यह स्थिति देश के प्रतिकूल पड़ने लगी, क्योंकि देश का कच्चा माल बहुत अधिक परिमाण में विदेशों को जाने लगा और वहाँ से निर्मित माल यहाँ आने लगा। संतुलन अनुकूल बनाए रखने के लिए देश को अधिक से अधिक कच्चे माल को विदेशों में भेजने के लिए बाध्य होना पड़ा। इससे देश में कच्चे माल की कमी रहने के साथ ही साथ रोजगार पर भी धक्का लगा। बेरोज-गारी बढ़ने लगी और कृषि पर जनसंख्या का भार बढ़ने लगा।

४—इस समय के व्यापार में ब्रिटेन का भाग उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। इंगलैण्ड भारत से आयात भी अधिक करने लगा और निर्यात भी क्योंकि दोनों ओर से इंगलैण्ड को लाभ रहता था। मुक्त व्यापार नीति के कारण भारतीय कच्चा माल इंग्लैण्ड में सस्ता पड़ता था और अँग्रेजी माल भारत में अन्य विदेशी माल से सस्ता रहता था। इस प्रकार अँग्रेज भारतीय बाजारों में अन्य विदेशियों से सफलतापूर्वक प्रतिस्पर्द्धा कर सकते थे।

५—इस काल में चावल, गेहूँ, चाय, जूट, तिलहन, कपास, चमड़ा आदि कच्चे माल का निर्यात बढ़ता गया तथा सूती, ऊनी वस्त्र, मशीनें, और लोहे व काँच के सामान आदि निर्मित वस्तुओं का आयात बढ़ता गया।

सन् १६१४ ई० में प्रथम महायुद्ध छिड़ गया। युद्ध छिड़ते ही विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव प्रारम्भ हो गया। युद्ध काल में व्यापार कम ही रहा। इसके कई कारण थे। युद्ध के कारण देशों में यातायात के प्रबन्ध में काफी अव्य-वस्था हो गई थी, जिससे माल के आने-जाने में काफी असुविधा हो गई। शत्रु देशों से व्यापार बिलकुल बंद हो गया तथा अन्य देशों से सामुद्रिक खतरों के कारण

भी व्यापार कम हो गया। युद्ध में लगे हुए देशों की क्रयशक्ति कम हो जाने से भारतीय वस्तुओं की माँग विदेशों के कम हो गई। यातायात की असुविधा तथा मार्ग में शत्रु भय के कारण बहुत से देशों ने विदेशों से माल लेना बन्द कर दिया। वे अपने देशों में ही वस्तु निर्माण करने लगे। इससे भी भारतीय व्यापार घट गया। व्यापारी जहाज़ युद्ध के कार्य में फँस गए जिससे वे व्यापारिक वस्तुओं को एक देश से दूसरे देश को ले जाने में असमर्थ हो गए। इसके साथ ही साथ जहाजों की कमी के कारण, जोखिम अधिक होने के कारण जहाजी भाड़े में काफी वृद्धि हो गई। इसका प्रभाव भी भारतीय व्यापार पर बुरा पड़ा। विदेशों में कागजी मुद्रा का प्रसार बड़े जोरों से हुआ। इसके कारण भारतीय वस्तुएँ विदेशों में महँगी पड़ने लगीं जिससे उनकी माँग कम हो गई। इन सब कारणों के अतिरिक्त भारतीय सरकार ने आयात पर कर बढ़ा दिया तथा चाय और जूट पर निर्यात कर लगा दिया। इन करों का प्रभाव भी विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल पड़ा।

इस प्रकार प्रथम महायुद्ध काल में भारतीय व्यापार में अवनति हुई। दोनों, आयात व निर्यात कम हुए। सन् १९१३ ई० में आयात १९८ करोड़ रु० तथा निर्यात ४३१ करोड़ रु० का था जो कि १९१६ ई० में क्रमशः १५० व ३५७ करोड़ रु० ही रह गए। इसके पश्चात् व्यापार में वृद्धि होना प्रारम्भ हुआ और सन् १९१८ ई० में देश का कुल आयात २१६ करोड़ रु० का और निर्यात ४६८ करोड़ रु० का था। इस समय में कच्चे माल के निर्यात में कुछ वृद्धि हुई परन्तु निर्यात माल के आयात में कुछ कमी हो गई। युद्ध के प्रारम्भिक वर्ष में कच्चे माल का निर्यात कुल निर्यात का ४०% के लगभग होता था जो १९१९ में ५१% के करीब हो गया, जब कि इसी काल में निर्मित माल का आयात ७६% से कम होकर ७०% पर पहुँच गया।

प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने पर, कुछ वर्षों तक तो युद्ध का प्रतिकूल प्रभाव व्यापार पर बना रहा। युद्ध में संलग्न देशों की आर्थिक स्थिति सुधरने में कुछ समय लगा। इससे भारतीय व्यापार में यथोचित उन्नति न हो सकी। यह नहीं, मित्र राष्ट्रों द्वारा की गई संधि के कारण योरुपीय देशों की आर्थिक व्यवस्था शीघ्र ही ठीक न हो सकी। इंग्लैण्ड को स्वर्णमान पद्धति त्यागनी पड़ी। जर्मनी आदि देशों में मुद्रा स्फीति प्रचुर मात्रा में होने लगी। इन कारणों से कुछ समय तक भारतीय व्यापार को उचित प्रोत्साहन न मिला। साथ ही साथ देश में श्रम सम्बन्धी झगड़ों में वृद्धि हुई। इससे उत्पादन भी कम हुआ। सन् १९२१ ई० से स्वदेशी आन्दोलन ने जोर पकड़ा। विदेशी माल के बहिष्कार की नीति ने विदेशों से विशेषकर इंग्लैण्ड से आने वाले माल में काफी कमी कर दी। इन प्रतिकूल परिस्थितियों से भारत को एक

लाभ अवश्य हुआ कि देश में बड़े-बड़े उद्योगों का श्रीगणेश हो गया। युद्ध काल से ही भारतीय उद्योगपतियों तथा सरकार का ध्यान कुछ अंश में देश में बड़े-बड़े उद्योगों की उन्नति की ओर गया।

युद्ध के समाप्त होने पर निर्यात व्यापार में तो उपरोक्त कारणों से कमी हुई परन्तु आयात व्यापार में वृद्धि होने लगी। युद्ध के कारण रुका हुआ आयात प्रारम्भ हो गया। रुपये की विदेशी दर बढ़ जाने से विदेशी माल भारत में सस्ता पड़ने लगा जिससे आयात की मात्रा बढ़ गई और इसी कारण सन् १९२१ ई० में भारत का निर्यात आयात से ८० करोड़ रु० के लगभग अधिक हुआ। परन्तु यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रही और १९२९ ई० तक स्थिति में काफी सुधार हो गया।

इस काल की व्यापारिक विशेषताएँ निम्नांकित थीं—

देश में सूती कपड़े की मिलों के विस्तार के कारण तथा स्वदेशी आन्दोलन के कारण विदेशी सूती कपड़े के आयात में काफी कमी हो गई, परन्तु रसायनिक पदार्थों का आयात बढ़ गया। इसी प्रकार विदेशों से मिट्टी के तेल का आयात भी काफी बढ़ गया, क्योंकि इसका प्रयोग जनता के द्वारा अधिक होने लगा और साथ ही साथ मोटर यातायात के विकास ने इसकी माँग और बढ़ा दी। विदेशों से चावल मँगाया जाने लगा। यहाँ से निर्यात किए हुए माल में निर्मित माल की मात्रा अधिक तथा आयात में इसकी मात्रा कम होने लगी। इसी काल में भारतीय व्यापार में इंग्लैण्ड की प्रचुरता का कम होना प्रारम्भ हो गया और उसके स्थान पर विश्व के अन्य देशों के साथ भारतीय आयात व निर्यात धीरे-धीरे अधिक होने लगे। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् लगभग १० वर्ष तक आर्थिक उत्कर्ष का दौरदौरा रहा। इसके बाद सन् १९३९ ई० से विश्वव्यापी आर्थिक अपकर्ष प्रारम्भ हुआ। उद्योग व व्यापार में शिथिलता आने लगी। प्रत्येक देश अपनी आर्थिक व्यवस्था की रक्षा के लिए विदेशी व्यापार पर भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने लगा। इसके फलस्वरूप विदेशी बाजार की महत्ता सब देशों में घटने लगी। इस अपकर्ष काल में निर्मित वस्तुओं के मूल्य की अपेक्षा कृषि पदार्थों के मूल्य में अधिक गिरावट हुई। भारत के निर्यात में कृषि पदार्थों की ही प्रमुखता थी। इसलिए भारतीय निर्यात का मूल्य बहुत कम हो गया। सन् १९३१ ई० में इंग्लैण्ड ने स्वर्ण पद्धति का त्याग किया। इसके फलस्वरूप सोने की कीमत अधिक बढ़ गई और बहुत सा सोना भारत से बाहर जाने लगा। सन् १९३३ ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी स्वर्णमान पद्धति को त्याग दिया। इसका प्रभाव भी भारत के व्यापार पर बुरा ही पड़ा। आर्थिक अव्यवस्था से बचाने के लिए तथा विदेशीय व्यापार की उन्नति के लिए मुख्य-मुख्य देश एक दूसरे से व्यापारिक संधियाँ करने लगे। पराधीन होने के कारण भारतवर्ष इन संधियों से भी कोई विशेष लाभ प्राप्त न कर सका।

सन् १९३३ ई० के पश्चात् भारत के व्यापार में कुछ प्रगति प्रारंभ हुई। निर्यात में वृद्धि होने लगी, आयात कम होने लगा क्योंकि इस समय तक अपकर्ष की प्रगति समाप्त हो चुकी थी। इसको रोकने की विभिन्न योजनाएँ अपनी सफलता दिखलाने लगीं। इधर द्वितीय युद्ध की आशंका भी धीरे-धीरे बढ़ने लगी और युद्ध भय के कारण शस्त्रों पर अधिक व्यय होने लगा। इससे विदेशी व्यापार में भी कुछ उन्नति होने लगी। फिर भी इस काल में भारत का विदेशी व्यापार कम ही रहा। सन् १९२९ ई० में भारत में २६० करोड़ रु० के लगभग आयात हुआ और ३१८ करोड़ रु० का माल बाहर भेजा गया। परन्तु १९३४ ई० तक दोनों में काफी कमी हो गई। आयात घट कर १३४ करोड़ रु० के लगभग रह गया। निर्यात की वस्तुओं का मूल्य भी १५५ करोड़ रु० के लगभग हो गया। इस प्रकार जब कि व्यापारिक संतुलन १९२९ ई० में ५९ करोड़ रु० के लगभग भारत के पक्ष में था वह १९३४ में केवल २० करोड़ रु० के रह गया।

इस विश्वव्यापी मंदी काल में भारतीय व्यापार में शिथिलता लाने का दायित्व बहुत सी परिस्थितियों पर है। सब से पहिले तो विश्व का ६०%सोना केवल अमेरिका और फ्रान्स के खजानों में था।

विदेशों में विज्ञान तथा यन्त्रों की सहायता से कृषि होने लगी। कृत्रिम पदार्थों का उत्पादन होने लगा जिससे भारतीय माल की खपत विदेशों में कम हो गई। प्रत्येक देश में राष्ट्रीयता की भावनाओं ने औद्योगिक उन्नति करने में पर्याप्त प्रोत्साहन दिया और इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा में बहुत कमी आ गई।

इस काल में भारतीय विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषताओं में आयात और निर्यात के मूल्यों में कमी होना तथा अधिकाधिक संरक्षण करों का लगाया जाना रहा। विभिन्न देशों में व्यापारिक संधियाँ हुईं। भारत से सोने का निर्यात काफी मात्रा में हुआ। इस काल में भारतीय व्यापार में जापान का भाग उत्तरोत्तर बढ़ता गया। परन्तु अमेरिका का व्यापार कम होता गया। चावल, तिलहन, गेहूँ, काफी, चमड़ा, कच्ची रुई, तैयार सूती माल तथा लाख आदि के निर्यात में धीरे-धीरे वृद्धि होती गई।

सन् १९३५ ई० से लेकर १९३९ ई० तक का काल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए उन्नति का काल कहा जा सकता है।

सन् १९३५ से ३९ ई० के भारतीय विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

प्रारंभ में निर्यात व्यापार कुछ बढ़ा परन्तु इसके पश्चात् कम हो गया। देश के कच्चे माल का निर्यात तथा विदेशी निर्मित माल का आयात दोनों में कमी हुई।

कच्ची रुई तथा तिलहन के व्यापार में कमी हुई परन्तु चाय, जूट और सूती कपड़े के व्यापार में वृद्धि हुई। ब्रिटिश साम्राज्य के देशों से व्यापार की मात्रा घट गई परन्तु जापान और जर्मनी से हमारा व्यापार बढ़ने लगा। व्यापार संतुलन की भारत के पक्ष में अनुकूलता उत्तरोत्तर कम होती गई।

द्वितीय महायुद्ध-काल—प्रत्येक युद्ध युद्ध में संलग्न देश की राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था में काफी परिवर्तन कर देता है। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक व आर्थिक संबंध इतने गहरे हो गए हैं कि कहीं भी युद्ध प्रारंभ क्यों न हो जाय उसका प्रभाव प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से प्रायः सम्पूर्ण देशों पर पड़ता है। सन् १९३९ ई० में ज्यों ही द्वितीय महायुद्ध प्रारंभ हुआ विभिन्न देशों की आर्थिक व्यवस्था में एक झटका सा लगा। भारत भी इससे अछूता न बचा। प्रारंभ में कीमतों में वृद्धि हुई तथा युद्ध सामग्री बनाने के लिए भारतीय कच्चे माल की माँग विदेशों में बढ़ने लगी। इधर भारतीय व्यापारी लाभ पाने के उद्देश्य से विदेशी माल को एकत्र करने लगे जिससे आयात की मात्रा में भी वृद्धि होने लगी। प्रथम २ वर्षों तक ये प्रवृत्ति बनी रही, परन्तु बाद में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कमी होने लगी। राज्य द्वारा विदेशी व्यापार पर नियंत्रण लगा दिया गया। युद्ध-जनित परिस्थितियों के कारण जहाजों की कमी और उसके फलस्वरूप किराये की वृद्धि से आयात और निर्यात काफी कम हो गए। ज़र्मनी के द्वारा जहाजों के डुबाए जाने के कारण भी आयात-निर्यात पर बुरा प्रभाव पड़ा। जब इटली से युद्ध छिड़ गया तो भूमध्यसागर भी व्यापार के लिए अयोग्य हो गया। इधर फ्रान्स तथा इंग्लैण्ड की आर्थिक स्थिति कमजोर हो गई। जर्मनी और रूस से भारत का व्यापारिक संबंध बिल्कुल समाप्त हो गया। जापान के युद्ध में भाग लेने पर पूर्वी द्वीप समूहों से भी भारत का व्यापार कम हो गया। ब्रह्मा जापानियों के हाथ में चले जाने से व्यापार में और भी कमी हो गई। यही नहीं जो देश तटस्थ थे उनके साथ भी हमारा व्यापार कम हो गया। सन् १९४१ ई० के बाद आयात और निर्यात् में कुछ वृद्धि हुई। मित्र राष्ट्रों से भारत का व्यापार बढ़ने लगा। इस समय तक मित्र राष्ट्रों की स्थिति शत्रुओं की अपेक्षा कुछ अच्छी हो चली थी। इधर इंगलैण्ड तथा अन्य मित्र राष्ट्र अपने कारखानों में युद्ध सामग्री बनाने के लिए अधिक से अधिक भारतीय कच्चे माल को मँगाने लगे। भोज्य पदार्थ तथा तैयार माल की माँग भी बढ़ गई और साथ ही साथ मध्य पूर्व के देश भी भारतीय माल की माँग करने लगे। इन कारणों से १९४१ के पश्चात् हमारे आयात-निर्यात दोनों बढ़ने लगे। परन्तु बाद में आयात कम होने लगा और १९४४ ई० तक ये प्रवृत्ति बनी रही। निर्यात में कुछ वृद्धि अवश्य होती रही। सन् १९४४ व ४५ ई० में आयात व निर्यात दोनों में वृद्धि हुई। इस अंतिम

वर्ष में जहाजों की सुविधा हो जाने के कारण देश में आयात की वृद्धि हो चुकी थी। इस काल के भारतीय व्यापार की मुख्य विशेषताएँ निम्नांकित थीं—

देश का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार योरुपीय देशों से युद्ध प्रारंभ होते ही समाप्त हो गया, परन्तु ब्रिटिश कामनवेल्थ देशों से निर्यात व्यापार में वृद्धि हुई यद्यपि इन देशों से आयात कम हुआ। इंगलैण्ड और भारत के व्यापार में व्यापारिक-संतुलन की अनुकूलता भारत के पक्ष में अधिक रही। युद्ध के प्रथम २ वर्षों में भारत और जापान के व्यापार में वृद्धि हुई परन्तु इसके पश्चात् इन दोनों देशों के बीच का व्यापार समाप्त हो गया। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत के बीच होने वाले व्यापार में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हुई। मिस्र, फारस व अरब आदि देशों के साथ भारतीय व्यापार बढ़ गया और इन देशों के व्यापार का संतुलन भारत के अनुकूल रहा।

भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संबंध में इस काल की विशेष उल्लेखनीय बात निर्यात व आयात नियंत्रण के बारे में है। युद्ध का सफलतापूर्वक संचालन करने के लिए आयात व निर्यात दोनों पर नियंत्रण लगाना आवश्यकीय हो गया जिससे कि शत्रु राष्ट्रों के पास माल न पहुँच जाय तथा अन्य देशों को भी भारतीय माल अधिक मात्रा में न पहुँच जाय। आयात नियंत्रण की आवश्यकता विदेशी विनिमय की दुर्लभता के कारण हुई क्योंकि यदि आयात नियंत्रण न किया जाता तो भारतीय व्यापारी अनावश्यक वस्तुओं को मँगाकर विदेशी विनिमय उन पर खर्च कर देते, जिससे अनिवार्य वस्तुओं के मँगाने के लिए सरकार के पास विदेशी मुद्रा कम रह जाती। इसलिए विदेशी दुर्लभ मुद्रा का संचय करने के लिए भी आयात के लाइसेन्स देने की व्यवस्था आरंभ की गई। उपरोक्त व्यापारिक नियंत्रण और बंधन परिस्थितियों के अनुसार अधिक कठोर होते गए और यह कठोरता प्रायः सारे युद्ध काल में बनी रही।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात्—युद्ध के पश्चात् भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सबसे मुख्य विशेषता व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता रही। विदेशों से हमारा आयात बहुत अधिक हो गया और निर्यात कम। अनेक कारणों से इस काल में देश में खाद्यान्न की बड़ी कमी हो गई, जिसकी पूर्ति विदेशों से खाद्यान्न मँगाकर करनी पड़ी। युद्ध काल में उपभोक्ता की वस्तुओं का आयात भी बहुत रुका रहा। इन वस्तुओं का आयात भी बढ़ा। जैसे-जैसे इन पदार्थों के आयात से नियंत्रण हटता जाता था उनके आयात की मात्रा बढ़ती जाती थी। विभाजन के कारण जूट आदि जो कच्चा माल देश में ही मिल जाता था वह भी अब बाहर से आयात करना पड़ा। औद्योगिक विकास के लिए मशीनों आदि का आयात भी बराबर बढ़ता रहा। इनके अतिरिक्त इंगलैण्ड की बची हुई सेना-सामग्री भारतीय सरकार ने खरीदी। अँग्रेजों

को पेन्शनों आदि का बहुत सा रुपया चुकाया। पाकिस्तान के पौण्ड पावना का हिस्सा भी भारत ने चुकाया। इनसे विदेशी व्यापार का संतुलन हमारे प्रतिकूल अधिक होता चला गया। सन् १९४७ ई० में तो व्यापारिक संतुलन इतना अधिक हमारे विपक्ष में हो गया कि भारतीय सरकार के सामने एक समस्या खड़ी हो गई। सन् १९४९ ई० की मई के महीने तक तो देश की व्यापारिक स्थिति और भी चिंताजनक हो गयी। अतः आयात की नीति में और कठोरता लानी पड़ी। दुर्लभ मुद्रा प्रवेश से आयात की स्वीकृति देना स्थगित कर दिया गया। इसी साल की जुलाई में एक निर्यात वृद्धि समिति नियुक्त की गई जिसने देश के निर्यात बढ़ाने के लिए कुछ सुझाव सामने रक्खे। उदाहरण के लिए कमेटी ने निर्यात पर लगाये हुए करों को हटाने की कोशिश की। सरकार ने कमेटी की सिफारिशों के अनुसार कुछ प्रयत्न किया फिर भी संतुलन देश के विपक्ष में ही रहा, यद्यपि निर्यात में कुछ थोड़ा सुधार हुआ। रुपये का अवमूल्यन भी किया गया। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप १९५० ई० में व्यापार संतुलन कुछ अंश तक देश के पक्ष में रहा।

भारत के विभाजन के पश्चात् फरवरी सन् १९४८ ई० तक भारत और पाकिस्तान के व्यापार के ऊपर किसी प्रकार का कर नहीं था। मार्च सन् १९४९ ई० से आयात व निर्यात कर के संबंध में पाकिस्तान की स्थिति एक विदेश के समान हो गई। देश का आयात निर्यात-नियंत्रण कानून पाकिस्तान पर भी लागू किया गया। पूर्वी पंजाब तथा पश्चिमी बंगाल में ४० चुंगीघर खोले गए जिन पर एक देश से दूसरे देश को आने-जाने वाली व्यापारिक वस्तुओं पर आवश्यक कर लिया जाने लगा। दोनों देशों ने एक दूसरे के यहाँ व्यापार कमिश्नरों की नियुक्ति करने का निश्चय किया। २ अप्रैल सन् १९४८ ई० को पाकिस्तान ने अपनी आर्थिक नीति की घोषणा की। और २६ मई सन् १९४९ को भारत और पाकिस्तान के मध्य एक अस्थाई व्यापारिक समझौता हुआ। इसमें यह निश्चय किया गया कि दोनों देश एक दूसरे को जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति में आवश्यक सहयोग देंगे। इस समझौते के अन्तर्गत भारत ने पाकिस्तान को सूत, कपड़ा शक्कर, मशीनें, इस्पात, लोहा, कोयला, टायर, ट्यूब, लकड़ी, जूट का बना सामान, दवायें आदि वस्तुएँ देता रहेगा और पाकिस्तान भारत को कच्चा जूट, कच्ची रुई तथा लाहौरी नमक देगा। बहुत सी वस्तुओं के लिए दोनों देशों द्वारा मात्राएँ निर्धारित कर दी गई। सितम्बर १९-४९ ई० में भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन होने से भारत व पाकिस्तान के बीच का व्यापार प्रायः समाप्त ही हो गया। अतः अप्रैल सन् १९५० ई० में दोनों देशों के बीच में एक दूसरा समझौता हुआ। इस समझौता में यह तय किया गया कि दोनों देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्थित रूप से भारतीय सिक्के में होना चाहिए और इसके लिए पाकिस्तान के स्टेट बैंक को अलग से हिसाब रखना चाहिए। दोनों

देशों को ठीक प्रकार से यातायात का प्रबन्ध करना चाहिए। इस समझौते के अन्तर्गत पाकिस्तान ने भारतवर्ष को ४० लाख मन जूट तथा १॥ लाख मन गेहूँ देने का निश्चय किया और भारत ने पाकिस्तान को २० हजार टन जूट का निर्मित माल भेजने का वादा किया। इसके अतिरिक्त भारत ने सूती-ऊनी कपड़े, सरसों का तेल, तम्बाकू, लोहे का बना सामान तथा इमारती लकड़ी आदि पाकिस्तान को देने के लिए वचन दिया। इस समझौते में यह भी निश्चित किया गया कि फल, मेवे, दूध, मछली, अण्डे, साबुन, सुपाड़ी, खालें व चमड़ा आदि वस्तुओं पर आयात-निर्यात के लाइसेन्स का कोई प्रतिबन्ध न रहेगा। फरवरी सन् १९५१ में दोनों देशों के बीच एक नया समझौता हुआ। इस समझौते में भारत व पाकिस्तान की मुद्राओं का अनुपातिक मूल्य तय कर दिया गया। खरीद के लिए भारत के १००) की दर पाकिस्तानी ६९||)। और फरोख्त के लिए ६९=)|| निश्चित की गई। इस समझौते के आधार पर एक निश्चित अवधि के अन्दर पाकिस्तान ने भारत को चावल और गेहूँ देने की मात्रा निश्चित की। इसी प्रकार पाकिस्तानी रुई के लिये भी मात्रा निर्धारित की गई। कुछ अन्य वस्तुओं के बदले में भारत ने पाकिस्तान को कोयला देने का वचन दिया। साधारण वस्तुओं के लिये विशेषकर सीमावर्ती व्यापार के अन्तर्गत आई हुई वस्तुओं के लिए किसी प्रकार के लाइसेन्स की आवश्यकता नहीं रक्खी गई। इन दोनों देशों के बीच में तीसरा व्यापारिक समझौता जून सन् १९५२ में हुआ। इस समझौते में, समझौते की अवधि आयात-निर्यात के लिए समय-समय पर लाइसेन्स दिए जाने के लिए निश्चय किया गया। और यह भी निश्चय किया गया कि इस संबंध पर दोनों सरकारों द्वारा आवश्यकतानुसार परस्पर परामर्श होता रहेगा। समझौते में २ अनुसूचियाँ बनाई गईं। पहिली अनुसूची क में उन २६ वस्तुओं का समावेश किया गया जो भारत द्वारा पाकिस्तान भेजी जाने वाली थीं और सूची ख में उन ११ वस्तुओं का वर्णन है जो पाकिस्तान भारत को भेजेगा। वस्तुएँ प्रायः वे ही हैं जिनका उल्लेख पिछले समझौतों में किया जा चुका है। इन सूचियों में वस्तुओं के नाम के अतिरिक्त उनका परिमाण तथा मूल्य भी निश्चित कर लिया गया था। विशेष रूप से इस समझौते में यह निश्चय किया गया कि आवश्यकता पड़ने पर पाकिस्तान भारत को २५ लाख गाँठों तक जूट देगा तथा भारत से पाकिस्तान कोयले के निर्यात के लिए सरकार उपयुक्त सुविधाएँ देगी और पश्चिमी पाकिस्तान को रेल द्वारा कोयला भेजने में वृद्धि की जायगी तथा भारत व पाकिस्तान के पड़ोसी जिलों में होने वाले व्यापार को विशेष सुविधाएँ दी जावेंगी।

इसके पश्चात् जुलाई १९५३ में ३ साल के लिए दोनों देशों के बीच एक समझौता और हुआ। इसमें वस्तुओं की मात्रा, उनका मूल्य तथा आवश्यक व्यापारिक सुविधाओं के देने के बारे में निश्चय किया गया। इस प्रकार भारत और पाकिस्तान

के व्यापारिक संबंध में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं, फिर भी भारत और पाकिस्तान के बीच व्यापार में इतनी उन्नति नहीं हुई जितनी होनी चाहिये थी। इसका मुख्य कारण राजनैतिक सद्भावना की कमी ही समझा जाता है। कुछ लोगों का विचार है कि पाकिस्तान भारत से अच्छे व्यापारिक संबंध बनाये रखने का इच्छुक नहीं है। इन लोगों के मतानुसार, इसी कारण से पाकिस्तान ने भारत की अपेक्षा जापान व फ्रान्स को अधिक व्यापारिक सुविधाएँ दी हैं।

जनवरी सन् १९५७ ई० में भारत और पाकिस्तान के बीच एक नया समझौता किया गया। इस समझौते में भारत से कोयला, सीमेन्ट तथा जूट का सामान लेने की उत्सुकता दिखाई गई है। और भारत ने पाकिस्तान को अधिक विशेष सुविधाएँ देने में असमर्थता प्रकट की है, क्योंकि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भारत को स्वयं बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। इस समझौते को पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित बनाने के लिए ३ विशेष समितियाँ बनाई गई थीं। पहिली समिति का कार्य नए समझौते की रूपरेखा बनाना था। दूसरी समिति को वस्तुओं की सूची बनाने का कार्य सौंपा गया। तथा तीसरी समिति सीमान्त व्यापार की रूपरेखा पर प्रथक विचार करने के लिए बनाई गई। यह समझौता भी आगामी तीन वर्ष तक के लिए किया गया है। और इसमें समय-समय पर संशोधन होते रहेंगे।

सन् १९५५ में पाकिस्तानी रुपये का अवमूल्यन होते ही भारत-पाकिस्तान के व्यापार में कुछ परिवर्त्तन हो गया। अब पाकिस्तानी वस्तुयें भारत में सस्ती पड़ने लगीं और भारतीय वस्तुयें पाकिस्तान में मँहगी। पाकिस्तान भारत से विशेषकर कोयला लेता है और भारत-पाकिस्तान से जूट तथा रुई। यदि किसी प्रकार की बाधा न डाली जाती तो भारत को लाभ रहता। कोयला अनिवार्य होने के कारण पाकिस्तान में कोयले की माँग कम न होती। तथा भारतीय मिलों के लिये भारत को कच्चा जूट तथा रुई सस्ती मिलती पर पाकिस्तान तथा भारत के व्यापारिक सम्बन्ध दोनों के राजनैतिक वातावरण पर आधारित हैं। इसलिये। पाकिस्तानी रुपये के अवमूल्यन का भारत-पाकिस्तानी व्यापार पर वास्तविक प्रभाव का अनुमान करना कठिन है। हाँ पाकिस्तानी रुपये के अवमूल्यन के कारण विदेशों में भारत को पाकिस्तान से कठिन प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा, क्योंकि अवमूल्यन के फलस्वरूप पाकिस्तानी वस्तुयें विदेशों में सस्ती हो गईं, भारतीय वस्तुयें मँहगी। यह प्रतिस्पर्धा जूट के बने हुये माल में अधिक हो गई। इसीलिये अवमूल्यन के पश्चात् भारत को जूट पर निर्यात कर समाप्त करना पड़ा।

पंचवर्षीय योजना के निर्माताओं ने भारत के विदेशी व्यापार की अब तक की प्रवृतियों को ध्यान में रखते हुए भविष्य में व्यापार नीति निश्चित करने के लिये निम्नांकित ५ नियमों का संकेत किया है—

१—योजना के अन्तर्गत उत्पादन तथा उपयोगों के लक्ष्यों की पूर्ति

२—निर्यात में अधिक से अधिक वृद्धि

३—पर्याप्त विदेशी मुद्राओं की प्राप्ति

४—आयात और निर्यात का सरकारी मूल्य तथा कर आदि नीतियों से सामंजस्य

५—निश्चित व्यापारिक नीति का निर्धारण

योजना के निर्माताओं को यह आशा थी कि योजना काल में जूट तथा कपास आदि कृषि पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि होगी। इसी प्रकार सूती वस्त्र, जूट का निर्मित सामान, तेल, कोयला, मसाले आदि का उत्पादन भी अधिक बढ़ जायगा। इससे देश का निर्यात बढ़ेगा और देश को काफी परिमाण में विदेशी मुद्रा प्राप्त हो सकेगी। यही नहीं बिजली के सामान, अन्य मशीनरी तथा साइकिल व रसायन संबंधी उद्योगों के विकास के कारण हमारे देश से नवीन वस्तुओं का निर्यात भी होने लगेगा। इसके साथ ही साथ विभिन्न प्रकार की व्यापारिक संधियों के कारण हमारा निर्यात और भी अधिक हो जायगा।

योजना समिति ने यह अनुमान लगाया था कि सन् १९५५-५६ ई० तक निर्यात में १०% तथा आयात में १८% की वृद्धि होगी और ११३ करोड़ रु० के मूल्य की अधिक विदेशी मुद्रायें प्राप्त होंगी परन्तु साथ ही साथ अधिक आयात होने के कारण १०८ करोड़ रुपये के मूल्य की विदेशी मुद्राओं की कमी होगी। इस प्रकार कुल मिलाकर भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति में प्रथम योजना काल के अंत तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं होगा।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भी यही अनुमान लगाया गया है कि इस योजना के अन्त तक भारतीय निर्यात में विशेष वृद्धि की आशा नहीं है। भारतवर्ष मुख्यकर चाय, जूट का सामान तथा सूती वस्त्र का निर्यात करता है। परन्तु इन वस्तुओं को विदेशी बाजारों में अधिक से अधिक प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ रहा है। इसीलिये विदेशी बाजारों का अधिक विस्तार सम्भव नहीं। फिर भी अधिक से अधिक विदेशी व्यापारों को प्राप्त करने के लिये अकथ प्रयत्न करना पड़ेगा और साथ ही साथ द्वितीय योजना के कार्यक्रमानुसार औद्योगिक विकास होने से हमें अपने आयात में भी यथासम्भव काफी कमी करनी पड़ेगी, फिर भी व्यापार का संतुलन देश के विपक्ष में ही रहेगा। द्वितीय पंचवर्षीय योजना समिति के अनुमान से आगामी ५ वर्षों में अर्थात् १९५६-५७ से लेकर सन् १९६०-६१ ई० तक भारतीय विदेशी व्यापार का संतुलन १३७५ करोड़ रुपयों से देश के पक्ष में हो जायगा। इसमें से यदि पौन्ड पावने आदि की रकम को निकाल दिया जाय तो भी ९०० करोड़ रुपयों के मूल्य के बराबर विदेशी मुद्राओं की कमी रहेगी। इस प्रकार द्वितीय योजना काल के

अंत तक देश के विदेशी व्यापार की स्थिति में कोई विशेष सुधार होने की आशा नहीं है।

पिछले दो वर्षों के व्यापारशेष को देखते हुए यह पता लगता है कि देश में विदेशी विनिमय की कमी है। सन् १९५७-५८ में प्रथम छमाही के आयात की कीमत ६२२ करोड़ रुपए हो गई जब कि संपूर्ण वर्ष का अनुमान केवल ८८६ करोड़ रुपए था। दूसरी योजना काल घाटे में और अधिक वृद्धि हुई हैं। सन् १९५८ के अंतिम छः माहों में स्थिति में कुछ अंतर पड़ा है। निर्यातों को प्रोत्साहन, आयातों पर प्रतिबन्ध तथा विदेशी सहायता वर्त्तमान विनिमय संकट को कुछ हद तक सरल करने में सहायक हुए हैं।

आयात एवं निर्यात नीति तथा नियंत्रण

युद्ध काल में प्रत्येक भौतिक साधन का उपयोग सब से पहले युद्ध के लिए ही किया जाता है, जिससे युद्ध में सफलता प्राप्त हो। यह तभी हो सकता है जब इन साधनों पर केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण रहे। इसी दृष्टि से आयात व निर्यात पर भी सरकार के द्वारा नियंत्रण किया जाता है। आयात नियंत्रण द्वारा अनावश्यक वस्तुओं का आयात रोक दिया जाता है, केवल अति आवश्यक तथा युद्ध सम्बन्धी सामग्री का आयात ही होता रहता है, इससे एक तो देश को विदेशों का अधिक सहारा नहीं लेना पड़ता, दूसरे विदेशी मुद्रा की आवश्यकता कम रहती है, क्योंकि निर्यात में कमी होने के कारण देश के पास विदेशी मुद्रा की पूर्ति कम हो जाती है जिसका उपयोग सरकार को बड़ी मितव्ययता के साथ करना पड़ता है। इसी प्रकार निर्यात नियंत्रण द्वारा देश की वस्तुएँ अपरिमित मात्रा में बाहर नहीं जाने पातीं। जो वस्तु देश अथवा युद्ध के लिए आवश्यक है और उसकी पूर्ति सीमित है तो ऐसी वस्तु का निर्यात रोक दिया जाता है। कुछ वस्तुओं का निर्यात सीमित कर दिया जाता है, कुछ देशों को निर्यात पर रोक लगा दी जाती है, जिससे शत्रु देशों के पास प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से ऐसी वस्तुएँ न पहुँच जायें, जिनका प्रयोग शत्रु लोग देश के विरुद्ध युद्ध में करने लगें। निर्यातकर्ता प्राप्त विदेशी मुद्रा को मनमाने ढंग से काम में नहीं ला सकते, प्रायः सम्पूर्ण विदेशी मुद्रा पर सरकार का अधिकार होता है। सरकार उसे जिस प्रकार चाहे काम में ला सकती है।

उपरोक्त उद्देश्यों को सामने रखते हुए युद्ध काल में भारतीय सरकार ने आयात व निर्यात पर नियंत्रण लगाए। जहाँ तक आयात नियंत्रण का सम्बन्ध है कुछ वस्तुओं के लिए खुले तौर पर लाइसेन्स दिये गये, कुछ वस्तुओं के लिए कोटा नियत किया गया। कुछ वस्तुओं के आयात लाइसेन्स देने में उदारता की नीति अपनाई गई। आयात नीति सदैव के लिए एक सी नहीं रही, उसमें समयानुसार

परिवर्तन होता रहा। आयात सम्बन्धी लाइसेन्स देने के लिए दिल्ली में एक मुख्य आयात नियंत्रक की नियुक्ति की गई और उसके नीचे कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कोचीन, नई दिल्ली, पांडिचेरी, राजकोट में आयात निर्यात-नियंत्रकों की नियुक्ति की गई। लाइसेन्स प्रदान करने के लिए विश्व के देशों को दो भागों में बाँटा गया। प्रथम डालर अथवा दुर्लभ मुद्रा वाले देश, द्वितीय सुलभ मुद्रा वाले देश।

आयात कर्ताओं को चार भागों में बाँटा गया : (१) स्थायी आयात कर्ता, (२) वास्तविक उपभोक्ता, (३) नवागंतुक, (४) अन्य। लाइसेन्स की अवधि ६ माह से लेकर डेढ़ वर्ष तक की होती है। प्रत्येक वर्ष के प्रारम्भ में सरकार अपनी आयात नीति को घोषित करती है और उसी के अनुसार लाइसेन्स दिये जाते हैं। ये लाइसेन्स प्राय: ४ प्रकार के होते हैं—१—किसी विदेश में उपभोग के लिए आवश्यक वस्तुओं के लिए।

२—डालर क्षेत्र को मिर्च व मसाला भेजने के लिए।

३—उन ५२ वस्तुओं के लिए जो देश के लिए अति आवश्यक हैं।

४—पाकिस्तान भेजी जाने वाली वस्तुओं के लिए।

Q. 1. Explain fully how India's foreign trade is at presen controlled and regulated.

How should it be developed ? (A. U. 1954)

प्र० १—भारतीय विदेशी व्यापार के सम्बन्ध वर्तमान नियंत्रण प्रणाली को भली भाँति समझाइये। विदेशी व्यापार का विकास किस प्रकार हो सकता है?

केन्द्रीय सरकार ने आयात व निर्यात के नियंत्रण के लिए, यथोचित सलाह पाने के लिए आयात सलाहकार समिति व निर्यात सलाहकार समिति नियुक्त की हैं। फिर भी सरकारी नीति की कभी-कभी आलोचना होती रहती है। आलोचना से प्रभावित होकर सरकार ने १९५० ई० में आयात नीति पर विचार करने के लिए आयात नियंत्रण जाँच समिति नियुक्त की। इस समिति ने आयात संबंधी नीति व संचालन में स्थिरता, शीघ्रता तथा क्षमता के गुणों का होना आवश्यकीय बतलाया। समिति ने आयात की मात्रा, आयात की वस्तुओं में प्राथमिकता आदि के बारे में भी सुझाव दिए। इसके अतिरिक्त लाइसेन्स के समय को बढ़ाना, लाइसेन्स प्रणाली का विकेन्द्रीकरण करना, नवीन आयात कर्ताओं को सुविधा देना, सुलभ मुद्रा क्षेत्र से माल मँगाने की अधिक स्वतंत्रता देना, आदि आवश्यक सुधार करने के लिए भी सुझाव दिए। भारतीय सरकार ने समिति के बहुत से सुझाव मान लिए। ४०० करोड़ रु० की वार्षिक आयात की सीमा निर्धारित की गई। प्राथमिकता के आधार पर आयात की जाने वाली वस्तुओं को ४ श्रेणियों में बाँटा गया है : १. आवश्यक

कच्चा माल, उद्योगधन्धों आदि के लिए अनिवार्य पूंजी पदार्थ, मशीनों के भाग तथा जनता के स्वास्थ्य व जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ।

२. अन्य कच्चा माल और पूँजी पदार्थ।

३. अति आवश्यक पदार्थ।

४. कम आवश्यक पदार्थ।

स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् भारतीय सरकार का देश के आर्थिक विकास की ओर काफी ध्यान गया। आर्थिक विकास औद्योगिक विकास पर निर्भर होता है। औद्योगिक विकास के लिये प्रारंभ में आयात पर नियंत्रण होना चाहिए। और बाद को इसे पूर्ण सफल बनाने के लिए निर्यात में काफी वृद्धि होनी चाहिए। वास्तव में वर्तमान व्यापारिक युग में औद्योगिक विकास के लिए विश्वव्यापी विस्तृत व्यापार का होना अति आवश्यक है। इसको ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय सरकार ने देश के निर्यात व्यापार में वृद्धि करने के लिए अनेक प्रयत्न किए। कुछ महत्वपूर्ण प्रयत्नों का विवरण निम्नांकित है—

१—विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मण्डल भेजे गए।

२—निर्यात की मात्रा में वृद्धि के लिए निर्यात वृद्धि परिषदों की स्थापना की गई।

३—वस्तुओं की किस्म तथा गुण को उच्च स्तर पर रखने के लिए प्रयत्न किया गया।

४—विभिन्न प्रदर्शनियों में भारतीय वस्तुओं का प्रदर्शन किया गया।

५—विभिन्न वस्तुओं की बिक्री में वृद्धि के लिए व्यापारिक केन्द्रों की स्थापना की गई।

६—व्यापारिक नियमों को सुव्यवस्थित तथा जहाज़रानी के भाड़े को कम-से-कम करने का प्रयत्न किया गया।

७—निर्यात माल की गारन्टी देने की योजना पर विचार किया गया।

जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि के लिए विभिन्न देशों से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रश्न है केन्द्रीय सरकार ने व्यापारिक प्रतिनिधि मण्डल भेजे। इन प्रतिनिधि मण्डलों का कार्य देश की वस्तुओं का विभिन्न देशों में विज्ञापन कराना तथा उन का निर्यात बढ़ाना रहा है। इस प्रकार के प्रतिनिधि मण्डल रूस, पौलैण्ड, पूर्वी एशिया आदि देशों को भेजे गए। इस प्रयत्न के फलस्वरूप चीन के साथ भारत का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत बढ़ गया। इसी प्रकार एक प्रतिनिधि मण्डल पश्चिमी एशिया के देशों को भेजा गया जिसकी सफलता भी अच्छी रही।

चाय के निर्यात की वृद्धि के लिए एक विशेष समिति की स्थापना की गई। उदाहरण के लिए इस समिति ने अमेरिका में चाय वृद्धि परिषदें स्थापित कीं। ये

परिषदें चाय व्यापारियों तथा अन्य चाय उत्पादक देशों एवं लंका और इण्डोनेशिया के सहयोग से चाय का प्रयोग बढ़ाने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रयत्न करती हैं। अमेरिका स्थित चाय परिषद रेडियों तथा टेलीविजन पर प्रचार का कार्य कर रही है। इसी प्रकार भारतीय दूत मित्र संघ विदेशों, विशेषकर अमेरिका ब्रिटेन. आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड में भारतीय जूट के माल की खपत बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील है। यह प्रचार आन्दोलन विज्ञापन प्रदर्शिनियों तथा वायरलैस व टेलीविज़न वार्ताओं द्वारा किया जाता है। पोस्टर्स तथा सिनेमाओं की भी मदद ली जाती है। कुटीर उद्योगों के द्वारा निर्मित वस्तुओं का निर्यात बढ़ाने के लिए भी केन्द्रीय सरकार ने समितियों की स्थापना की है। उदाहरण के लिए अखिल भारतीय हाथ करघा बोर्ड की स्थापना की गई। इस बोर्ड ने विदेश में निर्यात बढ़ाने की एक योजना बनाई। इस योजना के अन्तर्गत बगदाद, रंगून, सिंगापुर तथा कोलम्बो में हाथ करघा बिक्री व्यवस्था आफीसर्स नियुक्त किए गए हैं। तथा कराँची, चटगाँव, रंगून, सिंगापुर, कोलम्बो और अदन आदि में बिक्री केन्द्र खोले गए हैं। इसी प्रकार अखिल भारतीय दस्तकारी बोर्ड ने भारतीय दस्तकारी की वस्तुएँ विदेशी बाजारों को अधिक मात्रा में निर्यात करने की ओर काफी प्रयत्न किए हैं। भारतीय दस्तकारी की वस्तुओं में तथा उनकी बिक्री व्यवस्था में ज़ो दोष हैं; उनको दूर करने के बराबर प्रयत्न किए जा रहे हैं। लघु उद्योगों के द्वारा उत्पादित वस्तुओं का निर्यात बढ़ाने के लिए शैल्पिक शालाएँ स्थापित की गई हैं। एक कारपोरेशन भी बना है जो बड़े पैमाने पर माल के आर्डर लेगा, जिनको वह लघु उद्योगों में बाँट देगा और इस समय यह कारपोरेशन चमड़े के माल विशेषकर जूतों और बूटों का आर्डर विदेशों से प्राप्त कर रहा है।

कुछ वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाने के लिए निर्यात संवर्धन परिषदों की स्थापना की गए हैं। अब तक सूती कपड़ा, रेशमी वस्त्र, नकली रेशम तथा रेयन के वस्त्र, इंजीनियरिंग व प्लास्टिक का सामान, काजू तथा काली मिर्च के लिए निर्यात संवधन परिषदें बन चुकी हैं। तथा कुछ और वस्तुओं के लिए परिषदें शीघ्र ही बनाई जायेंगी। यह परिषदें विभिन्न विदेशी बाजारों के बारे में आवश्यक विवरण प्राप्त करती हैं जिससे यह ज्ञात हो सके कि किन देशों में कौन सी वस्तुओं की खपत हो सकती है। विदेशों को व्यापारिक प्रतिनिधि मण्डल भेजे जाते हैं। विदेशी बाजारों में विभिन्न प्रकार से प्रचार किया जाता है, विशेषकर भारतीय वस्तुओं की उपयोगिता का विज्ञापन विदेशी बाज़ारों में इन परिषदों के द्वारा बड़ी सफलतापूर्वक हो रहा है। ये परिषदें निर्यात होने वाले माल के लिए किस्म तथा पैकिंग संबधी प्रतिमान निर्धारित करती हैं। उनके निरीक्षण की व्यवस्था करती हैं और निर्यात के संबंध में विदेश में उठे हुए मतभेद अथवा किसी झगड़े को निबटाने में सहायता देती हैं। विदेशी आयातकों,

भारतीय निर्यातकों तथा भारत से निर्यात की गई वस्तुओं के बारे में आई हुए शिका-यतों की पूछ व जाँच-पड़ताल करती हैं।

निर्यात की वस्तुओं का प्रतिमान निर्धारण व गुण नियन्त्रण का कार्य भारतीय प्रतिमानशाला द्वारा किया जाता है। सूती कपड़ों पर एक व्यापार के प्रमाण का ठप्पा लगा दिया जाता है। निरीक्षक लोग कुछ वस्त्रों का निरीक्षण करके यदि वस्त्र निरीक्षक की कसौटी में पूरा उतरता है तो उस पर मुहर लगा दी जाती है। यह मुहर इस बात का प्रमाण है कि कपड़ा श्रेष्ठ है। इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है। इस योजना से विदेशों में भारतीय वस्त्र की साख बढ़ने की संभावना है। इस समय ये निरीक्षक बम्बई व अहमदाबाद में नियुक्त किए गए हैं। कुछ वस्तुओं का प्रतिमान एगमार्क की सहायता से निर्धारित किया जाता है। खासकर पटसन, तम्बाकू और कच्ची ऊन वही बाहर भेजे जाते हैं जिन्हें एगमार्क प्रमाणपत्र प्राप्त हो गया हो।

निर्यात की मात्रा में बढ़ाने के लिए उत्पादकों को उन वस्तुओं में प्रयोग होने वाले कच्चे माल को विदेशों से प्राप्त करने के लिए यथोचित सुविधाएँ दी जाती हैं जिससे उत्पादकों को कच्चा माल आसानी से मिल सके। इस प्रकार के कच्चे माल पर लगे हुए आयात शुल्क में छूट देना प्रारंभ कर दिया गया है जिससे भार-तीय उत्पादकों को कच्चा माल सस्ता पड़े जिससे वे अपने निर्मित माल को विदेशी बाजारों में अन्य देशों से प्रतिस्पर्द्धा होने पर भी सरलता से बेंच सके।

इसी प्रकार प्रदर्शिनियों तथा मेलों में भाग लेकर देश में निर्मित वस्तुओं के निर्यात की मात्रा को बढ़ाने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक प्रदर्शनियों व मेलों में भारत अधिकाधिक भाग ले रहा है। उदाहरण के लिए सन् १९५४ ई० में काहिरा की प्रदर्शिनी में अधिकाधिक भारतीय वस्तुओं का प्रदर्शन किया गया था। इसके अतिरिक्त बहुत से देशों में भारतीय दूतावासों से सबंधित प्रदर्शन केन्द्र खोल दिए गए हैं जहाँ भारतीय वस्तुओं का प्रदर्शन तथा उनके बारे में व्यापारिक ज्ञातव्य बातों का प्रचार किया जाता है। इस समय ऐसे मुख्य केन्द्र निम्नांकित स्थानों पर है—

कोलम्बो, बैंकाक, न्यूयार्क, लंदन. ब्रूसेल्स, रोम, सिकन्दरिया, टोकियो, जकार्ता, काबुल, ढाका, बर्लिन, हैम्बर्ग, जिनेवा, पेरिस इत्यादि।

उपरोक्त व्यापारिक केन्द्रों में न्यूयार्क, हैम्बर्ग तथा जिनेवा के व्यापारिक केन्द्रों में अच्छा कार्य हो रहा है। न्यूयार्क के व्यापारिक केन्द्र में वस्तुओं के प्रदर्शन के अतिरिक्त उन वस्तुओं के निर्माताओं, मूल्यों, निर्यातकर्ताओं तथा अन्य बातों के विषय में भी जानकारी पूर्ण रूप से ली जाती है। यह केन्द्र समय-समय पर परीक्षण के तौर पर नया भारतीय माल प्रदर्शित किया करेगा जिससे उसकी माँग बढ़ सके।

इसी प्रकार के व्यापारिक केन्द्र हैम्बर्ग और जिनेवा में भी स्थापित किए गए हैं। इन व्यापारिक केन्द्रों को कारपोरेशन का रूप देने की योजना बनाई जा रही है।

भारतीय निर्यात में सबसे अधिक बाधा जहाजी भाड़े की पक्षपातपूर्ण दरें रही हैं। कुछ जहाजी कम्पनियाँ भारतीय वस्तुओं से अधिक भाड़ा लेती हैं जिससे भारतीय माल को असमान प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। इस दोष को दूर करने के लिए एक विशेष राज्य कर्मचारी नियुक्त किया गया है जो सविस्तार इस समस्या का अध्ययन करेगा और संबंधित देशों की सरकारों से लिखा-पढ़ी करके दरों में बरती जाने वाली पक्षपातपूर्ण नीति को दूर करने का प्रयत्न करेगा। इसी प्रकार निर्यात की मात्रा बढ़ाने के लिए भारतीय माल की साख की गारंटी देने तथा उनके मूल्यों में स्थिरता लाने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप निकट भविष्य में भारतीय निर्यात में काफी वृद्धि होने की आशा है।

प्रश्न

१. संसार की वर्तमान व्यापारिक दशा में स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में तर्कपूर्ण सुझाव दीजिए। (आगरा बी. ए. १९५८)

२. कुछ ऐसे व्यापारिक उपाय बताइए कि जिनसे भारतीय सूती कपड़े तथा चीनी का निर्यात बढ़ाया जा सके। (आगरा बी. ए. १९५६)

3. If international trade is based on the principle of territorial division of labour it should be complementary. How do you explain the competitive character of international trade ?
(Agra B. A. 1959)

अध्याय १४

संरक्षण एवं भारत में संरक्षण नीति

(Protection and Protection Policy in India)

मुक्त व्यापार तथा संरक्षण

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के, उसमें अवरोध लगाने की दृष्टि से २ प्रकार होते प्रथम स्वतंत्र अथवा मुक्त व्यापार, द्वितीय, संरक्षित व्यापार अथवा संरक्षण स्वतंत्र व्यापार में देश के अन्दर आने वाली अथवा उस देश से बाहर जाने वाली वस्तुओं पर किसी प्रकार की रुकावट नहीं लगाई जाती। उसके फलस्वरूप विभिन्न देशों के बीच में व्यापार की जो स्वाभाविक गति या प्रवाह होता है उसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविक बाधाएँ बन्धन या रुकावटें नहीं डाली जातीं। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की स्वतंत्रता रहती है। इस नीति के अन्तर्गत विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं के आयात निर्यात में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती और विनिमय अपनी स्वाभाविक गति से चलता है। फलतः मुक्त व्यापार की नीति के अन्तर्गत प्रायः आयात-निर्यात कर नहीं लगाये जाते। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह कर किसी दशा में भी न लगाये जाते हों। यदि आयात-निर्यात कर केवल राष्ट्रीय आय के लिए लगाये जायँ तो भी व्यापार मुक्त व्यापार ही कहलाता है। परन्तु जब यह कर विदेशी स्पर्द्धा से अपनी वस्तुओं को बचाने के लिए लगाये जाते हैं तो मुक्त व्यापार समाप्त हो जाता है और उस समय देश की व्यापारिक नीति संरक्षण की नीति हो जाती है। एडम स्मिथ के शब्दों में, मुक्त व्यापार का तात्पर्य उस अवस्था से है जब विदेशी तथा स्वदेशी वस्तुओं में कुछ अन्तर नहीं किया जाता, न विदेशी वस्तुओं पर कोई कर भार लादा जाता है और न स्वदेशी वस्तुओं को किसी प्रकार का प्रोत्साहन दिया जाता है।

किसी देश को कौन सी व्यापारिक नीति अपनानी चाहिए, यह देश की परिस्थितियों पर निर्भर होता है। प्रत्येक नीति को सापेक्षिक वांछनीयता का निर्णय उस देश की परिस्थितियाँ ही कर सकती हैं। प्रत्येक आर्थिक क्रिया का उद्देश्य अधिकतम आर्थिक उत्पादन व संतोष प्राप्त करना ही होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही विभिन्न प्रकार की नीतियाँ निर्धारित की जाती हैं और उन्हें कार्यान्वित किया जाता है। इन दोनों नीतियों के बारे में भी यही बात है। दोनों में गुण व

दोष भी हैं। मुक्त व्यापार के पक्ष में जितने भी तर्क दिए जाते हैं वे प्रायः सम्पूर्ण श्रम विभाजन के लाभों पर आधारित हैं। जिस प्रकार साधारण उद्योगधंधों में श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण से अधिकतम उत्पादन होता है और उत्पादित धन का उचित विभाजन करने पर सम्बंधित व्यक्तियों को अधिकतम लाभ होता है, उसी प्रकार मुक्त व्यापार से विभिन्न देशों को अधिक-से-अधिक लाभ होता है। प्राकृतिक तथा अन्य सुविधाओं के कारण प्रत्येक राष्ट्र किसी विशेष वस्तु के उत्पादन में अधिकतम कार्यक्षमता रखता है। विशिष्टीकरण द्वारा देश के श्रम और पूँजी उन्हीं उद्योगों में लगाये जाते हैं जिनमें उनका प्रतिफल अधिकतम मिलता है। अतः मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण बड़े-से-बड़े पैमाने पर हो सकता है। और इसीलिए मुक्त व्यापार को लोग अच्छा समझते हैं। मुक्त व्यापार तुलनात्मक लागतों के नियम की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस नीति के अन्तर्गत प्रत्येक देश अपनी आवश्यक वस्तुओं को सस्ते से सस्ते बाज़ार में खरीद सकता है और अपनी निर्मित वस्तुओं को अच्छे से-अच्छे बाज़ार में बेच सकता है। इस प्रकार यदि किसी देश के सरकारी कानूनों द्वारा बाधा न डाली जाय तो उस देश की पूँजी व श्रम उन उद्योगों में जाने की प्रवृत्ति दिखलाते हैं जिनमें उनका उपयोग सबसे अधिक लाभप्रद किया जा सकता है और इसी कारण प्रत्येक देश का उत्पादन अपनी चरम सीमा पर पहुँच सकता है और उससे सारे संसार का कुल उत्पादन बढ़ जाता है। वास्तव में मुक्त व्यापार की नीति से प्रत्येक देश को वह सारे लाभ अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं जो लाभ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ होने चाहिए। अर्थात् क्रमागत उत्पादन वृद्धि नियम का अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सकता है। विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ सस्ते-से-सस्ते मूल्यों पर प्राप्त की जाती हैं। उत्पादन के साधनों का विशिष्टीकरण भली भाँति हो जाता है। अपने देश में उत्पन्न न होने वाली वस्तुओं का भी उपयोग संभव होता है। अथवा देश में उत्पन्न होने वाली अधिक कीमत वाली वस्तुएँ विदेशों से कम कीमत में प्राप्त हो सकती हैं। देश के प्राकृतिक साधनों का उपयोग अच्छी तरह किया जा सकता है। जीवन स्तर उच्च होता है और पारस्परिक सद्भावना में वृद्धि होती है।

संरक्षण के द्वारा, मुक्त व्यापार की अपेक्षा वस्तुओं के आयात-निर्यात में कमी हो जाती और उसी सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ भी कम हो जाते हैं। फिर भी विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत संरक्षण भी वांछनीय होता है। वास्तव में आधुनिक काल में संरक्षण समस्त देशों की व्यापारिक नीति का एक नियमित अंग बन गया है। और इसके पक्ष में निम्नांकित तर्क उपस्थित किए जाते हैं :—

१ शिशु उद्योग (Infant Industries) का पक्ष—यह तर्क जर्मनी के अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट (Frederich List) द्वारा दिया जाता है जिसका आधार है कि संसार के तमाम देशों में आर्थिक विकास एक सा नहीं होता। कहीं उद्योग शीघ्र प्रारंभ हो जाते हैं और कहीं विलंब से। विलंब से विकसित उद्योग वाले देशों में उद्योग शिशु अवस्था में होते हैं और वे विकसित देशों के वयस्क उद्योगों की प्रतियोगिता में नहीं ठहर सकते। यदि इन शिशु उद्योगों को संरक्षण प्रदान कर उन्नति और विकास का अवसर दिया जाए तो कुछ समय के बाद ही ये भी प्रतियोगिता में ठहरने योग्य हो जाते है परंतु यदि स्वतंत्र व्यापारिक नीति है तो विभाजित देशों ने उद्योग अविकसित देशों का आर्थिक विकास नहीं होने देंगे।

२. बेकार साधनों का पक्ष (Idle Resources Argument)—संरक्षण शिशु उद्योगों के विकास के लिए उपयुक्त नहीं है वरन् उसके द्वारा नए उद्योगों को खड़ा करके देश के पड़े सुषुप्त एवं अनुपयोगी साधनों का पूर्ण उपयोग किया जा सकता है। इस प्रकार देश में पड़े हुए बेकार साधनों का उपयोग संरक्षण द्वारा किया जाता है और देश के उत्पादन में वृद्धि करके देश के आर्थिक विकास को बढ़ाया जा सकता है। ऐसा करने में मनुष्य-साधन का भी उपयोग होता है और रोजगार बढ़ता है।

३. उद्योग विविधता का कारण (Diversification of Industries)—देश को स्वावलंबी बनाने की दृष्टि से तथा संकट काल में भी अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि देश में विभिन्न प्रकार के उद्योग स्थापित किए जाएँ तथा नए-नए उद्योग को संरक्षण प्रदान किया जाए। इस प्रकार विशिष्टीकरण की हानियों से बचा जाएगा तथा विभिन्न साधनों का उपयोग किया जा सकेगा।

४. आधारिक (Basic) उद्योगों को संरक्षण—प्रत्येक देश के आधारिक उद्योग होते हैं जैसे लोहा और इस्पात उद्योग,युद्ध-सामिग्री उद्योग, इंजीनियरिंग उद्योग, आदि। देश का विकास इन्हीं उद्योगों के विकास पर आधारित है। सरकार को इन आधारिक उद्योगों को अवश्य ही संरक्षण देना चाहिए।

५. साधनों के संरक्षण का तर्क—देश में खनिज पदार्थ प्रकृति ने सीमित मात्रा में दिए हैं। यदि उनका लगातार विदोहन (Exploitation) किया जाता रहा हो उस देश में ऐसे साधनों की सर्वत्र कमी आ जाएगी। अतः इन घरेलू साधनों की रक्षा की दृष्टि से भी संरक्षण देना आवश्यक है।

६. प्रतिरोधी (Retaliation) अथवा राशिपातन (Dumping) के विरोध में तर्क—यदि कोई देश हमारे देश से जाने वाले माल पर प्रतिबंध लगाता

है तो हमें भी उस देश से आने वाले माल पर प्रतिबंध लगाना चाहिए। इस प्रकार के प्रतिबंध को प्रतिरोधी संरक्षण कह सकते हैं। राशिपातन के विरोध में तो सदैव संरक्षण प्रदान करना चाहिए। राशिपातन का अभिप्राय उत्पादन व्यय (Cost) से भी कम कीमत पर माल बेचना है ताकि आयात करने वाले देश में उस वस्तु की सर्वप्रियता बढ़े और वहाँ का उद्योग पनप न सके। ऐसे माल के विरुद्ध सरकार को अवश्य संरक्षण प्रदान करना चाहिए।

७. मुद्रा को स्वदेश में रखने तथा देशीय बाज़ार बनाए रखने का पक्ष— अमेरिका का यह तर्क था कि यदि हम विदेशी माल नहीं मँगाते तो देशी मुद्रा देश में ही रहेगी। परन्तु यहाँ प्रश्न यह होता है कि यदि हम किसी देश के निर्यात स्वीकार नहीं करेंगे तो हमारे देश के निर्यात कौन स्वीकार करेगा। दूसरे संरक्षण द्वारा गृह बाज़ार को बनाए रखा जा सकता है और देश में रोजगार भी बढ़ेंगे।

८. स्वावलंबन (Self-sufficiency) तर्क—संकट काल में या युद्ध काल में विदेशों से माल मँगाना असंभव हो जाता है, इस कारण युद्ध सामग्री को जुटाना और जनता की आवश्यकताओं को जुटाना एक बड़ी टेढ़ी खीर हो जाती है। अतः देश में आवश्यकता की सभी सामग्री जुटाने के लिए भी संरक्षण की नीति आवश्यक है।

संरक्षण विरोधी (Against Protection) तर्क

संरक्षण के विरुद्ध भी विशेषकर यह बात कही जाती है कि इससे देश की अथवा किसी विशेष उद्योग की उन्नति कुछ दिनों के लिए रुक जाती है। यदि एक बार किसी उद्योग को संरक्षण मिल गया तो उस उद्योग से सम्बन्धित व्यक्ति संरक्षण को एक प्रकार का जन्मसिद्ध अधिकार मानने लगते हैं। एक बार संरक्षण देने के उपरान्त उसको वापस लेना असम्भव हो जाता है। संरक्षण के कारण विदेशी प्रतिस्पर्द्धा की चिन्ता समाप्त हो जाने से उद्योगपतियों में एक प्रकार की शिथिलता आ जाती है और वे उद्योग उन्नति करने का प्रयत्न नहीं करते। कभी-कभी संरक्षण से एकाधिकार स्थापित होने की सम्भावना हो जाती है। इससे उपभोक्ताओं को हानि होती है क्योंकि संरक्षण किए जाने वाले उद्योगों में उत्पादित वस्तुओं की कीमत अधिक हो जाती है। इससे धन वितरण असमान हो जाता है। संरक्षित उद्योगों के उद्योगपति धीरे-धीरे अनन्त धन राशि के स्वामी बन जाते हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संघर्ष और कटुता पैदा होती है और इसके कारण संसार में पूर्ण श्रम विभाजन अच्छी प्रकार से स्थापित नहीं हो पाता। विभिन्न देशों के उत्पादन के साधन सबसे अधिक लाभदायक उद्योग-धन्धों में न लग कर दूसरे उद्योगों में लग जाते हैं जिससे धनोत्पादन कम होता है और जनता का जीवन स्तर निम्न हो जाता

है। कभी-कभी राजनैतिक क्षेत्र में इसके कारण भ्रष्टाचार फैल जाता है। उद्योग-पति संरक्षण पाने के लिए अथवा संरक्षण को बनाये रखने के लिए संसद सदस्यों को बड़ी-बड़ी धन राशि रिश्वत के रूप में देने लगते हैं।

संरक्षण प्रदान करने की रीतियों (Methods) में निम्नांकित अधिक प्रचलित हैं—

१. संरक्षण प्रशुल्क (Protective Tariffs) यह आयातों को रोकने या कम करने की दृष्टि से आयातों पर लगाए जाते हैं। यथा मूल्य कर (Ad-valorem tax) तथा प्रामाणिक कर प्रमुख भेद है।

२. आयात कोटा (Import Quotas)—इसके अन्तर्गत विदेशों से आने वाले माल की मात्रा निश्चित कर दी जाती है। ये कोटा संपूर्ण आयात के रूप में या प्रत्येक देश के लिए अलग-अलग हो सकता है।

३. विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)—विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण लगा दिए जाते हैं ताकि आयातों पर प्रतिबन्ध लग जाए।

४. सरकार द्वारा आर्थिक सहायता —इस प्रणाली द्वारा सरकार व्यापारियों और उद्योगपतियों को विशेष छूट, अनुदान, कम ब्याज या निर्ब्याज पर ऋण, करों आदि में छूट देती है। इससे उत्पादन में वृद्धि होती है। देशी माल विदेशी माल की प्रतियोगिता में ठहर सकता है।

५. विनिमय ह्रास अथवा अवमूल्यन—विनिमय दर में ह्रास तथा मुद्रा का अवमूल्यन करके आयातों की कीमत बढ़ाई जा सकती है जिससे आयातों को हतोत्साहन मिलता है। दूसरे देशों में निर्यातों की कीमत में घटोतरी हो जाती है जिसके फलस्वरूप निर्यात बढ़ते हैं।

६. कभी-कभी कुछ माल का आयात अथवा निर्यात पूर्णतया रोक दिया जाता है। इस प्रकार के कदम को निषेध (Prohibition) कहते हैं।

भारत में संरक्षण नीति

भारत में संरक्षण नीति शिशु उद्योग तर्क पर आधारित है और इसके आधार पर इस देश ने मुक्त व्यापार के सिद्धान्त को बिना अस्वीकृत किए हुए अपनी आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए विवेचनात्मक संरक्षण की नीति अपनाई है। पीगू के शब्दों में किसी कृषि-प्रधान देश में जिसमें प्राकृतिक साधन विद्यमान हो उत्पादन शक्ति के विकास करने की दृष्टि से संरक्षण का पक्ष बहुत सशक्त होता है। ऐसे देश में गृह उत्पादन के विदेशी विनिमय के रुकने से जो तात्कालिक हानि होती है वह गृह उद्योगों को द्रुततर विकास के कारण पूरी हो जाती है। जहाँ तक

भारत का प्रश्न है। इस देश के पास प्रायः सम्पूर्ण प्राकृतिक साधन पर्याप्त मात्रा में हैं। देश कच्चे माल, शक्ति स्रोतों तथा जन शक्ति से सम्पन्न है। इसमें औद्योगिक विकास तथा विस्तार की अपार संभावनायें हैं, परन्तु देश को उन्नत तथा सुरक्षित विदेशी उत्पादकों से स्पर्द्धा करनी है जो बिना संरक्षण के सफलतापूर्वक नहीं की जा सकती। इसलिए देश के औद्योगिक विकास का यही एक उपाय है कि विवेचनात्मक संरक्षण की नीति अपनाई जाय।

भारतीय फिस्कल कमीशन सन् १६२१ ई० ने जिसकी स्थापना देश में संरक्षण प्रदान करने की जोरदार माँग के फलस्वरूप हुई थी भारत के लिए विवेचनात्मक संरक्षण के पक्ष में अपना मत दिया। इस नीति के अनुसार सरकार को संरक्षण के लिए ऐसे उद्योग अथवा उद्योगों को चुनना चाहिये जिनमें विकास की पर्याप्त सम्भावनायें हैं। पर जो विदेशी स्पर्द्धा के कारण समुचित उन्नति नहीं कर पाते अर्थात् संरक्षण सब उद्योगों को नहीं दिया जाना चाहिए वरन् केवल योग्य तथा होनहार उद्योगों को ही दिया जाना चाहिए। किसी उद्योगों को संरक्षण देते समय निम्नांकित बातों का ध्यान रखना आवश्यकीय है —

१. उद्योग को प्राकृतिक साधन इस प्रकार के अवश्य प्राप्त होने चाहिए जिससे भविष्य में उसका कार्य भली प्रकार से चल सके अर्थात् उसके लिए प्रचुर मात्रा में कच्चा माल, सस्ती शक्ति, श्रम की पर्याप्त उपलब्धि तथा बहुत विस्तृत बाजार होना चाहिए।

२. उद्योग ऐसा हो जो संरक्षण के बिना या तो बिल्कुल ही विकसित न हो सके अथवा उसका विकास इस शीघ्रता से न हो सके जिस शीघ्रता से वांछनीय है।

३. उद्योग ऐसा होना चाहिये जो अंत में बिना संरक्षण के विश्व प्रतिस्पर्द्धा का सामना कर सके।

भारतीय फिस्कल कमीशन के द्वारा जो सिफारिश की गई उस नीति को कार्यान्वित करने के लिए ३ सदस्यों का एक टैरिफ बोर्ड नियुक्त किया गया जो संबंधित उद्योगों के आवेदनों की उपयुक्तता की परीक्षा करता है और संतुष्ट होने पर सरकार को संरक्षण प्रदान करने के उपायों के विषय में अपनी सम्मति देता है। यद्यपि इस टैरिफ बोर्ड की कार्य प्रणाली से देश के उद्योगपतियों को संतोष नहीं हुआ। कुछ शर्तें तो इस बोर्ड ने इतनी कड़ी रक्खीं कि जिससे उद्योगों के द्रुत विकास में बाधा पड़ी। अनेक बार संरक्षण की शर्तों की बड़े संकुचित ढंग से व्याख्या की गई जिससे कतिपय उपयुक्त उद्योग राजकीय सहायता से वंचित रह गये। शर्तें इतनी कड़ी और अनुदार रहीं जिनके कारण देश के औद्योगिक विकास में विलम्ब हुआ। यही नहीं, कभी-कभी टैरिफ बोर्ड प्रायः प्रभावहीन सिद्ध हुआ है। इसके निर्णयों को अनुचित ढंग से ठुकरा दिया गया है। फिर भी इससे विवेचनात्मक संरक्षण की नीति दोषी

नहीं ठहराई जा सकती। यह दोष तो उस संस्था व सरकार का है जो इस नीति को उचित ढंग से पालन करने में असमर्थ रही। यदि पिछले ३५ वर्षों के औद्योगिक विकास के इतिहास को देखा जाय तो यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न कमियों और दुर्बलताओं के होते हुए भी विवेचनात्मक संरक्षण नीति के कारण भारत के कुछ प्रधान उद्योगों की बड़ी तेजी से उन्नति हुई है। लोहा और इस्पात उद्योग जिसे सर्व-प्रथम संरक्षण दिया गया,था देश का एक महत्वपूर्ण उद्योग बन गया है। और वह अन्य राजकीय सहायता के बिना ही विश्व स्पर्द्धा का सामना कर रहा है। इसी प्रकार चीनी उद्योग, कागज उद्योग, दियासलाई तथा सूती कपड़े का उद्योग इसी नीति के कारण इतनी शीघ्रता के साथ विकसित हो गये हैं। सन् १९४५ ई० में नए टैरिफ बोर्ड की स्थापना के फलस्वरूप कुछ और उद्योगों को संरक्षण मिल गया है। ऐसी आशा की जाती है कि एक स्थाई टैरिफ बोर्ड की सहायता से इस नीति का उपयोग और अच्छी तरह किया जा सकता है। उद्योगों को संरक्षण न मिल सका। दूसरे इस नीति के अन्तर्गत केवल स्थापित धन्धों को ही संरक्षण प्राप्त हो सकता है। भविष्य में स्थापित हो सकने वाले उद्योगों के लिए इस नीति के अन्तर्गत कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। बहुत से अनिवार्य उद्योग ऐसे होते हैं जिनकी स्थापना औद्योगिक उन्नति के लिए आवश्यक होती है परन्तु जो पूर्व निर्धारित संरक्षण के बिना प्रारंभ ही नहीं किए जा सकते। ऐसे उद्योगों को पहिले ही संरक्षण की गारंटी मिलनी चाहिए। इस नीति को कार्यान्वित करते समय ऐसे बहुत से अवसर आए, जब संरक्षण पाने के लिए आवश्यक दशाओं का तात्पर्य संकुचित रूप से लगाया गया, और जिनके कारण कुछ उद्योगों को संरक्षण के अयोग्य ठहरा दिया गया। उदाहरण के लिए, संरक्षण पाने के लिए कच्चा माल, शक्ति, श्रम व बाजार का होना आवश्यक है परन्तु ये बातें बहुत अंश तक तो तभी प्राप्त हो सकती हैं जब कि उद्योग स्थापित ही कर लिए जायँ उदाहरण के लिए सन् १९२८ ई० में शीशे के उद्योग को संरक्षण देने के लिए मना कर दिया गया, केवल इस आधार पर कि इसके लिए आवश्यक कच्चे माल का २५% कच्चा माल अर्थात् सोडा बाहर से आता है। उस समय यह ध्यान नहीं दिया गया कि यदि शीशे का निर्माण यहाँ होने लगे तो संभव है कि देश में सोडा उत्पादन भी होने लगे। जहाँ तक बाजार का संबंध है, देशी बाजार के अतिरिक्त निर्यात बाजार की ओर भी विशेष ध्यान नहीं दिया गया। कुछ वस्तुओं के विदेश में बाजार प्राप्त करने की संभावना पर ध्यान दिया जाना चाहिए था। इस कारण इस नियम के अन्तर्गत आवश्यक बातों-का ध्यान उचित रूप से नहीं रक्खा गया। नीति का विश्लेषण अथवा इसकी व्याख्या इस प्रकार से की गई कि आवश्यक धन्धों को भी संरक्षण प्राप्त नहीं हो सका। कभी-कभी संरक्षण पर तथा उसके उद्देश्य पर अनुचित रूप से बल दिया गया। संरक्षण को देश की आर्थिक उन्नति का साधन

न समझ कर इसे केवल कुछ विशेष उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से केवल बचाने का साधन मात्र समझा गया और इसी कारण से देश की वांछनीय औद्योगिक उन्नति न हो सकी । संरक्षण की नीति का उचित रूप से पालन न होने का उत्तरदायित्व कुछ अंश तक टैरिफ बोर्ड के संगठन पर भी है । सरकार ने टैरिफ बोर्ड की स्थापना के संबंध में फिस्कल कमीशन की राय न मान कर स्थाई बोर्ड की स्थापना न करके केवल अस्थाई तथा किसी विशेष उद्योग के लिए भी बोर्ड स्थापित किये जिनके मेम्बर बदले जाते थे और जिनकी शक्तियाँ सीमित थीं । अनिश्चित बोर्ड के सदस्य अपने पद के लालच में सरकार को प्रसन्न रखने के प्रयत्न में रहा करते थे । अतः वे उद्योग के संबंध में संरक्षण देने व न देने के लिए निष्पक्ष दृष्टिकोण से विचार करने में कभी-कभी असमर्थ रहते थे । इससे इस बोर्ड की नीति लचीली रहती थी । इसके अतिरिक्त टैरिफ बोर्ड का अधिकार केवल सलाह देना था और केवल उन्हीं आवेदनपत्रों पर विचार किया जा सकता था जो सरकार द्वारा प्रेषित किए जाते थे। जाँच-पड़ताल का क्षेत्र बहुत ही सीमित था । अतः बोर्ड को निष्पक्ष विचार करने के लिए कभी-कभी उचित सूचनायें ही नहीं मिलती थीं । सरकार उद्योगों के आवेदन-पत्रों को बोर्ड के पास भेजने में बहुत देर कर दिया करती थी और बाद में बोर्ड की सिफारिश के अनुसार कार्य करने में आवश्यकता से अधिक समय लगा देती थी और कभी कभी किसी सिफारिश को बिना कारण दिए पूर्ण अथवा आंशिक रूप से अस्वीकृत कर देती थी । किसी-किसी उद्योग के संबंध में संरक्षण की आवश्यकता की जाँच करने में ३० महीने से भी अधिक लग जाया करते थे । इतने लम्बे समय में उद्योगों की परिस्थितियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाया करते थे ।

इन दोषों के अतिरिक्त फिस्कल कमीशन के द्वारा शाही अधिमान नीति की सिफारिश करने के फलस्वरूप संरक्षण नीति से होने वाले लाभ और भी कम हो गये । शाही अधिमान नीति के अन्तर्गत वस्तुओं के आयात कर में छूट देने के फलस्वरूप संरक्षित उद्योगों की प्रगति में बाधा पहुँची ।

प्र० १—युद्धोत्तर काल में भारतीय संरक्षण नीति की व्याख्या कीजिये ?

द्वितीय महायुद्ध के कारण भारत में स्थापित उद्योगों के विकास होने के साथ ही साथ कुछ नए उद्योग भी स्थापित हो गये । अतः १९४० ई० में युद्धकालीन विकसित उद्योगों को संरक्षण देने की नीति अपनाई गई । इस उद्देश्य से सन् १९४५ में २ वर्ष के लिए अस्थाई टैरिफ बोर्ड की स्थापना की गई । सन् १९४७ ई० में इसकी दुबारा स्थापना हुई ।

संरक्षण चाहने वाले उद्योग को टैरिफ बोर्ड को यह सिद्ध करना पड़ता था कि वह सुसंगठित तथा उचित रूप से संचालित उद्योग है और वह उचित समय के

भीतर इतनी उन्नति कर सकता है कि कुछ समय के पश्चात् वह बिना संरक्षण के सफलतापूर्वक चलता रहेगा तथा उसको राजकीय सहायता देना देश के हित में ही होगा। और ऐसा करने से देश की जनता पर कोई विशेष भार नहीं पड़ेगा।

संरक्षण के योग्य उद्योगों के बारे में बोर्ड सरकार से सिफारिश करती थी कि उसे कितना संरक्षण देना चाहिए। संरक्षण के अलावा और भी कोई सरकारी सहायता दी जानी चाहिए या नहीं ? तथा संरक्षण पूरे ३ वर्षों के लिए दिया जाय या इससे कम समय के लिए।

पिछले बोर्डों की अपेक्षा इस बोर्ड में सिफारिश करने में अधिक उदारता की। इस बोर्ड को अधिकार भी अधिक दिए गये थे तथा बोर्ड ने संरक्षण के लिए उद्योगों की जाँच करते समय देश के हितों का भी ध्यान रक्खा था। उपभोक्ताओं के हितों का भी बलिदान नहीं किया गया और सरकार ने भी इसकी सिफारिशों पर तुरन्त ध्यान दिया। इस सब का फल यह हुआ कि जब पिछले बोर्डों ने सोलह वर्षीय अवधि में ५१ जाँचें की, इस बोर्ड ने ५ वर्षों के समय में ६० आवेदनपत्रों पर विचार किया। इस बोर्ड ने उद्योगों की सहायता के लिए कुछ अन्य निम्नांकित सिफारिशें भी की—

१. संरक्षण इस प्रकार दिया जाय कि विदेशी वस्तुओं के भाव देशी वस्तुओं से २० प्रतिशत तक अधिक रहें क्योंकि जनता देशी वस्तुओं की तुलना में विदेशी वस्तुओं को अच्छा समझती है और इस भावना की संतुष्टि के लिए वह २० प्रतिशत अधिक दान दे सकती हैं।

२. देश में बनी वस्तुओं की माँग बढ़ाने के लिए एक निश्चित मात्रा में देश की बनी वस्तु खरीदने पर ही आयात के लाइसेन्स दिये जाने चाहिए।

३. संरक्षित उद्योगों में प्रयोग किए जाने वाले कच्चे माल तथा मशीनरी पर लगे हुए कर में छूट दी जानी चाहिए।

४. विदेशी विशेषज्ञों को रखने के लिए सरकार द्वारा आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए।

५. उन्हीं विदेशी कम्पनियों को सहायता देने पर विचार किया जाना चाहिए जिनकी पूँजी रुपयों में परिवर्तन हो चुकी है और जो भविष्य में भारतीय हित के विरुद्ध कार्य न करने का वचन दे।

६. उत्पादकों के संगठन, संयुक्त बिक्री संगठन तथा देशी वस्तुओं के उचित वर्गीकरण का प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

सन् १९४८ ई० में भारत सरकार द्वारा नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा करने के बाद, घोषणानुसार कार्य करने के लिए सन् १९४९ में एक नवीन भारतीय फिस्कल कमीशन की नियुक्ति की गई। कमीशन ने सिफारिश की अब संरक्षण के

उद्देश्य में परिवर्तन होना चाहिए इसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की एक वैकल्पिक नीति न मान कर राष्ट्र की आर्थिक प्रगति के साधनों में से एक मुख्य नीति माननी चाहिए। इसके लिए एक दीर्घकालीन योजना का निर्माण किया जाना चाहिए। जब तक इस प्रकार की योजना न बने तब तक रक्षा तथा युद्ध सम्बन्धी उद्योगों को हर हालत में संरक्षण देना चाहिए। आधार भूत उद्योगों के लिए संरक्षण देने की शर्तें तथा मात्रा टैरिफ़ बोर्ड को निश्चित करनी चाहिए और फिर यह ध्यान रखना चाहिए कि संरक्षित उद्योग कहाँ तक अपने दायित्व को पूरा कर रहें हैं। तथा अन्य उद्योगों के बारे में भली भाँति सोच-समझ कर संरक्षण देना चाहिए। उपरोक्त विचार करने के लिए बोर्ड को निम्नांकित बातों का ध्यान रख कर अपनी सिफ़ारिश करने में सहायता मिलेगी।

१. उदाहरण के लिए, यदि किसी उद्योग के पास श्रम, बाजार यातायात के साधन उपयुक्त हैं तो देश में केवल कच्चा माल प्राप्त न होने के कारण संरक्षण की स्वीकृति रोकनी नहीं चाहिए।

२. संरक्षित उद्योगों के उत्पादित माल को कच्चे माल के समान प्रयुक्त करने वाले संरक्षित उद्योगों को सरकारी अनुदान दिया जाना चाहिए। भविष्य में स्थापित होने वाले अन्य प्रकार से उपयुक्त उद्योगों को भी संरक्षण देना चाहिए।

३. कृषि पदार्थों को ५ वर्षों के लिए संरक्षण देना चाहिए।

४. यथासंभव संरक्षित उद्योगों के माल पर उत्पादन कर नहीं लगाना चाहिए और ऐसे माल पर सेल्स टैक्स लगाने में भी सावधानी बरती जानी चाहिए।

फिस्कल कमीशन ने यह भी सिफ़ारिश की थी कि एक स्थाई टैरिफ़ कमीशन नियुक्त किया जाना चाहिए जिसके ५ से ७ तक सदस्य होने चाहिए। इस कमीशन को आँकड़े एक करने, विभिन्न सूचनायें प्राप्त करने तथा सम्बन्धित जाँच-पड़ताल करने के लिए उचित अधिकार दिए जाने चाहिए। और यह कमीशन योजना कमीशन का भाग न हो कर एक स्वतन्त्र संस्था होनी चाहिए। उपरोक्त कमीशन के ३ मुख्य कार्य होने चाहिए--

१. आयात-निर्यात पर संरक्षित कर तथा आय कर से सम्बन्धित प्रश्नों पर जाँच करना।

२. मूल्य सम्बन्धी तथा संरक्षण से देश की आर्थिक दशा पर पड़े हुए प्रभावों से सम्बन्धित समस्या पर विचार करना।

३. संरक्षण करों का विवेचन तथा सिंहावलोकन करना। इनके अतिरिक्त इस कमीशन को समय-समय पर संरक्षित उद्योगों की प्रगति पर प्रकाश डालने वाली आलोचनाओं तथा अपने विचारों को भी सरकार के सामने रखनी चाहिए। इन

आलोचनाओं के अन्तर्गत इन समस्याओं पर विचार किया जाना चाहिए कि स्वीकृत संरक्षण की शर्तों के अनुसार कार्य हो रहा है या नहीं ? संरक्षित उद्योग की उन्नति में बाधा पहुँचाने वाला कोई दोष तो नहीं आ गया है। तथा इसकी उन्नति के लिए किसी विशेष प्रकार की सहायता आवश्यकता तो नहीं है।

इस प्रकार इन्डियन फिस्कल कमीशन (१९५०) की की गई अनेक सिफारिशों से यह प्रकट होता है कि नवीन टैरिफ़ कमीशन सन् १९२१ के कमीशन से अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। यह कमीशन संरक्षण को आर्थिक प्रगति का एक साधन मान कर कार्य करेगी। इस कमीशन के सामने संरक्षण पाने के लिए अनिवार्य दशायें विस्तृत रूप से स्पष्ट हैं। यह कमीशन स्वतन्त्र रूप से काम करने के कारण अधिक शक्तिशाली होगा। अब संरक्षित उद्योगों पर निश्चित उत्तरदायित्व रक्खा गया है जिससे उद्योग पति पहले की भाँति उदासीनता तथा अकर्मण्यता से काम न कर सकेंगे। और अभी तक न स्थापित हुए उद्योगों को संरक्षण भी आसानी से मिल सकेगा।

Q. 2 Write a note on the different 'Forms of Protection'.

प्र० २—संरक्षण प्रदान करने के ढंगों पर एक टिप्पणी लिखिये।

संरक्षण प्रदान करने के ढग

साधारण तौर पर विभिन्न उद्योगों को विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार निम्नांकित ढंगों में से किसी एक ढंग से संरक्षण प्रदान किया जाता है—

१. **आयात कर**—स्वदेशी वस्तुओं से प्रतियोगिता करने वाली विदेशी वस्तुओं के आयात पर कर लगाया जाता है। इससे विदेशी वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है और इस प्रकार स्वदेशी उत्पादक विदेशियों की स्पर्द्धा करने में समर्थ हो जाते हैं। कभी-कभी यह कर इतना अधिक लगाया जाता है कि कर लगे हुए विदेशी माल के लिए कर लगाने वाले देश में कोई बाज़ार ही नहीं रहता और ऐसी परिस्थितियों में यह उद्योग शीघ्र उन्नति कर लेता है।

२. **वैत्तिक सहायता**—वैत्तिक सहायता द्वारा सरकार लागत का कुछ भार अपने ऊपर ले लेती है यदि किसी वस्तु का देश में उत्पादन करने से उसका लागत व्यय विदेश के लागत व्यय से अधिक होता है तो लागत व्यय का कुछ भाग सरकार देती रहती है जिससे देशी उत्पादकों को लागत व्यय का भार कम उठाना पड़ता है और वह विदेशी वस्तुओं का सामना कर सकते हैं।

३. **कोटा**—इस प्रणाली के अन्तर्गत आयातों की मात्रा पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है। स्वदेशी बाजार में आने वाली विदेशी वस्तुओं का परिमाण निश्चित कर दिया जाता है और निश्चित सीमा के बाद उसका आयात बंद कर दिया जाता

है। इस प्रणाली में उद्योगपतियों को बाहर से आने वाली वस्तुओं की मात्रा का ज्ञान रहता है। अतः वे देश की माँग को पूरा करने के लिए उत्पादन करने में स्वतन्त्र होते हैं और कुछ सीमा तक विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से बच जाते हैं।

४. व्यापारिक संधियाँ—व्यापारिक संधियों द्वारा भी अपने उद्योगों की रक्षा की जाती है। प्रत्येक देश इस प्रणाली के अन्दर उन देशों से वस्तुएँ आयात करने का निश्चय करता है जिन देशों में उस देश की वस्तुओं की माँग होती है। इन व्यापारिक समझौतों के अन्तर्गत सम्बन्धित देश दूसरे देशों की अपेक्षा एक दूसरे को अधिक सुविधायें देते हैं।

५. विनिमय नियन्त्रण—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अपने अनुकूल बनाये रखने के लिए विदेशी व्यापार तथा भुगतानों पर कड़ी निगाह रखनी पड़ती है। विनिमय नियन्त्रण द्वारा देश की सरकार विदेशी व्यापार का आयोजन और उसकी दिशा का निर्धारण देश हित में करती रहती है। जहाँ तक विनिमय नियन्त्रण का उपयोग देश के उत्पादन को वांछित दिशाओं में मुड़ने के लिए किया जाता है वहाँ तक वह संरक्षणात्मक होता है।

६. अवमूल्यन—इस प्रणाली के अन्तर्गत देश की मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्राओं में इस उद्देश्य से कम किया जाता है कि आयात कम हो और निर्यात बढ़े। ऐसी दशा में विदेशी वस्तुएँ अवमूल्यन करने वाले देश में महँगी हो जाती हैं। इससे आयात स्वतः कम हो जाते हैं। इस परिवर्तित परिस्थिति में अह उद्योग देश की माँग को पूरा करने के लिए शीघ्रता से प्रयत्न करने लगते है। अतः अवमूल्यन का परिणाम भी संरक्षणात्मक ही होता है।

व्यापार में राज्य का हस्तक्षेप कोई नवीन बात नहीं है। संकट काल में प्रायः प्रत्येक देश को कुछ न कुछ हस्तक्षेप करना ही पड़ता है, विशेषकर युद्धकाल में यह हस्तक्षेप अति आवश्यक हो जाता है,। भारत सरकार ने भी युद्धकाल में भारतीय आयात तथा निर्यात पर विभिन्न प्रकार के नियंत्रण लगाये। युद्धोत्तर काल में भी सरकार निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के वर्गीकरण, चिह्नित करने और उनके रंग, रूप व आकार आदि गुणों में उन्नति करने की आवश्यकता का अनुभव कर रही है। फलस्वरूप उसने राज्य व्यापार पर सिफारिशें करने के लिए देशमुख कमेटी की सन् १९४९ई० में स्थापना की। कमेटी ने अर्धसरकारी कारपोरेशन स्थापित करने की सिफारिश की जिसकी प्रारम्भिक पूँजी दो करोड़ रुपये की हो जो बढ़कर १० करोड़ रुपये हो सकती है और वह खाद्य की मात्रा इस्पात, कपास, कृषि और सूती वस्तुओं सम्बन्धी देश के विदेशी व्यापार का नियंत्रण करे, कमेटी ने भारत के बैंकिंग, जहाजी और बीमा व्यवसाय का प्रगतिशील राष्ट्रीयकरण तथा ग्राम सहकारिता समितियों

की स्थापना पर जोर दिया। परन्तु देश के अधिकांश विशेषज्ञों का यह विचार है कि विदेशी व्यापार का पूर्ण राष्ट्रीयकरण का समय अभी तक नहीं आया है, इस समय सरकार को केवल उन्हीं भागों पर नियंत्रण करना चाहिए कि जिन्हें वह सफलता पूर्वक चला सकती है। कमेटी ने सिफारिश की कि पूँजी का ५१ प्रतिशत भाग अंशों के रूप में केन्द्रीय सरकार ले, शेष हिस्सों को व्यक्तिगत व्यापारी तथा राज्य सरकारें खरीदे। केन्द्रीय सरकार को व्यापारियों को न्यूनतम लाभ का विश्वास देना चाहिए। कार्पोरेशन का कार्य चलाने के लिए संचालक कमेटी होनी चाहिये जिसके सदस्य अनुभवी व्यापारी हों, और जिसके कार्य करने के लिए एक संचालक नियुक्त किया जाना चाहिए।

कमेटी के मतानुसार राज्य द्वारा विदेशी व्यापार का संचालन तभी हो सकता है जब कि आन्तरिक व्यापार की व्यवस्था भी संगठित रूप से की जाय, विशेषकर आयात की हुई वस्तुओं का वितरण करने के लिए सहकारी उपभोक्ता समितियों की स्थापना की जानी चाहिए। प्रत्येक राज्य में एक सहकारी उपभोक्ता स्टोर होना चाहिए जिसका सम्बन्ध ट्रेडिंग कारपोरेशन से होना चाहिए।

उपरोक्त समितियों ने इस सम्बन्ध में निम्नांकित मुख्य सिफ़ारिशें की हैं—

१. यह कारपोरेशन अनाज, खाद, फौलाद, और पूर्वी अफरीकन रुई, के आयात सम्बन्धी व्यवहारिक कार्य तथा व्यापारिक समझौतों के फलस्वरूप विभिन्न कार्य जो इस समय केन्द्रीय सरकार द्वारा किये जाते हैं, करेगा।

२. कारपोरेशन को छोटे रेसे वाले रुई का व्यापार अपने हाथ में ले लेना चाहिये। इसी प्रकार उसे घरेलू उद्योगधन्धों द्वारा निर्मित वस्तुओं का निर्यात भी अपने हाथ में ले लेना चाहिये। जब ये वस्तुयें विदेशी बाजारों में अपना प्रभुत्व जमा लें तब उनका व्यापार व्यक्तिगत व्यापारियों के हाथों में सौंप दिया जाना चाहिये। उस कारपोरेशन को बिना सरकार की आज्ञा के किसी वस्तु में व्यापार नहीं करना चाहिये।

३. कारपोरेशन को भारतीय बाजार में किसी अन्य देश की ओर से एजेन्ट का काम करके सामान खरीदने और बेचने का अधिकार दिया जाना चाहिये।

४. इस कारपोरेशन को चाहिये कि वह समय-समय पर व्यापार नियंत्रण सम्बन्धी सलाह सरकार को देता रहे।

५. जूट के सम्बन्ध में कमेटी ने यह सिफारिश की कि भारतीय जूट मिल एसोसियेसन तमाम जूट को स्वयं खरीदा करे और इसके अनुभव के बाद मैंगनीज़, चमड़ा और जूट के सामान को भी इस व्यापार में शामिल करने के बारे में विचार किया जा सकता है।

६. चाय, अभ्रक, तथा चाँदी में सरकार द्वारा व्यापार करने की राय कमेटी ने नहीं दी।

इस देशमुख कमेटी की सिफारिशों के आधार पर १८ मई सन् १६ ५६ ई० को नई दिल्ली में "दी स्टेट ट्रेडिंग कारपोरेशन आफ इंडिया प्राइवेट लिमिटिड" के नाम से एक कारपोरेशन स्थापित किया गया है जिसकी प्राधिकृत पूँजी १ करोड़ रुपये रहेगी जो १००-१०० रुपये के हिस्सों में बटी होगी और इसकी प्राप्त पूँजी ५ लाख रुपया होगी। उपरोक्त कारपोरेशन निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए खोला गया है —

१. निर्धारित वस्तुओं का विदेशों से भारत में आयात और भारत से विदेशों को निर्यात करने के लिये यथोचित प्रबन्ध करना।

२. निर्धारित वस्तुओं का क्रय-विक्रय करना।

प्रश्न

1. Examine the usefulness of the follownig as the methods of protection to industries —(a) tariffs, (b) Quantitative restriction, (c) Subsidies and tariff quotas (*Agra B. A. 1956*)

अध्याय १५

भारत में व्यापारिक समझौते

सामान्य रूप से तथा सैद्धान्तिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मुक्त नीति के आधार पर सब देशों के लिए हितकारी होना चाहिए, पर विभिन्न देशों के आर्थिक विकास में असमानता होने के कारण मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सब देशों को समान रूप से लाभ नहीं पहुँचता। किसी को अधिक और किसी को कम लाभ, यहाँ तक कि कुछ देशों को हानि तक होती है। ऐसी दशा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संरक्षण की नीति अपनाई जाती है या विभिन्न प्रकार के व्यापारिक समझौतें किए जाते हैं। यह व्यापारिक समझौते प्रायः २ प्रकार के होते हैं—

१. द्विपक्षीय—इस प्रकार के व्यापारिक समझौते २ देशों के बीच में थोड़े समय के लिए होते हैं।

२. बहुपक्षीय—इन समझौतों के अन्तर्गत समझौते अनेक देशों के बीच और बड़े समय के लिए होते हैं।

द्विपक्षीय समझौते साधारणतया १ वर्ष अथवा उससे कम समय के लिए किए जाते हैं। ये समझौते अस्थाई होते हैं। उसके विपरीत बहुपक्षीय समझौते स्थाई होते हैं। दिपक्षीय समझौतों का क्षेत्र सीमित होता है। इसके विपरीत बहुपक्षीय समझौते व्यापक होते हैं।

भारत वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक क्षेत्र में बहुत दिनों से प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में समझौते करता चला आ रहा है। और सब से पहिला व्यापारिक समझौता इम्पीरियल प्रेफरेन्स या शाही अधिमान के नाम से पुकारा जा सकता है। इस नीति के अन्तर्गत साम्राज्य के विभिन्न देशों से होने वाले आयात पर प्रशुल्क सुविधाएँ दी जाती थी; जिसके अनुसार साम्राज्य के अन्तर्गत देशों के बीच व्यापार का अधिकतर विकास हो सके। इस नीति का उद्देश्य साम्राज्य के विभिन्न सदस्य देशों के बीच प्रशुल्क रुकावटों को यथासंभव कम करना तथा साम्राज्य का व्यापार बढ़ाना था। आर्थिक दृष्टि से, इस नीति के आधार पर चलने से सब साम्राज्य देशों को लाभान्वित होने की संभावना थी। इस प्रकार की नीति सबसे प्रथम कनाडा ने सन् १८६७ ई० में अपनाई, जब कि उसने ब्रिटिश माल को आयात करों में छूट दी। इसके बाद सन् १९०२ ई० में उपनि वेशों की परिषद में शाही अधिमान के नियमों का समर्थन किया गया। इसके बाद इस नीति का समर्थन साम्राज्य देशों के द्वारा

बढ़ता ही चला गया। भारत के सामने यह समस्या सबसे पहिले सन् १९०३ ई० में आई, लेकिन भारत ने इस नीति का विरोध किया, क्योंकि देश की आर्थिक स्थिति तथा विदेशी व्यापार की परिस्थितियों को देखते हुए इस नीति से देश को हानि होने की सम्भावना थी। इस नीति से देश के कच्चे माल का निर्यात और अधिक बढ़ता और निर्मित माल का निर्यात और अधिक होता। इन दोनों बातों का प्रभाव भारतीय औद्योगिक विकास पर प्रतिकूल पड़ता। इस बात को ध्यान में रखते हुए उस समय की भारतीय सरकार ने इस सिद्धान्त को मानने के लिए निम्नांकित शर्तें रखीं—

१. प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में प्रशुल्क सुविधायें देने के लिए भारतीय संसद की राय लेना आवश्यक होना चाहिए।

२. किसी भी प्रशुल्क सुविधा से, किसी भी भारतीय उद्योग को दिए हुए संरक्षण में कमी नहीं होनी चाहिए।

३. इन सुविधाओं से लाभ की अपेक्षा और किसी प्रकार की हानि अधिक नहीं होनी चाहिए।

४. इंग्लैण्ड के सम्बन्ध में यह नीति एच्छिक हो। परन्तु अन्य देशों के लिए यह पारस्परिक आधार पर होनी चाहिए।

फिर इन शर्तों का व्यवहार में कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और यह नीति विशेषकर इंग्लैण्ड के हित में ही अपनाई गई। सब से पहिले ब्रिटिश सूती वस्त्र पर आयात प्रशुल्क कम किया गया। चाय के निर्यात कर में छूट की गई। इस प्रकार चमड़े के निर्यात करों में भी छूट दी गई। सन् १९३२ ई० में भारत और ब्रिटेन के बीच ओटावा समझौता हुआ जिसमें भारत सरकार द्वारा शाही अधिमान के सिद्धान्त को पूर्ण रूप से स्वीकृत कर लिया गया। इस समय इस नीति के पक्ष व विपक्ष में अनेक तर्क दिए गए, जिनका अब व्यवहारिक महत्व तो विशेष नहीं है फिर भी ज्ञान वृद्धि की दृष्टि से उन तर्कों की जानकारी वांछनीय है। शाही अधिमान के पक्ष में निम्नांकित तर्क दिए गए थे—

१. इस नीति से आर्थिक अपकर्ष के समय में भारत को आर्थिक सहायता प्राप्त हुई। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत उस समय विश्व के लगभग तिहाई देश सम्मिलित थे। इस नीति के द्वारा इन देशों के बीच अबाध व्यापार सम्बन्ध बना रहा जिससे इन देशों के अन्दर आर्थिक विकास उद्योग व रोजगार का स्तर ऊँचा बना रहा।

२. ब्रिटिश साम्राज्य के प्रतिनिधि सिक्के पाउण्ड के प्रचलन से इन सब देशों में एक प्रकार की एकता बनी रही जिसके कारण जब कि संसार के और देश मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयों से पीड़ित थे इन देशों का आर्थिक व मुद्रा संबंधी ढाँचा सुदृढ़ बना रहा।

३. इस नीति ने साम्राज्य के देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रतिकूल परिस्थितियों से बचाया। जिस समय असाम्राज्य देशों के मध्य होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर संकट आये उस समय साम्राज्य देशों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सुचारू रूप से चलता रहा। इसका लाभ भारत को भी मिला।

४. भारत की जनता अपेक्षाकृत कम आय वाली है। ऐसी जनता के लिए उपभोक्ता की वस्तुएँ सस्ती चाहिए और उनकी उत्पादित वस्तुओं के लिए सुरक्षित बाज़ार चाहिए जिससे उनकी न्यून आय स्थिर बनी रहे और उसमें कमी न हो। शाही अधिमान की नीति से में दोनों बातें पूरी हो सकती थीं। भारतीय कच्चे माल के लिए साम्राज्य देश के बाजार सुरक्षित थे। इसके साथ-ही-साथ इन देशों का निर्मित माल भारत में सस्ते दामों पर मिल सकता था। इस कारण से यह नीति भारत के हित में ही समझी गई। और इन्हीं तर्कों के आधार पर भारतीय सरकार ने इस नीति को अपनाया।

उपरोक्त तर्कों के होते हुए भी भारतीय अर्थशास्त्री तथा नेता इस नीति के पक्ष में नहीं थे। उनके मतानुसार इस नीति से भारत को हानि होने की ही आशंका थी। इसलिए उन्होंने निम्नांकित तर्कों के आधार पर इस नीति का विरोध किया—

१—भारत विशेषकर ऐसे कच्चे माल का निर्यात करता था जिसमें इसे प्रायः एकाधिकार प्राप्त था। इसलिए साम्राज्य देशों के बाजार में भी इसे बाहरी प्रतिस्पर्द्धा का कोई भय नहीं था। इसके विपरीत इंग्लैण्ड निर्मित माल का निर्यात करता था। उसे प्रतिस्पर्द्धा का सदैव भय रहता था। अतः इस नीति से इंग्लैण्ड को लाभ होने की संम्भवना तो थी पर भारत को कोई लाभ नहीं हो सकता था।

२—भारत का व्यापार असाम्राज्य देशों से धीरे-धीरे बढ़ रहा था। उन देशों से भेद भाव करने में व्यापारिक सम्बन्ध बिगड़ने की आशा थी जिससे असा-म्राज्य देशों का बहुत बड़ा बाजार भारत के हाथ से निकल सकता था। हमारा व्यापार उन देशों से कम हो जाता, और यही हुआ भी।

३—भारत विवेचनात्मक संरक्षण के सिद्धान्त को मान चुका था। ऐसी परिस्थिति में साम्राज्य देशों को रियायत देने से संरक्षण की नीति विफल हो सकती थी। वास्तव में ऐसी स्थिति में संरक्षण का कोई अर्थ ही नहीं रहता।

४—कुछ वस्तुएँ असाम्राज्य देशों से ही सस्ती मिल सकती थीं। पर इस नीति के अनुसार वे वस्तुएँ हमें साम्राज्य के देशों से ही खरीदनी पड़ती थीं जिससे यह वस्तुएँ भारत में महँगी पड़ती थीं।

५—इस नीति के पालन करने से आयात कर की आय में कमी हुई जिससे सरकारी आय को धक्का लगा।

नैतिक दृष्टि से भी यह नीति ठीक नहीं कही जा सकती कि एक देश समान परिस्थितियों में कुछ देशों के साथ उदारता की नीति का पालन करे तथा अन्य देशों के साथ अनुदार नीति अपनाये। भारतीय सरकार ने इन तर्कों की विशेष परवाह नहीं की और इंग्लैण्ड के साथ शाही अभिमान के सिद्धान्त के आधार पर ही व्यापार होता रहा। और संरक्षण नीति के होते हुए भी यदि भारत की औद्योगिक प्रगति ठीक नहीं हुई तो इसका दोष इसी नीति पर थोपा जा सकता है। यद्यपि कुछ लोग उस मत को स्वीकार नहीं करते।

यह नीति द्वितीय विश्वयुद्ध तक किसी न किसी रूप में चलती रही। उसके पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थितियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। अब देशों को साम्राज्य तथा असाम्राज्य देशों में विभाजित करना ठीक नहीं रहा। अब सब देशों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना बढ़ गई है। आर्थिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संघ आदि विभिन्न संस्थाओं की स्थापना हो चुकी है। साथ ही साथ राजनैतिक आर्थिक क्षेत्र में इंग्लैण्ड का महत्व बहुत कम हो गया है और अमेरिका का महत्व बहुत बढ़ गया है। इन परिवर्तित परिस्थितियों में शाही अभिमान नीति को काफी धक्का लगा। वास्तव में अब तो लोगों को शाही शब्द से ही घृणा सी होती है। विशेषकर अमेरिका ने इस नीति का घोर विरोध किया। फिर भी यह नीति दूसरे रूप में अब भी लागू की जाती है। जिस प्रकार इम्पाइर कन्ट्रीज (Empire Countries) के स्थान पर कामनवैल्थ आफ नेशन्स अधिक रुचिकर समझा जाता है उसी प्रकार से इम्पीरियल प्रेफरेन्स के स्थान पर कामनवैल्थ प्रेफरेन्स की नीति वर्तमान समय में अपनाई जा रही है।

सन् १९३२ ई० में इंग्लैण्ड और भारत के बीच में ओटावा समझौता स्वीकार किया गया। इस समझौते के अनुसार कोई भी देश ६ माह की सूचना देने के बाद समझौते से पृथक हो सकता था। यह समझौता १ जनवरी सन् १९३३ ई० से लागू किया गया। संयुक्त राज्य से कुछ मोटरों के आयात कर में साढ़े सात प्रतिशत तथा अन्य वस्तुओं के आयात कर में दस प्रतिशत की छूट दी गई। और इंग्लैण्ड में जिन वस्तुओं पर १० प्रतिशत आयात कर लगाया गया था वे भारतीय वस्तुएँ आयात कर से मुक्त कर दी गईं। इस प्रकार की नीति कुछ वस्तुओं के आयात कर के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य में भी अपनाई गई।

शाही अभिमान की नीति के समान ओटावा समझौते के सम्बन्ध में भी दोनों ओर से तर्क दिए गए। कुछ लोगों ने इसका समर्थन किया और कुछ लोग इसके विरोध में भी रहे। समझौते के पक्ष में निम्नांकित तर्क दिए गए थे—

१—सन् १६२६ ई० की विश्वमंदी के कारण भारतीय कृषि वस्तुओं की कीमतें बराबर गिरती चली जा रही थी। सन् १६३१ में इंग्लैण्ड के द्वारा स्वर्णमान के त्याग करने पर तथा रुपए को पेपर स्टर्लिंग से संबंधित करने के कारण स्थिति और भी खराब हो गई थी। इसके साथ ही साथ अफ्रीका तथा दक्षिण अमेरिका के कृषि पदार्थों से भारत की प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती जा रही थी। ऐसी अवस्था में भारतीय वस्तुओं के लिए विदेशी बाजार कायम रखने की दृष्टि से यह समझौता आवश्यकीय था। क्योंकि इस समय भारतीय माल को अधिक लेने वाले देश भारतीय माल पर अधिक आयात कर लगा रहे थे। इसलिए भारत ने यह समझौता करके अपने वस्तुओं के लिए बाजार सुरक्षित कर लिया।

२—बहुत सी कृत्रिम वस्तुओं के निर्माण होने से भारत के कच्चे माल का निर्यात भी विदेशों में कम हो चला था। इस कमी की पूर्ति भारतीय सरकार ने समझौते के द्वारा संयुक्त राज्य तथा साम्राज्य के उपनिवेशों का बड़ा बाजार प्राप्त करके की। यदि भारत यह समझौता न करता तो भारतीय वस्तुओं के लिए यह बाजार न रहता।

समझौते के विपक्ष में निम्नांकित तर्क दिए गए थे-

१—भारत की औद्योगिक दशा पिछड़ी हुई थी। इसलिए इस समझौते से भारत को किसी विशेष लाभ की आवश्यकता नहीं थी। इसके विपरीत समझौते के कारण संयुक्त राज्य तथा अन्य उपनिवेशों को भारत का विशाल बाजार प्राप्त हो गया।

२—इस समझौते के कारण भारत के विदेशी बाजार का रुख अन्य देशों से बदल कर केवल साम्राज्य देशों तथा संयुक्त राज्य तक ही सीमित होने की संभावना थी, और ऐसा ही हुआ।

३—भारत का नियात २ प्रकार की वस्तुओं का हुआ करता था। प्रथम उन वस्तुओं का जिनमें भारत को एकाधिकार प्राप्त था। द्वितीय उन वस्तुओं का जिनमें भारत एवं अन्य साम्राज्य के उपनिवेशों में प्रतियोगिता रहती थी।

इस प्रकार की वस्तुओं के निर्यात में इस समझौते से भारत को कोई लाभ नहीं हुआ। क्योंकि एकाधिकारी वस्तुओं की माँग तो बिना रियायत के भी वैसी बनी रहती और अन्य वस्तुओं में भारत के साथ जो रियायत की गई, वही रियायत प्रतियोगिता करने वाले साम्राज्य के अन्य देशों को भी दी गई जिससे भारत की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

उपरोक्त तर्कों का भारतीय सरकार की नीति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। और इसी समझौते के अनुसार देश का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता रहा।

सितम्बर सन् १९३३ ई० में भारत और इंगलैण्ड के बीच में एक और व्यापारिक समझौता हुआ। इसका नाम मोदी-लीज समझौता है। इस समझौते के अनुसार भारत को अँग्रेजी माल की प्रतिस्पर्द्धा के विरुद्ध अपने वस्त्र उद्योग के संरक्षण का अधिकार दिया गया। साथ ही साथ उसे जापानी प्रतियोगिता से भी बचाने की आवश्यकता समझी गई। इस समझौते के अनुसार यह भी तै किया गया कि आयात कर पर लगाये गये अतिरिक्त कर हटा दिए जायेंगे, यदि भारत ब्रिटेन से होने वाले वस्त्र आयात पर अतिरिक्त कर नहीं लगायेगा। भारतीय रुई की खपत को लंकाशायर में प्रोत्साहन देने का विश्वास भी इस समझौते में दिया गया। इस समझौते से भारतीय वस्त्र उद्योग को काफी लाभ हुआ।

सन् १९३५ ई० में भारत और ब्रिटेन के बीच एक नया व्यापारिक समझौता किया गया। इस समझौते के अनुसार, भारत के उद्योग को उतना संरक्षण प्राप्त करने का आश्वासन दिया गया जिससे भारतीय उत्पादित वस्तुओं का मूल्य आयात वस्तुओं के मूल्य के बराबर हो जाये। परन्तु ऐसा करने में ब्रिटिश माल पर यथा संभव कम कर लगाये जायें। भारतीय उद्योगों को संरक्षण देते समय सम्बन्धित ब्रिटिश उद्योगपतियों से विचार विमर्श किया जाय। तथा आवश्यकता पड़ने पर यदि ब्रिटिश सरकार प्रार्थना करे तो भारतीय सरकार ब्रिटिश वस्तुओं पर लगे हुए आयात कर में संशोधन करे। इन बातों के बदले में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय रुई की अपनी मिलों में अधिक खपत करने का विश्वास दिया। और यह भी तय किया कि जब तक भारत ब्रिटिश इस्पात को सुविधायें देगा तब तक ब्रिटिश सरकार भी भारतीय पिगआयरन को उसी प्रकार की सुविधायें देगी।

सन् १९३९ ई० में भारत व ब्रिटेन के बीच में एक दूसरा समझौता किया गया। इस समझौते के अनुसार भारत में ब्रिटेन से आए हुए माल पर ७½ प्रतिशत से लेकर १० प्रतिशत तक आयात कर में छूट दी गई। और भारत को भी इंग्लैण्ड के द्वारा बहुत सी वस्तुओं पर छूट दी गई। भारत में मोटरें, बसें, साइकिलें; रसायन, रंग, औषधियाँ तथा सीमेन्ट आदि वस्तुओं पर छूट दी। और इंग्लैण्ड ने सूती उत्पादन, पटसन के कुछ माल, चाय, काफी मैगनेशियम, क्लोराइड, चावल, लाख, अलसी, चपड़ा, तिलहन तथा मसाला आदि पर १०% से लेकर १५% तक की छूट दी। इस समझौते के अनुसार यह तय किया गया कि ब्रिटिश इस्पात को भारत के द्वारा तथा भारतीय पिगआयरन को इंग्लैण्ड के द्वारा मुक्ति मिलती रहेगी, और इंग्लैण्ड भारत से रुई की ६ लाख गाँठें आयात करेगा जिसके बदले भारत इंग्लैण्ड

से ५ हजार लाख गज कपड़ा आयात करेगा। ब्रिटिश वस्तु आयात पर आयात कर कम कर दिया जाय जबकि इंग्लैण्ड में भारतीय रुई पर आयात कर दुगना कर दिया गया। इस प्रकार यह समझौता आर्थिक दृष्टि से भारत के लिए अहितकर ही था। इससे भारतीय वस्त्र उद्योग को हानि पहुँची तथा लंकाशायर के उद्योग को प्रोत्साहन मिला। वास्तव में इस समझौते से अन्य साम्राज्य देशों के माल से संयुक्त राज्य में भारत के साथ उन्हीं वस्तुओं में प्रतियोगिता होती थी जिनके निर्यात में भारत को अधिमान प्राप्त था। इससे भारत को कोई लाभ नहीं हुआ। परन्तु भारत की दी हुई सुविधाओं से इंग्लैण्ड को ज्यादा लाभ हुआ क्योंकि इंग्लैण्ड को अन्य देशों की प्रतियोगिता का भय न था। इस प्रकार यह समझौता अधिकतर इंग्लैण्ड को ही लाभकर सिद्ध हुआ। सन् १९४९ व ५० ई० के तटकर आयोग के सामने जब समझौते संबंधी प्रश्न आए तो तटकर आयोग ने स्थिति का अच्छी प्रकार से अध्ययन करके किसी भी देश को अधिमान देते समय निम्न बातों को ध्यान में रखने के सुझाव दिए—

तटकर आयोग के मतानुसार प्रशुल्क सुविधाएँ ऐसी वस्तुओं के संबंध में प्राप्त की जायँ जिन्हें विश्व बाज़ार में समान वस्तुओं से प्रतियोगिता हो अथवा वे निर्मित वस्तुएँ हों। अथवा जिन्हें विश्व-बाज़ार में अन्य देशों की प्रतिस्थानापन्न वस्तुओं से प्रतियोगिता का भय हो। इसी प्रकार प्रशुल्क सुविधाएँ देते समय यह ध्यान रक्खा जाना चाहिए कि पूंजीगत वस्तुओं, यंत्र सामग्री तथा आवश्यक कच्चे माल के आयात में ही सुविधा दी जाय।

भारत का समझौता—भारतवर्ष को अपने वस्त्र उद्योग के संबंध में जापान से कड़ी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ा है। सन् १९२२ ई० तक तो आर्थिक उत्कर्ष तथा व्यापारिक तेज़ी के कारण भारत के वस्त्र उद्योग को किसी विशेष कठिनता का सामना नहीं करना पड़ा। परन्तु इसके बाद परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया। जापान के द्वारा वस्त्र उद्योग के पुनर्गठन करने तथा चीन में वस्त्र उद्योग के कारखाने खुलने से भारत के हाथ से चीन का महात्वपूर्ण बाज़ार निकल गया। वहाँ पर भारतीय सूत की खपत कम हो गई। यही नही जापानी प्रतियोगिता भारत के बाजारों में भी बढ़ती ही चली गई। आर्थिक मंदी के कारण तीव्रता और भी बढ़ती गई। इन सब कठिनाइयों पर विजय पाने के लिए भारतीय सरकार ने सन् १९३३ ई० में विदेशी आयात पर आपात कर ५०% के स्थान पर ७७% कर दिया। इससे नाराज होकर जापान ने भारतीय रुई का बहिष्कार कर दिया जिससे भारतीय रुई उत्पादकों तथा व्यापारियों को बहुत हानि उठानी पड़ी। वास्तव में रुई उद्योग चौपट हो गया। इस उद्योग की रक्षा करने के लिए जापान के साथ सन् १९३४ ई० में एक व्यापारिक समझौता किया गया। इसके अनुसार दोनों देशों को अपनी-अपनी

आयात व निर्यात कर नीति में परिवर्तन करने का अधिकार मिला। और दोनों देशों ने एक दूसरे को अधिक से अधिक रियायतें देने का वचन दिया। यह तय किया गया कि जापानी माल के वस्त्र आयात पर ५०% से अधिक कर नहीं लगाया जा सकता यद्यपि कुछ किस्म के कपड़े इस धारा से अलग रक्खे गए। भारत ने जापान से ३२५ मिलियन गज कपड़ा आयात करने और जापान को १ मिलियन गाँठें रुई निर्यात करना स्वीकार किया। यदि जापान भारत से अधिक रुई ले तो भारत जापान से अधिक कपड़ा आयात करेगा। जापान द्वारा भेजे जाने वाले पकड़े की किस्में भी निश्चित की गई। इस समझौते से पारस्परिक कटुता तो दूर हो गई परन्तु भारत को विशेष लाभ नहीं हुआ क्योंकि इससे भारत में जापानी माल अधिक आने लगा जिससे भारतीय कुटीर धन्धों को आघात पहुँचा। फिर भी भारतीय रुई का निर्यात जापान में बहुत बढ़ गया और इस प्रकार रुई उद्योग को काफी लाभ हुआ। सन् १६३७ ई० में जापान के साथ दूसरा समझौता किया गया। इसके अनुसार जापान द्वारा कटपीस, रेश्मी वस्त्र तथा तैयार कपड़े आदि का आयात निश्चय करने का सुझाव दिया गया और अन्य वस्तुओं पर आयात कर इस प्रकार से लगाने की सिफारिश की गई कि जिससे भारतीय कुटीर धन्धों को कोई हानि न पहुँचे। यह समझौता सन् १६४१ ई० तक रहा। इसके बाद समयानुसार जापानी कपड़े के आयात आदि की मात्रा कम या अधिक की जाती रही।

भारत-ब्रह्मा समझौता—सन् १६४१ ई० में ब्रह्मा से व्यापारिक समझौता करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस समझौते के अनुसार अन्य साम्राज्य देशों के समान ब्रह्मा को १०% से लेकर १५% की रियायत दी गई। दोनों के बीच होने वाले मुक्त व्यापार को समाप्त कर दिया गया। कुछ वस्तुओं का आयात दोनों देशों में बिना आयात करों के प्रारंभ करने का सुझाव रक्खा गया। दोनों देशों में परस्पर चावल का आयात पूर्ण तथा मुक्त रक्खा गया और भारतीय वस्त्र के आयात पर ब्रह्मा में १०% से अधिक आयात कर न लगाने की नीति निर्धारित की गई। इसी प्रकार भारतीय शक्कर के आयात को ब्रह्मा के द्वारा सुविधा देना तथा भारत को लकड़ी का निर्यात, निर्यात कर से मुक्त कर स्वीकार किया गया। यह समझौता भी भारत की अपेक्षा ब्रह्मा के लिए ही अधिक लाभकारी सिद्ध हुआ। वैसे भी भारत ब्रह्मा को निर्यात कम करता है परन्तु वहाँ आयात अधिक करता है। इस समझौते से ब्रह्मा के आयात और भी बढ़ गए।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् केन्द्रीय सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक नीति स्वतंत्र रूप से अपनानी प्रारंभ की और प्रत्येक व्यापारिक समझौते में देशहित को ही सर्वोपरि रक्खा गया। विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान को व्यापारिक संबंध

रखना एक कठिन काम हो गया। दोनों देशों के मध्य क्षुब्ध राजनैतिक वातावरण का प्रभाव आर्थिक क्षेत्र पर भी पड़ता रहा, फिर भी पड़ोसी देश होने के नाते तथा दोनों देशों के कच्चे माल के संबंध में अनोखी स्थिति होने के कारण भारत व पाकिस्तान के व्यापारिक समझौते दोनों देश की आर्थिक प्रगति हेतु अनिवार्य हो गए। इसलिए दोनों देशों के बीच परिस्थितियों के अनुसार समय-समय पर बहुत से व्यापारिक समझौते गये किए।

इस काल में भारत में अन्य देशों से समय-समय पर बहुत से व्यापारिक समझौते किये है। उन में से मुख्य-मुख्य समझौतों का संक्षित विवरण नीचे दिया जा रहा है—

(१) भारत-आस्ट्रिया व्यापार समझौता—सन् १६४६ ई० में किया गया दूसरा समझौता १६५२ में किया गया और तीसरा १६५५ ई० में। इन समझौतों के अनुसार भारत और आट्रिया के मध्य आयात व निर्यात होने वाली वस्तुओं का निश्चय किया गया।

(२) भारत-चेकोस्लोवाकिया व्यापार समझौता—१६४६ ई० में हुआ दूसरा समझौता १६५३ ई० में हुआ। इस समझौते में भी दोनों देशों के मध्य आयात व निर्यात की वस्तुओं को निश्चित किया गया।

(३) भारत और मिस्र के साथ १६४६ व १६५३ में व्यापारिक समझौते हुए। इसमें भी दोनों देशों की आयात-निर्यात वस्तुओं की सूची बनाई गई।

इसी प्रकार के व्यापारिक समझौते फिनलैण्ड, हंगरी, जर्मनी, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया के साथ सन् १६४६ ई० में किए गए। इनमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहे, जिनमें आवश्यकतानुसार आयात व निर्यात की वस्तुओं की सूची में परिवर्तन होता रहा। सन् १६५१ ई० में भारत ने नार्वे के साथ व्यापारिक समझौता किया। इस देश से भारतीय शैल्पिकों को सहायता प्राप्त करने के लिए विशेष रूप से समझौता किया गया। भारत तथा स्वीडन के बीच १६५२ ई० में व्यापारिक समझौता हुआ। सन् १६५३ में ईराक, इण्डोनेशिया तथा रूस के साथ व्यापारिक समझौते किए गए। रूस के साथ ५ वर्ष के लिए समझौता किया गया। इस समझौते में प्रति वर्ष परिवर्तन होता रहता है। वर्तमान परिस्थितियों में भारत और रूस का व्यापारिक समझौता आर्थिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही, क्योंकि इस समझौते से भारत के औद्योगीकरण तथा उद्योगों के यन्त्रीकरण में काफ़ी सहायता मिलती है। इस के साथ ही साथ इसका राजनैतिक महत्व भी अधिक है। दोनों देशों के मध्य बढ़ते हुए व्यापार की सुविधा के लिए भारत और रूस के बीच नियमित व्यवस्था का भी संगठन किया जा रहा है। सन् १६५६ ई० में भारत ने चिली तथा उत्तर वियतनाम के साथ व्यापारिक समझौते किए।

भारत तथा हवाना चार्टर

द्वितीय युद्ध काल में विभिन्न देशों के आर्थिक क्षेत्र में आपसी सहयोग पर काफ़ी महत्व दिया गया है; और इसी भावना के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष आदि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का जन्म हुआ। विभिन्न देशों के बीच व्यापार को सुचारु रूप से चलाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ स्थापित करने का विचार किया जाने लगा। इस विचार को कार्य रूप में परिणत करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की एक रूपरेखा तैयार की गई। इस रूपरेखा पर विचार करने के लिए १९४७-४८ ई० में करीब ५७ राष्ट्रों का हवाना में सम्मेलन हुआ। हवाना सम्मेलन में १४ राष्ट्रों द्वारा विचारपूर्वक तैयार किए गए एक प्रस्ताव पर हस्ताक्षर किए गये। इन में से भारत भी एक था। सन् १९५१ में अमेरिका ने इस प्रस्ताव (हवाना चार्टर) को स्वीकार न करने का विचार प्रकट किया और तब ब्रिटेन ने यह घोषित किया कि ऐसी परिस्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ के स्थापित होने की कोई आशा नहीं। इस चार्टर में औद्योगिक देशों के विदेशी व्यापार की मात्रा बढ़ने पर काफ़ी बल दिया गया था; परन्तु पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास पर इस चार्टर में पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया। और इसी आधार पर इस चार्टर की आलोचना की गई।

फिस्कल कमीशन ने भी हवाना घोषणा-पत्र की जाँच की और उसे यह मालूम हुआ जब तक भुगतानों के वर्तमान संतुलनों की कठिनाई बनी रहेगी तब तक घोषणा-पत्र भारत की व्यापारिक नीति को रूप देनें की स्वतन्त्रता पर गम्भीर सीमायें लागू नहीं करेगा। दीर्घ काल में यह भी संभव था कि भारत को ऐसी नीतियाँ बनाने के अधिकार से ही वंचित हो जाना पड़ता। बहुत सोच-विचार करने के पश्चात् कमीशन ने यह सिफारिश की कि भारत को घोषणा-पत्र का अनुमोदन करना चाहिये बशर्ते कि अमरीका और इगलैन्ड सरीखे मुख्य आर्थिक देश भी इसका समर्थन करें और साथ ही साथ देश की आर्थिक स्थिति के अनूकुल वह नीति बनी रहें। कमीशन को यह आशा थीं कि घोषणा-पत्र में पिछड़े देशों की आर्थिक प्रगति की शर्त को उदारतापूर्वक क्रियान्वित किया जायगा। कमीशन ने यह भी सिफारिश की कि भारत को आयात-निर्यात कर सम्बन्धी जो रियायतें दूसरे देशों से मिलती हैं उन पर विशेष ध्यान देना चाहिये। रियायतों की स्वीकृत के मामले में भारत को पूँजीगत वस्तुओं पर, अन्य मशीनों और साधनों पर तथा अनिवार्य कच्चे पदार्थों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। साथ ही साथ घरेलू और छोटे-छोटे उद्योगों की विशिष्ट आवश्यकताओं को जो विदेशी बाजार पर आश्रित हैं व्यापारिक समझौतों में प्राथमिकता देनी चाहिये। किसी भी व्यापारिक समझौते से पहले व्यापार, उद्योग

तथा अन्य सम्बन्धित स्वार्थों के प्रतिनिधियों से रियायतों के विषय मे सलाह ले लेनी चाहिये।

इस प्रकार भारत ने जनरल एग्रीमेन्ट वाले देशों के साथ व्यापार सम्बन्ध बढ़ाये हैं। इन देशों का विश्व के व्यापार में ८५ प्रतिशत भाग है। यह एक बड़ी सफलता है। और सब देशों में सहयोग की भावना का प्रदर्शन है। हमारे देश ने एग्रीमेन्ट के अन्तर्गत १९५४ ई० तक दूसरे देशों को पहली बार रियायतें देने की स्वीकृति दी।

Q. 1 Write a short note on exports and imports in India.

प्र० १ भारत के आयात व निर्यात पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

निर्यात की वस्तुएँ

भारत से जो मुख्य-मुख्य वस्तुयें विदेशों को भेजी जाती हैं उनमें से पहला नम्बर जूट का आता है। कच्चा जूट पहले बहुत निर्यात होता था पर कच्चे जूट को पैदा करने वाले क्षेत्र पाकिस्तान के अन्तर्गत चले जाने के कारण अब भारत को कच्चा जूट स्वयं आयात करना पड़ता है। जूट की निर्मित वस्तुयें अब भी इंगलैन्ड, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, ब्रह्मा, पूर्वी अफ्रीका, तथा मिश्र आदि देशों को भेजा जाता है। सन् १९५१ ई० को भारत ने करीब १०५ लाख रुपयों का जूट का निर्मित माल विदेशों को भेजा।

देश के निर्यात में चाय का भी महत्वपूर्ण स्थान है। जूट के बाद चाय ही देश को अधिक से अधिक विदेशी मुद्रा देता है। हमारी चाय का सबसे बड़ा ग्राहक इंगलैण्ड है। इसके पश्चात् अमेरिका, कनाडा, तथा आस्ट्रेलिया का नम्बर आता है।

जहाँ तक कच्चे कपास तथा कच्चे कपास की निर्मित वस्तुओं का प्रश्न है विभाजन के पश्चात् भारत के लिये कपास के निर्यात को बनाये रखना कठिन हो गया है। अब तो भारत को स्वयं अपने लिये विदेशों से कपास मँगाना पड़ता है। अब भारत केवल छोटे तार की कपास का निर्यात इंगलैण्ड, जापान, तथा इटली आदि को करता है। कपास निर्मित वस्तुओं के निर्यात में भारत ने गत वर्षों में काफी उन्नति की है। युद्ध काल में हमारे देश ने सूती निर्मित वस्तुओं का निर्यात करना प्रारम्भ किया। तब से यह निर्यात बराबर बढ़ता चला जा रहा है। भारतीय सूती वस्त्र के सबसे बड़े ग्राहक मध्य पूर्व के देश पूर्वी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, और लंका हैं।

तिलहन और बनस्पति तेल भी भारत से काफी मात्रा में बाहर भेजे जाते हैं। तिलहनों में मूँगफली सबसे महत्वपूर्ण है। युद्ध काल से तिलहन का निर्यात तो कम गया है क्योंकि उनकी खपत देश में ही काफी बढ़ गई है पर बनस्पति तेलों के निर्यात में काफी वृद्धि हो गई।

भारतीय तम्बाकू की माँग भी विदेशों में बहुत है। विशेषकर इंगलैण्ड भारतीय तम्बाकू के लिये सबसे अच्छा बाजार है। इसी प्रकार कच्ची और पक्की खालें इंगलैण्ड, अमेरिका, जर्मनी, और फ्रांस, आदि देशों को भेजी जाती है।

आयात की वस्तुयें

जहाँ तक आयात की वस्तुओं का प्रश्न है खाद्य पदार्थों में भारत अनाज, मद्य, तम्बाकू तथा कुछ मसाले विदेशों से मँगाता है। खाद्यानों का आयात युद्ध के पश्चात् १९४९ ई० तक बढ़ता गया, इसके बाद यह कम होता गया। कच्ची कपास, खनिज तेल, ऊन, धातुहीन वस्तुयें तथा ऊन और लकड़ी भी काफी मात्रा में बाहर से मँगाये जाते हैं। इसी प्रकार मशीनें, गाड़ियाँ सूती तार और कपड़ा रसायन और औषधियाँ लौह धातुयें, लोहा और स्पात की वस्तुयें रंग और रोगन आदि भी बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों से आता है। इंगलैण्ड और अमेरिका से विशेषकर मशीनें, वस्त्र, तथा बिजली सम्बन्धी यंत्र आदि आते हैं। निर्मित वस्तुयें विशेषकर इन्हीं दो देशों से आती है। खाद्यान्न की कमी को दूर करने के लिये अमेरिका, अर्जेन्टाइना, कनाडा, आस्ट्रेलिया, टर्की, रूस और ब्रह्मा का मुख्य भाग रहा है तथा पाकिस्तान, मिश्र व सुडान से कपास का आयात होता रहा।

पाकिस्तान में खाद्य तथा कच्चे पदार्थ की अधिकता है जब कि भारत औद्योगिक उत्पादन और खनिज साधनों की तुलनात्मक दृष्टि से लाभदायक स्थिति में है। पाकिस्तान में केवल बड़े-बड़े उद्योगों का ही अभाव नहीं किन्तु उसमें इनके लिये आधार वस्तुओं का भी अभाव है। खाद्य सामग्री में भारतवर्ष की औसत कमी ३० और ५० लाख टन के बीच की है। पाकिस्तान ५ लाख टन खाद्य सामग्री दे सकता है। भारतवर्ष को अपने जूट व्यवसाय के लिये ४० लाख कच्चे जूट की गाँठें पाकिस्तान से चाहिये। पाकिस्तान के पास भारत को जूट देने के पश्चात् भी ३० लाख गाठें विदेशों को निर्यात करने के लिये शेष रह जाती हैं। भारतीय सूती वस्त्र मिलों को बाहर से १५ लाख गाठें लम्बे रेशे वाली कपास की आवश्यकता है। पाकिस्तान ८ लाख गाठें इस प्रकार के कपास की दे सकता है। पाकिस्तान ५ अरब गज या इससे अधिक सूती कपड़े के लिये भारतवर्ष पर निर्भर है। इसी प्रकार ३ अरब ७० करोड़ पौंड चीनी की आवश्यकता के लिये भी वह भारतवर्ष पर निर्भर रहेगा। ३० लाख टन कोयले की आवश्यकता को भी उसे भारत से पूर्ण करना पड़ेगा उसे इस्पात, चमड़े का सामान, जूट की बनी हुई वस्तुओं, कुछ धातुयें तथा खनिज पदार्थ व शीशा भी भारतवर्ष से प्राप्त करना होगा। पाकिस्तान के सम्पूर्ण व्यापार को देखते हुये ये निश्चित है कि पाकिस्तान का भारत के साथ व्यापार संतुलन रूप में है। विभाजन के पश्चात् शीघ्र ही दोनों देशों की सरकारों ने आर्थिक जीवन को

सुरक्षित रखने के लिये इस आवश्यकता का अनुभव किया और इस स्थिति को कमसे कम १ मार्च १९४८ तक जारी रखने का समझौता किया। समझौते की मुख्य बातें निम्न प्रकार की थीं।

(१) दो देशों के बीच चुंगी की कोई सीमा या रुकावट न होगी।

(२) देश के अंदर बनने वाले पदार्थों का कर तथा महसूल चुंगी ज्यों का त्यों रहने दिया जायगा।

(३)मुख्य वस्तुओं तथा धन के स्वतंत्रतापूर्वक भेजने के ऊपर कोई रोक नहीं लगाई जायगी।

पाकिस्तान समझौते की शर्तों को पूरा करने में असफल रहा और भारतवर्ष ने २३ दिसम्बर १९४७ को कर तथा महसूल के सम्बन्ध में उसे विदेश घोषित किया। निम्नलिखित कर पाकिस्तान द्वारा लगाये गये भारतवर्ष ने भी उसी प्रकार का कदम उठाया और भारत-पाकिस्तान के व्यापार का विस्तार विदेशी रूप में हुआ। पाकिस्तान ने निम्न प्रकार का निर्यात कर लगाया—

(१) कच्चे जूट की प्रति गाँठ पर ५० रुपया निर्यात कर
(२) कच्चे कपास की ४०० पौंड की प्रति गाँठ पर ६० रुपया निर्यात कर
(३) १०% मूल्यानुसार निर्यात का कच्ची खाल और चमड़े पर
(४) १०% मूल्यानुसार निर्यात कर बिनौलों पर

यह स्पष्ट है कि यह कच्चा माल मुख्यतर भारतवर्ष, जो भारतीय फैक्टरियों में सामान तैयार करने या कुछ दशाओं में जूट की भाँति बाहर भेजने के काम आता था। इन करों में नाम मात्र की वृद्धि, भारतीय तथा विदेशी उपभोक्ताओं के मूल्य पर पाकिस्तान की वार्षिक आय में वृद्धि करनी हैं। यदि इन करों का प्रभाव निर्यात से पूर्व इन वस्तुओं के मूल्य में कमी करने के लिये है तो इसका कुछ अंश पाकिस्तान के उत्पादकों एवं निर्यातकर्त्ताओं को सहना होगा। सार रूप में यह कह कर आयात करने वाले को देना पड़ेगा। माल से बनने वाले सामान की दरों में भारत में वृद्धि करनी पड़ेगी। भारतीय संघ द्वारा लगाये गये नवीन निर्यात कर निम्न प्रकार हैं—

(१) २५ प्रतिशत मुल्यानुसार कर करघे के उत्पादन के अतिरिक्त सूती कपड़े और सूती धागे पर

(२) ८० रु० प्रति टन तिलहन पर
(३) २०० रु० प्रति टन वानस्पतिक तेलों पर
(४) २० रु० प्रति टन मैगनीज़ पर

हमारा लगभग आधा सूती कपड़ा और सूत पाकिस्तान को चला जाता है। यह कर वृद्धि पाकिस्तान के उपभोक्ताओं पर पड़ेगी। जहाँ तक अन्य वस्तुओं से सम्बन्ध है यह सम्भव है कि पाकिस्तान कुछ वानस्पतिक वस्तुयें लेगा। किन्तु मैंगनीज और तिलहन को पर्याप्त मात्रा में नहीं लेगा। इससे यह बात होती है कि भारतवर्ष द्वारा लगाया हुआ निर्यात कर राज्य की आय के लिये उन वस्तुओं पर है जो विदेशों को निर्यात की जाती हैं। इनमें पाकिस्तान का भाग बहुत कम है जब कि पाकिस्तान द्वारा लगाया गया निर्यात कर केवल भारत-पाकिस्तान के व्यापार पर प्रभाव डालता है।

भारत पाकिस्तान के व्यापार का भविष्य प्रायः अनिश्चित ही है। इस सम्बन्ध में दोनों सरकारों के मध्य समय-समय पर समझौते होते रहते हैं। और उन्हीं के अनुसार व्यापार चलता है। जब तक काश्मीर की गुत्थी नहीं सुलझती तब तक भारत-पाक व्यापार भविष्य के बारे में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं जा सकता।

पाकिस्तान बनने के बाद भारत के विदेशी व्यापार का खास ढाँचा अपने मौलिक रूप से बिलकुल ही बदल गया है। देश के विभाजन से भारत के कच्चे जूट, कच्ची रुई, खाल और चमड़े जैसी वस्तुओं का निर्यात कम ही नहीं हो गया है, अपितु अब भारत को इन वस्तुओं को पर्याप्त मात्रा में मँगवाना पड़ता है। वर्तमान काल में विश्व के सब देशों से इसे ही सबसे अधिक कच्चा जूट विदेशों से मँगवाना पड़ता है। जहाँ तक खाद्यानों का सम्बन्ध है विभाजन से देश पर बुरा प्रभाव पड़ा है। विभाजन के बाद देश खाद्यान के लिये दूसरे देशों पर पहले से अधिक निर्भर हो गया है। यद्यपि हमारे देश का व्यापार साम्राज्यवादी देशों के साथ प्रमुख रूप से चालू है किन्तु अमेरिका तथा दूसरे विदेशों से हमारा व्यापार तेजी से बढ़ रहा है। हमारे देशी व्यापार के भुगतान के सन्तुलन की दशा बिगड़ती जा रही है। यह बुरी दशा का लक्षण है। विशेषकर दुर्लभ मुद्रा वाले देशों के साथ व्यापार करने पर भारत के पास डालर की बहुत कमी है। इस विषय में पाकिस्तान की दशा बहुत अच्छी है क्योंकि यह निर्यात करने वाला है। भारत जनसंख्या की अधिकता के कारण निर्यात करने की अपेक्षा आयात कर रहा है। निर्यात में सबसे बड़ी बाधा निर्यात योग्य वस्तुओं के लिये अधिक बढ़ी हुई घरेलू माँग और विदेश में भेजी जाने वाली वस्तुओं की असन्तोषजनक व्यवस्था और महगा होना है। दूसरा सबसे महत्वपूर्ण कारण जिससे हम अपना निर्यात नहीं बढ़ा सकते हैं यह है कि बेचने वाला खरीददार बन गया है। भारत की वस्तुओं के मूल्य में काफी तेजी होती जा रही है और विश्व की वस्तुओं का मूल्य गिरता जा रहा है। कच्चे माल के महँगे होने के कारण और यातायात के तेज़ तथा मजदूरी और मँहगाई और टैक्सों के अधिक होने

के कारण वस्तुयें तेज पड़ रही हैं। विभाजन के बाद भारत औद्योगिक वस्तुओं का ही निर्यात कर सकता है। पहले की तरह कच्चे माल का नहीं। अब भारत वस्तुओं का निर्यात तभी कर सकता है जब यहाँ की बनीं वस्तुयें सस्ती हों। वस्तुओं की उत्तमता के सम्बन्ध में यह बात है कि भारतीय व्यापारियों को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान रखकर अपने नैतिक स्तर को बढ़ाने का उद्योग करना चाहिये। यद्यपि आयात के भुगतान के सन्तुलन से दशा सुधारी जा सकती है किन्तु इसके लिये बहुत कम गुंजायश है। भारत खाद्यान, मशीनरी, तथा दूसरी आवश्यक वस्तुओं के लिये विदेशों पर निर्भर है। देश के हित को ध्यान में रखकर विलासता की वस्तुओं में कमी कर अधिक से अधिक निर्यात करने का हर संभव प्रयत्न करना चाहिये। निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिये भारत ने सन् १९४९ में मुद्रा का मूल्यन कर दिया। भारत के व्यापारिक सन्तुलन के लिये निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिये और भी अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं। प्रयत्न दो दिशाओं में हो रहे हैं—

(१) सभी विदेशों के निर्यात करने के प्रयत्नों को प्रोत्साहन देना।

(२) दुर्लभ मुद्रा वाले देशों को निर्यात करने वाले प्रयत्नों को प्रोत्साहन देना।

सभी विदेशों को वस्तु भेजने के लिये जो प्रयत्न किये गये हैं उनमें से कुछ यह हैं—२०० से अधिक वस्तुओं पर से नियन्त्रण हटाया गया है। विदेश में वाणिज्य प्रतिनिधित्व को दृढ़ किया गया है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मेलों और प्रदर्शनियों में भारतीय वस्तुओं का प्रचार करना। निर्यात के लिये किये गये आन्दोलन की सर्व-प्रथम सहायता करना, देश-देशान्तरों में व्यापारिक शिष्ट मण्डल भेजना, तथा दूसरे देशों से व्यापारिक समझौता करना इत्यादि है। और प्रयत्नों के जो सुझाव दिये गये हैं उनमें से विदेश स्थित व्यापारी प्रतिनिधियों के कार्यालयों में भारतीय वस्तुओं की प्रदर्शनी भवनों (Show room) का खोलना तथा ब्रिटिश एक्सपोर्ट ट्रेड ऑर्गनाइजेशन (ब्रिटिश निर्यात व्यापार संगठन) जैसा एक संगठन स्थापित करना और विदेशों को भेजी जाने वाली वस्तुओं की उत्तमता के स्तर को बढ़ाना इत्यादि हैं। दूसरी वस्तुओं के सम्बन्ध में यह बात है कि सुलभ मुद्रा वाले देशों के लिये जिन वस्तुओं पर नियन्त्रण लगा हुआ है वे दुर्लभ मुद्रा वाले क्षेत्रों को बेरोक-टोक भेजी जा सकती है। और इस प्रकार के क्षेत्र के लिये जूट की वस्तु तेल, तिलहन, और वस्त्र इत्यादि का कोटा उदारतापूर्वक निश्चित किया गया है।

भविष्य में भारत-पाक व्यापार प्रगति की ओर ही बढ़ेगा। जिस प्रकार इन दोनों देशों में मैत्री बढ़ती जायगी उसी प्रकार व्यापार भी बढ़ता जायगा।

गत २५ वर्षों में भारतीय विदेशी व्यापार की परिस्थितियों में काफी परिवर्तन

हो गया है। २५ वर्षों से पहिले भारत विदेशों से विशेषतः पक्के माल का आयात करता था जिसमें वस्त्र, लोहे का सामान, यन्त्र, घड़ियाँ, चमड़े का सामान, शीशे व बिसातखाने का सामान, कपड़ा सीने की मशीनें, मोटरें, साइकिल, कपड़ा सीने की मशीनें, तेल, साबुन, दवाइयाँ, कागज, शक्कर, दियासलाई आदि वस्तुएँ सम्मिलित होती थी। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया और देश में नये-नये कारखाने खुलते गये, पक्के माल का आयात कम होता गया, कच्चे औद्योगिक माल का आयात बढ़ता गया। उदाहरण के लिए सन् १९३०-३१ में कच्चे माल का आयात कुल आयात का १० प्रतिशत था जो १९३९-४० ई० में २२ प्रतिशत हो गया, इन्हीं दिनों में पक्के माल के आयात का प्रतिशत ८० से केवल ५६ रह गया। युद्ध काल में पक्के माल का आयात और भी कम हुआ। सन् १९४०-४१ ई० में पक्का माल ७० करोड़ रुपयों का आयात किया गया जब कि सन् १९४४-४५ ई० में यह आयात ६५ करोड़ रुपयों का रह गया। कच्चे माल के आयात में वृद्धि इस काल में भी बनी रही। इसके आयात का मूल्य ४२ करोड़ से बढ़ कर ११७ करोड़ हो गया था। खाद्य पदार्थ का आयात भी १९४४-४५ ई० में १९४०-४१ की अपेक्षा कम हुआ, पर बाद में बढ़ने लगा। सन् १९४५ ई० में भारत ने २२ करोड़ रुपयों का खाद्य पदार्थ आयात किया जो बढ़कर सन् १९५१ ई० में २६२ करोड़ रुपयों के हो गया। बाद में विभिन्न प्रयत्नों के कारण देश में खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ा; अतः आयात कम होने लगा। सन् १९५५ ई० में कुल ५३ करोड़ रुपयों का आयात हुआ। इसी साल कच्चे माल का आयात १६३ करोड़ तथा पक्के माल का आयात ४२७ करोड़ रुपयों का हुआ।

इसी प्रकार निर्यात व्यापार में भी काफी परिवर्तन हुआ है। २५ वर्षों पहले भारत मुख्यतः खेती की पैदावार तथा औद्योगिक कच्चे माल को बाहर भेजता था। निर्मित माल का निर्यात बहुत कम होता था, पर खेती की पैदावार तथा औद्योगिक कच्चे माल के निर्यात में उत्तरोत्तर कमी होती गई और निर्मित माल का निर्यात धीरे-धीरे बढ़ता गया। सन् १९३०-३१ ई० में कच्चे माल का निर्यात कुल निर्यात का ४० प्रतिशत था जो १९३९-४० ई० में ४३ प्रतिशत हो गया। इसी काल में पक्के माल का निर्यात २८ प्रतिशत से बढ़कर ३८ प्रतिशत तक हो गया। युद्ध काल में यह निर्यात और भी बढ़ा। सन् १९४०-४१ ई० में पक्के माल का निर्यात ८९ करोड़ रुपयों का था, जो बढ़कर सन् १९४४-४५ ई० में ११६ करोड़ हो गया। कच्चे माल का निर्यात, इसके विपरीत ६८ करोड़ रुपयों से घटकर ५८ करोड़ रुपया रह गया। परन्तु कुल निर्यात व्यापार इसी काल में ९८ करोड़ से बढ़कर २२७ करोड़ का हो गया। निर्यात की मात्रा में उत्तरोत्तर बढ़ती हो गई। सन् १९५५ ई० में कुल निर्यात ५७९ करोड़ रुपयों का हुआ, जिसमें १६५ करोड़ रुपयों के खाद्य पदार्थ, १६७ करोड़ रुपयों का कच्चा माल तथा २४७ करोड़ रुपयों का पक्का माल निर्यात किया गया

गत २५ वर्षों के प्रारम्भिक काल में भारत विदेशों से बहुत-सी वस्तुएँ मँगाया करता था पर निर्यात थोड़ी ही वस्तु का करता था। निर्यात में विशेषकर जूट, कपास, अनाज, तिलहन, खालें, और चाय आदि वस्तुएँ होती थीं। इन वस्तुओं के महत्व में धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहा। कपास का निर्यात कम होता गया, १९२०-२१ में भारत ने ४१६३ लाख रुपये के कपड़े का निर्यात किया जब कि सन् १९३८-३९ ई० में यह निर्यात केवल २१८२ लाख रुपयों का रह गया। इस समय में जूट व तिलहन का निर्यात भी कम हुआ। पर चाय तथा चमड़े का निर्यात बढ़ा। द्वितीय युद्धकाल में, जूट के निर्मित माल, कच्ची रुई, सूती वस्त्र, चमड़ा, अभ्रक व चाय का निर्यात बढ़ा, पर कपास, तिलहन, तेल, मैगनीज तथा तम्बाकू का निर्यात कम हुआ। युद्धकाल में आयात सभी वस्तुओं के कम रहे। ये आयात इंगलैन्ड, ब्रह्मा, लंका आस्ट्रेलिया, कनाडा, अफ्रीका, अमेरिका, जापान, मिश्र आदि देशों से होते रहे। इसी काल में भारत ने इंगलैंड, ब्रह्मा, लंका, आस्ट्रेलिया आदि उपरोक्त देशों को निर्यात किया। युद्ध के पश्चात् उपरोक्त देशों से तो व्यापार की मात्रा बढ़ती ही गई, साथ ही साथ कुछ नवीन देशों से भी व्यापारिक सम्बन्ध जोड़े गये, और शत्रु देशों से भी व्यापार बढ़ने लगा।

इन वर्षों में भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अन्य विशेषता यह रही कि इस व्यापार का सन्तुलन प्रायः भारत के पक्ष में ही रहता था। भारत विदेशों से कम मूल्य का माल आयात करता था, पर अधिक मूल्य का माल निर्यात करता था। यद्यपि अनुकूल सन्तुलन की मात्रा में कमी-बेशी होती रही पर कुछ वर्षों को छोड़कर यह सन्तुलन भारत के पक्ष में ही अधिकतर रहा। सन् १९२९-३० ई० में लगभग ७० करोड़ रुपयों का अधिक निर्यात किया गया, जब कि १९३९-४० ई० में यह अनुकूलता केवल ३९ करोड़ रुपयों की रह गई। युद्धकाल में यह अनुकूलता बढ़ती गई, यहाँ तक सन् १९४३-४४ ई० में भारतीय विदेशी व्यापार का अन्तर ९२ करोड़ रुपयों से भारत के पक्ष में हो गया। यद्यपि दूसरे वर्ष ही यह घट कर ४२ करोड़ रुपये के रह गया। इसके उपरान्त भारत के विदेशी व्यापार का अन्तर भारत के विपक्ष में रहने लगा। सन् १९४८ ई० में विदेशी व्यापार का अन्तर ४२ करोड़ रुपये से भारत के विपक्ष में हो गया। १९४९ ई० यह अन्तर १४५ करोड़ रुपये के लगभग हो गया। इस प्रतिकूल अन्तर को दूर करने के लिये केन्द्रीय सरकार द्वारा इंगलैन्ड के पद-चिन्हों पर चलते हुए भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन किया गया तथा डालर क्षेत्र से माल आयात करने पर कठोर नियंत्रण लगाये गये। इन तथा अन्य प्रयत्नों के फलस्वरूप व्यापारिक अन्तर की स्थिति में सुधार प्रारम्भ हुआ। अतः १९५० ई० में व्यापार का अन्तर ३८ करोड़ रुपयों से भारत के पक्ष में हो गया जो १९५१ ई०

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध से प्रथम भारत के ७० प्रतिशत निर्यात में खाद्य सामग्री तथा कच्चे माल का समावेश रहता था, तथा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का आयात होता था। व्यापार का संतुलन सदैव देश के अनुकूल रहता था। पर सन् १६३१ से प्रारम्भ होने वाली व्यापारिक मन्दी के कारण यह संतुलन धीरे-धीरे कम अनुकूल होने लगा। हमारे निर्यात का मूल्य काफी कम हो गया तथा इस घाटे की पूर्ति के लिए काफी मात्रा में सोने का निर्यात हुआ। अब भारत को अपने घरेलू काम को अदा करने के लिए यही एक उपाय रह गया था। सन् १६३६ ई० तक भारत को ३६२ करोड़ रुपयों की लागत का सोना निर्यात करना पड़ा।

युद्ध काल में भारतीय निर्यात में काफी परिवर्तन हुआ। जूट तथा सूती वस्त्र का निर्यात्त काफी अधिक बढ़ गया क्योंकि मध्यपूर्व तथा अफ्रीका का बाजार भारत के हाथ में आ गया। यूरोप तथा अमेरिका भारतीय चाय की माँग बहुत हुई। इस काल में देश के निर्यात का मूल्य बढ़ गया पर आयात काफी कम रहे, इसके फलस्वरूप व्यापार का सन्तुलन देश के पक्ष में रहा। इन वर्षों में भारत ने अधिकांशतः अपना व्यापार साम्राज्य देशों में फैलाया। आस्ट्रेलिया, कनाडा, मिश्र, ईराक तथा मध्य पूर्व के स्टर्लिंग क्षेत्र देशों के साथ निकटतम व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गये। इन सब देशों से व्यापार का सन्तुलन भारत के अनुकूल ही रहा। इसी काल में भारत व अमेरिका के बीच व्यापार बहुत बढ़ा।

युद्धोत्तर काल में देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में और भी परिवर्तन हुए। देश के विभाजन के फलस्वरूप व्यापार की मात्रा में वृद्धि हुई क्योंकि विभाजन के पहले इन दोनों देश के मध्य का व्यापार आन्तरिक व्यापार होता था जो विभाजन के बाद अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में परिणत हो गया। इधर युद्ध बन्द हो जाने के कारण जहाजी सुविधाएँ अधिक मिलने लगी तथा आर्थिक पुनर्निर्माण व औद्योगिक उन्नति के लिए वस्तुओं का आयात अधिक होने लगा। सन् १६४८ ई० में व्यापार का कुल योग ६२३ करोड़ रुपये के था जो बढ़ कर सन् १६५१ ई० में १६०० करोड़ रुपयों के हो गया।

इन वर्षों में कच्चे माल की आयात में काफी वृद्धि हुई। पाकिस्तान बन जाने के कारण कच्चे कपास तथा कच्चे जूट का आयात अधिक करना पड़ा। इसी प्रकार खाद्यानों की कमी के कारण खाद्यान के आयात में भी काफी वृद्धि हुई। अर्जेन्टायना, अमरीका, कैनाडा, इटली, टर्की, रूस, आस्ट्रेलिया, स्याम तथा ब्रह्मा से खाद्यानों का अधिक आयात करना पड़ा। सन् १६४८ ई० में ३० लाख टन खाद्यान बाहर से आया जो बढ़ कर सन् १६५१ ई० में ५५ लाख टन हो गया। इस काल में भारत में औद्योगिक विकास का होना प्रारम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार की निर्मित वस्तुओं का पर्याप्त परिमाण में निर्यात होने लगा है। रुपये

के अवमूल्यन तथा अन्य सरकारी प्रयत्नों के कारण इस निर्यात में बराबर वृद्धि ही हो रही है।

देश के आयात तथा निर्यात व्यापार में इंगलैन्ड का स्थान अब भी महत्त्वपूर्ण है, पर धीरे-धीरे उसका स्थान अमेरिका ले रहा है तथा आस्ट्रेलिया, कनाडा, ब्रह्मा तथा मिश्र देश के व्यापार में महत्वपूर्ण स्थान रखने लगे हैं। मध्यपूर्व देशों के साथ भी भारत ने व्यापारिक सन्धियाँ की हैं। सुदूर-पूर्व के देशों के साथ भी भारतीय व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ गये हैं।

इस सारे व्यापार का ६८ प्रतिशत समुद्र के द्वारा होता है। स्थल मार्ग से व्यापार की इतनी कमी का कारण यही है कि भारत के पड़ोसी देश अफगानिस्तान, तिब्बत, मध्य-एशिया आदि बहुत पिछड़े हुए हैं और निर्धन हैं। अतः न तो वे भारत से अधिक खरीदते हैं और उनके पास भारत के लिए कुछ बेचने को है। जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, इन दिनों आयात तथा निर्यात दोनों की वृद्धि हुई है, परन्तु युद्धोत्तर काल में व्यापारिक संतुलन देश के विपक्ष में ही रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि देश को खाद्यान बहुत बड़ी मात्रा में आयात करना पड़ता है, कच्चे माल का आयात भी बढ़ गया है। निर्मित माल का आयात कम हो गया है। इसके विपरीत अब भारत पहले की अपेक्षा कच्चा माल कम निर्यात करता है, और पक्के माल की निर्यात की मात्रा बढ़ गई है। निर्यात में चाय, जूट का सामान व सूती कपड़ा मुख्य हैं, तथा आयात में कपास, मशीनरी, खाद्यान्न, रेल व मोटर गाड़ियाँ तथा रासायनिक पदार्थ मुख्य हैं। युद्धोत्तर काल में इंगलैन्ड तथा कामनवैल्थ देशों से हमारा आयात कम हो गया है, इनके स्थान पर कामनवैल्थ से बाहर के देशों का भाग बढ़ गया है। इसी प्रकार निर्यात में भी कामनवैल्थ देशों का भाग कम हो गया है पर अन्य देशों का महत्व अधिक हो गया है। विभिन्न योजनाओं के लिए सामान तथा खाद्यान्न का आयात करने के कारण सरकार द्वारा आयात काफी मात्रा में किया जाने लगा है। पर प्रवृत्ति युद्धकाल में प्रारम्भ हुई। युद्धोत्तर काल में इस प्रवृत्ति में प्रगति ही हुई और ऐसा अनुमान किया जाता है कि भविष्य में राज्य द्वारा आयात का भाग बढ़ता ही जायगा। अब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यापारिक समझौतों द्वारा अधिक होने लगा है तथा यह प्रवृत्ति भी भविष्य में बढ़ेगी।

(३) द्वितीय महायुद्ध से पहिले भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की तीन मुख्य विशेषताएँ थीं। प्रथम, हमारा देश अधिकतर कच्चा माल विदेशों को भेजता था और विदेशों से बने हुए माल का आयात करता था। दूसरे, भारत से निर्यात किए हुए माल की मात्रा आयात होने वाले माल की मात्रा से कहीं अधिक रहा करती

थी। इसके फलस्वरूप व्यापार का संतुलन देश के अनुकूल रहा करता था। तीसरे, हमारा विदेशी व्यापार अधिकतर इंग्लैण्ड तथा राष्ट्र संघ के देशों के साथ होता था। और सरकारी नीति भी इसी प्रकार की रहा करती थी कि जिससे उन्हीं देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध से भारत को लाभ रहे।

द्वितीय महायुद्ध तथा उसके बाद के काल में विदेशी व्यापार की उपरोक्त तीनों विशेषताओं में परिवर्तन हो गया। अब हमारा देश कच्चे माल का निर्यात पहिले से बहुत कम करता है और निर्मित माल का निर्यात पहिले अधिक करता है। विदेशों से कारखानों में काम आने वाले औद्योगिक कच्चे माल का आयात ही अब अधिक होता है। इस प्रकार विदेशी व्यापार का संतुलन देश के पक्ष में नहीं रहता वरन् विपक्ष में ही रहता है; अर्थात् इस काल में भारत विदेशों से अधिक मूल्य का माल आयात करता है और बदले में कम माल निर्यात करता है। डालर तथा स्टर्लिंग दोनों ही क्षेत्रों के साथ व्यापार का संतुलन देश के विपक्ष में रहता है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में इस स्थिति की और भी अधिक विकट हो जाने की संभावना है। क्योंकि इन वर्षों में भारत विदेशों से बहुत अधिक मूल्य की मशीनें, लोहा, रसायनिक पदार्थ तथा औद्योगिक कच्चा माल मँगायेगा, जिससे हमारे देश का औद्योगीकरण शीघ्रता से हो सके। आजकल भारत का व्यापार केवल इग्लैण्ड तथा राष्ट्रसंघीय देशों के साथ ही सीमित नहीं रहा वरन् उसका क्षेत्र बराबर बढ़ता ही जा रहा है। मध्यपूर्व तथा सुदूर पूर्व के देशों में हमारा निर्यात बराबर बढ़ रहा है और अमरीका से हमारे आयात की मात्रा बराबर अधिक हो रही है। योरुप के साम्यवादी व प्रजातंत्र देशों के साथ भी भारतीय सरकार ने अनेक व्यावहारिक समझौते किए हैं। और वस्तु विनिमय के आधार पर हमारा व्यापार इन देशों के साथ निरंतर बढ़ रहा है।

इस प्रकार, गत १५ वर्षों में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ सामने आई जिनके कारण भारतीय विदेशी व्यापार की कुल मात्रा तथा उसके स्वरूप में भारी परिवर्तन हो गए। पिछले महायुद्ध के समय जहाजों की कमी शत्रु-भय तथा मित्र राष्ट्रों में स्वयं अपने यहाँ युद्ध तथा जनता की आवश्यकता के लिए बने हुए माल की भारी माँग के कारण विदेशी माल का आयात इस देश में बहुत कम हो गया। इसके विपरीत हमारे कच्चे माल जैसे रुई, पटसन, अनाज, चाय लोहा, चमड़ा, खनिज, रबड़, तिलहन इत्यादि की माँग विदेशों में बहुत अधिक बढ़ गई। इसके फलस्वरूप जहाजों की कमी तथा हर प्रकार के नियंत्रण होने पर भी हमारे देश से मित्र राष्ट्रों की बहुत अधिक मात्रा में माल का निर्यात हुआ; परन्तु इन देशों से हमारे देश में बने हुए माल का आयात बहुत कम हुआ। इससे भारत को २ लाभ पहुँचे। पहिले तो हमारा देश जो इग्लैण्ड का ऋणी था जिसे लगभग १३ अरब रुपए ऋण चुकाना था वह

अब साहूकार देश बन गया और व्यापार संतुलन की अनुकूलता होने के कारण इग्लैण्ड लगभग १६ अरब रु० से भारत का ऋणी बन गया। दूसरे, इग्लैण्ड तथा अन्य देशों से आयात में कमी हो जाने के कारण हमारे देश में अनेक नए उद्योगों की स्थापना हो गई और युद्ध काल में इन कारखानों ने खूब लाभ कमाया। इसके साथ ही साथ जर्मनी तथा जापान की हार से भारतवर्ष ने मध्य पूर्व तथा सुदूर पूर्व के देशों में अपनी वस्तुओं के लिए एक विस्तृत बाजार प्राप्त कर लिया। युद्ध से पूर्व जापान का सस्ता माल इन देशों में प्रायः बिका करता था। युद्धोत्तर काल में इन सब देशों में भारत के बने हुए माल की माँग बढ़ने लगी।

उपरोक्त अनुकूल परिस्थितियों के साथ ही साथ इसी समय कुछ प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी उपस्थित बनी रहीं जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भारत को पूरा-पूरा लाभ न हो सका। उदाहरण के लिए सन् १६४७ ई० में विभाजन के फलस्वरूप तेल, अनाज, चावल, पटसन आदि बहुत सी निर्यात की जाने वाली वस्तुएँ पाकिस्तानी क्षेत्र में चली गईं और अब भारत को भी इन वस्तुओं का आयात करना पड़ा। साथ ही साथ युद्ध के पश्चात् विदेश की बनी हुई सस्ती वस्तुओं का आयात पुनः प्रारंभ हो गया जिससे भारतीय कारखाने कुछ सीमा तक बन्द हो गए। इस प्रकार निर्यात की मात्रा में कमी होने तथा आयात की मात्रा में वृद्धि होने से व्यापार संतुलन देश के विपक्ष में हो गया। यदि हम सन् १६४६ ई० से लेकर १६५५ ई० तक के आँकड़ों को देखें तो यही पता चलता है कि इन सारे वर्षों में व्यापार का संतुलन हमारे विपक्ष में रहा।

इन वर्षों के प्रतिकूल व्यापारान्तर का भुगतान भारतवर्ष पौण्ड पावने की रकम, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा अन्य विदेशी सहायता के द्वारा करता रहा। इसके फलस्वरूप हमारे पौण्ड पावने की बाक़ी अब केवल ७०० करोड़ रु० रह गई है। पिछले ५ वर्षों में हमें लगभग ३०० करोड़ रु० की विदेशी सहायता भी प्राप्त हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक तथा मुद्रा कोष से भारत को ऋण भी प्राप्त हुआ है। इस धनराशि से देश ने अधिक आयात का भुगतान किया। परन्तु यह स्थिति बहुत दिनों तक इसी प्रकार नहीं चल सकती। इसलिए केन्द्रीय सरकार यथाशक्ति आयात की मात्रा कम करने के लिए और निर्यात की मात्रा बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रही।

आयात कम करने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा बहुत से नियंत्रण लगाए गए। अनावश्यक तथा विलासिता की वस्तुओं का आयात यथासंभव बंद किए गए और आयात होने वाली आवश्यक वस्तुओं को देश में ही निर्माण करने का प्रयत्न किया जाने लगा। इस संबंध में अनेक नए कारखाने विदेशी पूँजी के सहयोग से स्थापित किए गए। ऐसे उद्योगों में तेल शोधक बर्मा-शैल, स्टैण्डर्ड-वैकुअम व

काल्टैक्स के कारखाने, मोटर उद्योग, साइकिल फैक्टरियाँ, रसायनिक व दवाई के उद्योग प्रमुख हैं। दूसरी ओर निर्यात को हरेक प्रकार से प्रोत्साहन दिया गया। अनेक वस्तुओं के निर्यात के लिए निर्यात विकास-परिषद् स्थापित कर दी गई। विदेशों में भारतीय वस्तुओं की माँग को बढ़ाने के लिए व्यापारिक एजेंट तथा दूत नियुक्त कर दिए गए हैं जो अपने दूतावासों में भारतीय वस्तुओं का प्रदर्शन करते हैं तथा औद्योगिक प्रदर्शनियों में भाग लेते हैं।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि कुछ क्षेत्रों में भारत अपनी निर्यात की वस्तुओं को और भी आगे बढ़ा सकेगा। उदाहरण के लिए बिजली का सामान, बिजली के मोटर, सिलाई की मशीनें; सेनिटरी का सामान, छोटी-छोटी मशीनें, रसायनिक सामान, सीमेंट, लोहे, शीशे व चमड़े का सामान, दवाइयाँ, कपड़े हाथ करघे तथा अन्य गृह उद्योगों की वस्तुओं का निर्यात अधिक मात्रा में विदेशों को हो सकेगा।

पिछले कुछ वर्षों में बहुत सी बाधाओं के होते हुए भी भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में काफी उन्नति हुई है। सन् १६३० के आसपास देश के वैदेशिक व्यापार की कुछ मात्रा ३०० करोड़ रु० के लगभग हुआ करती थी। आजकल यह मात्रा बढ़कर १३ अरब रु० की हो गई है। यदि वस्तुओं की बढ़ती हुई कीमतों का भी ध्यान रक्खा जाय तो भी यही निष्कर्ष निकलता है कि आजकल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कुल मात्रा में काफी वृद्धि हो गई है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में काफी सुधार हुआ है। अनाज व रुई का आयात बहुत कम हो गया है। इन दोनों वस्तुओं के उत्पादन में देश प्रायः स्वावलम्बी बनता जाता है और इस प्रकार करोड़ों रुपये की लागत का आयात बन्द होता जा रहा है। सन् १६५१ ई० में इस आयात का मूल्य २१७ करोड़ रु० के लगभग था जो १६५५ ई० में केवल ६६ करोड़ रु० का रह गया। इसी प्रकार जूट की पैदावार भी बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। निर्यात के क्षेत्र में भी हमारे देश के सम्मुख एक बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ा हुआ है और आशा है कि विभिन्न निर्यात विकास परिषदों की सहायता से इस स्थिति का पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न किया जायेगा। देश को आयात कम तथा निर्यात अधिक करने की बड़ी आवश्यकता है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की सफलता के लिए बहुत सा सामान विदेशों से मँगाना है। इसके लिए दुर्लभ विदेशी मुद्रा तभी प्राप्त की जा सकती है जब कि हम अपने निर्यात को बढ़ावें तथा प्रत्येक सम्भव उपाय से अनावश्यक वस्तुओं के आयात को रोकें।

शोधनाशेष (Balance of Payments)

शोधनाशेष का अर्थ एक ऐसे विवरण से है जिसमें आयात-निर्यात एवं उन आयात-निर्यातों का मूल्य लिखा रहता है। इस विवरण के दायीं ओर आयात

का सविस्तार ब्यौरा दिया जाता है और बाईं ओर निर्यातों का सम्पूर्ण उल्लेख रहता है। संक्षेप में शोधनाशेष में एक ओर उन ब्योरों (items) को दिखाया जाता है जिन पर विदेशियों से प्राप्ति होनी है और दूसरी ओर वे ब्योरे होते हैं जिन पर विदेशियों को भुगतान करना है। यह वार्षिक आधार पर बनाया जाता है और पूर्वनिश्चित विनिमय दर पर इनका मूल्य लगाया जाता है।

इन विवरणों में निर्यातों की ओर (१) वस्तुओं का निर्यात, (२) सेवाओं का निर्यात, (३) विदेशी ऋणों तथा विनियोगों से प्राप्त होने वाली आय, (४) विदेशी यात्रियों द्वारा देश में किया जाने वाला व्यय, (५) विदेशियों से प्राप्त होने वाले मुआवजे, युद्ध-व्यय, दान, दंड इत्यादि, (६) अन्य प्रकार के भुगतान। आयातों में (१) वस्तुओं का आयात, सेवाओं का आयात, (३) विदेशियों को ऋण, व्याज़ व लाभ चुकाने के भुगतान, (४) देश के यात्रियों द्वारा विदेशों में किया जाने वाला व्यय, (५) विदेशों को दिए जाने वाले मुआवजे, दान, दंड आदि (६) अन्य प्रकार के भुगतान।

इस शोधनाशेष में दृश्य और अदृश्य (visible and invisible) आयात और निर्यातों का विवरण रहता है और इस प्रकार से इसका संतुलन (balance) सदैव बना रहता है।

व्यापार-शेष (Balance of Trade) शोधनाशेष से कुछ भिन्न है क्योंकि व्यापार-शेष में केवल दृश्य (visible) आयात निर्यात ही जाते हैं। अतः इसके आयात और निर्यात पक्षों का शेष (balance) मिलना आवश्यक नहीं। आयात अधिक हो सकते हैं तो कभी निर्यात। यदि निर्यातों का मूल्य आयात मूल्य से अधिक है तो व्यापार-शेष अनुकूल अथवा धनात्मक (Favourable of Positive Balance of Trade) कहा जाता है। इसके विपरीत यदि देश के आयातों का मूल्य निर्यात मूल्यों से अधिक है तो इस व्यापार शेष को प्रतिकूल या ऋणात्मक व्यापार-शेष (Unfavourable Adverse of Negative Balance of Trade) कहा जाता है। अतः व्यापारशेष कभी तो अनुकूल हो सकता है और कभी प्रतिकूल। यदाकदा ही यह शेष संतुलित होता है।

निम्नांकित तालिका में भारत के व्यापार शेषों की स्थिति सन् १९५६-५७ से १९५७-५८ के प्रथम ६ मास तक दी गई है :—

भारत के व्यापार-शेष

(करोड़ रुपए)

	अप्रैल जून	जुलाई सितम्बर	अक्टूबर दिसम्बर	जनवरी मार्च	योग	अप्रैल जून	जुलाई सितम्बर	योग
(१) आयात	२३०	२४७	२९४	३०६	१०७७	३२३	२९९	६२२

(२) निर्यात	१५४	१३५	१७२	१७६	६३७	१५०	१२७	२६७
व्यापार-शेष	-७६	-११२	-१२२	-१३०	-४४०	-१८३	-१७२	-३५५

ये व्यापार-शेष किस प्रकार अनुकूल किए जाते हैं ये हम यथास्थान इसी पुस्तक के अध्याय १३ में वर्णन कर चुके हैं।

प्रश्न

१. व्यापार संतुलन (Trade Balance) एवं शोधन-शेष (Balance of Payments) में क्या अन्तर है ? इस अन्तर का क्या महत्व है ? (आगरा बी० ए० १९५७)

२. व्यापारिक शेष सिद्धांत पूर्ण स्थिति को किसी प्रकार प्रगट नहीं करता ? इस कथन को भारत तथा इंगलैंड की स्थिति को ध्यान में रखते हुए समझाइए ? (आगरा बी० ए० १९५६)

3. What specific information does the study of nation's balance of payments yield ? *(Agra B. A. 1959)*

अध्याय १६

राष्ट्रीय आय, बचत, विनियोग और पूर्ण वृत्ति

(National Income, Savings, Investments and Full Employment)

राष्ट्रीय आय

राष्ट्रीय आय अथवा लाभांश का तात्पर्य उस सतत प्रवाह से होता है जो कि देश के समस्त निवासियों के वस्तुओं और सेवाओं के संचय से प्राप्त होती है। पीगू के अनुसार, "राष्ट्रीय लाभांश किसी समाज की भौतिक आय का वह भाग है जिसमें विदेशों से प्राप्त आय भी सम्मिलित होती है, जिसकी मुद्रा में माप हो सकती है। National Dividend is that part of the objective income of the Community, including of course income derived from abroad, which can be measured in money"—Pigou. इस प्रकार पीगू ने उन वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य को राष्ट्रीय आय में नहीं जोड़ा है जिनकी कीमत मुद्रा में न मापी जाए। उदाहरणार्थ माता-पिता या पत्नी की निशुल्क सेवाएँ अथवा मित्र की कृतज्ञता। कई अर्थशास्त्रियों के अनुसार राष्ट्रीय आय में से ऐसी आय को निकाल दना चाहिए जो कि बिना सेवा के प्राप्त की गई है जैसे दान या पेंशन से प्राप्त आय। कुछ अधिकारी सरकारी अधिकारियों की सेवाओं को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं करते हैं। परन्तु मार्शल ने देश के सब प्रकार के उत्पादन से प्राप्त होने वाली आय को (चाहे वह भौतिक वस्तुओं के रूप में हो अथवा अभौतिक वस्तुओं के) राष्ट्रीय आय में जोड़ा है।

मार्शल के दृष्टिकोण को अपनाती हुई दूसरी परिभाषा फिशर (Fisher) की है—"National Dividend of Income consists solely of services as received by ultimate consumers, whether from their material or from their human environment". राष्ट्रीय लाभांश अथवा आय में, उपभोक्ताओं को प्राप्त होने वाली सेवाएँ सम्मिलित हैं चाहे वे भौतिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुई हो अथवा मानवीय प्रयत्नों से।"

डा० वी० के० आर० वी० राव का विचार है कि राष्ट्रीय आय वस्तुओं और सेवाओं की धारा के मुद्रा-मूल्य द्वारा सूचित होती है। उनके अनुसार सभी

कीमतें चालू कीमतों के आधार पर आँकी जाती हैं परंतु उन आयातों को नहीं जोड़ा जाता जो कि बिक्री के लिए किए गए हैं। डा० राव का विचार क्लार्क की परिभाषा से मेल खाता है जो कि इस प्रकार है "किसी समय विशेष में राष्ट्रीय आय उन सेवाओं और वस्तुओं के मुद्रा-मूल्य द्वारा सूचित की जाती है जो उस समय में उपभोग के लिए प्राप्य है, ये मूल्य उनकी वर्त्तमान विक्रय कीमत पर निकाला जाता है। पूँजी की उस वृद्धि को मिलाया जाता है जो नए पूँजी गत माल के मूल्य के रूप में चुका दिया गया है। इसी प्रकार पूँजी की घटोतरी (depreciation) और घिसावर (obsolescence) को घटा दिया जाता है।"

राष्ट्रीय आय को निम्नांकित रीतियों द्वारा मापा जा सकता है—(१) उत्पत्ति गणना प्रणाली (Census of production method)-इसके अंतर्गत हम किसी एक उद्योग अथवा फर्म की शुद्ध उपज निकालते हैं। ऐसा करने के लिए सकल (Gross) उपज में से बिक्री आदि निकाल दी जाती है। इसी प्रकार देश के समस्त उद्योगों एवं व्यवसायों की शुद्ध उपज (Net products) निकाल कर राष्ट्रीय आय ज्ञात कर सकते हैं। इस शुद्ध उजप में से प्रयुक्त मशीनरी इत्यादि की घटोतरी एवं अन्य साधनों संबंधी व्यय घटा दिये जाते हैं। (२) आय गणना प्रणाली (Census of Incomes methods)—इस प्रणाली में देश वासियों की चाहे वे आय कर देते हो य न देते हों, आय का योग निकाला जाता है। इन आयों का योग (जो देश के सभी परिवारों की पृथक-पृथक आय की गणना करके निकाला जा सकता है) राष्ट्रीय आय का प्रतीक है। यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि कोई आय या आय का अंश दुबारा न गिना गया हो। (३) व्यावसायिक गणना प्रणाली (Occupational census method)—विभिन्न उत्पादक कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों की आय की गणना की जाती है परंतु कोई आय की दो बार गणना न की जानी चाहिए। इन सब का योग राष्ट्रीय आय को सूचित करता है। स्टाम्प के अनुसार इस आय को ज्ञात करते समय युद्ध के समय के भत्ते, वृद्धावस्था पेंशन फंड (Old age pensions) सम्मिलित नहीं करनी चाहिए क्योंकि ये आय व्यावसायिक आय नहीं है। (४) चौथी प्रणाली में उत्पादन गणना और आय गणना दोनों ही का संयुक्त प्रयोग किया जाता है।

इन प्रणालियों में से किसका प्रयोग किया जाए यह वहाँ के प्रयोक्ताओं एव उनके उद्देश्य पर निर्भर करता है। यदि सावधानीपूर्वक काम लिया जाए तो सभी प्रणालियाँ उचित एवं शुद्ध परिणाम पर पहुँचती हैं परंतु व्यवहारिक रूप में उत्पत्ति गणना प्रणाली और व्यावसायिक गणना प्रणाली अधिक प्रचलित है क्योंकि इनमें आय को दुबारा गिनने की कम गुंजायश है।

राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक कल्याण परस्पर संबंधित हैं। इस परस्पर संबंध को एवं राष्ट्रीय आय के अध्ययन का महत्व हम इस प्रकार समझ सकते हैं :—

राष्ट्रीय आय संबंधी आँकड़े हमें देश के जीवन स्तर एवं देश के कल्याण का स्तर के संबंध में विषय सूचना देते हैं। देश की आर्थिक प्रगति किस गति से हो रही है, उसमें क्या परिवर्तन हो रहे हैं, आर्थिक परिस्थितियों में क्या नवीनताएँ आ रही हैं एवं उनका देशवासियों पर क्या प्रभाव पड़ रहा है, ये सारी बातें इस अध्ययन से ज्ञात होती हैं। दूसरे आय संबंधी आँकड़ों को देख कर हम यह पता लगा सकते हैं कि देश का आर्थिक विकास समुचित आधार पर हो रहा है अथवा नहीं या आर्थिक विकास की सामान्य प्रवृत्ति क्या है? तीसरे, राष्ट्रीय आय के आँकड़े देश के आर्थिक, व्यापारिक औद्योगिक, प्रशुल्क नीति में सहायक होते हैं जो हमारी अर्थ-व्यवस्था में दोषों को, यदि कोई हैं, स्पष्ट करती है।

भारत की राष्ट्रीय आय

भारत की राष्ट्रीय आय के अनुमान समय-समय पर लगाए जाते रहे हैं। दादाभाई नौरोजी ने सन् १८६७-७० के अनुमान ज्ञात किए जिनके अनुसार राष्ट्रीय आय २० रुपया प्रति व्यक्ति रही थी। लार्ड कर्जन के अनुसार सन् १९०० में प्रति व्यक्ति आय ३० रुपया आँकी गई। सन् १९३१-३२ में डा० वी० के० आर वी० राव ने ६५ रुपया प्रति व्यक्ति आय का अनुमान लगाया। यह अधिक सही अनुमान माना जाता है। उन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों और नागरिक क्षेत्रों की आय का पृथक पृथक अनुमान लगाया था। सन् १९३७-३८ में सर जेम्स ग्रिग के अनुसार प्रतिव्यक्ति आय ५६ रुपया थी।

स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय आय की गणना की गई और अधिक वैज्ञानिक एवं सुसंगठित कदम उठाए गए। वाणिज्य मंत्रालय के अनुसार भारत संघ में प्रति व्यक्ति की आय २०४ रुपया गिनी गई। परन्तु इसके पंचवर्षीय योजना काल में राष्ट्रीय आय की गणना का महत्व और भी अधिक बढ गया। इस बढ़ते हुए महत्व को देखते हुए सरकार ने १९४९ में राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) की स्थापना की जिसका काम राष्ट्रीय आय संबंधी आँकड़ो में सुधार के सुझाव देना एवं अधिक वैज्ञानिक रीति से राष्ट्रीय आय का पता लगाना है। इस समिति की रिपोर्ट के अनुसार विभिन्न वर्षों में प्रति व्यक्ति आय इस प्रकार थी।

सन् १९४८-४९—२४७ रुपए
१९५१-५२—२७४.५ रुपए
१९५२-५३—२६७ ,,
१९५३-५४—२८३ ,,

इन आँकड़ों को देखकर हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय आय लगातार बढ़ रही है परन्तु १९५२-५३ में पिछले वर्ष से प्रति व्यक्ति आय घटी जिसका कारण जनसंख्या में वृद्धि है। सूचनांको को देखने से पता लगता है कि सन् १९४८-४९ के थोक कीमतों के आधार पर सन् १९५३-५४ में कीमतों में ६% वृद्धि हुई है। इस कारण वास्तव में प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि कम रही है।

योजना आयोग के अनुसार सन् १९५०-५१ की तुलना में १९७४-७५ तक कुल राष्ट्रीय आय को तीन गुना तथा प्रति व्यक्ति आय दुगना कर देने का आयोजन है। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल समाप्त हो चुका है। इस काल में राष्ट्रीय आय में १८% वृद्धि हुई है और प्रति व्यक्ति आय में ११% बढोतरी हुई है जब कि अनुमान ७% वृद्धि का था। दूसरी पंचवर्षीय योजना काल (१९६१) के अंत तक प्रति व्यक्ति आय ३३१ रुपए देना है और राष्ट्रीय आय में २५%की वृद्धि का लक्ष्य है। इसी काल में जनसंख्या लगभग ४१ करोड़ हो जाने का अनुमान है। केन्द्रीय आँकड़ा संगठन (Central Statistical Organisation) के नवीनतम अंको के (२७ अप्रैल ५९) अनुसार प्रति व्यक्ति आय इस प्रकार थी :—

सन् १९५५-५६—२६१ रुपए प्रति व्यक्ति
" १९५६-५७—२४१-५ " "
" १९५७-५८—२८९ " "

संपूर्ण राष्ट्रीय आय १९५६-५७ में ११००० रुपए थी जो १९५७-५८ में १०८३० रुपए रह गई जिसका कारण खाद्य फसलों की कमी एवं इस क्षेत्र में न्यून उत्पादन रहा। द्वितीय पंचवर्षीय योंजना के प्रथम वर्ष में ५% की राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई परन्तु सन् १९५७-५८ मे (द्वितीय वर्ष) १.५% का ह्रास हुआ। प्रति व्यक्ति आय में ३.६% वृद्धि हुई जब कि १९५७-५८ के वर्ष में यह कुल २.८% ही रही। यदि इस ह्रास की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया तो सन् १९७४-७५ तक प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय कों ५४६ रुपये कर देने के लक्ष्य को पूरा करना सन्देहस्पद रहेगा।

परन्तु अन्य देशों की तुलना में भारत में प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है जैसा कि निम्नांकित आँकड़ों से प्रकट है :—

देश	वर्ष	प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय रुपयों में
आस्ट्रेलिया	१९५३	४४६०
बर्मा	"	२०६
फ्रान्स	१९५४	३६८६

जापान	,,	६२८
पाकिस्तान	५३-५४	२४५
भारत	,,	२८४
ब्रिटेन	१९५४	४०५७
अमेरीका	,,	८९७४

औसत अमरीकन की आय भारतीय से करीब ३१ गुनी है और औसत अंग्रेज की १४ गुनी। इस औसत को बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि (१) उत्पादन की सभी क्षेत्रों में वृद्धि कीजिए, (२) आय के वितरण में असमानताओं को दूर किया जाए तथा (३) जनसंख्या की वृद्धि पर प्रतिबंध लगाए जाएँ—

अर्थशास्त्री कीन्स के अनुसार एक व्यक्ति द्वारा किया गया व्यय दूसरे व्यय का आय होता है। जब एक व्यक्ति कोई वस्तु खरीदता है तभी विक्रेता को आय होती है। इसी प्रकार सेवा के बारे में कह सकते हैं कि मालिक नौकर को वेतन देता है तो मालिक के लिए व्यय है और दूसरी ओर नौकर को प्राप्त वेतन, आय। इस प्रकार सारे समाज की मौद्रिक आय समाज के कुल व्यय के तुल्य होगी। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सामाजिक उपज के कोष में वृद्धि कर देना ही आय को उत्पन्न कर देने का उपाय होता है। कारण है कि उत्पत्ति के उत्पत्ति में साधनों श्रम, पूँजी, भूमि आदि साधनों का उपयोग किया जाता है तो उत्पत्ति के इन साधनों का भुगतान करता रहता है। एक व्यक्ति की आय (जब वह उसे प्राप्त कर लेता है) दूसरे व्यक्ति की आय को उत्पन्न करती है। व्यय करते समय व्यक्ति सभी आय को व्यय नहीं कर देता अपितु कुछ अंश भावी उपभोग के लिए बचा लेता है यही अंश बचत (Saving) कहलाता है। तो आय—उपभोग = बचत।

जब आय में वृद्धि होती है तो उपभोग भी बढ़ जाता है क्योंकि उपभोग की प्रवृत्ति (propensity to consume) में कोई परिवर्त्तन नहीं होता अतः उपभोग की प्रवृत्ति आय पर प्रभाव नहीं डालती है बल्कि विनियोग में हुई वृद्धि आय में वृद्धि हो जाती है। जितनी विनियोग में बढ़ती होती है उतने से ही आय में भी तरक्की होती है।

इस प्रकार बचत में परिवर्त्तन करने के लिए आय में परिवर्त्तन करना पड़ता है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है उपभोग की दशा में परिवर्त्तन नहीं के बराबर होता है। अतः देश की जनता यदि ८०% व्यय करने की आदी है तो बचत २०% ही होगी। बचत को बढ़ाने के लिये कुल आय बढ़ानी पड़ेगी। बचत को व्यक्ति अपने पास नगदी (Cash) में रख सकता है, बैंक में भी जमा कराया जा सकता है या ऋण देकर अथवा विनियोगों (सरकारी, अर्द्धसरकारी, शेयर डिबेंचरों) में लगाया जा सकता है। इस बचत से संपत्ति-भूमि, मकान आदि खरीदे जा सकते हैं। इसे व्यक्तिगत बचत भी कहते हैं।

सामाजिक बचत व्यक्तिगत बचत में अन्तर है। सामाजिक बचत तभी होगी जब कि कोई व्यक्ति इसके विरोध में कार्य न करे। जब एक व्यक्ति बचत करता है तो दूसरा इसके विरोध में कार्य अवश्य करता है जैसे एक व्यक्ति संपत्ति क्रय करता है तो दूसरा उसे बेचता है।

विनियोग (Investment)

सामाजिक बचत का तात्पर्य पूँजी का नया निर्माण होता है। जैसे सरकार द्वारा नहरें बनाने या उद्योग स्थापना के लिए लिया गया ऋण या मकानों का निर्माण। इन पूँजी के नए निर्माण को ही विनियोग कहते हैं। विनियोग बचत का रूप है जिसमें व्यक्ति भविष्य में आय प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है। यह व्यक्तिगत विनियोग होता है जो अधिकांश में सरकारी नीति पर निर्भर रहता है। जैसा कि पहले अंकित किया जा चुका है बचत को ब्याज पर उठा दिया जा सकता है या विनियोग किया जा सकता है। जहाँ लाभ बढ़े हुए होते हैं वहाँ विनियोगों को प्रोत्साहन मिलता है जब कि ब्याज की दरें बढ़ने पर विनियोगों को हतोत्साहन मिलता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जहाँ पर पूँजी की सीमांत कुशलता (Marginal efficiency of capital अथवा लाभ की दर) ब्याज की दर के बराबर हो जाती है वहीं पर विनियोग (के समापन) की सीमा आ जाती है।

भारत में आय, बचत तथा विनियोग

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में राष्ट्रीय आय में १८% की वृद्धि हुई है। इधर विनियोग की मात्रा ४५० करोड़ रुपए प्रति वर्ष से बढ़ कर ७६० करोड़ रुपये प्रति वर्ष हो गई। और विनियोग की दर प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरंभिक वर्ष में जो ५% से कम थी वह ७% से भी अधिक बढ़ गई। सन् १९७४-७५ तक प्रति व्यक्ति आय के दुगने होने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है जिसके अनुमान में द्वितीय पंचवर्षीय योजना (१९६०-६१) काल के अंत तक राष्ट्रीय आय के ११% तक बचत का अनुमान है और तृतीय योजना की समाप्ति तक २०% बचत का लक्ष्य रखा गया है। परंतु जनता को अधिक कष्ट अनुभव होने के कारण यह अंक १७% लगाया गया है जिसके अनुसार सन् १९६५-६६ में १४% और १९७०-७१ में १६% का लक्ष्य रखा गया है। परन्तु फिर भी यह बचत की दर अन्य देशों की तुलना में आशाजनक नहीं है।

भारत में पूँजी निर्माण की दर धीमी रही है। किसी भी देश की सम्पन्नता वहाँ के पूँजी के निर्माण पर आधारित होती है और पूँजी निर्माण का अर्थ बचत को अधिक करना होता है। वैसे तो भारतीयों के बचत का स्वभाव प्रकृति दत्त है फिर भी यहाँ की आय कम होने के कारण बचत में वांछित वृद्धि नहीं हुई। फिर नए-

नए कर एवं कई गुनी कीमतों की वृद्धि इस बचत की अधिकता में और अधिक बाधक रहे हैं। राजाओं, जमींदारों आदि वर्गों के उन्मूलन से बचत करने की क्षमता में ह्रास हुआ है। यहाँ पर छोटी-छोटी बचत करने वाले व्यक्तियों के लिए अधिक सुविधाएँ भी कम है। यह भारत जैसे ग्रामीण देश में अनिवार्य सुविधा होनी चाहिए। इस बचत को बढ़ावा देने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा प्रसार रोका जाए, उत्पादन बढ़ाया जाए, उत्पादकों के लिए बैंक, डाकखानों आदि की सुविधाएँ जुटा कर वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि की जानी चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों में बचत को प्रोत्साहित करने के लिए अनेक डाकखाने तथा व्यापारिक बैंक खोले जाने चाहिए।

पूर्ण वृत्ति (Full Employment) का अर्थ

चाहे पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था हो या साम्यवादी अथवा समाजवादी, बेरोजगारी की समस्या न्यूनाधिक बनी ही रहती है। फिर भी पूर्ण रोजगारी की व्यवस्था करना तथा बेरोजगारी को रोकना प्रत्येक शासन का आजकल महत्वपूर्ण कार्य है। और कल्याणकारी राज्य में तो और भी अवश्यंभावी। पूर्ण वृत्ति का तात्पर्य ऐसी आर्थिक व्यवस्था है कि जिसमें प्रत्येक देशवासी को ऐसा व्यवसाय मिल जाए जिसको कि उसे खोज है।

प्रत्येक अर्थ व्यवस्था में निम्नांकित कारणों के होने से कुछ अंश तक बेकारी बनी रहना आवश्यक है :—(१) समाज में कुछ लोगों का स्वभाव ही यह होता है कि वे काम करना ही नहीं चाहते। अतः वे बेकार ही बने रहते हैं परन्तु बेरोजगारी इसी अवस्था में कही जाती है जब चाहते योग्य काम नहीं मिलता। (२) कुछ लोग एक व्यवसाय को छोड़ कर दूसरा पकड़ना चाहते हैं और इस परिवर्तन में कुछ दिनों बेकार बैठना पड़ा रह सकता है क्योंकि तुरन्त ही कार्य मिलना आवश्यक नहीं। (३) कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लोग किसी कार्य को सीखने में समय बिता देते हैं। यदि इस प्रशिक्षण काल में उन्हें मजदूरी नहीं मिलती तो बेकारी की अवस्था ही कही जाएगी। (४) कुछ आकस्मिक बेकारी जैसे हड़तालों का या तालाबंदी का होना, समय के अंतर से काम की नियुक्ति होना अथवा बाढ़ या खुश्की के कारण किन्हीं उद्योगों का काम रुकना, होती है। (५) कुछ मौसमी (Seasonal) बेकारी भी होती है जैसे चीनी, शक्कर की मिलें, फल-सुरक्षा (Food and fruit preservation) उद्योग इत्यादि, इत्यादि।

इन परिस्थितियों में हम कह सकते हैं कि जनसंख्या के लगभग ९५ से ९८ प्रतिशत भाग तक रोजगार मिलना चाहिए।

पूर्ण वृत्ति के सिद्धांत

सर्व प्रथम रोजगार की अवस्था किसी देश के विनियोग सम्बन्धी नीतियों पर आधारित रहती है। जब ब्याज की दर घटती है तो विनियोगों को प्रोत्साहन मिलता है और ब्याज-दर बढ़ने पर विनियोग घटते हैं। अतः रोजगार बढ़ाने के लिए ब्याज दरों को घटाना आवश्यक है। रोजगार में उस समय तक बढ़ने की गुंजायश नहीं होती जब तक कि भावी लाभ बढ़ने की संभावना न हो। अतः दूसरे विचार के अनुसार विनियोग भावी लाभ की आशा पर निर्भर रहते हैं। रोजगार की मात्रा सरकारी नीति एवं हस्तक्षेप पर भी निर्भर करती है। मंदी (Depression) के दिनों में रोजगार बढ़ाने के लिए सरकार को आय से अधिक व्यय करना पड़ता है तथा अभिवृद्धि (Boom) काल में कम व्यय करना पड़ता है एवं उद्योगपतियों के लाभ कमाने की संज्ञा को नियंत्रित करना पड़ता है ताकि हड़तालें या तालाबंदी न हो। इस प्रकार से

(१) अवसाद एवं अभिवृद्धि काल में सरकार को उचित कदम, उद्योगों की वृद्धि के लिए एवं मजदूरी बनाए रखने के लिए, उठाने चाहिए।

(२) मंदी से कुप्रभावित उद्योगों में ही ऐसा संगठन किया जाना चाहिए कि मजदूरों को उन्हीं उद्योगों में लगाना चाहिए जिनमें कि वे बेकार हुए हैं।

(३) सरकार को अपनी आर्थिक नीति द्वारा उद्योगों और निर्यातों को प्रोत्साहन देते रहना चाहिए ताकि रोजगार का स्तर बना रहे।

इस प्रकार पूर्ण वृत्ति के लिए आर्थिक नियोजन सफलतापूर्वक बनाना चाहिए। परन्तु आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए सरकारी नियंत्रण एवं प्रदर्शन आवश्यक माना जाता है।

भारत में पूर्ण रोजगारी

भारतवर्ष में पूर्ण रोजगारी बनाए रखने के लिए प्रथम तो ग्रामीणों की बेरोजगारी का ध्यान रखना चाहिए, दूसरे प्रति वर्ष नए उत्पन्न व्यक्तियों को रोजगार दिलाना तथा तीसरे कृषि तथा कुटीर उद्योगों में लगे हुए व्यक्तियों को अधिक रोजगार की सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर भारत में आर्थिक नियोजन इसी सिद्धांत पर आधारित है। सेवा योजनालयों (Employment Exchanges) की स्थापना की गई, प्रथम पंचवर्षीय योजना में लगभग १ करोड़ व्यक्तियों को रोजगार देने का लक्ष्य रखा गया परन्तु १६५३ में ही इस दिशा में अधिक गतिशीलता लाने के लिए योजना में संशोधन करने पड़े। द्वितीय पंचवर्षीय योजना का औद्योगीकरण के साथ-साथ रोजगार में वृद्धि मुख्य उद्देश्य रखा गया।

योजना-आयोग के विचार में इस योजना काल में १५३ लाख व्यक्तियों को (लोक क्षेत्र में) रोजगार मिलने की आशा है। इस प्रकार इस काल में बेरोजगारी को कुछ (न्यून) अंश तक ही समाप्त किया जा सकेगा। संभवतः तृतीय योजना की समाप्ति पर स्थिति में पर्याप्त सुधार हो जाएगा।

प्रश्न

1. Are savings and investments in an economy always equal ? If not, how can this condition be brought about ?

(आगरा बी. ए. १६६६)

द्वितीय खंड

अधिकोषण
सिद्धांत,
विधान
कार्यप्रणाली
राष्ट्रीय एवं
अन्तर्राष्ट्रीय
संस्थाएँ

अध्याय १

अधिकोषण

(Banking)

परिचय (Introduction)

अधिकोषण ने संसार के आर्थिक विकास में बड़ा महत्वपूर्ण योग दिया है। वास्तव में बैंक ही वर्तमान व्यापार का जीवन रक्त है। व्यापारिक लेनदेनों में बैंक कितना महत्वपूर्ण है, यह तो इस बात से पता चल जायेगा कि एक रोज के भी अधिकोष (Bank) बंद हो जाने से समस्त व्यापार ठप हो जाता है। बैंकों के विकास के कारण ही पाश्चात्य देशों का औद्योगिक विकास संभव हो सका है।

बैंक की परिभाषा—बैंक वह संस्था है, जो ऐसे लोगों से जिनके पास देने के लिये रुपया है, रुपया उधार लेती और अधिक ब्याज पर उन लोगों को रुपया उधार देती है जिन्हें उसकी आवश्यकता होती है, और ऐसे लोग बैंक या बैंकर्स कहलाते हैं। क्योंकि ये दोनों कार्य साख पर निर्भर हैं अतः कहा जा सकता है कि बैंक वह संस्था है जो द्रव्य तथा साख में व्यापार करती है। देश के व्यापारिक क्षेत्र में सुयोग्य और सुचारु रूप से व्यवस्थित अधिकोषण का अधिक महत्व है।

जिस प्रकार द्रव्य की परिभाषा में द्रव्य वह है जो द्रव्य के कार्य करता है उसी प्रकार बैंक वह संस्था है जो बैंकिंग का कार्य करती है। अतः अधिकोष (Bank) लेन-देन करने वाली वह संस्था है जो साख और द्रव्य का क्रय-विक्रय उसी प्रकार करती है जिस प्रकार व्यापारी माल का क्रय-विक्रय करते हैं। बैंक कम ब्याज पर जनता को धनराशि प्राप्त कराता है अथवा उधार देता है। और अधिक ब्याज पर व्यापारियों तथा जनता को कई प्रकार के ऋणों के रूप में उधार देता है। यही बैंक का मुख्य कार्य है और यही उसके लाभ का साधन है।

सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम (Banking Companies Act of 1959) ने बैंकिंग की परिभाषा इस प्रकार दी है। "बैंकिंग जनता के द्रव्य को धनराशि के रूप में स्वीकार करने को कहते हैं। जो धनराशि बैंक द्वारा निकाली जा सके और जिसे स्वीकार करने का उद्देश्य दूसरों को उधार देना अथवा विनियोग करना होता है।" बैंकिंग की इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि बैंक का मुख्य कार्य, जनता से धनराशि प्राप्त करना तथा उसे दूसरों को उधार देना है। किन्तु इस परिभाषा के लिये यह आवश्यक है कि धनराशि बैंक द्वारा निकाली जाये।

राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था में बैंकिंग का स्थान

बैंक उन व्यक्तियों में जिनके पास पूँजी है, परन्तु कौशल नहीं है अथवा कौशल है परन्तु पूँजी नहीं है, समन्वय करता है और लेन-देन के द्वारा पूँजी के एकीकरण, बचत तथा उत्पत्ति की वृद्धि में सहायक होता है।

अपने आढ़त के कार्यों से वह व्यापारियों का पर्याप्त समय बचाता है तथा ऋण देकर उनकी चिन्ता कम करता है और उन्हें निश्चिन्त करके व्यापार में सफल बनाता है। उनकी बहुमूल्य वस्तुयें अग्नि तथा चोरी से बचाकर सुरक्षा का प्रबन्ध करता है। आयात-निर्यात में रुपया लगाता है तथा बिलों के भुगतान में सहायता देता है। ग्राहक की साख बढ़ाता है जो फ्रैंकलिन के अनुसार उनका सबसे बड़ा धन है। नैतिक शिक्षा, ईमानदारी, विश्वसनीयता तथा ठीक समय पर काम करने की आदत बनाता है।

अतः किसी भी उद्योग या आर्थिक योजना की सफलता में बैंक का बहुत उच्च स्थान है। बैंकों के द्वारा देश में पूँजी एकत्रित होती है। क्योंकि बैंक जनता में बचाने की भावना को उत्पन्न करता है। इस प्रकार जनता द्वारा बचाई हुई रकम बैंक उन लोगों को ब्याज पर देता है जिनको उसकी अधिक आवश्यकता है जो इसका अच्छा उपयोग करके देश का उत्पादन बढ़ा सकते हैं। जिन देशों में बैंकों का विकास नहीं हुआ है वहाँ पर व्यापार तथा उद्योग-धंधे पिछड़ी दशा में हैं। बैंकों द्वारा ही देश में नवयुवक अच्छे ढंग से अधिक संगठन करना सीखते हैं और इस प्रकार बैंक देश को विकास की ओर ले जाता है।

बैंकों को व्यापार, वाणिज्य तथा व्यवसाय का मुख्य केन्द्र कहा जाता है, क्योंकि बैंकों से व्यापारियों को निम्नलिखित लाभ होते हैं:—

(१) बैंक उन लोगों से धन प्राप्त करके, जिन्हें इसकी आवश्यकता नहीं है, व्यापारियों को ऋण देता है, जो इसका सदुपयोग करते हैं। इससे देश के उद्योग-धन्धे चेतते हैं, लोगों को रोजगार मिलता है और सारे समाज की भलाई होती है।

(२) बैंक-साख-मुद्रा के प्रयोग को प्रोत्साहन देता है, जिससे बिना रुपये के ही रुपये का कार्य चलता है।

(३) बैंक साख-मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन करके देश की मुद्रा-प्रणाली को लोचपूर्ण बनाता है।

(४) बैंक रुपये को बहुत कम व्यय पर एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने का साधन उपलब्ध करता है।

(५) बैंक लोगों में रुपया बचाने की आदत डालता है और उनकी बचत को अपने यहाँ सुरक्षित रखता है तथा कुछ ब्याज भी देता है।

(६) बैंक अपने ग्राहकों की और भी कई प्रकार से सेवायें करता है। जैसे, पूँजी-सम्बन्धी परामर्श देना, ग्राहकों की आर्थिक अवस्था की जाँच पड़ताल करना तथा उनकी बहुमूल्य वस्तुओं को अपने यहाँ सुरक्षित रखना।

बैंकों का विकास—ईसामसीह के २००० वर्ष पूर्व बैबिलोनियाँ के निवासियों ने बैंक-सम्बन्धी पर्याप्त प्रगति की थी। वहाँ पर मन्दिरों में बैंकों का कार्य होता था। पुजारीगण बैंकर्स का काम करते थे। किन्तु धार्मिक आस्था कम हो जाने पर लोगों में सुरक्षा की भावना तथा पुजारियों का विश्वास कम हो गया। सरकार का विकेन्द्रीकरण हो जाने के कारण यूनान तथा रोम में बैंकों को ठेस पहुँची। कुछ लोगों ने इस बात का प्रचार किया कि ब्याज लेना महापाप है। इसका भी बैंकों पर कुप्रभाव पड़ा। आज भी इस्लाम धर्म में ब्याज लेना पाप माना जाता है। किन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ धन की आवश्यकता बढ़ी। अतः १२ वीं शताब्दी के मध्य में बैंक व्यवसाय में फिर जाग्रति हुई।

भारतवर्ष में भी बैंकिंग व्यवसाय बहुत प्राचीन है। यद्यपि पहले यह व्यवसाय आधुनिक ढंग से नहीं चलता था। वैदिक काल में भी रुपये का लेन-देन होता था। इतिहास में ऐसा प्रमाण मिलता है कि पाँचवीं शताब्दी में भारतवर्ष में हुँडियों का चलन था। महाजन लोग देशी-विदेशी व्यापार को ब्याज लेकर आर्थिक सहायता प्रदान करते थे। मुस्लिम काल में भी मुल्तानी तथा शर्राफ लोग ऐसा कार्य करते थे। ये ही लोग सरकारी कोषाध्यक्ष होते थे और आवश्यकता पड़ने पर सरकार को ऋण भी दिया करते थे। इसीलिये तो कुछ को जगत सेठ कहा जाता था। भारतवर्ष में अँग्रेजों के आगमन के पश्चात् बैंक व्यवसाय में और भी वृद्धि हुई क्योंकि अँग्रेज स्वयं व्यापारी थे और बैंकों के बिना उनका काम नहीं चलता था। आज तो सारे संसार में बैंकों का इतना अधिक महत्व हो गया है कि सरकार को बैंक व्यवसाय के विकास के लिये विशेष नियम बनाने पड़ते हैं।

बैङ्कों के कार्य—बैंक निम्नलिखित कार्य करते हैं :—

(१) बैंक उचित ब्याज पर जनता से मुद्दती खाते, बचत खाते, चालू रखते हैं तथा किसी अन्य प्रकार से जमा प्राप्त करते हैं।

(२) जनता द्वारा की हुई जमा की राशि तथा बैंक के स्वामी की पूँजी ब्याज पर उधार देते हैं। प्राप्य ब्याज तथा देय-ब्याज का अंतर ही उनका लाभ होता है। यह ऋण माल की जमानत पर अथवा व्यक्तिगत ब्याज पर लिया जाता है।

(३) वे रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने की सुविधायें प्रदान करते हैं।

(४) वे जनता की बहुमूल्य वस्तुओं को अपने यहाँ सुरक्षित रखते हैं।

(५) बैंक अपने ग्राहकों को बहुमूल्य धातु तथा प्रतिभूतियाँ क्रय-विक्रय करने के संबन्ध में परामर्श देते हैं और कुछ साधारण फीस लेकर इनका ग्राहकों के लिये क्रय-विक्रय करते हैं।

(६) बैंक सरकार के कोषाध्यक्ष होते हैं और सरकारी ऋण व्यवस्था करते हैं।

(७) कुछ बैंक कागजी-मुद्रा छापकर तथा उस पर नियंत्रण करके मुद्रा-प्रणाली को लोचदार बनाते हैं।

(८) बैंक अपने ऋण देने की नीति द्वारा देश की आर्थिक-व्यवस्था सुदृढ़ करते हैं। वास्तव में ये देश के आर्थिक अभिभावक हैं।

(९) बैंक अन्तर्देशीय व्यापार के भुगतान की व्यवस्था करते हैं।

(१०) बैंक उद्योगपतियों के लिये अपनी जमानत पर ऋण दिलवाते हैं तथा उनके अंशों तथा ऋण पत्रों का भी गोपन करते हैं।

(११) अपने ग्राहकों का कर निर्धारण कराते हैं तथा उनकी ओर से कर, किराया तथा प्रीमियम इत्यादि का भुगतान करते हैं।

(१२) अमेरिका में संभवतः कोई ऐसा व्यापारिक लेन-देन नहीं है जिसमें बैंक सहायता प्रदान न करते हों।

अच्छी बैंक व्यवस्था के गुण—किसी भी देश का आर्थिक विकास एवं सम्पन्नता सुदृढ़ बैंक व्यवस्था पर निर्भर होती है। एक सुदृढ़ बैंक व्यवस्था में निम्नलिखित गुण होने चाहिये :—

(१) बैंक का संगठन एवं नियंत्रण योग्य व्यक्तियों के हाथ में हो जो अपनी ईमानदारी एवं कुशलता के कारण जनता का विश्वास प्राप्त कर सकें।

(२) बैंक के कर्मचारी एवं व्यवस्थापक हर उद्योग तथा व्यवसाय की आवश्यकताओं से भली भाँति परिचित हों जिससे वे अपना कार्य सफलता से कर सकें।

(३) क्योंकि उद्योग तथा व्यवसाय बैंकों पर निर्भर होते हैं अतः बैंकों का कारबार व्यक्तिगत आधार पर न चलकर राष्ट्रीय आधार पर चलाया जाये।

(४) प्रारंभ में विदेशी पूँजी तथा विशेषज्ञ भले ही रख लिये जायें, किन्तु किसी प्रकार भी ऐसी नीति निर्धारित करने में उनकी बात न मानी जाये, जो राष्ट्र के हित के विरुद्ध हो।

(५) बैंकों को चाहिये कि वे जनता को धन बचाने तथा उसका विनियोग करने का पाठ पढ़ायें और इसके प्रचार पर पूरा ध्यान दें।

(६) बैंकों को सरकारी सहानुभूति प्राप्त होनी चाहिये, जिससे उन्हें हर प्रकार से प्रोत्साहन मिलता रहे।

(७) बैंकिंग व्यवस्था देश की आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल होनी चाहिये जिससे वह समाज के प्रत्येक वर्ग की आवश्यकता को पूरा कर सके।

(८) बैंकिंग व्यवस्था लोचपूर्ण होनी चाहिये जिससे साख का निर्माण देश की व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार घट-बढ़ सके।

(९) बैंकिंग व्यवस्था में प्रतियोगिता के स्थान नहीं मिलना चाहिये। विभिन्न अंगों के मध्य पूर्ण सहयोग एवं परस्पर के सम्बन्ध स्थापित होने चाहिये जिससे आपस में प्रतिस्पर्धा न कर सकें।

(१०) समस्त राष्ट्र की सेवा करने के लिये बैंकों को सुविधायें हर स्थान पर उपलब्ध होनी चाहिये। अर्थात् भिन्न-भिन्न स्थानों पर बैंकों की शाखायें स्थापित हों।

बैंकों की शाखायें—बैंकों के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों के दो विचार हैं। कुछ का कहना है कि बैंक एक इकाई के रूप में एक ही स्थान पर कार्य करें, जब कि कुछ की धारणा है कि बैंक भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपनी शाखायें स्थापित करें। इकाई बैंक का अर्थ है कि बैंक का केवल एक ही कार्यालय हो, जब कि शाखा बैंक का अर्थ है कि बैंक के भिन्न-भिन्न स्थानों पर कार्यालय स्थापित हों और ये कार्यालय प्रधान कार्यालय की देखरेख में कार्य करें। अमेरिका में इकाई बैंक व्यवस्था है। वहाँ पर कोई बैंक दूसरे राज्य में अपनी शाखा स्थापित नहीं कर सकता। यह बात आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न बैंक आपस में सम्बन्ध रखते हैं और इस प्रकार एक दूसरे के लिये शाखा का कार्य करते हैं। संसार के अधिकतर देशों में विशेषकर इंगलैंड, कनाडा, दक्षिण अफ्रिका, आस्ट्रेलिया व भारत में शाखा बैंक व्यवस्था चालू है। शाखा तथा इकाई बैंक व्यवस्था में कुछ गुण तथा दोष पाये जाते हैं। शाखा व्यवस्था के गुण, इकाई व्यवस्था के दोष हो जाते हैं। तथा दोष गुण हो जाते हैं। अतः हम यहाँ पर केवल शाखा बैंक व्यवस्था के गुण तथा दोषों का ही वर्णन करेंगे। शाखा बनाम इकाई बैंक व्यवस्था वृहत् उत्पादन बनाम लघु उत्पादन की समस्या है। इकाई बैंक व्यवस्था लघु उत्पादन है, जब कि शाखा व्यवस्था वृहत् उत्पादन है।

शाखा बैंक व्यवस्था के गुण

(१) श्रम विभाजन—शाखा बैंक व्यवस्था में वे सभी गुण हैं जो श्रम विभाजन में होते हैं। भिन्न स्थानों पर शाखायें स्थापित करके योग्य व्यक्तियों को नियुक्त किया जा सकता है। क्योंकि बहुत से कर्मचारी रखने होते हैं अतः श्रम विभाजन द्वारा उनकी योग्यता का पूरा लाभ उठाया जा सकता है।

(२) अधिक नकद कोष की आवश्यकता नहीं—बैंक अधिक से अधिक रुपया ब्याज पर लगा कर लाभ कमाया करते हैं, किन्तु ऐसा करना शाखा बैंक व्यवस्था में अधिक संभव है। यदि किसी शाखा में किसी समय रुपया निकालने

वालों की अधिक माँग आ जाये तो दूसरी शाखा से रुपया मँगाकर यह माँग पूरी की जा सकती है। अतः यह आवश्यक नहीं कि हर शाखा में पर्याप्त नकद कोष रक्खा जाये।

(३) **कम व्यय पर एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजना**—एक ही बैंक की भिन्न-भिन्न शाखायें एक स्थान से दूसरे स्थान को सुगमता से कम व्यय पर रुपया भेज सकती हैं। इससे ग्राहकों को सुविधा मिलती है और वे कम व्यय के लालच में ऐसे बैंक से अपना हिसाब खोलना पसन्द करते हैं।

(४) **जोखम में कमी**—जब बैंक की भिन्न-भिन्न स्थानों पर शाखायें होती हैं तो बैंकों का धन भिन्न-भिन्न स्थानों पर विनियोग होता है। किसी एक स्थान पर संकट आ जाने से बैंक नष्ट नहीं होते। यदि बैंक का समस्त धन एक ही स्थान पर विनियोगित हो और उस स्थान पर कोई आर्थिक संकट आ जाय तो बैंक का समस्त धन जोखम में पड़ जाता है। शाखा व्यवस्था में केवल कुछ अंश नष्ट हो सकता है, समस्त धन नहीं। १६२६ के कृषि-मंदी युग में अमेरिका की बैंकों को जितनी हानि उठानी पड़ी उतनी इंगलैंड के बैंकों को नहीं। क्योंकि अमेरिका में इकाई बैंक व्यवस्था के कारण समस्त धन एक ही स्थान पर विनियोगित था।

(५) **ब्याज की दर में समानता**—बैंक की शाखाएँ सुगमता से ऐसे स्थान पर धन विनियोग करके जहाँ ब्याज की दर अधिक हो; ब्याज की दर में समानता लाती हैं। उस शाखा का धन, जहाँ धन की माँग कम होने से, ब्याज की दर कम है। उस स्थान पर ले जाकर विनियोग किया जा सकता है जहाँ धन की माँग अधिक है। ऐसा करने से देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में ब्याज की दर समान हो जाती है। और बैंक का धन किसी भी शाखा में व्यर्थ नहीं रहता। कहीं न कहीं जाकर विनियोग हो ही जाता है। इसमें बैंक के लाभ में वृद्धि होती है।

(६) **अच्छे विनियोग में धन लगाने का अवसर**—यदि बैंक किसी अच्छे विनियोग में धन लगाना चाहे तो शाखाओं द्वारा यह अवसर प्राप्त हो जाता है। मान लीजिये जूट मिलों के अंशों में धन लगाना लाभप्रद समझा गया है तो कलकत्ते के स्थित शाखाओं द्वारा धन सुगमता से विनियोग किया जा सकता है। क्योंकि जूट मिलों के समीप रहने के कारण वहाँ की स्थिति का आर्थिक ज्ञान है।

(७) **देश की आर्थिक स्थिति का अच्छा ज्ञान**—भिन्न-भिन्न स्थानों पर शाखायें स्थापित होने से देश के भिन्न-भिन्न स्थानों की आर्थिक स्थिति का ज्ञान हो जाता है। जनता से संपर्क स्थापित करके ये शाखायें अपने ज्ञान की वृद्धि करती हैं, जिससे बैंक व्यवस्थापकों को सफल नीति निर्धारित करने का अवसर मिलता है।

(८) शाखायें नवयुवकों को बैंक व्यवस्था का प्रशिक्षण प्रदान करती हैं।

शाखाओं में बैंक संबंधी भिन्न-भिन्न बातों का ज्ञान प्राप्त करने में सुगमता रहती है।

शाखा बैंक व्यवस्था के दोष

(१) **श्रम विभाजन की सीमा**—आदम स्मिथ के अनुसार एक सीमा से अधिक श्रम विभाजन लाभप्रद न होकर हानिदायक होता है। यही बात बैंक की शाखाओं पर भी लागू होती है।

(२) **नियन्त्रण की कठिनाई**—अधिक शाखायें होने से प्रधान कार्यालय को उन पर नियन्त्रण करने में कठिनाई होती है जिसका फल यह होता है कि शाखायें मनमाना कार्य करने लगती हैं और बैंक को हानि होती है। बिना कठोर नियन्त्रण के शाखाओं में कुप्रबन्ध होता है और व्यवस्था दोषपूर्ण हो जाती है।

(३) **अधिक व्यय**—अधिक शाखायें स्थापित करने से कर्मचारियों के वेतन तथा भवन के किराये पर अधिक व्यय करना होता है जिससे लाभ कम हो जाता है। प्रधान कार्यालय को भी शाखाओं पर नियन्त्रण करने के लिये अधिक व्यय करना होता है।

(४) **संक्रामक संकट**—यदि किसी कारण एक शाखा पर कोई संकट आ जाये तो यह संकट दूसरी शाखा को भी सहन करना पड़ता है। किसी शाखा की कुव्यवस्था से अन्य शाखायें भी बदनाम हो जाती हैं।

(५) **लालफीतावाद**—क्योंकि शाखायें स्वतन्त्र नहीं होती अतः उन्हें अपने हर निर्णय पर अनुमति प्रधान कार्यालय से प्राप्त करनी पड़ती है। और आवश्यक विषयों पर शीघ्र निर्णय नहीं दिया जा सकता। परिणामस्वरूप हानि होती है।

(६) **प्रतिस्पर्धा में वृद्धि**—बैंक भिन्न-भिन्न स्थानों पर शाखायें खोलकर लाभ कमाने के हेतु दूसरे बैंकों से प्रतिस्पर्धा करते है। जनता से अधिक ब्याज पर रुपया प्राप्त करने तथा कम ब्याज पर रुपया विनियोग करने का प्रयत्न करते हैं। इससे सभी बैंकों को हानि उठानी पड़ती है।

(७) **संचालकों का जनता से घनिष्ट संपर्क नहीं**—इकाई बैंक व्यवस्था में बैंक के संचालक स्थानीय व्यापारियों के घनिष्ट संपर्क स्थापित करके अपने ज्ञान की वृद्धि करते हैं और कार्य में क्षमता लाते हैं। शाखा व्यवस्था में संचालकों के लिये यह संभव नहीं। शाखा बैंक व्यवस्था के गुण दोषों से अधिक हैं। राष्ट्र की भलाई शाखा व्यवस्था द्वारा ही की जा सकती है। अनेकों बैंकों का पंजीकरण कराने की अपेक्षा यही अच्छा है कि कुछ बैंक अनेक स्थानों पर अपनी शाखायें स्थापित करें। शाखा स्थापित करने के लिये कोई विशेष वैज्ञानिक कार्यवाही नहीं करनी पड़ती।

भारतवर्ष में बैंकों की शाखायें—भारतवर्ष एक विशाल देश है। बढ़ी हुई जनसंख्या के लिये वर्तमान बैंक शाखायें कम हैं और जनता की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये उनका विकास करना आवश्यक है। भारवर्ष में प्रति ४, ००, ००० व्यक्तियों के लिये बैंक की केवल एक ही शाखा है। भारतवर्ष के २, ५०० नगरों में केवल ४०० नगर ऐसे हैं जहाँ पर बैंक हैं। ग्रामों में तो बैंकों की शाखायें किंचित मात्र भी नहीं हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त बैंकों की शाखाओं में कुछ बृद्धि हुई है, यद्यपि यह आशातीत नहीं है। किन्तु भारतीय ग्राम आज भी इस सुविधा से दूर हैं।

मिश्रित बैंक व्यवस्था—कुछ अर्थशास्त्रियों का कथन है कि भिन्न-भिन्न उद्देश्य के लिये भिन्न प्रकार के बैंक स्थापित की जायें, क्योंकि ऐसा करने से उनका विशिष्टीकरण होगा और वे अपना कार्य सुचारु रूप से चला सकेगें। कुछ अर्थशास्त्री मिश्रित अर्थ व्यवस्था के पक्ष में हैं। मिश्रित बैंक व्यवस्था का अर्थ है कि बैंक भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति करें। व्यापारिक बैंक केवल अल्प काल के लिये चल सम्पत्ति धरोहर रखकर अथवा व्यक्तिगत साख पर ऋण देते हैं। लम्बी अवधि के लिये ऋण देना अथवा उद्योगधंधों को पूँजी जुटाना इनके कार्य क्षेत्र से बाहर हैं। औद्योगिक बैंक उद्योगधंधों के लिये पूँजी जुटाते हैं, व्यापारिक बैंक नहीं। मिश्रित बैंकिंग व्यवस्था में व्यापारिक बैंक न केवल अल्पकालीन ऋण प्रदान करते हैं अपितु लम्बे काल के लिये उद्योगपतियों को ऋण प्रदान करते हैं तथा उनके ऋणपत्रों का अभिगोपन करते हैं। जर्मनी में मिश्रित बैंक व्यवस्था बहुत लाभदायक सिद्ध हुई है। डेनमार्क तथा स्विटजरलैंड में भी इसके अच्छे परिणाम निकले हैं।

मिश्रित बैंक व्यवस्था के गुण

(१) बैंक उद्योगपतियों के संपर्क में आकर उनकी कार्य प्रणाली से परिचित हो जाते हैं और समय-समय पर उन्हें विशेष परामर्श प्रदान कर सकते हैं।

(२) बैंक औद्योगिक संस्थाओं के अंशों तथा ऋणपत्रों का अभिगोपन करके विनियोग करने वालों के हृदय में उद्योगों के प्रति विश्वास उत्पन्न करते हैं। इससे देश की पूँजी सक्रिय हो जाती है।

(३) यदि बैंक के पास मुद्दती खाते में अधिक रकम जमा हो गई है तो इसका लाभदायक उपयोग लम्बी अवधि के लिये ऋण देकर ही किया जा सकता है।

दोष—(१) मंदी काल में मिश्रित-बैंकों को हानि उठानी पड़ती है, क्योंकि उस समय औद्योगिक संस्थाओं के अंश तथा ऋणपत्रों के मूल्य गिर जाते हैं। फ्रांस, जापान तथा अमेरिका में आर्थिक मंदी के युग में मिश्रित बैंकों को बड़ी हानि उठानी पड़ी।

(२) मिश्रित बैंकिंग व्यवस्था में बैंकों को हानि हो जाने से रुपया जमा करने वालो को भी हानि होती है। इससे जनता का बैंकों में विश्वास कम हो जाता है और देश की आर्थिक व्यवस्था को ठेस पहुँचती है।

उपरोक्त दोषों के कारण स्वीडन व बेल्जियम इत्यादि देशों में मिश्रित बैंकिंग व्यवस्था पर प्रतिबंध है। भारतवर्ष का भारतीय बैंक अधिनियन भी मिश्रित बैंकिंग की आज्ञा प्रदान नहीं करता। क्योंकि मिश्रित बैंकिंग व्यवस्था के कारण बैंक संकट उपस्थित होते हैं।

बैंक संकट—बैंक आर्थिक कारबार का समस्त ढाँचा जनता के विश्वास पर निर्भर है, बैंकिंग भवन की नीव ही जनता के बिश्वास के ऊपर टिकी हुई है। जनता के विश्वास में किसी प्रकार की कमो आ जाने से बैंकों पर संकट आ जाता है। बैंकों का संकट एक भयंकर संक्रामक रोग है। यदि किसी समय एक बैंक पर संकट आ जाता है तो सारे बैंक संकटयुक्त हो जाते हैं। बैंकों के संचालक अपने अनुभवों से यह जानते हैं कि जनता द्वारा जमा की हुई रकम जमा करने वालों द्वारा एक समय वापस नहीं माँगो जायेगो। इसलिये बैंक जमा की हुई रकम का ६०-७० प्रतिशत ब्याज पर लगाये रखते हैं जिससे माँगने वालों का तुरन्त भुगतान किया जा सके। यदि किसी समय जनता का विश्वास किसी बैंक पर कम हो जाता है तो लोग तुरन्त ही अपना रुपया वापस माँगने दौड़ पड़ते हैं। बैंक के पास पर्याप्त पूँजी तथा विनियोग होते हुए भी यह कठिन हो जाता है कि उस समस्त पूँजी तथा विनियोग को नकद रुपयों में परिवर्तित किया जा सके। रुपया माँगने पर बैंक यदि भुगतान तुरन्त नहीं करता तो बैंक को अपना कारबार तुरन्त बन्द करना पड़ता है और बैंक पर संकट आ जाता है। वे लोग जिनका रुपया दूसरे बैंकों में जमा है वे भी घबरा जाते हैं और डरने लगते हैं कि उनका बैंक भी फेल न हो जाये। इसलिये वे भी अपना रुपया वापस लेने के लिये अपने बैंक पर दौड़ लगाने लगते हैं। अतः एक बैंक पर संकट आ जाने से सब बैंकों पर संकट आ जाता है।

इन संकटों को दूर करने के लिये बैंकों को चाहिये कि जनता का विश्वास दृढ़ बनाने के लिये माँगने पर रुपयों का भुगतान तुरन्त करें और इस कार्य में अन्य बैंक अथवा केन्द्रीय बैंकों को भी यथाशक्ति सहायता करनी चाहिये। संकटग्रस्त बैंक को अधिक मात्रा में ऋण मिलना चाहिये जिससे वह संकट का सामना कर सके। बैंक के प्रबंधकों का भी यह कर्तव्य है कि वे जमा की हुई रकम का कुछ नकद भाग अलग रखें। संकट काल में बैंकों को चाहिये कि भुगतान करने के लिये वे २४ घंटे खुले रहें जिससे जनता को विश्वास हो जाये कि बैंक के पास रुपयों की कमी नहीं है। भारत विभाजन के पश्चात् पंजाब नेशनल बैंक पर दो बार ऐसा संकट आया और वह इसी नीति को अपनाकर सफल हुआ। क्योंकि जनता का विश्वास

प्राप्त हो जाने पर रुपया निकालने वाले फिर जमा करने लगते हैं और इस प्रकार बैंकों का संकट दूर हो जाता है। १६४६ के बैंकिंग अधिनियम में इस बात का उल्लेख है कि संकटकाल में रिजर्व बैंक भरपूर सहायता करें। बैंक के लिये यह भी अनिवार्य कर दिया गया है कि वह जमा की हुई राशि का एक निश्चित भाग से अधिक ब्याज पर न लगावे।

बैंक संकट के कारण जमा करने वालों को हानि उठानी पड़ती है और देश का आर्थिक ढाँचा अस्त-व्यस्त हो जाता है। इसीलिये कुछ लोग बैंकों के राष्ट्रीय-करण की माँग कर रहे हैं।

बैंकों का राष्ट्रीयकरण—द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सभी देशों में आर्थिक क्षेत्र में राज्य द्वारा हस्तक्षेप अधिकाधिक हो गया है। समाजवादी प्रथा भी नियन्त्रित अर्थ व्यवस्था के पक्ष में है। बैंक व्यवस्था आर्थिक ढाँचे का आधार है। अतः बैंक पर पूर्ण राजकीय नियंत्रण की माँग के साथ-साथ उनके राष्ट्रीयकरण की माँग की जा रही है। बैंक सरकार के अधीन होने चाहिये। तभी इनका संचालन राष्ट्रीय उन्नति के लिये किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त बैंकों का मुख्य कार्य साख का निर्माण करना है। साख नियंत्रण बहुत आवश्यक होता है, क्योंकि अन्यथा साख को व्यक्तिगत लाभ कमाने के लिये प्रयोग किया जा सकता है। साख नियंत्रण भी सरकार द्वारा कुशलतापूर्वक किया जा सकता है और व्यापार चक्रों के संकटों से भी, जो कि बैङ्कों की बुद्धिहीनता तथा स्वार्थपूर्ण नीति के कारण उत्पन्न होते हैं, बैङ्कों के राष्ट्रीय-करण द्वारा छुटकारा पाया जा सकता है। समाजवादी देशों का अनुभव भी इसी बात की पुष्टि करता है, क्योंकि वहाँ तो व्यापार संकट उत्पन्न ही नहीं होते। बैङ्क जनता के धन व विश्वास में व्यवसाय करते हैं। अतः उनके लाभ भी व्यक्तियों को न होकर जनता को होने चाहिये जो उनके राष्ट्रीयकरण द्वारा ही संभव हो सकता है।

ऐसा कहा जाता है कि स्वार्थपूर्ण तथा संकुचित नीति के कारण ही बैङ्कों के प्रति जनता में विश्वास पैदा नहीं हुआ। जनता में विश्वास उत्पन्न करने के लिये बैङ्कों के राष्ट्रीयकरण की माँग की जाती है और इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये जाते हैं।

पक्ष में

(१) व्यक्तिगत बैङ्कों का अब तक का इतिहास यह बतलाता है कि इनकी व्यवस्था निराशाजनक एवं अकुशल रही है जिसमें धन का दुरुपयोग हुआ है। अतः राष्ट्रीयकरण द्वारा ही इन दोषों को दूर किया जा सकता है, क्योंकि राज्य की देखरेख में धन का दुरुपयोग नहीं हो पायेगा और कुशल कर्मचारियों द्वारा बैङ्क की व्यवस्था में क्षमता आयेगी।

(२) समाजवादी समाज की स्थापना के लिये भी बैंकों का राष्ट्रीयकरण अनिवार्य है, तभी बैंकों का उपयोग राष्ट्रीय प्रगति में किया जा सकेगा।

(३) भारतवर्ष में ही नहीं अन्य देश में भी आर्थिक संकट आने के कारण बैंक असफल हुए हैं जिससे रुपया जमा करने वालों को हानि उठानी पड़ी। आज भी अनेकों छोटी-मोटी बैंक हानि में चल रही हैं। अतः रुपया जमा करने वालों की सुरक्षा के हेतु बैंकों का राष्ट्रीयकरण अति आवश्यक है। इससे जनता में विश्वास बढ़ेगा और देश की पूँजी का पूरा उपयोग हो सकेगा।

(४) बैंकों का सभी कारबार जमा करने वालों की धनराशि पर चलता है। अंशधारियों की पूँजी तो बहुत कम होती है। फिर भी बैंक की व्यवस्था कुछ इने-गिने अंशधारियों के प्रतिनिधियों के हाथ में होती है। जमा करने वालों का प्रबंध में कोई हाथ नहीं होता। अतः बैंकों का प्रबंध उन संचालकों के हित में ही होता है; जमा करने वालों के हित में नहीं। राष्ट्रीयकरण होने से यह प्रवृत्ति समाप्त हो जायेगी और बैंक का प्रबन्ध जन-साधारण के हितों के लिये किया जा सकेगा।

(५) अभी तक बैंक केवल लाभ के उद्देश्य से चलाये जाने वाले उद्योगों को ही रुपया प्रदान करती रही हैं, जिससे देश की आर्थिक आवश्यकताओं की दृष्टि से रुपये का संतुलित वितरण नहीं होता। निश्चित योजनानुसार रुपये का वितरण केवल सरकार द्वारा ही किया जा सकता है।

(६) बैंकों का नियंत्रण कुछ लोगों के हाथ में होना सार्वजनिक नीति के विरुद्ध भी है। यही कारण है कि अविकसित क्षेत्रों की उन्नति में रुपया नहीं लगाया जा सका तथा अधिकतर बैंक कुछ राज्यों के बड़े नगरों में ही स्थापित हैं। अतः पिछड़े हुए क्षेत्रों में विकास के लिये बैंकों का राष्ट्रीयकरण आवश्यक है।

(७) बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् जमा करने वालों को अपने धन की कोई चिन्ता नहीं रहेगी, क्योंकि उसका सारा उत्तरदायित्व सरकार पर होगा।

(८) आर्थिक योजनाओं को सफल बनाने के लिए सरकार को पर्याप्त मात्रा में रुपये की आवश्यकता है और यह रुपया बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् ही सरलता से प्राप्त हो सकता है।

(९) बैंक संचालक प्रायः उद्योगपति हैं। फलतः इन बैंकों से उनके ही उद्योगों का पोषण होता है। अन्य लोगों की भलाई नहीं होती। राष्ट्रीयकरण से सब की समान भलाई होगी।

(१०) देश में साख-नियंत्रण के लिये तथा व्यापार चक्रों (Trade Cycles) के दोषों को दूर करने के लिये भी राष्ट्रीयकरण अति आवश्यक है।

कुछ अर्थ-शास्त्री बैंकों के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध हैं और विपक्ष में निम्न लिखित तर्क उपस्थित करते हैं—

(१) यह कथन कि योजना के लिए, बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बहु रुपया मिल जायेगा, बहुत भ्रमपूर्ण है, क्योंकि बैंक के पास जमा का जो रुपया होता है वह थोड़ी अवधि का होता है और उसका दीर्घ कालीन योजनाओं लिए निश्चितता से प्रयोग नहीं किया जा सकता।

(२) यह कहना भी गलत है कि सरकार के अधिकार में आने से बैंकों के प्रबन्ध तथा अन्य प्रकार के दोष दूर होकर कार्यकुशलता बढ़ जायेगी क्योंकि एक तो जिन उद्योगों का भारत में राष्ट्रीयकरण हो चुका है, उनका कार्य और विकास की गति बहुत उत्साहवर्धक नहीं है। दूसरे यदि सार्वजनिक क्षेत्र में कोई दोष न होते तो सरकार निजी क्षेत्र को विद्यमान ही क्यों रहने देती? अतः सत्य तो यह है कि योग्य व्यक्ति भी दोनों क्षेत्रों में होते हैं और अयोग्य प्रबंध भी दोनों ही क्षेत्रों में देखने को मिलता है।

(३) राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंक के कर्मचारियों में सरकारी अफसरी की बू आने लगेगी जिससे अन्य विभागों की भाँति लाल फीता शाही बढ़ जायेगी और कार्य-क्षमता भी कम हो जायेगी। फलतः बैंकों के कार्य-व्यय भी बढ़ जायेंगे।

(४) बैंकों के राष्ट्रीयकरण से बैंकिंग प्रणाली की लोच समाप्त हो जायेगी।

(५) देश की केन्द्रीय बैंक बैङ्कों पर पूर्ण नियंत्रण करके उनमें पर्याप्त सुधार कर सकती है फिर उनके राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता ही क्या है?

(६) जब बैङ्क घाटे में चल रही हो उस समय उनका राष्ट्रीयकरण करके घाटे का काम सरकार को सौंपा जाये यह असंभव है। बैङ्क व्यवसाय से होने वाली हानि नये कर लगा कर पूरी की जायेगी और यह व्यर्थ का भार निर्धन जनता पर पड़ेगा।

विदेशों में बैङ्कों का राष्ट्रीयकरण—इंगलैन्ड में केन्द्रीय बैङ्क अर्थात् बैङ्क आफ इंगलैन्ड का राष्ट्रीयकरण हो गया है। किन्तु व्यापारिक बैंक अभी भी व्यक्तिगत रूप से चल रहे हैं। यह बात अवश्य है कि बैङ्क आफ इंगलैन्ड उन पर पूर्ण नियंत्रण रखती है। फ्रांस में केन्द्रीय बैङ्क के साथ-साथ कुछ महत्वपूर्ण व्यापारिक बैङ्कों का भी राष्ट्रीयकरण हो गया है। चेकोस्लोवेकिया में भी बैङ्कों का सामान्य रूप से राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है। किन्तु यह कहना कठिन है कि राष्ट्रीयकरण के अच्छे परिणाम निकलेंगे अथवा बुरे? यह तो सरकार की राष्ट्रीयकरण की सामान्य नीति पर निर्भर है। बड़े-बड़े सभी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ बैङ्कों का राष्ट्रीयकरण भी आवश्यक है।

भारतवर्ष में बैङ्कों का राष्ट्रीयकरण—रिज़र्व बैङ्क आफ इन्डिया तथा स्टेट बैङ्क का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है। किन्तु अन्य बैङ्क अभी व्यक्तिगत रूप से चल रही हैं। जब तक व्यक्तिगत औद्योगिक क्षेत्र को मान्यता है तब तक बैङ्कों का राष्ट्रीयकरण अनुचित है। व्यक्तिगत उद्योग-धंधे अपनी पूँजी की आवश्यकतायें व्यक्तिगत बैंकों द्वारा ही पूरी करा सकते हैं। बैङ्कों के कर्मचारी अपनी सुरक्षा के लिये राष्ट्रीयकरण की माँग कर रहे हैं किन्तु व्यक्तिगत उद्योगों की भलाई को ध्यान में रखते हुए बैङ्कों का राष्ट्रीयकरण अवांछनीय है। हमारे देश में प्रशिक्षित एवं कुशल कर्मचारियों का अभाव है। यहाँ के सरकारी कर्मचारी अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझते और राष्ट्रीयकरण हो जाने पर जनता को कठिनाई होती है। जीवन बीमा कंपनियों का राष्ट्रीयकरण यह बात सिद्ध कर चुका है कि सरकारी कर्मचारी बीमा व्यवसाय को इतनी कुशलता से नहीं चला सकते जितनी पूँजीपति चलाते हैं। बीमा तथा बैङ्क का व्यवसाय बहुत कुछ अंश में समान हैं। अतः बैङ्कों का राष्ट्रीयकरण आर्थिक दृष्टि से हितकर नहीं है।

बैङ्कों के विभिन्न रूप—किसी भी देश में प्रायः निम्न प्रकार की बैङ्क पाई जाती हैं—

(१) **केन्द्रीय बैङ्क**—यह वह बैङ्क होती है जो देश के अन्य समस्त बैङ्कों पर नियंत्रण रख कर द्रव्य सम्बन्धी व्यवस्थाओं को सुलझाती है। सरकारी बैङ्क के साथ-साथ केन्द्रीय बैङ्क देश की मुद्रा तथा साख-व्यवस्था पर नियंत्रण रखती है। केन्द्रीय बैङ्क राष्ट्र की आर्थिक अभिभावक होती है।

(२) **सहकारी बैङ्क**—यह बैङ्क मुख्यतः कृषकों को ऋण प्रदान करती हैं। जो सहकारी बैङ्क कृषकों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती हैं उन्हें भूमि-बन्धक बैङ्क कहते हैं। यह बैङ्क अपनी पूँजी सदस्यों को अंश बेचकर, जमा स्वीकार करके तथा ऋण प्राप्त करके संग्रहीत करते हैं। इन बैङ्कों का संगठन असीमित दायित्व के सिद्धान्तानुसार चलाया जाता है और देय धन के भुगतान का पूरा दायित्व प्रत्येक सदस्य पर होता है।

(३) **औद्योगिक बैङ्क**—इन बैङ्कों का मुख्य कार्य उद्योग-धन्धों को पूँजी जुटाना है। देश की साधारण व्यापारिक बैंक उद्योग-धन्धों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान नहीं करती, अतः औद्योगिक वित्त की व्यवस्था करने के लिए एक भिन्न प्रकार की बैङ्क की आवश्यकता है।

(४) **विदेशी विनिमय बैङ्क**—इन बैङ्कों को प्रधान कार्यालय विदेशों में होते हैं। उनका मुख्य कार्य विदेशी व्यापार को आर्थिक सहायता प्रदान करना तथा विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करना होता है। इस कार्य को संपन्न करने के लिये ये बैङ्क

विदेशी हुन्डियों का क्रय-विक्रय करती हैं। कार्य क्षेत्र व्यापक होने के कारण विदेशी विनिमय बैङ्कों की शाखाएँ विभिन्न देशों में फैली रहती हैं।

(५) व्यापारिक बैङ्क—इस प्रकार की बैङ्कों का मुख्य कार्य व्यापार को अल्प कालीन ऋण प्रदान करना है। यह ऋण माल गिरवी रख कर प्रतिभूतियों की जमानत पर अथवा व्यक्तिगत साख पर दिया जाता है। ऋण प्रदान करने के अतिरिक्त ये बैङ्क अन्य प्रकार की सेवाएँ भी करती हैं।

उपरोक्त विभिन्न प्रकार की सभी बैङ्कों का पूर्ण वर्णन अगले अध्यायों में किया जायेगा।

प्रश्न

1. Define "Bank", and explain its place in economic organization of a country.

बैङ्क की परिभाषा दीजिये, तथा राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था में इसका स्थान बताइये।

2. Deseribe functions of a Bank. What should be the essentials of a good banking system ?

बैङ्क के कार्यों का वर्णन कीजिये। एक अच्छी बैङ्क व्यवस्था में क्या गुण होने चाहिये?

3. What is meant by Branch Banking and what are its merits and demerits ?

शाखा बैङ्क किसे कहते हैं? और उसके गुण एवं दोष क्या हैं?

4. What is Mixed Banking ? Discuss its merits and demerits.

मिश्रित बैङ्क किसे कहते हैं? उसके गुण तथा दोष बताइये।

5. Do you favour Nationalization of Banks? Give reasons, in the light of Indian conditions.

क्या आप बैङ्कों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में हैं? भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रख-कर तर्क सहित उत्तर दीजिये।

6. Give an idea about different types of Banks found in India.

भारत में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के बैङ्कों का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

अध्याय २

केन्द्रीय बैंक

(Central Bank)

आर्थिक महत्व वाले आज के संसार में कोई भी ऐसा देश नहीं है जहाँ पर केन्द्रीय बैंक स्थापित न हो। आज सभी ने यह अनुभव किया है कि किसी देश के आर्थिक विकास के लिये केन्द्रीय बैंक अति आवश्यक है यद्यपि केन्द्रीय बैंक का विधान तथा उसके अधिकार विभिन्न देशों में विभिन्न हैं। फिर भी उद्देश्य समान हैं। यह अंतर तो केवल स्थानीय आर्थिक ढाँचे के अनुसार है। इस पर तो दो मत नहीं है कि केन्द्रीय बैंक को नोट छापने का एकमात्र अधिकार होना चाहिए जिससे वह देश के द्रव्य बाजार पर पूर्ण नियंत्रण कर सके। आज संसार में केन्द्रीय बैंकों का महत्व इतना बढ़ गया है कि बैंकों के वर्गीकरण में इनको पृथक् स्थान दिया जाता है। प्रारम्भ में केन्द्रीय बैंक साधारण बैंकों वाले कार्य भी करते थे किन्तु अब इनके कार्य सर्वथा भिन्न हो गये हैं।

१६वीं शताब्दी के अंत में लगभग प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक स्थापित हो चुकी थीं। अमरीका में तो केन्द्रीय बैंक (Federal Reserve Bank) की स्थापना सन् १६१३ में ही हुई है। इंगलैण्ड की बैंक आफ इंगलैण्ड संसार की सर्व प्राचीन केन्द्रीय बैंक है। भारतवर्ष में रिजर्व बैंक के नाम से केन्द्रीय बैंक की स्थापना १६५३ में हुई। १६२० में ब्रुशेल्स में एक अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन हुआ जिसमें सभी देशों ने यह प्रस्ताव पास किया कि उन सभी देशों में जिनमें अभी तक केन्द्रीय बैंक स्थापित नहीं हुई है, इनकी स्थापना केवल बैंकिंग तथा मुद्राव्यवस्था के लिये अपितु, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सहयोग प्राप्त करने के लिये शीघ्र की जाये। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप आज संसार के सभी सभ्य देशों में केन्द्रीय बैंक स्थापित हो गये हैं।

केन्द्रीय बैंक किसे कहते हैं—केन्द्रीय बैंक वह संस्था है जो देश में मुद्रा तथा साख का सम्बन्ध स्थापित करके देश के हित में उनका उचित नियंत्रण करती है, मूल्यों में स्थिरता रखती है तथा देश की बैंकिंग व्यवस्था का संगठन करती है। केन्द्रीय बैंक देश की सभी बैंकों की कर्णधार होती है। यह सम्पूर्ण बैंकिंग संस्थाओं के लिये मित्र तथा पथप्रदर्शक का कार्य करती है। सारांश में केन्द्रीय बैंक सम्पूर्ण देश के कल्याण

और जनता के हित में कार्य करती है। इसका प्रारम्भिक उद्देश्य लाभ कमाना नहीं अपितु राष्ट्र की सेवा करना है।

प्रथम महायुद्ध के उपरांत केन्द्रीय बैंक के उद्देश्य में कुछ परिवर्तन हुए हैं। व्यापारिक चक्रों के परिणामस्वरूप मूल्यों में जो उतार-चढ़ाव होते हैं उन्हें रोकने तथा मूल्य में स्थिरता बनाये रखने के लिये किसी संस्था की सहायता की आवश्यकता है। इंगलैण्ड के प्रमुख अर्थशास्त्री लार्ड कीन्स ने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक उच्चतम राष्ट्रीय बैंक अर्थात् केन्द्रीय बैंक की स्थापना पर बल दिया। कुछ लोग संकट-काल में आर्थिक सहायता प्रदान करने तथा आर्थिक भय दूर करने के लिये केन्द्रीय बैंकों की स्थापना के इच्छुक हैं। कुछ अर्थशास्त्री केन्द्रीय बैंक को सरकारी बैंक के नाम से सम्बोधित करते हैं, क्योंकि राज्य का समस्त कोष इसी के पास जमा रहता है और यही सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था करती है। आधुनिक काल में राज्य तथा केन्द्रीय बैंक में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ है कि राष्ट्र के समस्त आर्थिक हित इसी संस्था को सौंप दिये गये हैं। साख का निर्माण करके देश के अन्य बैंकों को केन्द्रीय बैंक आर्थिक सहायता प्रदान करती है। केन्द्रीय बैंक न केवल अन्य बैंकों की कुछ धनराशि अपने यहाँ जमा रखती है वरन् संकटकाल में उनकी हुंडिया क्रय करके तथा उनकी प्रतिभूतियों की जमानत पर उन्हें ऋण प्रदान करती है। इस प्रकार न केवल उनकी आर्थिक सहायता करती है प्रस्तुत संकटकाल में उनका पथप्रदर्शन भी करती है। समय-समय पर उन्हें परामर्श भी प्रदान करती रहती है। केन्द्रीय बैंक देश के अन्य बैंकों से प्रतिस्पर्धा नहीं करती। साख नियंत्रण करके यह देश की मुद्रा प्रणाली को लोचदार बनाती है। सारांश में केन्द्रीय बैंक निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्थापित की जाती है—

(१) राष्ट्रीय हित के लिए ऋणदाता का कार्य करना तथा विभिन्न राज्यों एवं बैंकों को आर्थिक सहायता प्रदान करना।

(२) देश में आर्थिक स्थिरता स्थापित करना, बैंकिंग प्रणाली का संगठन करना तथा वित्त संबन्धी उत्तरदायित्व को पूरा करना।

(३) अपनी क्रियात्मक नीति द्वारा देश में आर्थिक संतुलन एवं स्थिरता उत्पन्न करना।

(४) मुद्रा तथा साख सम्बन्धी नीति पर नियंत्रण करना तथा कागजी मुद्रा प्रकाशित करना।

(५) देश का आर्थिक पथप्रदर्शन करना तथा नवयुवकों को आर्थिक विषय में प्रशिक्षित करना।

केन्द्रीय बैंक के कार्य— केन्द्रीय बैंक के कार्यों के सम्बन्ध में विभिन्न अर्थ-शास्त्रियों ने अपने-अपने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। वेरा स्मिथ के मतानुसार केन्द्रीय बैंक को नोट प्रकाशन का पूर्ण अथवा आंशिक एकाधिकार प्राप्त होता है। और नोट प्रकाशन के इसी एकाधिकार से आधुनिक केन्द्रीय बैंकों के गौण कार्य उत्पन्न हुए हैं। प्रो० किश के शब्दों में केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य मौलिक मान की स्थिरता को बनाये रखना है। अर्थशास्त्री हान्ट्रे के मतानुसार केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य अंतिम ऋणदाता का कार्य होता है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसे नोट प्रकाशन का एकाधिकार दिया जाता है। केन्द्रीय बैंक के कार्यों में प्रारम्भ से ही अब तक बराबर विस्तार होता रहा है। आधुनिक काल में केन्द्रीय बैंक किसी एक कार्य को नहीं वरन् अनेक कार्य करती हैं। केन्द्रीय बैंक के दो कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) कागजी मुद्रा प्रकाशित करना—केन्द्रीय बैंकों का विचार आने से पहले केवल सरकार ही कागजी मुद्रा प्रकाशित करती थी। पश्चात् यह अधिकार आंशिक रूप में व्यापारिक बैंकों को दिया जाने लगा। आज तो कागजी मुद्रा के प्रकाशन का एकाधिकार केवल केन्द्रीय बैंक को है। केन्द्रीय बैंक ही देश की आवश्यकतानुसार कागजी मुद्रा प्रकाशित करता है क्योंकि देश की मुद्रा का आन्तरिक तथा बाह्य मूल्य स्थिर रखने का दायित्व केन्द्रीय बैंक पर होता है। अतः इस कार्य में उसे पत्र-मुद्रा प्रकाशन के एकाधिकार से पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। पत्र-मुद्रा का प्रकाशन राजनीति से मुक्त होकर आर्थिक आधार पर होना चाहिये। इसीलिये आधुनिक अर्थशास्त्री सरकार द्वारा नोट-प्रकाशन के विरुद्ध हैं तथा केन्द्रीय बैंकों को इसका एकाधिकार देने के पक्ष में हैं। जनता के विश्वास को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि नोट प्रकाशन का कार्य किसी ऐसी संस्था को सौंपा जाये जिसे राजकीय सहायता उपलब्ध हो। अतः अन्य बैंकों को यह कार्य न सौंप कर केन्द्रीय बैंक को ही इसका अधिकार दिया जाता है।

(२) सरकारी बैंकर—केन्द्रीय बैंक सरकारी बैंक का भी कार्य करती है। राज्यों तथा स्थानीय सत्ताओं का हिसाब खोलकर उसकी धनराशि अपने यहाँ जमा रखती है। कर वसूल होने से पूर्व सरकारी व्यय का भुगतान करती है। युद्ध तथा अन्य संकट काल में सरकार को ऋण प्रदान करती है अथवा उसके लिये ऋण की व्यवस्था करती है। यह सरकार की ओर से सभी आर्थिक मामलों की देखभाल करती है तथा विदेशी विनिमय एवं प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करती है। वास्तव में केन्द्रीय बैंक सरकार के आर्थिक-परामर्शदाता का कार्य करती है। केन्द्रीय बैंक के परामर्श से ही मुद्रा, साख, विदेशी विनिमय, लोक ऋण तथा योजना संबन्धी नीतियाँ निर्धारित होती हैं।

(३) बैंकों के बैंक का कार्य करना—केन्द्रीय बैंक साधारणतया अन्य बैंकों के नकद कोष की रक्षा करती है। प्रत्येक बैंक अपनी जमा का कुछ निश्चित प्रतिशत केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखती है जिससे संकट काल में इसका उपयोग हो सके। इस नीति से बैंकों की साख-निर्माण शक्ति लोचपूर्ण हो जाती है। नकद कोषों का अधिकतम उपयोग किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त बैंकों का पारस्परिक लेनदेन भी केन्द्रीय बैंक द्वारा ही होता है। बैंक द्रव्य का प्रयोग न करके केन्द्रीय बैंक के नाम चेक काटकर दूसरे बैंकों का भुगतान कर देती हैं। सभी बैंकों का हिसाब केन्द्रीय बैंक में होने के कारण ये चेक वहाँ जमा हो जाते हैं। केन्द्रीय बैंक संकटकाल में अन्य बैंकों की हुंडियाँ क्रय करके तथा उनकी प्रतिभूतियों को अपने यहाँ गिरवीं रखकर ऋण प्रदान करती है। समय-समय पर परामर्श देकर उनका पथ-प्रदर्शन करती है। केन्द्रीय बैंक देश के अन्य बैंकों से प्रतिस्पर्धा नहीं करती और यही कारण है कि वह जनता की जमा अपने यहाँ प्राप्त नहीं करती।

(४) अन्तिम ऋणदाता का कार्य करना—जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है केन्द्रीय बैंक बैंकों को संकटकाल में आर्थिक सहायता प्रदान करके अन्तिम ऋणदाता का कार्य करती है। किन्तु यह आर्थिक सहायता तभी प्रदान की जाती है जब बैंकों को किसी अन्य प्रकार से सहायता प्राप्त न हो सके। व्यापारिक बैंक जिन हुंडियों तथा प्रतिभूतियों को गिरवीं रखकर जनता को अल्पकालीन ऋण देती हैं केन्द्रीय बैंक उन्हें पुनः अपने यहाँ गिरवीं रखकर इन बैंकों को ऋण प्रदान करती है। व्यापारिक बैंकों को यह विश्वास होता है कि उनको समय आने पर केन्द्रीय बैंक से आर्थिक सहायता हो जायेगी। अतः वे अपने पास एक थोड़ी मात्रा में नकदी रख कर शेष केन्द्रीय बैंक में जमा कर देती हैं। परन्तु केन्द्रीय बैंक हर समय आर्थिक सहायता नहीं देती, केवल आर्थिक संकट आने पर ही यह सहायता प्रदान की जाती है। इससे दो लाभ हैं एक तो व्यापारिक बैंक सतर्कता से काम करती हैं, दूसरे केन्द्रीय बैंक की शक्ति आर्थिक संकटों के लिये संचित रहती है। दुबारा भुनाने की क्रियाओं का ही यह परिणाम होता है कि जनता का बैंकों के प्रति विश्वास बना रहता है। अन्तिम ऋणदाता का कार्य करके केन्द्रीय बैंक बैंकों को फेल होने से बचाती है।

(५) राष्ट्र के धात्विक एवं विदेशी कोष की रक्षा करना—केन्द्रीय बैंक को नोट प्रकाशन का एकमात्र अधिकार होता है, अतः राष्ट्र का समस्त स्वर्ण इसी के पास जमा रहता है। उस सोने के आधार पर ही तो नोट प्रकाशित किये जाते हैं। केन्द्रीय बैंक को देश के स्वर्ण एवं विदेशी विनिमय कोष का संरक्षण करने की आवश्यकता इसलिये भी होती है कि उसको देश में मूल्यों को स्थिर रखना पड़ता है। विदेशी विनिमय का कोष इसलिये रखना आवश्यक है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय

व्यापार का संतुलन देश के विरुद्ध हो जाने पर विदेशी ऋणदाताओं का भुगतान किया जा सके।

(६) **समाशोधन गृह का कार्य करना**—केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के लिये समाशोधन गृह (Clearing House) का कार्य भी करती है। समाशोधन गृह बैंकों का एक सामान्य संगठन है जिसका मुख्य उद्देश्य बैंकों द्वारा उत्पन्न पारस्परिक लेन-देन का हिसाब करना होता है। केन्द्रीय बैंक का प्रभुत्व देश के अन्य बैंकों पर होता है और यह विभिन्न बैंकों के पारस्परिक लेन-देन का हिसाब इस प्रकार करती है कि भुगतान नगदी में न होकर केवल खातों में प्रविष्टियाँ करके किया जाये। केन्द्रीय बैंक में सभी बैंकों के खाते होते हैं, अतः ये बैंक समाशोधन गृह का कार्य भली प्रकार करती हैं।

मान लीजिये पंजाब नेशनल बैंक को जयपुर बैंक से किसी चेक का भुगतान प्राप्त करना है। दोनों ही बैंकों का हिसाब रिजर्व बैंक में खुला है तो रिजर्व बैंक चेक की रकम जयपुर बैंक के नाम डालकर पंजाब नेशनल बैंक की जमा कर लेगा। इसी प्रकार की प्रविष्टियों को समाशोधन कार्य कहते हैं। किसी भी देश में जब व्यापारिक बैंकों की स्थापना हो जाती है तो समाशोधन गृह की आवश्यकता पड़ती है। बिना इसके बैंकिंग व्यवसाय की उन्नति एक स्थान पर जाकर रुक जाती है। समाशोधन गृह की स्थापना बैंक के कर्मचारियों को एक-दूसरे के चेक तथा ड्राफ्ट इत्यादि का रुपया वसूल करने के लिये बार-बार नहीं जाना पड़ता और न इन पुरजों का भुगतान ही नकद रुपयों में करना पड़ता है जिससे मार्ग में रुपयों के लुट जाने का भय नहीं रहता और इसकी स्थापना से बैंक को अधिक नकद कोष नहीं रखना पड़ता। समाशोधन गृह की स्थापना से बैंक कम नकदी रखकर भी अपना काम चला सकती है। इससे बैंकों की कार्यक्षमता बढ़ती है। प्रत्येक स्थान का समाशोधन गृह एक स्वतन्त्र संगठन होता है जिसके अपने नियम होते हैं। अधिकांश समाशोधन गृहों ने यह नियम बना दिया है कि जिस बैंक की चुकता पूँजी एक सीमा से कम होगी वह उसकी सदस्यता नहीं हो सकती। बैंकों को समाशोधन गृह के मंत्री को एक प्रार्थनापत्र देना पड़ता है जिसका प्रस्ताव का समर्थन अन्य सदस्य कर सकते हैं।

(७) **साख पर नियंत्रण करना**—अधिकांश अर्थशास्त्रियों ने केन्द्रीय बैंकों का मुख्य कार्य साख पर नियंत्रण करना बतलाया है। देश के मूल्य-स्तर में होने वाले परिवर्तनों से समाज के विभिन्न वर्गों पर प्रभाव पड़ता है। कुछ वर्गों को लाभ तथा कुछ को हानि होती है जो सर्वथा अनुचित है। केन्द्रीय बैंक मुद्रा की मात्रा को आवश्यकतानुसार घटा-बढ़ा कर देश के मूल्य स्तर को स्थिरता प्रदान करती है, मुद्रा की मात्रा पर ही साख-विस्तार निर्भर होता है। देश में मुद्रा की मात्रा व्यापारिक आवश्यकता

से अधिक है तो इससे मूल्य स्तर ऊँचे होते हैं जिससे उत्पादकों को लाभ तथा उपभोक्ताओं को हानि होती है। मुद्रा की मात्रा कम होने से मूल्य स्तर घटते हैं जिससे कृषकों तथा उत्पादकों को हानि होती है। देश में आर्थिक मंदी आने के कारण बेरोजगारी बढ़ती है तथा सर्वत्र निराशा का साम्राज्य हो जाता है। अतः केन्द्रीय बैंक यह प्रयत्न करती है कि मुद्रा एवं साख की मात्रा व्यापारिक आवश्यकतानुसार ही हो। जब बैंक यह देखती है कि देश में साख का विस्तार अधिक मात्रा में हो रहा है तो वह उसकी गति कम करने का प्रयत्न करती है और साख का विस्तार कम होने पर उसे बढ़ावा देती है। साख पर नियंत्रण करके ही केन्द्रीय बैंक मुद्रा स्फीति एवं मुद्रा संकुचन के दोषों को दूर करती है। साख के नियंत्रण से ही आंतरिक मूल्यों में स्थिरता आती है। केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय की दरों में भी स्थिरता लाती है। क्योंकि विदेशी विनिमय दरों के परिवर्तनों का प्रभाव विदेशी व्यापार के लिये घातक सिद्ध होता है और देश की आर्थिक उन्नति बहुत कुछ अंश में विदेशी व्यापार के संतुलन पर निर्भर है। साख नियंत्रण द्वारा ही देश के उत्पादन एवं रोजगार की स्थिति स्थायी रह सकती है।

(८) केन्द्रीय बैंक की मुद्रा-नीति—किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु मुद्रा की मात्रा में घटत-बढ़त करने की व्यवस्था को मुद्रा-नीति कहते हैं। अत्यधिक विकास वाले देशों में मुद्रा-नीति का मुख्य सम्बन्ध बैंकों के साख प्रदान करने की मात्रा की घटत-बढ़त से होता है। मुद्रा-नीति के दो रूप हैं : (अ) मात्रात्मक (Quantitative), (ब) गुणात्मक (Qualitative)। मुद्रा तथा साख की मात्रा पर नियंत्रण रखने की नीति को मात्रात्मक नीति कहते हैं। इस नीति में केवल इस बात पर विचार किया जाता है कि मुद्रा साख की मात्रा कितनी हो, उसके उद्देश्य से कोई सम्बन्ध नहीं। जब कि गुणात्मक नीति में इस बात पर विचार किया जाता है कि किन कार्यों तथा उद्देश्यों के लिए साख प्रदान की जाये और किनके लिये नहीं। मान लीजिये यह नीति निर्धारित की गई है कि ऋण केवल उत्पादक कार्यों के लिये दिये जायें उपभोग के लिये नहीं तो इसे गुणात्मक नीति कहेंगे। केन्द्रीय बैंक अपनी मुद्रानीति निम्नलिखित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये निर्धारित करती हैं—

(अ) आन्तरिक मूल्यों में स्थिरता प्राप्त करना—स्वर्णमान की समाप्ति के पश्चात् विशेषकर द्वितीय महायुद्धोपरांत सभी देशों में इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि देश के आन्तरिक मूल्यों में स्थिरता रहे। मूल्य स्थिरता से ही किसी राष्ट्र की आर्थिक भलाई होती है। मूल्यों के परिवर्तन देश के आर्थिक ढाँचे को अस्तव्यस्त कर देते हैं और इसका उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं, ऋणदाताओं एवं ऋणियों तथा

स्वामियों तथा कर्मचारियों के सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता है। अतः आंतरिक मूल्यों में स्थिरता रखना अत्यावश्यक है।

(ब) विदेशी विनिमय दरों को स्थिर रखना—अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में विश्वास बनाये रखने के लिये तथा उसे प्रोत्साहन देने के लिये विदेशी विनिमय की दरों का स्थिर होना अत्यावश्यक है। इसी से संसार की आर्थिक भलाई हो सकती है। कुछ लोगों का विचार है कि केन्द्रीय बैंक को आंतरिक मूल्य-स्तर की स्थिरता पर ही अधिक ध्यान देना चाहिये। किन्तु कुछ सीमा तक आंतरिक मूल्यों की स्थिरता भी विदेशी विनिमय की स्थिरता पर निर्भर होती है।

(स) व्यापारिक एवं औद्योगिक चहल-पहल की स्थिरता—व्यापारिक एवं औद्योगिक चहल-पहल की स्थिरता द्वारा ही आन्तरिक मूल्यों की स्थिरता रह सकती है। व्यापारिक स्थिरता का तात्पर्य देश की जनसंख्या एवं प्राकृतिक साधनों के पूर्ण उपयोग से होती है जिससे आर्थिक मंदी नष्ट होकर औद्योगिक चहल-पहल हो। किन्तु औद्योगिक चहल-पहल का तात्पर्य अधिक उत्पादन (Overproduction) से नहीं है। व्यापारिक चहल-पहल की स्थिरता का बोध इस बात से होता है कि मांग का उत्पादन उतना ही हो जितनी देश की आवश्यकता है। कम या अधिक नहीं।

(द) रोजगार एवं वास्तविक आय में वृद्धि—मुद्रा-नीति इस प्रकार की होनी चाहिये जिससे देश के प्रत्येक प्राणी को पूर्ण रोजगार मिल सके और उनकी उच्चतम आय हो। रोजगार की कमी देश में आर्थिक संकट उत्पन्न करती है जिसके दुःखद परिणाम निकलते हैं। रोजगार द्वारा ही जनता को सुख मिलता है। इसी से देश में शान्ति रहती है।

जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति मुद्रा की यात्रा में घटत-बढ़त करके अथवा साख पर नियंत्रण करके होती है। केन्द्रीय बैंक साख एवं मुद्रा पर कई प्रकार से नियंत्रण करती हैं।

साख पर नियंत्रण करने की रीतियाँ

(१) खुले बाजार की क्रियाएँ (Open Market Operations)—जब केन्द्रीय बैंक साख तथा मुद्रा का नियंत्रण करने के लिये खुले बाजार में प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय स्वयं करती है तक बैंक इन क्रियाओं को खुले बाजार की क्रियाएँ कहती हैं।

यदि किसी भी समय जब केन्द्रीय बैंक सोचती है कि अन्य बैंकों के पास अधिक कोष है और वे साख का निर्माण अधिक कर रही हैं तब वह अपने पास की

प्रतिभूतियों को बाजार में बेचना प्रारम्भ कर देती है। इन प्रतिभूतियों के क्रेता इनका भुगतान केन्द्रीय बैंक को नकद में अथवा चैक देकर करेंगे। जब इन चैकों का भुगतान होगा तब अन्य बैंकों का नकद कोष कम हो जायेगा। परिणामतः वे उधार देना कम कर देंगे। उनकी ब्याज दर में वृद्धि होगी और उन्हें साख की मात्रा भी कम करनी पड़ेगी। यदि केन्द्रीय बैंक बाजार में प्रतिभूतियों को क्रय करने लगेगा तो इसका उल्टा परिणाम होगा। अर्थात् व्यापारिक बैंकों के नकद कोष में वृद्धि होगी। उनकी ऋण देने तथा साख निर्माण की शक्ति में भी वृद्धि होगी।

द्रव्य-बाजार में द्रव्य के मौसमी हेर-फेर से तथा सरकारी कोषों से होने वाली गड़बड़ को कम करने के लिये भी खुले बाजार की क्रिया की जाती है। उदाहरण के लिये वर्ष के कुछ मासों में व्यापार की तेजी होती है और व्यापार को अधिक द्रव्य की आवश्यकता होती है उस समय केन्द्रीय बैंक बिल तथा प्रतिभूतियों को खुले बाजार में क्रय करके बाजार में अधिक द्रव्य दे देती है क्योंकि व्यापारिक बैंक भी केन्द्रीय बैंक के ऐसा करने पर अधिक साख का निर्माण करती हैं। इसी प्रकार यदि सरकार 'कर' रूप में बहुत अधिक द्रव्य बाजार में से खरीद ले तो भी बाजार में द्रव्य की कमी हो जाये। उस समय भी केन्द्रीय बैंक बिल तथा प्रतिभूतियाँ क्रय करके द्रव्य की कमी को पूरी करती है।

स्वर्ण-आयात तथा निर्यात का जो देश की मुद्रा पर प्रभाव पड़ता है उसको रोकने के लिये भी खुले बाजार की क्रिया की जाती है। उदाहरण के लिये यदि किसी देश में स्वर्णमान हो और व्यापार का अन्तर (Balance of Trade) देश के विरुद्ध हो और स्वर्ण का निर्यात होने लगे तो जनता कागजी नोट के केन्द्रीय बैंक को देकर उससे स्वर्ण लेकर बाहर भेजेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि बाजार में मुद्रा की कमी हो जायेगी। उस समय केन्द्रीय बैंक खुले बाजार की क्रिया द्वारा अर्थात् बिल और प्रतिभूतियाँ खरीद कर बाजार में द्रव्य की कमी पूरा करती है। यदि स्वर्ण देश में आ रहा हो तो उसका परिणाम यह होगा कि लोग केन्द्रीय बैंक को स्वर्ण देकर उससे नोट लेंगे। देश में कागजी नोट अर्थात् मुद्रा आवश्यकता से अधिक हो जायेगी उस समय केन्द्रीय बैंक बिल तथा प्रतिभूतियों को बेचकर अनावश्यक द्रव्य या मुद्रा को चलन में खींच लेती है।

खुले बाजार की क्रिया इसलिये भी की जाती है कि जिससे ब्याज की दर भी गिर जाये। और सरकार अपने ऋण को ब्याज पर बेच सके अथवा पुराने ऋण को जो ऊँची दर पर लिया गया था कम ब्याज के ऋण में परिवर्तित कर सके। खुले बाजार की क्रिया का एक उद्देश्य यह भी होता है कि ब्याज की दर नीची रहे जिससे व्यापार पनपे और उन्नत हो।

खुले बाजार की क्रिया को सफल बनाने के लिये यह आवश्यक है कि बाजार में इतनी मात्रा में प्रतिभूतियाँ क्रय कर ली जायें जिससे बाजार में रुपये की भरमार हो जाये और रुपये की मात्रा बढ़ जाने से ब्याज की दर नीची हो जाये। जब कभी ब्याज की दर बहुत अधिक गिर जाये तो केन्द्रीय बैंक को अपने पास रखी हुई प्रतिभूतियाँ पर्याप्त मात्रा में बाजार में बेचनी चाहिये जिससे जनता में बढ़ा हुआ रुपया बैंक में ही वापस आ जाये और बाजार में रुपये की कमी हो जाने से ब्याज की दर ऊँची उठ जाये, यदि केन्द्रीय बैंक खुले बाजार की क्रियाओं में थोड़ी ही मात्रा में प्रतिभूतियाँ खरीदता या बेचता है तो इससे यह उद्देश्य पूरा न होगा जिसके लिये यह किया गया है और साख पर पूरा नियंत्रण न हो सकेगा।

खुले बाजार की क्रियायें कुछ विशेष परिस्थितियों में ही सफल होती हैं। सदैव नहीं।

खुले बाजार की क्रियाओं की सीमायें

खुले बाजार की क्रियायें केवल निम्नलिखित सीमाओं के अंतर्गत ही सफल हो सकती हैं। इसके बाहर नहीं—

(१) केन्द्रीय बैंक द्वारा क्रय-विक्रय होने वाली प्रतिभूतियों की माँग एवं पूर्ति बाजार में होनी चाहिये। मुद्रा बाजार के सुसंगठित होने की अवस्था में ही ये क्रियायें सफल हो सकती हैं। मान लीजिये बैंक प्रतिभूतियाँ क्रय करना चाहती है किन्तु बाजार में उनकी पूर्ति नहीं है। अथवा बैंक प्रतिभूतियाँ विक्रय करना चाहता है किन्तु बाजार में उनकी माँग नहीं है तो बैंक को सफलता नहीं मिल सकती।

(२) खुले बाजार की क्रियाओं के साथ बैंकों की साख निर्माण की नीति में कोई अन्तर नहीं आना चाहिये। यदि केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ खरीद कर बैंकों को ऋण प्रदान करते है। किन्तु यह बैंक बाजार में विश्वास की कमी के कारण अपने ग्राहकों को ऋण न देकर अपने पास ही नकद राशि बढ़ा लेते है इसका साख नियंत्रण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

(३) यह भी आवश्यक है कि बैंकों के नकद कोषों के घटने-बढ़ने का व्यापारियों के ऋण की माँग पर प्रभाव पड़े। केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ क्रय करके बैंकों के ऋण देने की शक्ति में भले ही वृद्धि कर दे किन्तु अनिश्चित आर्थिक दशाओं के कारण व्यापारी कम ब्याज पर भी ऋण न लेना चाहें तो केन्द्रीय बैंक का खुले बाजार में आना विफल रहेगा। इसके विपरीत केन्द्रीय बैंक भले ही प्रतिभूतियाँ विक्रय करके बैंकों से रुपया खींच ले, किन्तु व्यापारिक चहल-पहल एवं लाभ की आशा में व्यापारी अधिक ब्याज पर ऋण प्राप्त करके केन्द्रीय बैंक की नीति को विफल बना देंगे।

बैंक दर—बैंक दर वह कटौती है जिस पर केन्द्रीय बैंक प्रथम श्रेणी के बिलों की पुनर्कटौती करती है अथवा अन्य प्रकार की शेष प्रतिभूतियों पर ऋण देता है। इसे बट्टा दर भी कहते हैं। इस बैंक दर के द्वारा केन्द्रीय बैंक बहुत सरलता से साख का नियंत्रण कर सकता है। इसके विपरीत बाजार में प्रचलित दर को बाजार दर कहते हैं। यह वह दर है जिस पर देश की बैंक तथा अन्य संस्थायें बिलों को भुनाती हैं और ऋण देती हैं। यह बाजार दर बैंक दर पर आश्रित होती है और उसी के अनुसार घटती-बढ़ती है।

जब संसार में स्वर्णमान प्रथा प्रचलित थी उस समय बैंक दर का महत्व बहुत अधिक था। साख नियंत्रण करने का सबसे उत्तम एवं प्रभावशाली उपाय बैंक दर में परिवर्तन करना ही था। केन्द्रीय बैंकों के राजनीति से प्रथक रहने के कारण बैंक दर अधिक महत्वपूर्ण होती है। किन्तु १९३१ में जब स्वर्णमान प्रथा समाप्त कर दी गई तभी से बैंक दर का महत्व कुछ कम हो गया है। द्वितीय महायुद्ध काल में बैंक दर कम करके मुद्रा-प्रसार हुआ जिससे उपभोक्ताओं तथा जन साधारण को हानि हुई। किन्तु युद्ध के साधन जुटाने के लिये बैंक दर का कम करना आवश्यक समझा गया था। युद्ध समाप्ति के बाद भी जब मुद्रा-प्रसार का कुचक्र चलता ही रहा और जनता की कठिनाई कम न हुई तो बहुत से देशों ने मुद्रा-प्रसार रोकने के लिये बैंक दर ऊँची की। एक जर्मन विशेषज्ञ के परामर्श पर भारतीय रिजर्व बैंक ने भी अपनी बैंक दर ३ प्रतिशत से बढ़ाकर ३½ प्रतिशत कर दी। इससे मूल्यों में गिरावट हुई और जनता में असंतोष की लहर फैली। अतः यह स्पष्ट है कि मुद्रा-प्रसार एवं संकुचन के दुष्प्रभावों को रोकने के लिये बैंक दर एक क्रियाशील उपाय है।

बैंक दर का सिद्धान्त—यदि केन्द्रीय बैंक चाहती है कि अन्य बैंक साख का निर्माण कम करें तो वह बैंक दर या बट्टा दर को ऊँचा कर देगी। इसका परिणाम यह होगा कि अब केन्द्रीय बैंक से अन्य बैंकों को ऋण ऊँची दर पर मिलेगा। इसलिये वे भी अपनी ब्याज दर को और ऊँचा उठायेंगे। फलस्वरूप व्यापारी गहरा ऋण कम लेंगे। और इस प्रकार साख का निर्माण कम होगा। यदि बैंक चाहती है कि साख निर्माण में अधिक वृद्धि हो तो वह अपनी बैंक दर को कम कर देगी। फलस्वरूप देश की ब्याज दर घट जायेगी और लोग रुपया अधिक उधार लेंगे। और इस प्रकार बैंक को साख निर्माण करने का अधिक अवसर प्राप्त होगा. इस प्रकार केन्द्रीय बैंक अपनी दर को ऊँची उठाकर या नीचे गिराकर देश में साख के निर्माण को नियंत्रित कर सकती है।

बैंक दर की सक्रियता—बैंक दर तभी सक्रिय समझी जाती है जब केन्द्रीय बैंक अंतिम ऋणदाता के रूप में अपनी शर्तें उधार लेने वालों पर थोप सके। जब

बैंक ऐसा करने में सफल होती है तो इस स्थिति को "बाजार का बैंक के हाथ में होना" कहते हैं। बैंक आफ इंगलैण्ड ने बैंक दर का उपयोग एक भीषण शक्ति के रूप में किया। आज भी बैंक आफ इंगलैण्ड के संचालक प्रति गुरुवार को बैंक दर निश्चित करते हैं। बैंक दर आंतरिक एवं बाह्य आर्थिक स्थिति में सुधार करने के लिये प्रयुक्त होती है। जब देश का व्यापारिक संतुलन देश के विरुद्ध हो जाता है और अंतर्राष्ट्रीय भुगतान करने के लिये स्वर्ण देश से बाहर जाने लगता है तो स्वर्ण के इस निर्यात को रोकने के लिये बैंक दर में वृद्धि की जाती है। इसके आन्तरिक मूल्यों तथा ब्याज की दरों में वृद्धि होती है और बिना स्वर्ण निर्यात किये अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का संतुलन ठीक हो जाता है। बैंक दर ऊँची होने से विदेशी अधिक ब्याज कमाने के हेतु प्राप्त होने वाला भुगतान उसी देश में ब्याज पर लगा देते हैं। इसके अतिरिक्त विदेशी पूँजी देश में आने लगती है। फलस्वरूप देश में स्वर्ण का आयात बढ़ जाता है और निर्यात रुक जाता है। उस देश की मुद्रा की विदेशों में माँग बढ़ती है जिससे विनिमय देश के पक्ष में हो जाती है। बैंक दर ऊँची हो जाने से लोग ऋण कम लेते हैं क्योंकि उन्हें अधिक ब्याज देनी होती है। इससे मुद्रा संकुचन होता है। और व्यापारिक चहल-पहल में कमी हो जाती है। मूल्यों में गिरावट आ जाती है जिससे देश के निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है और आयात कम हो जाती है। फलस्वरूप व्यापारिक संतुलन देश के पक्ष में हो जाता है।

बैंक दर कम करने का प्रभाव उपरोक्त के सर्वथा विपरीत होता है। इससे मुद्रा प्रसार होता है, क्योंकि कम ब्याज के लालच में ऋण लेने वालों की संख्या में वृद्धि होती है। जनता की क्रय शक्ति में वृद्धि होने के कारण आंतरिक मूल्यों में बढ़ोतरी होती है, इससे निर्यात रुक जाता है और विदेशी माल का आयात होने लगता है। फलतः व्यापारिक संतुलन देश के विरुद्ध हो जाता है और स्वर्ण का निर्यात होना प्रारम्भ हो जाता है। यही कारण है कि बैंक दर में कमी केवल तभी की जाती है जब देश में आर्थिक मंदी हो, उद्योग-धन्धे तथा व्यापार ठप हो गये हों तथा निराशा तथा बेरोजगारी का साम्राज्य छा गया हो।

सारांश में बैंक दर ऊँची करने से साख का निर्माण कम तथा नीची करने से साख का निर्माण अधिक होता है। दूसरे शब्दों में मुद्रा प्रसार रोकने के लिये बैंक दर में बढ़ोतरी तथा संकुचन की प्रवृत्ति रोकने के लिये बैंक दर में घटोतरी की जाती है। बैंक की दर केवल इसीलिये साख के नियंत्रण में सफल हो जाती है कि यह एक परिपाटी चल पड़ी है कि द्रव्य बाजार में व्यापारिक बैंक अपनी ब्याज की दर को केंद्रीय बैंक की दर के आधार पर ही निर्धारित करती हैं। और केन्द्रीय बैंक की दर ऊँची चढ़ती है तो व्यापारिक बैंक भी अपनी ब्याज की दर चढ़ा देती हैं और केन्द्रीय बैंक

की दर गिरती है तो वे अपनी ब्याज की दर नीचे गिरा देती हैं। व्यापारिक बैं
यह भी जानती हैं कि यदि वे ऐसा नहीं करेंगीं तो केन्द्रीय बैंक के पास और
अस्त्र हैं जिससे वह ब्याज की दर को प्रभावशाली बना सकती है। अस्तु वे बैंक
केन्द्रीय बैंक के नेतृत्व को स्वीकार कर लेती हैं और अपनी ब्याज की दर को केन्द्री
बैंक की दर के अनुसार निश्चित करती हैं और फिर चाहे द्रव्य बाजार की स्थिति
को देखते हुए ब्याज की दर में परिवर्तन की आवश्यकता हो अथवा न हो।

बैंक दर की सफलता की सीमायें—बैंक दर की सफलता निम्नलिखित प
निर्भर करती है—

(१) यदि बैंक दर के परिवर्तन के साथ-साथ बाजारी दर में परिवर्तन नह
हुआ तो बैंक दर असफल रहेगी। अतः यह तभी सफल हो सकती है जब देश क
मुद्रा बाजार सुसंगठित हो जिससे बैंक दर का प्रभाव देश में प्रचलित सभी ब्याज की
दरों पर पड़ सके। यदि ऐसा नहीं है तो बैंक दर अपना प्रभाव डालने में असमर्थ
रहेगी।

(२) बैंक दर में परिवर्तन से व्यापारियों की ऋण लेने की लागत प्रभावित
होती है जो उत्पादन लागत का एक छोटा-सा अंश है। अतः बैंक दर का उत्पादन-
लागत पर प्रभाव सूक्ष्म ही रहता है। जब तक बैंक दर के परिवर्तन का प्रभाव देश
की अर्थ व्यवस्था के समस्त क्षेत्रों पर न पड़े बैंक दर सफल न होगी। अतः देश की
अर्थ व्यवस्था लोचपूर्ण होनी चाहिये जिससे बैंक दर का प्रभाव देश की अर्थ व्यवस्था
के समस्त भागों अर्थात् मजदूरी, उत्पादन व्यय व यौद्धिक आय इत्यादि सभी पर पड़
सके।

बैंक दर की सक्रियता कम होने के कारण

(१) वर्तमान काल में संसार के सभी देशों की आर्थिक व्यवस्था में ऐसे
परिवर्तन हो गये हैं जिन्होंने बैंक दर की सक्रियता कम कर दी।

(२) संसार में सस्ती मुद्रा नीति को अधिक महत्व दिया गया है।

(३) बैंक दर की नीति की अपेक्षा साख नियंत्रण अन्य रीतियों का उपयोग
होने लगा है।

(४) आंतरिक व्यापार में हुंडियों का प्रयोग कम हो गया है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य बाजार की प्रतिस्पर्धा बढ़ने लगी है जिससे विदेशी
मुद्रा-बाजार बैंक दर की नीति को सक्रिय नहीं होने देते।

(६) द्रव्य बाजार में तरल पूँजी (Liquid Funds) की अधिकता हो
गई है।

(७) आजकल विभिन्न देशों की अर्थ व्यवस्था इतनी लोचपूर्ण नहीं है जितनी पहले थी।

(८) बैंक दर का प्रभाव दीर्घकाल में दृष्टिगोचर होता है, अतः उसका प्रभाव अल्प काल में नहीं पड़ता।

निम्नलिखित कारणों से संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में बैंक दर इतनी सक्रिय नहीं है जितनी अन्य देशों में—

(अ) बैंक दर तथा बाजारी ब्याज दर में रीत्यानुसार कोई सम्बन्ध नहीं है।

(ब) स्वर्ण कोष की अधिकता है।

(स) अमेरिका में सट्टेबाजी के लिये भारी क्षेत्र है और लोगों की उसमें रुचि है।

(द) अमेरिका की फैडरल रिजर्व बैंक-बैंक दर निश्चित करने में पूर्ण स्वतंत्र नहीं है।

भारतवर्ष में रिजर्व बैंक बैंक-दर निश्चित करने में स्वतन्त्र एवं शक्तिशाली है, इसी कारण स्वतन्त्रता के पश्चात् बैंक दर में जो परिवर्तन हुए हैं उनका द्रव्य बाजार पर सुप्रभाव पड़ा है। बैंक दर को सक्रिय करने के लिये यह आवश्यक है कि सभी आर्थिक विषयों का पूरा ध्यान करके यह यथा समय निर्धारित की जाये।

बैङ्क दर तथा खुले बाजार की क्रियाओं का संबन्ध—बिना पारस्परिक सम्बन्ध के बैंक दर तथा खुले बाजार की क्रियाएँ सफल नहीं हो सकतीं। अतः आवश्यकता पड़ने पर दोनों शस्त्रों का उपयोग होना चाहिये। यदि कुछ बैङ्क जिनके पास पूँजी की अधिकता है, कम ब्याज पर ऋण देने को प्रस्तुत हैं तो बैङ्क दर की वृद्धि से साख में कमी नहीं आयेगी। ऐसी परिस्थिति में केन्द्रीय बैङ्क को चाहिये कि बैङ्क की दर को सक्रिय बनाने के लिये खुले बाजार में प्रतिभूतियाँ बेचना प्रारम्भ कर दे जिससे द्रव्य-बाजार का अधिक धन केन्द्रीय बैङ्क में आ जाये। इसी प्रकार बैङ्क दर में बिना वृद्धि किये केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में प्रतिभूतियाँ बेचती हैं तो बैंक कम दर पर अपनी हुन्डियों को केन्द्रीय बैंक से भुनाकर साख की कमी नहीं होने देगी। अतः खुले बाजार की विधि तभी सफल हो सकती है जब बैंक दर में भी परिवर्तन करा दिया जाये।

साख सम-विभाजन (Rationing of Credit)—बैंक आफ इंगलैंड ने १८वीं शताब्दी के अंत में साख का सम-विभाजन करके साख-नियंत्रण की नीति अपनाई थी। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी के रीचस् बैंक ने भी साख सम-विभाजन की नीति अपनाई। सोवियत रूस में तो यह नीति केन्द्रीय बैंक द्वारा पूर्ण रूपेण अपनाई जाती है।

जब केन्द्रीय बैंक को साख-विस्तार अनुचित प्रतीत होता है तो वह प्रत्येक बैंक को माँगी हुई मात्रा में ऋण नहीं देती। वह ऋण का सम-विभाजन कर देती है। और प्रत्येक बैंक का व्यापार देख कर एक निश्चित राशि तक ऋण देने की घोषणा कर देती है। देश की व्यापारिक आवश्यकताओं को देख कर ऋण की अधिकतम सीमा निश्चित कर दी जाती है और उसमें से हर बैंक का भाग (Quota) निश्चित कर दिया जाता है। इस प्रकार कोई भी बैंक अपने भाग से अधिक ऋण नहीं ले सकती। यह रीति प्रभावकारी अवश्य है किन्तु कठोर है। क्योंकि इसमें सब बैंकों के साथ न्याय होना कठिन है। केन्द्रीय बैंक के लिये सभी बैंकों की आवश्यकता का ठीक अनुमान लगाना असंभव है। यह अनुमान पक्षपात रहित नहीं हो सकता।

अमेरिका के फैडरल रिजर्व बैंक के शासन मंडल को १९३४ में प्रतिभूतियाँ विनिमय ऐक्ट के अंतर्गत यह अधिकार दिया गया है कि वह अधिक सट्टेबाजी के लिये दी जाने वाली साख का नियंत्रण करने के लिये कुछ आवश्यक नियंत्रण निश्चित कर सकता है। १९४९ की भारतीय बैंकिंग ऐक्ट की धारा २१ के अंतर्गत रिजर्व बैंक आफ इन्डिया को भी यह अधिकार है कि वह अन्य बैंकों को यह आदेश दे सकती है कि वे किन-किन उद्देश्यों के लिये ऋण दें तथा कितना उधार प्रतिभूति-अंतर (margin) रखें, इस प्रकार जब केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों की आवश्यकतानुसार धन-राशि देने में कमी कर देती है तब अन्य बैंकों के पास भी उधार देने के लिये अधिक धनराशि नहीं रहती है और फलस्वरूप उनकी साख निर्माण की शक्ति में भी कमी हो जाती है।

सीधी कार्यवाही (Direct Action)—कभी-कभी बट्टा दर अथवा खुले बाजार की क्रिया के स्थान पर केन्द्रीय बैंक सीधी कार्यवाही करती है। जब केन्द्रीय बैंक देखती है कि कोई बैंक अपनी पूँजी तथा सुरक्षित कोष को देखते हुये केन्द्रीय बैंक से अधिक ऋण लेती है अथवा वह बैंक सट्टा या फाटका (Speculation) के लिये ऋण देती है अथवा अनावश्यक धंधों को ऋण देती है तो केन्द्रीय बैंक उस बैंक या ऐसे बैंकों के बिलों को भुनाना अस्वीकार कर देती है और यदि उसके बिल भुनाती भी है तो उनसे ऊँची दर लेकर उन्हें दंडित करती है।

सीधी कार्यवाही को विवेक पूर्ण साख निर्माण भी कह सकते हैं। क्योंकि इसमें केन्द्रीय बैंक इस बात पर पूर्ण रूपेण विचार कर लेती है कि ऋण माँगने वाली बैंक उसकी नीति के अनुसार कार्य कर रही है अथवा नहीं। उन बैंकों को ऋण नहीं दिया जाता जो केन्द्रीय बैंक की नीति के विरुद्ध कार्य करते हैं। इस कार्यवाही को साख का गुणात्मक नियंत्रण भी कह सकते हैं। अमेरिका की फैडरल रिजर्व बैंक को सीधी कार्यवाही करने के व्यापक अधिकार दिये गये हैं। यह बैंक उन बैंकों को यह आदेश दे

सकती है कि वे एक निश्चित सीमा से अधिक नकद एवं व्यक्तिगत साख पर ऋण प्रदान न करें, उसके द्वारा बैंकों को यह आदेश दिया जा सकता है कि यदि वे एक निश्चित रकम से अधिक ऋण प्रदान करेंगे तो उन्हें दंड दिया जायेगा। भारतीय रिजर्व बैंक को इस प्रकार के व्यापक अधिकार नहीं है।

नैतिक दबाव (Moral Persuasion)—जब केन्द्रीय बैङ्क यह देखती है कि साख का अधिक निस्तार न होने देना देश के आर्थिक हित में है और व्यापारिक बैङ्क अधिक साख निर्माण कर रही है तो यह उन्हें अपनी बतलाई हुई नीति के व्यवहार में लाने को कहती है। इसी प्रकार यदि केन्द्रीय बैङ्क समझती है कि साख का विस्तार होना चाहिये तो वह व्यापारिक बैङ्कों को वैसा ही करने को कहती है। केन्द्रीय बैङ्क का द्रव्य बाजार में इतना अधिक नैतिक प्रभाव होता है कि प्रत्येक व्यापारिक बैङ्क उसकी बात को मानता है। इस प्रकार अपने नैतिक दबाव से ही केन्द्रीय बैङ्क साख व नियंत्रण करने में सफल होती है। कहीं-कहीं केन्द्रीय बैङ्क साख सम्बन्धी नीति को घोषित कर देती है और व्यापारिक बैङ्क उसी के अनुसार अपनी नीति में परिवर्तन कर लेते हैं।

क्लार्क का कहना है कि जब तक केन्द्रीय बैङ्क को वैधानिक अधिकार प्राप्त न हों तब तक उसके नैतिक दबाव का कोई अर्थ नहीं। अमेरिका में प्रत्येक बैङ्क अपनी स्वतंत्र नीति निर्धारित करती है, अतः उसके ऊपर फैडरल रिजर्व बैङ्क का नैतिक दबाव कम है किन्तु ग्रेट-ब्रिटेन में जहाँ केन्द्रीय बैङ्क बहुत दिनों से स्थापित है, बैङ्क आफ इंगलैंड अन्य बैंकों पर अपना नैतिक दबाव डालने में सफल होता है। जर्मनी में भी केन्द्रीय बैङ्क कई बार नैतिक दबाव डालने में सफल हुई। यद्यपि नैतिक दबाव की कुछ सीमायें हैं। फिर भी वह केन्द्रीय बैङ्क जो बैङ्क दर तथा खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा साख पर नियन्त्रण नहीं कर सकती अपने नैतिक प्रभाव से कुछ सफलीभूत हो सकती है।

केन्द्रीय बैंक अपनी सदस्य बैंकों के लिये अपनी सामान्य नीति सम्बन्धी आदेश देकर उन्हें सचेत करती रहती है। अपने परामर्श, आदेश तथा चेतावनी द्वारा अपनी सदस्य बैंकों की साख नीति प्रभावित कर सकती है। युद्धोपरांत भारतीय रिजर्व बैंक ने भी अपनी अनुसूचित बैंकों को कई आदेश दिया कि वे सटोरियों को ऋण प्रदान न करें और प्रतिभूतियों तथा बहुमूल्य धातुओं की जमानत पर जो ऋण दिया जाये उसके लिये पर्याप्त मार्जिन रखें अर्थात् उनके मूल्य का कम प्रतिशत ही ऋण रूप में दिया जाये। केन्द्रीय बैंक तथा सदस्य बैंकों का यह पारस्परिक सहयोग देश की बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने तथा सही बैंक नीति निर्धारित करने में सहायक होता है।

अन्य उपाय—केन्द्रीय बैंक समय-समय पर मुद्रा बाजार की स्थिति का अध्ययन करती रहती है और इस स्थिति से मुद्रा बाजार को ज्ञान कराने के लिये उद्योग, व्यापार, आयात, निर्यात, रोजगार तथा सार्वजनिक वित्त सम्बन्धी आँकड़ों को प्रकाशित करती रहती है। केन्द्रीय बैंक का यह विज्ञापन तथा प्रचार राष्ट्रीय हित के लिये नीति को सफल बनाने में पूर्ण सहयोग प्रदान करता है। कनाडा की केन्द्रीय बैंक ने साख पर नियंत्रण करने के लिये लोचपूर्ण विनिमय दरों को ग्रहण करके व्यापारिक बैंकों को डिपाजिट प्रमाणपत्र जारी किये हैं।

केन्द्रीय बैंक उपरोक्त उपायों द्वारा साख पर नियंत्रण कर सकती है। किन्तु उपरोक्त उपायों का ठीक प्रयोग बैंक के विधान एवं संगठन पर निर्भर है। इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ अर्थशास्त्री केन्द्रीय बैंक को अन्य कम्पनियों की भाँति व्यक्तिगत रूप से संगठित करने के पक्ष में हैं। कुछ उसके राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क देते हैं। आधुनिक काल में समाजवाद का बोलबाला हो जाने पर राष्ट्रीयकरण की प्रवृत्ति अधिक है। बैंक आफ इंगलैंड, बैंक आफ फ्रांस तथा भारतीय बैंक का राष्ट्रीयकरण हो ही गया है। अमेरिका, नीदरलैंड तथा कुछ अन्य देशों में यह बैंक व्यक्तिगत रूप से चलाई जा रही है। केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष तथा विपक्ष में प्रायः निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं :—

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में

(१) केन्द्रीय बैंक अपने कार्यों से पर्याप्त लाभ प्राप्त करती है। जो केन्द्रीय बैंक हिस्सेदारी की होती हैं वे अपने लाभ का सरकार द्वारा निर्धारित लाभांश अपने हिस्सेदारों में बाँट देती हैं। लाभ का यह भाग बहुत थोड़ा होता है। अधिक भाग सरकार द्वारा जनहित में उपयोग कर लिया जाता है। इस प्रकार व्यवहार में केन्द्रीय बैंक एक सरकारी बैंक के रूप में कार्य करती है। इससे अच्छा तो यह होगा कि हिस्सेदारों को थोड़ा भी लाभांश प्राप्त न हो और सारा का सारा लाभ राष्ट्रीय हित में व्यय कर दिया जाये जिसके लिये सरकारी स्वामित्व का होना आवश्यक है।

(२) केन्द्रीय बैंक एक ऐसी संस्था है जिसको सार्वजनिक हित के लिये कार्य करना पड़ता है और इसलिये उसे अपने कार्यों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है। यदि केन्द्रीय बैंक को सुचारु रूप से देश के हित में कार्य करना पड़ता है तो उस पर सरकार का ही पूर्ण स्वामित्व होना चाहिये।

(३) क्योंकि केन्द्रीय बैंक को अपने अधिकांश कार्यों पर एकाधिकार प्राप्त होता है इसलिये यह आवश्यक है कि उस पर सरकारी नियंत्रण रहे जिससे वह अपने कार्यों को भली-भाँति सम्पन्न कर सके।

(४) केन्द्रीय बैंक को अधिकतर ऐसे कार्य करने होते हैं जो बहुत महत्वपूर्ण होते हैं और जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध सरकार से होता है। यदि इन कार्यों को सुचारु रूप से सम्पन्न न किया जाये तो देश में एक भारी अधिक हानि होने की संभावना होती है, इसीलिये केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण अत्यंत आवश्यक है।

विपक्ष में—राष्ट्रीयकरण हो जाने पर केन्द्रीय बैंक के कर्मचारी सरकारी नौकर हो जाते हैं। उन्हें तो अपनी वार्षिक उन्नति से सम्बन्ध है; बैंक की उन्नति से नहीं। निकम्मे कर्मचारियों को प्रोत्साहन मिलता है और कुशल कर्मचारी हतोत्साहित होते है।

(२) बैंकों की व्यवस्था की जटिल समस्या है। अतः इनका संगठन कुछ विशेषज्ञ कर सकते हैं; सरकारी अधिकारी नहीं। सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति राजनीतिक आधार पर होती है; कार्य-कुशलता के आधार पर नहीं।

(३) राष्ट्रीयकरण से बैंक संगठन में लाल फीताशाही का जन्म हो जाता है। छोटे-छोटे मामलों पर निर्णय देने में भी अनावश्यक समय लग जाता है। भारतीय जीवन कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर कार्य इतना अच्छा नहीं रहा जितना पहले था। कभी-कभी भुगतान करने में कर्मचारी इतनी असावधानी करते हैं कि वह जोखिम में पड़ जाता है।

(४) बैंकों का संगठन सरकार के हाथ में आ जाने पर राजनीतिक आधार पर होता है। व्यापारिक आधार पर नहीं। मनमानी मुद्रा नीति निर्धारित करके सरकार अपना राजनीतिक उद्देश्य पूरा कर लेती है। भले ही जनता पर उसका कुछ भी प्रभाव पड़े। सरकारी संगठन में मुद्रा-स्थिति तथा मुद्रा-प्रसार का भय रहता है।

जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है बहुत से देशों में केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो गया है। भारत में तो न केवल रिजर्व बैंक अपितु उसके एजेंट स्टेट बैंक आफ इंडिया का भी राष्ट्रीयकरण हो गया है।

प्रश्न

1. What functions are performed by Central Banks? How far is the Reserve Bank of India performing those functions?

केन्द्रीय बैंक के क्या कार्य हैं? भारत की रिजर्व बैंक इन कार्यों को कहाँ तक सम्पन्न करती हैं?

2. How does a Central Bank control Currency and Credit? Explain with special reference to Reserve Bank of India.

केन्द्रीय बैंक मुद्रा तथा साख पर किस प्रकार नियंत्रण करती है? रिजर्व बैंक के उदाहरण से समझाइये।

3. Critically examine the place of a Central Bank in the currency and banking system of a country with particular reference to the position of the Reserve Bank of India.

भारतीय रिजर्व बैंक के उदाहरण देते हुए किसी देश की मुद्रा एवं बैंकिंग व्यवस्था में केन्द्रीय बैंक के स्थान की विवेचना कीजिये।

4. Show how the Central Bank can control other banks and make its credit policy effective.

केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों पर किस प्रकार नियंत्रण करके उनकी साख नीति को सक्रिय बनाती है?

5. What is meant by "Open Market Operations."? How does it differ from Bank Rate?

खुले बाजार की क्रियाओं का क्या अर्थ है? यह बैंक दर से किस प्रकार भिन्न होती है?

अध्याय ३

भारतोय मुद्रा बाजा

(Indian Money Market)

मुद्रा बाजार का अर्थ—मुद्रा बाजार वह स्थान है जहाँ मुद्रा के ग्राहक (उधार लेने वाले) मुद्रा के विक्रेताओं (उधार देने वालों) के संपर्क में आकर मुद्रा के उपयोग सम्बन्धी क्रय-विक्रय और लेन-देन करते हैं। दूसरे शब्दों में मुद्रा बाजार उस बाजार को कहते हैं जहाँ उधार लेने वाले उधार देने वाले लोगों से ब्याज पर थोड़े समय के लिये उधार लेते रहते हैं। मुद्रा बाजार का प्रयोग दो शब्दों में किया जा सकता है। विस्तृत अर्थ में दूसरे अंतर्गत सभी प्रकार के आर्थिक लेने देनों तथा प्रमुख मुद्रा बाजार पूँजी बाजार, विदेशी विनिमय बाजार, सोना चाँदी बाजार आदि बहुत स्वतन्त्र रूप से संगठित बाजारों का भी समावेश कर लिया जाता है। परन्तु संकुचित अर्थ में इसके अंतर्गत केवल अल्पकालीन आर्थिक लेन-देन आते हैं। अर्थात् यह उस अल्पकालीन कोष का भंडार समझा जाता है जिससे व्यापार तथा उद्योग-धन्धों को अल्पकालीन ऋण मिलता रहता है।

भारतीय मुद्रा बाजार के अंग—अन्य बाजारों की भाँति मुद्रा बाजार के भी दो अंग होते हैं। क्रेता अर्थात् रुपया उधार लेने वाले और विक्रेता अर्थात् रुपया उधार देने वाले। मुद्रा बाजार में रुपया लेने वाले होते हैं—केन्द्रीय तथा राज्य की सरकारें, स्थानीय सरकार जैसे जिला अंतरिम परिषद, नगरपालिका तथा महानगरपालिका। जो समय-समय पर अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋण मुद्रा बाजार से लेती रहती हैं। व्यापारी उद्योगपति, आयात-निर्यात कर्त्ता इत्यादि जो अपनी कार्यशील पूँजी, प्रतिज्ञा-पत्रों, हुण्डियों तथा अन्य जमानतों पर लेते रहते हैं। कृषक तथा जमींदार जो खेती, भूमि तथा अपने अन्य कार्यों के लिये मकान, जमीन इत्यादि रखकर ऋण लेते हैं। अन्य लोग सामाजिक तथा धार्मिक संस्थायें भी कभी-कभी अपने कार्यों के लिए मुद्रा बाजार से ऋण लेते हैं।

रुपया उधार लेने वालों में सेठ, साहूकार, देशी बैङ्क, सहकारी समिति, भूमि बंधन बैङ्क औद्योगिक बैङ्क, पोस्ट आफिस, बीमा-कम्पनियाँ, विनिमय बैङ्क, सम्मिलित

पूँजी वाले बैङ्क, इम्पीरियल बैङ्क आफ इंडिया तथा रिजर्व बैंक आफ इंडिया इत्यादि होते हैं जो समय-समय पर अपनी कार्य पद्धति के अनुसार अपने ग्राहकों को रुपया उधार देते हैं।

भारतीय मुद्रा बाजार के इन अंगों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है—

(१) ऋणदाता—

(क) **योरोपीय तथा केन्द्रीय भाग**—इस भाग के अंग रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, विनिमय बैंक, जीवन बीमा निगम तथा डाक विभाग है।

(ख) **भारतीय तथा स्वदेशी भाग**—इस भाग में महाजन, साहूकार, स्वदेशी बैंकर, ऋण-कार्यालय, चिट कोष (जो दक्षिणी भारत में पाये जाते हैं), व्यापारिक बैंक, सेविंग बैंक आदि सम्मिलित किये जाते हैं।

ऋण लेने वाले—भारतीय बाजार में उधार लेने वाले निम्नलिखित हैं :—

(क) केन्द्रीय सरकार, प्रादेशिक सरकारें, अन्य स्थानीय सरकारी संस्थायें तथा विदेशी सरकारें।

(ख) व्यापारी तथा उद्योगी वर्ग।

(ग) कृषक वर्ग

(घ) साधारण जनता।

मुद्रा बाजार का समस्त लेन-देन नकद धन, बिलों, प्रतिज्ञा-पत्रों अंशों तथा अल्पकालीन प्रतिभूतियों व अन्य शाखाओं द्वारा होता है।

भारतीय मुद्रा बाजार की विशेषताएँ—कुछ लोगों का कथन है कि मुद्रा बाजार एक बड़ी सुसंगठित व्यवस्था है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। उन देशों में भी जहाँ बैंकिंग व्यवसाय अति उन्नति पर है और जिसका मुद्रा बाजार पर बड़ा प्रभाव है वहाँ भी मुद्रा बाजार एक अस्त-व्यस्त संगठन है। अनेक भागों तथा उपविभागों में विभाजित है और प्रत्येक उपभाग का अलग क्षेत्र है। भारतीय मुद्रा बाजार तो और भी अधिक अस्तव्यस्त है। यहाँ पर संगठित संस्थाओं एवं स्वदेशी बैंकरों के मध्य एक गहरी खाई है। और ये दोनों वर्ग पूर्ण स्वतन्त्रता एवं प्रतिस्पर्धा के साथ कार्य करते हैं।

दूसरी विशेषता यह है। कि भारतीय मुद्रा बाजार में इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया का जो अब स्टेट बैंक में परिवर्तित कर दी गई है, बड़ा प्रभाव रहा है। यह बैंक एक शक्तिशाली व्यापारिक बैंक है और रिजर्व बैंक की प्रतिनिधि होने के नाते विशेष अधिकार प्राप्त है। अन्य व्यापारिक भारतीय बैंकों के प्रति इसका व्यवहार असहानुभूतिपूर्ण रहा है।

तीसरे भारतवर्ष विदेशी बैंकों का भी अड्डा रहा है जिसके स्वामी एवं संगठक पूर्णतया विदेशी रहे हैं। इन बैंकों ने भारतीय आंतरिक व्यापार को कभी कोई सहायता नहीं दी। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् इनके कार्यों पर कुछ नियंत्रण किया गया किन्तु इतना नहीं जितने की आवश्यकता थी। अतः बहुत से विषयों में ये भारतीय बैंकों से प्रतिस्पर्धा करके उन्हें हानि पहुँचाते रहे।

अंत में १६३५ तक भारतीय बैंकों के संरक्षण एवं मार्गदर्शन के लिये कोई केन्द्रीय बैंक न थी। रिजर्व बैंक ने भी प्रारम्भ में इतना संरक्षण एवं नियंत्रण नहीं किया जितना अन्य देशों में केन्द्रीय बैंक करती है।

उपरोक्त विशेषताओं ने भारतीय मुद्रा बाजार में निम्नलिखित दोष उत्पन्न कर दिये—

भारतीय मुद्रा बाजार के दोष

(१) विभिन्न अंगों में घनिष्ट सम्बन्ध की कमी—मुद्रा बाजार के विभिन्न भागों में न तो परस्पर कोई गहरा सम्बन्ध व सम्पर्क है और न इनके विभिन्न अंगों में कोई घनिष्ठ सहयोग ही है। भारतीय मिश्रित पूँजी वाली बैंक, स्टेट बैंक, विदेशी विनिमय को तथा सहकारी बैंकों को अपना प्रतिद्वंद्वी मानते हैं तथा सहकारी बैंकों का देशी बैंकरों तथा साहूकारों से भी तनिक सम्बन्ध नहीं रहता। देशी बैंकरों और साहूकारों में भी कोई अधिक घनिष्ठ संबंध नहीं रहता और इन दोनों का सम्बन्ध भी इम्पीरियल बैंक तथा मिश्रित पूँजी वाली बैंकों से बहुत कम स्थापित हो पाता है। अब रिजर्व बैंक स्थापित होने से यह दोष दूर हो गया है।

(२) ब्याज की दरों में अंतर—मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों में घनिष्ठ सम्बन्ध न होने तथा उनका प्रभावशाली नियंत्रण न होने के कारण बैंक दर, बाजार ब्याज दर, स्टेट बैंक की हुंडी तथा बट्टा दर में बहुत अधिक अंतर रहता है। भिन्न-भिन्न स्थानों पर ब्याज की दर भी भिन्न होती है। ऐसी परिस्थिति में रिजर्व बैंक की दर भी प्रभावशाली नहीं हो सकती। भारतवर्ष के विभिन्न बैंक आपस में प्रतिस्पर्धा करके अधिक जमा राशि प्राप्त करने के लिए भिन्न प्रकार के प्रलोभन देती हैं। एक सुसंगठित मुद्रा बाजार में ब्याज की दर बैंक दर पर निर्भर होनी चाहिये। रिजर्व बैंक का कर्त्तव्य है कि वह ब्याज दर की सीमा निर्धारित करके इस विभिन्नता को दूर करे।

(३) स्थिरता का अभाव—कृषि-प्रधान देश होने के नाते ब्याज की दरें ऋतु परिवर्तन के साथ घटती-बढ़ती रहती हैं। शीत ऋतु में जब व्यापारिक चहल-पहल अधिक होती है तो ब्याज की दर ऊँची हो जाती है। वर्षा ऋतु में यातायात बन्द

हो जाने से व्यापार में कमी आ जाती है और फलस्वरूप ब्याज की दर भी कम हो जाती है।

(४) **लोचपूर्ण नहीं**—रिजर्व बैंक की स्थापना से पहले इम्पीरियल बैंक ही साख पर थोड़ा-बहुत नियंत्रण करती थी। अतः इसमें साम्य स्थापित नहीं हो पाता था यद्यपि रिजर्व बैंक ने इस दोष को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया है फिर भी भारतीय मुद्रा बाजार में पूर्ण लोच नहीं आ पाई। व्यापारिक आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा उसी अनुपात से नहीं घटती-बढ़ती। भारतीय बैंकों के साधन बहुत सीमित हैं। उनके कोष भी परिमित हैं। अतः देश के बढ़ते हुए व्यापार की आवश्यकताएँ पूरी करने में भारतीय मुद्रा बाजार असमर्थ रहता है।

(५) **धन का अभाव**—भारत के अधिकांश निवासी निर्धन हैं। उनकी आय बहुत कम है। अतः उनमें बचाने की शक्ति नहीं। जो लोग बचाते भी हैं वे धन को जमीन में गाड़ कर रखते हैं अथवा आभूषण बनवा लेते हैं। अपने असमान वितरण एवं शिक्षा के अभाव के कारण भारतीय धन का उचित उपयोग नहीं हो रहा है। उद्योग-धन्धों तथा व्यापार की आवश्यकता पूँजी की पूर्ति करने के लिये पर्याप्त धन नहीं है। कुछ बैंकों के फेल हो जाने से जनता में बैंकों के प्रति विश्वास कम हो गया। बहुत से स्थानों पर बैंकों की सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। यदि प्राप्त भी हैं तो भी अविश्वास के कारण अधिकांश लोग बैंकों में अपनी बचत जमा करने से डरते हैं। ग्रामीणों की बचत तो किसी भी अवस्था में बैंकों में न आने से देश के काम नहीं आती। अतः धन की कमी से भारतीय मुद्रा बाजार शक्तिहीन है।

(६) **साहूकारों का प्रभाव**—आधुनिक बैंकों की स्थापना हो जाने पर भी साहूकार तथा देशी बैंकर बड़े प्रभावशाली हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में उनका बोलबाला है ही। देश के आंतरिक व्यापार में भी उनका पूरा हाथ है। इस पर पूर्ण नियंत्रण करना कठिन है। अतः ये स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करते हैं और उनकी कार्य-विधि प्रत्येक स्थान पर अलग है। किन्तु यह आशा की जाती है कि देश भर में ग्राम पंचायतें स्थापित हो जाने पर सहकारी बैंकों को प्रोत्साहन मिलेगा और साहूकारों का महत्व कम हो जायेगा।

(७) **समाशोधन गृहों की कमी**—भारतीय मुद्रा बाजार का सबसे बड़ा दोष यह है कि यहाँ पर समाशोधन गृहों की कमी है। ये गृह केवल बड़े-बड़े नगरों में स्थित हैं। इससे बाजार के भिन्न-भिन्न अंगों के आपसी लेन-देन पूरा करने में असुविधा रहती है।

(८) **हुन्डी प्रचलन की कमी**—भारतीय मुद्रा बाजार में आज भी हुन्डियों का अभाव है। विदेशों में बैङ्कों के धन का अधिकांश भाग हुन्डियों में विनियोजित होता

वाला क्रेता इन हुन्डियों को अपने बैंक से बट्टे पर भुना लेता है। यद्यपि इस प्रकार की हुन्डियों का प्रचलन बढ़ रहा है फिर भी भारतीय बैंकों का बहुत कम धन इन हुन्डियों को खरीदने में काम आता है।

भारतीय रिजर्व बैंक जब तक हुन्डियों के संबन्ध में उदासीन रहेगी और उनकी नीति अत्यधिक असावधानी की रहेगी हम अच्छे हुन्डी बाजार की आशा नहीं कर सकते। अमेरिका के संयुक्त राज्य में एक अच्छी फैडरल रिजर्व बैंक की स्थापना ने हुन्डी बाजार का विकास किया। भारतवर्ष में रिजर्व बैंक ने हुन्डी भुनाने की बहुत कम सुविधायें प्रदान की हैं। वह केवल "मान्य" हुंडियों का ही क्रय-विक्रय करती है। कभी-कभी मान्य शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाकर हुन्डियों को मान्यता प्रदान नहीं की जाती। इन हुन्डियों के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक स्वयं अथवा स्टेट बैंक के द्वारा हुंडी लिखने, स्वीकार करने तथा भुनाने वालों की आर्थिक स्थिति की छानबीन करती है। व्यापारी लोग इस प्रकार की छानबीन को पसंद नहीं करते क्योंकि इससे उनके व्यापार की गोपनीयता के भंग होने का भय रहता है। यह तो ठीक है कि अन्तिम ऋण-दाता के रूप में ऋण देते समय बैंक को सतर्क रहना चाहिये। किन्तु मुद्रा बाजार सुसंगठित करके हुन्डी के प्रचलन का विकास करना भी उसका परम कर्त्तव्य है।

भारत में हुन्डी बाजार की उत्पत्ति—रिजर्व बैंक ने हुन्डी बाजार की उत्पत्ति के प्रश्न पर कई बार विचार किया। किन्तु इस विचार को सर्वाधिक महत्व तो उस समय दिया जब नवम्बर १६५१ में बैंक दर ३ प्रतिशत से बढ़कर ३½ प्रतिशत की गई। जनवरी १६५२ में कुछ बड़ी-बड़ी बैंकों के परामर्श से रिजर्व बैंक ने एक हुंडी बाजार योजना तैयार की। प्रारम्भ में यह योजना अनुभव प्राप्त करने के लिये चालू की गई। किन्तु प्रथम वर्ष में इसका अधिक स्वागत होने से यह योजना स्थाई कर दी गई है। इस योजना के पूर्व अनुसूचित बैंक अपनी सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये रिजर्व बैंक से प्रतिभूतियों की जमानत पर ऋण प्राप्त करती थीं। किन्तु यह प्रथा गुणात्मक नियंत्रण के लिये उपयुक्त न थी। और इसके कारण मुद्रा बाजार लोचपूर्ण नहीं था। हुन्डी बाजार की योजना इस कमी को पूरा करने में सफल हुई। हुन्डी बाजार योजना की मुख्य बातें निम्न प्रकार हैं :—

(१) रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा १७ (४) (स) के अंतर्गत सभी अनुसूचित बैंक उन हुन्डियों की जमानत पर ऋण प्राप्त करने की अधिकारी हैं जो ६० दिन के अंदर भारतवर्ष में ही देय हैं। इस योजना में ऐसी हुन्डियों की जमानत पर केवल ऋण दिया जा सकता है उन्हें खरीदा नहीं जा सकता।

(२) किसी भी बैंक को इस प्रकार का ऋण १० लाख से अधिक तथा किसी एक हुन्डी पर ५० हजार से अधिक का ऋण नहीं दिया जा सकता।

(३) इन हुंडियों के आधार पर याचना-ऋण तभी दिया जा सकता है जब रिजर्व बैंक इन हुंडियों की सत्यता से संतुष्ट हो जाये। संतुष्ट होने के लिये रिजर्व बैंक पूरी छान-बीन करती है।

(४) धारा १७ (४) (स) के अंतर्गत यह विधान किया गया है कि ऐसी हुन्डी पर कम से कम दो या इससे अधिक अच्छे पक्षों के हस्ताक्षर होने चाहिये जिनमें से एक अनुसूचित बैंक हों। अनुसूचित बैंक यह प्रमाणित करती है कि उस पक्ष की जिसने हुंडी स्वीकार की है, आर्थिक अवस्था अच्छी है।

(५) क्योंकि योजना के अंतर्गत इन हुन्डियों की जमानत पर केवल ऋण लिया जा सकता है, भुनाया नहीं जा सकता। अतः ऋण लेने वाली बैंक ऋण का भुगतान करके इन हुन्डियों को चाहे जब छुड़ा सकता है। ऋण का भुगतान थोड़ा-थोड़ा करके किया जा सकता है।

(६) इस प्रकार की हुन्डियों को प्रोत्साहन देने के लिये रिजर्व बैंक ने अपनी बैंक दर से चौथाई प्रतिशत व्याज कम लेना निश्चित किया है। १ मार्च सन् १९५६ से पहले यह रियायत आधा प्रतिशत थी। यदि बैंक दर ३½ प्रतिशत है तो इन हुन्डियों की जमानत पर जो ऋण दिया जायेगा उस पर केवल ३ प्रतिशत व्याज लगेगी।

इस योजना ने पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। सन् १९५२ में इस योजना के अंतर्गत केवल ८१ करोड़ रुपये के ऋण दिये गये थे जब कि १९५७ में ६९० करोड़। यदि व्याज की रियायत आधा प्रतिशत घटा कर चौथाई प्रतिशत की जाती तो बैंक और अधिक ऋण प्राप्त कर लेती। १ मार्च १९५६ से पहले हुन्डियों पर लगे स्टाम्प का आधा व्यय रिजर्व बैंक सहन करती थी। इस रियायत की समाप्ति का इस योजना पर कुछ बुरा प्रभाव पड़ा। रिजर्व बैंक को इस योजना को अधिक सफल बनाने के लिये कुछ और सुविधायें प्रदान करनी चाहिये क्योंकि अधिक हुन्डी प्रचलन से मुद्रा बाजार का विकास होता है।

भारतवर्ष में बैंकिंग व्यवसाय का विकास—रुपया उधार लेने-देने की प्रथा भारत में प्राचीन काल से चली आ रही है। हुंडी तथा बिल का प्रयोग व्यापार में यहाँ तब से ही हो रहा है जब पाश्चात्य देशों में लोगों को बैंकिंग शब्द का ज्ञान तक न था। महाजन तथा सेठ लोग देश का आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार रुपया उधार ले-दे कर अंग्रेजों के भारत आगमन तक चलाते रहे। परन्तु जब अंग्रेजों ने भारतीय व्यापार में भाग लेना प्रारम्भ किया तब भारतीय सेठ-साहूकारों का पतन होने लगा जिसका मुख्य कारण यह था कि अँग्रेज व्यापारी भारतीय महाजनों की पद्धति से परिचित न थे। अतः वे उनसे सहयोग न कर सके। अँग्रेजों ने अपने

व्यापार की सुविधा के लिये बंगाल, मद्रास तथा बम्बई में प्रेसीडेन्सी बैङ्क स्थापित किये। इन बैङ्कों के कार्य संचालन में ईस्ट इंडिया कम्पनी का ही सबसे बड़ा हाथ था। कुछ दिन पश्चात् इन बैङ्कों को नोट छापने का अधिकार भी दे दिया गया तथा इनको देश के अन्य भागों में अपनी शाखायें भी खोलने की अनुमति दे दी गई। परन्तु विदेशी व्यापार में इन प्रेसीडेन्सी बैङ्कों का कोई हाथ न था। इन बैङ्कों की व्यवस्था बहुत अच्छी न थी क्योंकि इनके कार्य संचालन के लिये देश में कोई केन्द्रीय बैङ्क न था। वाडलर कमीशन तथा चेम्बरलेन कमेटी ने देश में एक केन्द्रीय बैङ्क स्थापित करने पर बहुत बल दिया। अतः १६२१ में तीनों प्रेसीडेन्सी बैङ्कों को मिलाकर इम्पीरियल बैङ्क के नाम से एक अर्ध सरकारी बैङ्क चालू कर दी गई। इम्पीरियल बैंक को पूरी तरह से केन्द्रीय बैंक कहना तो ठीक न होगा परन्तु उसे केन्द्रीय बैंक के कुछ अधिकार प्राप्त थे। यह एक सम्मिलित पूँजी वाली बैंक थी जिस पर सरकार कानून द्वारा नियंत्रण करती थी। समय-समय पर इस बैंक के कार्यों की बहुत आलोचना हुई क्योंकि जिस आशा से यह बैंक चालू की गई थी वह पूरी न हुई। दूसरे बैंकों की सहायता तथा पथ-प्रदर्शन करने के स्थान पर इम्पीरियल बैंक उसकी प्रतिद्वन्द्वी बन गई। इसने भारतीय व्यापारियों से अच्छा व्यवहार न किया बड़ी-बड़ी नौकरियों पर अँग्रेजों की ही नियुक्त की गई, और भारतीयों को बैंकिंग ट्रेनिंग से वंचित रखा गया। इम्पीरियल बैंक स्थापित होने से पहले देश में कुछ सम्मिलित पूँजी वाली व्यापारिक बैंक स्थापित हो गई थी और उनमें बहुत सी बैंक सफल न हो सकीं और उन्हें कार्य बन्द करना पड़ा। क्योंकि इन बैंकों की कार्य पद्धति आधुनिक ढंग की न थी और उनके कर्मचारियों को किसी प्रकार की बैंकिंग प्रशिक्षा प्राप्त न थी। बैंकों को फेल होने से बचाने तथा उनका पथ-प्रदर्शन करने को इम्पीरियल बैंक स्थापित की गई थी। परन्तु इम्पीरियल बैंक ने इन भारतीय बैंकों के साथ सदा ही सौतेली माँ-का-सा व्यवहार किया था। अतः भारतीय अर्थशास्त्रियों ने यह आवाज उठाई कि इम्पीरियल बैंक को दिये हुए अधिकार वापस लेकर उनके स्थान पर एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना करनी चाहिये। १६२५ में हिल्टन यंग कमीशन ने भी रिजर्व बैंक की स्थापना पर बल दिया। बहुत वाद-विवाद के पश्चात् १६३४ में रिजर्व बैंक आफ इंडिया कानून तैयार किया गया और पहली अप्रैल १६३५ को रिजर्व बैंक ने अपना कार्य आरम्भ कर दिया। इस बैंक को हर प्रकार से विदेशी बैंकों-सी बनाने का प्रयत्न किया गया। यह एक सम्मिलित पूँजी वाली बैंक थी। परन्तु १६४६ में इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। यह बैंक अन्य बैंकों का पथ-प्रदर्शन करती है। संकटकाल में उनकी सहायता करती है। भारतीय साख तथा मुद्रा पर नियंत्रण करती है और किसी प्रकार भी अन्य बैंकों से प्रतिद्वन्द्विता नहीं

ती। रिजर्व बैंक के स्थापित हो जाने पर इम्पीरियल बैंक को दिये हुए अधिकार
स ले लिये गये। यह भी अन्य व्यापारिक बैंकों की तरह हो गई। परन्तु रिजर्व
 आफ इंडिया ने रिजर्व बैंक को अपनी एजेंट नियुक्त करके अन्य बैंकों पर आघात
या। कुछ भी हो रिजर्व बैंक फिर भी उन सब कार्यों को करने में सफल रही जिसकी
से आशा की जाती थी और उसकी देख रेख में अनेक बैंक अपने कार्य का
ठन करने में सफल हो गये। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् बहुत कम बैंक
 हुई हैं।

भारतीय मुद्रा बाजार पर द्वितीय महायुद्ध का प्रभाव—द्वितीय महायुद्ध
जो सितम्बर १६३६ से अगस्त १६४५ तक चला, संसार के राजनीतिक तथा
र्थिक ढाँचे को बहुत कुछ बदल दिया। यद्यपि भारतवर्ष रणक्षेत्र से बहुत दूर था
र भी इस युद्ध का प्रभाव कुछ कम न पड़ा। युद्ध का निम्नलिखित प्रभाव भारतीय
द्रा बाजार पर पड़ा—

(१) नई-नई बैंकों की स्थापना तथा नई शाखाओं का खुलना—द्वितीय
हायुद्ध का भारतीय मुद्रा बाजार पर प्रथम प्रभाव यह पड़ा कि यहाँ नई नई बैंकों की
ढ़-सी आ गई। अनेक नई बैंकें स्थापित हुई और पुरानी बैंकों ने अपनी शाखाओं
े बढ़ाया। इसका कारण यह था कि युद्धकाल में धंधों को खड़ा करने के लिये मशीन
था यंत्र तो विदेशों से आ नहीं सकते थे जिससे कारखानें स्थापित किये जा सकते
ौर न इमारत आदि बनाने की सुविधा थी। किन्तु बैंक स्थापित करने को इन
स्तुओं की आवश्यकता न थी। उसके लिये केवल अल्पकालीन कोष की आवश्यकता
ी और वह युद्धकाल में इस देश में भारी मात्रा में उपलब्ध थी। इसका परिणाम
ह हुआ कि प्रत्येक बड़े पूँजीपति या व्यवसायी ने अपनी बैंक खड़ी कर दी। आज
ेसा कोई प्रसिद्ध व्यवसायी नहीं है जिसने इस समय एक बैंक स्थापित न की हो।
दि भारत सरकार नवीन मिश्रित पूँजीवाली कम्पनियों के स्थापित होने पर रोक न
गाती तो संभवतः भारत में अनाप-शनाप बैंकों की वृद्धि न होती।

(२) बैंकों की डिपाजिट में बढोतरी—यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भिक
र्षों में जनता का विश्वास बैंकों में कम हो जाने के कारण जमा की रकम कुछ
कम हुई किन्तु १६४१ के उपरान्त जमा की राशि अत्यन्त अधिक बढ़ी। समस्त
दस्य बैंकों की कुल जमा राशि अत्यन्त अधिक बढ़ी। समस्त सदस्य बैंकों की कुल
मा राशि युद्ध आरम्भ होने के समय २३८ करोड़ रुपये थी जो १६४६ में बढ़ कर
१०६१ करोड़ रुपये हो गई। इस बैंक जमा राशि की अत्यन्त अधिक वृद्धि के मुख्य
कारण थे—भारत में युद्ध के व्यय के फलस्वरूप अत्यन्त अधिक मुद्रा प्रसार का होना,
ंकों की नई-नई शाखाओं का स्थापित होना, व्यापार आदि में बहुत लाभ का होना,

तथा रुपये को लाभप्रद कार्यों में लगाने के साधनों की कमी का होना। बैंकों को जमाओं के सम्बन्ध में और भी विशेष बात हुई। युद्धकाल में स्थायी जमायें बहुत कम बढ़ी जब कि चालू जमाओं में अत्यन्त अधिक वृद्धि हुई। इसके भी कई कारण थे। प्रथम तो स्थायी जमाखातों की ब्याज दर चालू जमाखातों की अपेक्षा गिर गईं। अतः सर्वसाधारण जनता चालू खाते में ही रुपया जमा करना अधिक पसन्द करने लगी। द्वितीय युद्धकाल में सोने, चाँदी, कम्पनियों के अंशों तथा मकानों के मूल्यों में अत्यन्त अधिक उतार-चढ़ाव होते रहते थे। अतः जनता अपनी बचत को चालू जमाखातों में रखना ही अधिक पसंद करती थी जिससे आवश्यकतानुसार यह रुपये सरलता से काम में लिये जा सकें। तृतीय युद्धकाल में मशीनें तथा अन्य सामान न मिलने के कारण नये उद्योग-धंधे तथा कारखाने स्थापित नहीं किये जा सकते थे। उद्योगपति तथा व्यापारी अपने बढ़ते हुए लाभ को चालू खाते में ही जमा करान अधिक अच्छा समझते थे।

(३) **विनियोग की नीति में परिवर्तन**—उद्योगों-धंधों और व्यापार के लिये जो ऋण की माँग थी वह कम हो गई। किन्तु सरकार ने एक के पश्चात् दूसरे ऋण निकालने आरम्भ किये। १९३९ में जहाँ बैंक अपनी कुल डिपाजिटों का ५८ प्रतिशत ऋण, नकद साख तथा बिलों के रूप में धंधों और व्यापार में लगाते थे वहाँ १९४१ में उन्होंने अपनी कुल डिपाजिटों का २० प्रतिशत इस रूप में लगाया। जैसे-जैसे महायुद्ध चलता गया उद्योग-धंधों को बैंकों से उधार लेने की आवश्यकता कम होती गई। उनके लाभ को व्यवसायी चालू खाते में जमा रखते थे और उसी को कार्यशील पूँजी के रूप में लाते थे। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि बैंकों ने अपने कोष को सरकारी प्रतिभूतियों में अधिकाधिक लगाना प्रारम्भ कर दिया। यही नहीं बैंकों ने नकद कोष भी अधिक रखना आरम्भ कर दिया। अनुसूचित बैंक १५ प्रतिशत, इम्पीरियल बैंक १५ से २५ प्रतिशत बड़े पाँच १८ प्रतिशत और जो बैंक अनुसूचित बैंक नहीं हैं वे ११ प्रतिशत नकद कोष रखने लगी। दूसरे शब्दों में युद्धकाल में बैंकों की तरल लेनी का अनुपात बढ़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि बैंकों को अपने रुपये पर ब्याज की कम आय होने लगी। इस कारण उन्होंने भी डिपाजिटों पर ब्याज कम कर दी।

(४) **बैंकों के संगठन में दुर्व्यवस्था**—द्वितीय युद्धकाल में बैंकों की अत्यन्त शीघ्र विकास तथा वृद्धि होने के कारण सुयोग्य तथा अनुभवी कर्मचारियों को अधिक वेतन देकर अपने यहाँ रख लिया। नई-नई बैंकों ने पुरानी बैंकों के अनुभवी कर्मचारियों को अधिक वेतन देकर अपने यहाँ रख लिया। परन्तु छोटी-मोटी बैंकों के योग्य कर्मचारियों का मिलना कठिन ही नहीं वरन दुर्लभ हो रहा है। अतः अब

आवश्यकता है कि शीघ्र ही भारतीय बैंकों का एक संघ स्थापित किया जावे तथा बैंक कर्मचारियों की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध किया जावे।

युद्धकाल में मेंढकों की तरह से बहुत-सी बढ़ी हुई बैंक युद्ध समाप्त होने पर फेल हो गईं। अन्य कारणों के अतिरिक्त इसका एक कारण यह भी था कि ये बैंक आपस में प्रतिस्पर्धा करने लगीं जिससे आपस में टकराकर चूर-चूर हो गईं।

स्वतन्त्रता के उपरांत भारतीय द्रव्य बाजार अगस्त १६४७ में भारत में स्वतन्त्र हुआ। भारत सरकार ने जनता की बचत को बैंकों तथा डाकखानों में जमा पर प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न किया। सन् १६४६ में एक बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम पास करके बैंकों की स्थिति को सुदृढ़ बनाया गया एवं जमा करने वालों की रक्षा करने का प्रयत्न किया गया। रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक का राष्ट्रीयकरण करके उन्हें अधिक सेवा योग्य बनाया गया। अन्य बचत योजनायें कार्यान्वित करके भिन्न प्रकार की प्रतिभूतियाँ जारी की गईं जिससे जनता की बचत पंचवर्षीय योजनाओं में काम आ सके। जीवन बीमा कम्पनियों का भी राष्ट्रीयकरण किया गया किन्तु इससे उद्योग-पतियों को धन प्राप्त करने में कुछ कठिनाई होने लगी। क्योंकि सरकारी संस्था हो जाने पर जीवन बीमा निगम अपने धन का विनियोग सरकारी ऋणों में अधिक करने लगा। जीवन बीमा कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण का उद्देश्य ही पंचवर्षीय योजनाओं में धन लगाना था।

अल्पबचत योजनायें—जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है सरकार ने कई प्रकार की अल्पबचत योजनायें चालू कीं जिनमें १० वर्षीय ट्रेजरी सेविंग सार्टीफिकेट, नेशनल सेविंग सार्टीफिकेट तथा डाकखाने के सेविंग बैंक एकाउन्ट विशेष उल्लेखनीय हैं। इन अल्पबचत योजनाओं का पूर्ण वर्णन नीचे दिया जाता है—

डाकखाने का सेविंग बैंक खाता—सभी हेडपोस्ट आफिसों में, सब पोस्ट आफिसों में तथा बहुत से ब्रांच पोस्ट आफिसों में सेविंग बैंक का काम होता है। इनका मुख्य उद्देश्य किसानों, मजदूरों तथा मध्यम श्रेणी के लोगों में मितव्ययता की भावना जाग्रत करना है। किन्तु पोस्ट आफिस सेविंग बैंकों में अधिकांश मध्यम श्रेणी के ही व्यक्ति अपनी बचत जमा करते हैं। इनमें अधिकांश सरकारी अथवा अर्ध सरकारी कर्मचारी, वकील, डाक्टर, अध्यापक तथा अन्य पेशे वाले लोग ही अपना रुपया जमा करते हैं। पोस्ट आफिस सेविंग बैंक में अधिक-से-अधिक ५००० रुपये जमा किये जा सकते हैं। पहले यह नियम था कि एक वर्ष में कोई ७५० रुपये से अधिक जमा नहीं कर सकता था किन्तु अब यह बन्धन हट गया है। कोई भी व्यक्ति ५००० रुपये तक एक बार में जमा कर सकता है। कम से कम दो रुपये जमा किये जा सकते हैं। सेविंग बैंक में अब दो सौ रुपये से कम १½ प्रतिशत और २०० से ऊपर

२ प्रतिशत ब्याज दी जाती है। कोई भी व्यक्ति रुपया जमा कर सकता है। रुपया एक सप्ताह में केवल एक बार निकाला जा सकता है।

भारतवर्ष में पोस्ट आफिस सेविंक बैंक की स्थापना १८८२ में हुई। तब से उसमें जमा करने वालों की संख्या तथा जमा किया हुआ रुपया बराबर बढ़ता ही गया। पहले महायुद्ध के आरम्भ होने पर १९१४-१५ में लोगों में अवश्य घबराहट फैल गई और लोगों ने करोड़ों रुपया निकाल लिया। परन्तु शीघ्र ही लोगों में विश्वास फिर लौट आया और डिपाजिट बढ़ने लगी। १९३०-३१ में आर्थिक मंदी के कारण जितना रुपया जमा हुआ उससे अधिक रुपया निकाला गया। किन्तु फिर डिपाजिट में वृद्धि होने लगी। १२ मार्च १९३८ में ३७·९ करोड़ रुपये जमा थे। और ७७५ करोड़ रुपये की डिपाजिट थी। जब दूसरा युद्ध आरम्भ हुआ और फ्रांस का पतन हो गया तो जनता में फिर घबराहट फैल गई और लोगों ने अपना रुपया निकालना आरम्भ कर दिया किन्तु शीघ्र लोगों में विश्वास लौट आया और डिपाजिटों में वृद्धि होने लगी।

स्वतन्त्र भारत में डाक सेविंग खाते की सुविधायें ग्रामीण क्षेत्र में भी चालू कर दी गई हैं। प्रत्येक ग्राम में जिसकी जनसंख्या १५·९ से अधिक है एक डाकखाना खुल गया है। कुछ प्रमुख स्थानों पर चेक द्वारा रुपया निकालने की सुविधायें भी प्रदान कर दी गई हैं। मध्यवर्ग के लोग अपनी बचत डाकखानों में ही जमा करते हैं। बैंकों की अपेक्षा डाकखाने में ब्याज की दर भी कुछ अधिक है और थोड़ी-थोड़ी रकम जमा करने में तथा निकालने में असुविधा नहीं होती। १९५५-५६ में डाकखाने के सेविंग बैंक खाते में १६१ करोड़ रुपये जमा थे। ३१ मार्च १९५८ को इसमें ६½ प्रतिशत और वृद्धि हुई। यह आशा की जाती है कि अधिक स्थानों में चेक प्रथा चालू हो जाने से इस जमा में और वृद्धि होगी।

नेशनल सेविंग सार्टीफिकेट—ये सार्टीफिकेट द्वितीय महायुद्ध के समय निकाले गये। ये १२ वर्षों के लिए होते हैं। सार्टीफिकेट खरीदने वाला उन्हें कभी भी भुना सकता है। किन्तु पहले ३ वर्षों में कोई ब्याज नहीं मिलती। और उसके उपरांत क्रमशः ब्याज की दर बढ़ती जाती है। १२ वर्ष पूरे हो जाने पर प्रारम्भ में लगाया हुआ रुपया ड्यौढ़ा हो जाता है। उदाहरण के लिये कोई व्यक्ति १०० रुपये के कैश सार्टीफिकेट लेता है तो १२ वर्ष के उपरांत उसको १५० रुपये मिलेंगे। एक व्यक्ति २५००० रुपये से अधिक के नेशनल सेविंग बैङ्क सार्टीफिकेट नहीं खरीद सकता। नेशनल सेविंग सार्टीफिकेटों पर ब्याज की दर अच्छी है। इसके ब्याज पर आय कर भी नहीं लगता तथा जोखम बिल्कुल नहीं है। इस कारण मध्यम श्रेणी का व्यक्ति उनकी ओर अधिक आकर्षित होता है। यदि खरीदने वाले को यह सुविधा दे दी जावे कि वह

अपना उत्तराधिकारी घोषित कर सके जिसे उसकी मृत्यु के उपरांत रुपया दिया जावे तो वह और भी अधिक प्रचलित हो सकते हैं।

कुछ लोगों की सुविधा के लिये पंचवर्षीय तथा सप्तवर्षीय सार्टीफिकेट भी चालू किये गये हैं।

दस वर्षीय ट्रेजरी सेविंग डिपाजिट सार्टीफिकेट—इन सार्टीफिकेटों पर प्रति वर्ष ३½ प्रतिशत ब्याज दी जाती है। १००) से कम का सार्टीफिकेट नहीं मिलता। कोई भी व्यक्ति २५००० तक, संस्था ५०००० तक तथा धार्मिक संस्था १,०००,००० तक के सार्टीफिकेट खरीद सकती हैं। ये सार्टीफिकेट रिजर्व बैङ्क, स्टेट बैङ्क तथा किसी भी सरकारी खजाने से खरीदे जा सकते हैं। इन सार्टीफिकेटों को १० वर्ष से पहले भी भुनाया जा सकता है। किन्तु इसके लिये खजाना कुछ कटौती कर लेता है। ये सार्टीफिकेट इसी कारण इतने अधिक सफल नहीं हुए जितने डाकखाने के सार्टीफिकेट सफल हुए हैं। फिर भी ३१ मार्च १९५८ को ९१·१३ करोड़ रुपये के ट्रेजरी सार्टीफिकेट निगर्मित थे।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना को सफल बनाने के लिये सरकार को अधिक धन की आवश्यकता है। इसीलिये अल्पबचत योजनाओं को प्रोत्साहन दिया गया किन्तु इससे बैङ्कों में जमा धन राशि उतनी मात्रा में नहीं पहुँचती जितनी पहुँचनी चाहिए थी। जब तक सरकार ने व्यक्तिगत क्षेत्र को मान्यता प्रदान कर रखी है तब तक बैङ्कों का औद्योगिक विकास में पूर्ण स्थान है। अतः बैंकों में जमा धनराशि से सरकारी संस्थाओं को प्रतिस्पर्धा नहीं करनी चाहिये।

प्रश्न

1. What are the constituents of the Indian Money Market? Point out the defects in its organization and suggest remedies.

भारतीय मुद्रा बाजार के अंग कौन-कौन से हैं? इसके संगठन के दोष बतलाइये तथा सुधार के सुझाव दीजिये।

2. What has been the effect of the Second World War on the banking system of India?

द्वितीय महायुद्ध का भारतीय बैंकिंग-व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा?

3. Carefully explain the banking services rendered by the post office in India.

भारतीय डाक-विभाग की बैंकिंग सेवाओं की विवेचना कीजिये।

4. Discuss the principal defects of Banking in India. Point out the effect of the lack of discounting facilities in Indian Money Market.

भारतीय बैंकिंग के प्रमुख दोषों का वर्णन कीजिये। भारतीय मुद्रा बाजार पर बेचान की सुविधाओं की कमी का प्रभाव बतलाइये।

5. What are the defects in the Indian Money Market? How will you organise it on proper lines?

भारतीय मुद्रा बाजार की क्या कमियाँ हैं? इसका ठीक ढंग से किस प्रकार संगठन किया जा सकता है?

अध्याय ४

रिजर्व बैंक आफ इन्डिया

(Reserve Bank of India)

रिजर्व बैङ्क की स्थापना—भारत में केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता सन् १८५६ से प्रतीत हो रही थी किन्तु भारत सरकार ने इसकी ओर कभी ध्यान नहीं दिया। सन् १९१३ में श्रीयुत् कीन्स ने जो चेम्बरलेन कमीशन के एक सदस्य थे भारत में एक केन्द्रीय बैंक स्थापित करने की योजना भारत सरकार के सम्मुख रखी थी। परन्तु सरकार ने इस पर ध्यान नहीं दिया। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त तो केन्द्रीय बैंक की नितान्त आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसीलिए सन् १९२१ में बैंक की स्थापना पर उसे ही कुछ केन्द्रीय कार्य सौंपे गये। १९२६ में जब हिल्टन यंग कमीशन ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की तब इम्पीरियल बैंक की स्थिति, पूँजी, कार्यों, प्रबन्ध, शाखाओं, प्रतियोगिता तथा भारतीयों की उसके प्रति आलोचनात्मक भावनाओं को ध्यान में रख कर उसने इस बात का समर्थन किया कि भारत में इम्पीरियल बैंक से अलग एक स्वतंत्र केन्द्रीय बैंक स्थापित होनी चाहिये।

भारत में रिजर्व बैंक की स्थापना निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक जान पड़ी :—

(१) भारतीय रुपये के अतिरिक्त आन्तरिक तथा बाह्य मूल्य में स्थायित्व प्रदान करने के लिये रिजर्व बैंक की नितान्त आवश्यकता थी। रिजर्व बैंक ही अपने नोट निकालने, प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय, बैंक दर निर्धारण, विदेशी विनिमय की एक निश्चित दर पर क्रय-विक्रय आदि के अधिकारों के कारण ऐसा करने में सफल हो सकती थी।

(२) रिजर्व बैंक ही अपने नोट निकालने के एकाधिकार का उचित प्रयोग करके अन्य बैंकों के नकद कोष अपने पास रख करके, सरकारी बैंकों का कार्य करके, समाशोधन गृह का कार्य करके तथा अन्य-साधनों के द्वारा देश की साख नीति की आवश्यकतानुसार उचित प्रबन्ध करने में सफल हो सकती थी।

(३) रिजर्व बैंक की स्थापना से ही देश की विभिन्न बैंकों के नकद कोषों के

कुछ भाग का केन्द्रीयकरण होना संभव हो सकता था। और यह कोष बैंकों के संकट काल में भी तभी अधिक काम आ सकती थी।

(४) रिजर्व बैंक ही देश की बैंकिंग को सुन्दर बनाने तथा उसका उचित नियंत्रण तथा प्रबन्ध करने में सहायक हो सकती है।

(५) रिजर्व बैंक ही अपना एक अलग कृषि विभाग स्थापित करके भारतीय कृषि की अर्थ व्यवस्था का उचित प्रबन्ध करने में समर्थ हो सकती थी।

(६) रिजर्व बैंक की इसलिये भी आवश्यकता थी कि वह सरकार का रुपया सुरक्षित रखे। उसके ऋणों तथा विदेशी विनिमय के लेन-देनों का प्रबन्ध करे तथा उसे समय-समय पर आर्थिक विषयों पर मंत्रणा भी देती रहे।

(७) देश के मुद्रा बाजारों के विभिन्न अंगों में सहयोग स्थापित करने तथा उनसे सम्बन्धित अंकों को जनता की सुविधा के लिये ठीक समय पर प्रकाशित करने के लिये भी रिजर्व बैंक की नितान्त आवश्यकता थी।

इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिये १९३४ में रिजर्व बैंक आफ इन्डिया एक्ट पास किया गया जिसके अनुसार १९३५ की अप्रैल में रिजर्व बैंक की स्थापना हुई।

रिजर्व बैंक का विधान—बैंक के राष्ट्रीयकरण के पूर्व रिजर्व बैंक अंशधारियों की बैंक थी। इसकी पूँजी ५ करोड़ थी जो १००)-१००) के अंशों में विभक्त थी। इस पूँजी में से २ करोड़ २० लाख रुपये के अंश केन्द्रीय सरकार को तथा शेष व्यक्तिगत अंशधारियों को निर्गमित किये गये थे।

बैंक का प्रबन्ध एक संचालन समिति द्वारा होता था जिसमें १६ संचालक इस प्रकार होते थे :—

(अ) एक गवर्नर तथा २ डिप्टी गवर्नर जिनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार केन्द्रीय संचालक संघ के परामर्श पर करती थी।

(ग) ४ संचालक जिन्हें केन्द्रीय सरकार मनोनीत करती थी।

(स) ८ संचालक जिन्हें अंशधारी चुनते थे।

(द) १ सरकारी अधिकारी जिसे केन्द्रीय सरकार मनोनीत करती थी।

केन्द्रीय संचालन-समितियों के लिये बैंक की भिन्न-भिन्न शाखाओं के कार्य की देखभाल करना संभव नहीं था। अतः ४ स्थानीय संचालन समितियाँ नियुक्त की जाती थीं। प्रत्येक स्थानीय समिति में ८ संचालक होते थे जिनमें से ५ अंशधारियों द्वारा चुने जाते थे तथा ३ केन्द्रीय संचालन-समिति अंशधारियों में से मनोनीत करती थी।

बैङ्क का वर्तमान विधान—एक विधेयक पास करके १ जनवरी १९५० से

रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। अब बैंक का प्रबन्ध जिस केन्द्रीय संचालक समिति द्वारा होता है वह इस प्रकार है :—

(अ) एक गवर्नर तथा ३ डिप्टी गवर्नर जिनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है।

(ब) ४ संचालक, जिन्हें केन्द्रीय सरकार चारों स्थानीय समितियों में से एक-एक मनोनीत करती है।

(स) ६ संचालक जिन्हें केन्द्रीय सरकार मनोनीत करती है।

(द) १ सरकारी अधिकारी, जिसे केन्द्रीय सरकार मनोनीत करती है। और जो सरकार की इच्छानुसार कितने ही समय तक कार्य कर सकता है।

केन्द्रीय समिति के अतिरिक्त बैंक के प्रबन्ध के लिये ४ स्थानीय समितियाँ कलकत्ता, बम्बई, मद्रास तथा दिल्ली में नियुक्त की जाती हैं, जिसके ३ सदस्य केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त होते हैं।

हर संचालक ४ वर्ष के लिये नियुक्त किया जाता है। केन्द्रीय समिति की बैठक बुलाना गवर्नर के अधिकार में है किन्तु कोई भी ३ संचालक मिल कर गवर्नर से बैठक बुलाने के लिए प्रार्थना कर सकते हैं। वर्ष भर में ६ बैठकें बुलाना अनिवार्य है किन्तु ३ मास में एक बैठक अवश्य होनी चाहिये।

अंशधारियों की रकम का भुगतान करके रिजर्व बैंक की समस्त पूँजी केन्द्रीय सरकार ने अपने हाथ में ले ली है।

रिजर्व बैंक के विभाग—रिजर्व बैंक २ विभागों में विभक्त है। एक निर्गमन विभाग (Issue Department) जो कागजी मुद्रा छापने का कार्य करता है तथा दूसरा बैंकिंग विभाग, जो अधिकोषण सम्बन्धी सभी कार्य करता है। बैंकिंग विभाग के भी तीन उपविभाग हैं : (१) कृषि साख विभाग, जो ग्रामीण वित्त सम्बन्धी कार्य को सम्पन्न करता है तथा उनका अन्वेषण करता है। (२) विनियम नियत्रण विभाग, जो विदेशी विनिमय पर पूर्ण नियंत्रण रखता है तथा (३) अधिकोष विभाग, जो देश की समस्त बैंकों पर नियंत्रण रखता है तथा समय-समय पर उन्हें आदेश देता है।

रिजर्व बैंक के कार्य—देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक आफ इंडिया निम्नलिखित महत्वपूर्ण कार्य करती है—

(१) कागजी मुद्रा प्रकाशन (Issue of Currency Notes)—रिजर्व बैंक का कागजी मुद्रा निर्गमित करने का एकाधिकार प्रमुख है। इस कार्य को संपादन करने के लिए बैंक का एक स्वतन्त्र प्रकाशन विभाग है। सन् १९५६ से पहले कागजी मुद्रा की सुरक्षा के लिये सुरक्षित कोष, स्वर्ण सिक्कों, स्वर्णपाट, विदेशी प्रतिभूतियाँ

तथा भारतीय प्रतिभूतियों में रखना आवश्यक था। कम से कम ४० करोड़ रुपये के मूल्य के स्वर्ण सिक्के अथवा स्वर्णपाट अनिवार्य रूप से कोष में होने चाहिये थे जिसमें से स्वर्ण कोष ४० करोड़ रुपये का अनिवार्य था। सन् १९५६ में उपरोक्त विधान में परिवर्तन कर दिया गया जिसके अनुसार कम-से-कम ४०० करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा ११५ करोड़ रुपये का सोना, जिसका मूल्यांकन ६२ रुपये ५० नये पैसे प्रति तोले के हिसाब होता है, होना चाहिये। यदि किसी समय यह स्वर्ण कोष कम पड़ जाता है तो इसके लिये रिजर्व बैंक केन्द्रीय सरकार को एक निर्धारित दर से कर का भुगतान करेगी। विदेशी प्रतिभूतियाँ केवल (अ) बैंक आफ इंगलैंड के पास जमा धन, (ब) ९० दिन तक की हुन्डियाँ, जो इंगलैण्ड में देय हैं तथा (स) ब्रिटिश सरकार की वे प्रतिभूतियाँ, जो केवल ५ वर्ष के लिये निर्गमित की गई है; सीमित हैं।

नोट प्रकाशन विभाग का शेष कोष सरकारी प्रतिभूतियाँ, स्वीकृत व्यापारिक हुंडियों अथवा प्रतिज्ञा पत्रों के रूप में होना चाहिये। इन प्रतिभूतियों का मूल्य बाजार मूल्य की दर से निश्चित किया जाता है। रिजर्व बैंक को इस समय केवल २), ५), १००), ५००) तथा १०००) के नोट छापने का अधिकार है।

द्वितीय महायुद्ध में कागजी मुद्रा की मात्रा बहुत अधिक बढ़ गई थी और मुद्रा स्फीति के कारण देश के कुछ वर्गों पर बुरा प्रभाव पड़ा था। रिजर्व बैंक मुद्रा पर पूर्ण नियंत्रण करने में असफल रही किन्तु स्वतन्त्रता के उपरान्त रिजर्व बैंक ने इस दिशा में अच्छी सफलता प्राप्त की। किन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजना में हीनार्थ प्रबन्ध (Deficit Financs) के कारण नोटों की मात्रा पुनः बढ़ने लगी है।

सरकार के लिये बैंक का कार्य करना—केन्द्रीय सरकार की ओर से रिजर्व बैंक आफ इंडिया निःशुल्क बैंकर का कार्य करती है। सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था तथा सरकार के लिये नवीन ऋण भी निर्गमित करती है। सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था करने के लिये बैंक को सरकार से एक निश्चित दर से कमीशन मिलता है। सरकारी कोष को एक स्थान से दूसरे स्थान पर तथा विदेशों से भारत को तथा भारत से विदेशों को भेजने का कार्य भी रिजर्व बैंक ही करती है। सरकार के लिये अल्पकालीन ऋण खजाने की हुंडियों द्वारा रिजर्व बैंक ही प्राप्त करती है। खजाने के हुंडियों के उपयुक्त न होने पर रिजर्व बैंक सरकार को अल्पकालीन ऋण प्रदान करती है। सरकारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये १ लाख रुपये तक की स्टर्लिंग विनिमय का प्रबन्ध भी करती है। राज्य सरकारों के लिये भी रिजर्व बैंक यही कार्य करती है जो केन्द्रीय सरकार के लिये। मुद्रा बाजार के साथ सम्पर्क होने के कारण तथा देश की आर्थिक स्थिति का पूर्ण ज्ञान होने के कारण भारत सरकार रिजर्व बैंक से

वित्तीय तथा बैंक सम्बन्धी मामलों पर परामर्श प्राप्त करती है। इसके अतिरिक्त सरकार रिजर्व बैंक का परामर्श नवीन ऋण जारी करने, पुराने ऋणों को परिवर्तित करने, कृषि साख, सहकारिता तथा बैंकों को प्रभावित करने वाले विषयों पर भी परामर्श करती है।

बैंकों के बैंक का कार्य करना—रिजर्व बैंक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य देश के बैंकों का नियंत्रण, पथ-प्रदर्शन तथा संगठन करना है। वह जनता के हितों की रक्षार्थ देश के समस्त अनुसूचित बैंकों के माँग दायित्व का ५ प्रतिशत तथा समय-दायित्वों का २ प्रतिशत अपने पास जमा कराती है, १६४९ के बैंकिंग कम्पनीज ऐक्ट के अंतर्गत अन्य बैंकों के लिये भी नकद कोष बैंक के पास रखना अनिवार्य कर दिया गया है। रिजर्व बैंक इसके लिये धनराशि को बैंकों के आर्थिक संकटकाल में अंतिम ऋणदाता के रूप में सहायता करने के काम में लाती है। रिजर्व बैंक समय-समय पर देश के बैंकों से रिपोर्ट तथा उनके लेखों का पूर्ण वर्णन भी माँगती है। यह बैंकों के लेखों का निरीक्षण करती है। उन्हें ऋण देती है। उनको साख निर्माण पर उचित आदेश देती है तथा उनकी अनुचित क्रियाओं को रोकने का प्रयत्न करती है। उनका धन एक स्थान से दूसरे स्थान को निःशुल्क भेजती है तथा उनके आपसी लेन-देनों के लिये समाशोधनगृह का कार्य भी करती है।

रिजर्व बैंक का अनुसूचित बैंकों के साथ सम्बन्ध—रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा ४२ के अनुसार अनुसूचित बैंक वह बैंक है जिसकी चुकता पूँजी तथा कोष ५ लाख रुपये या इससे अधिक है। ऐसे बैंकों का नाम एक सूची में लिख लिया जाता है। अतः इन्हें अनुसूचित बैंक कहते हैं। सूची में नाम प्रविष्ट करने के पहले रिजर्व बैंक बैंकों के कार्यों की देखभाल करती है। सूची में प्रविष्ट करने का अर्थ यह नहीं है कि रिजर्व बैंक ने बैंक की स्थिरता एवं आर्थिक सम्पन्नता का बीमा कर दिया है। यदि किसी बैंक का कार्य संतोषजनक नहीं है तो उसका नाम सूची से पृथक किया जा सकता है। जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है अनुसूचित बैंकों को अपनी माँग-दायित्व का ५ प्रतिशत तथा समय दायित्व का २ प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास जमा करना पड़ता है। किन्तु गजट में प्रकाशित करके रिजर्व बैंक इस प्रतिशत को क्रमशः २० तथा ८ तक बढ़ा सकता है। यदि ये जमा इस निश्चित प्रतिशत से कम है तो रिजर्व बैंक संबन्धित बैंक से ब्याज प्राप्त कर सकती है और अधिक है तो ब्याज दे सकती है।

प्रत्येक अनुसूचित बैंक के लिये अपनी स्थिति का साप्ताहिक विवरण रिजर्व बैंक के पास भेजना अनिवार्य है। न भेजने पर बैंक को दंडित किया जा सकता है। आवश्यकता पड़ने पर अनुसूचित बैंक अपनी हुंडियों की कटौती करके अथवा ऋण

के रूप में रिजर्व बैंक से सहायता प्राप्त कर सकती है। किन्तु यह ऋण किसी भी अवस्था में ९० दिन से अधिक के लिये नहीं दिया जा सकता।

अनुसूचित बैंक के साथ सम्बन्ध—कुछ शर्तें पूरी हो जाने पर रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों के खाते भी अपने यहाँ खोल लेती है तथा समय-समय पर उन्हें परामर्श भी देती है। सन् १९३८ तथा १९३९ में दो गश्ती पत्र भेजकर रिजर्व बैंक ने यह भी बतलाया कि वह किस प्रकार अनुसूचित बैंकों की सहायता कर सकती है।

विदेशी विनिमय का नियंत्रण करना—रिजर्व बैंक को भारतीय रुपये के वाह्य मूल्य को स्थिर रखने का भी अधिकार दिया गया है। रिजर्व बैंक की विनिमय दर को स्थायित्व प्रदान करने के लिये विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय भी करती है। विदेशी विनिमय नियंत्रण कानून १९४७ के अनुसार रिजर्व बैंक यह क्रय-विक्रय केवल कुछ अधिकृत व्यक्तियों के साथ ही करती है। और वह भी केवल बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा देहली के कार्यालयों द्वारा यह क्रय-विक्रय उन दरों पर किया जाता है जो केन्द्रीय सरकार अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की शर्तों को ध्यान में रखकर निश्चित कर देती है। और वह भी १००,००० रुपये से कम मूल्य का न होना चाहिये। अब रिजर्व बैंक ब्रह्मा, सीलोन, संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, इंगलैंड, दक्षिणी अफ्रीका, फ्रांस, बेलजियम, नीदरलैंड, नार्वे, डेनमार्क, फिलिपाइन आदि देशों के विनिमय के क्रय-विक्रय का कार्य करती है।

साख-नियंत्रण—रिजर्व बैंक साख नियंत्रण के हेतु उन सभी रीतियों का प्रयोग करती है जो किसी भी देश की केन्द्रीय बैंक को करने चाहिये। पहले मुद्रा बाजार के संगठित न होने के कारण रिजर्व बैंक की बैंक दर नीति सफल न हो सकी और उसको ३ प्रतिशत पर ही स्थिर बनाये रखना पड़ा। एक जर्मन अर्थशास्त्री के परामर्श से नवम्बर १९५१ में बैंक दर ३ से ३½ प्रतिशत कर दी गई। इससे रिजर्व बैंक ने बैंकिंग प्रणाली पर अच्छा नियंत्रण कर लिया। किन्तु बैंक दर में वृद्धि करते ही सरकारी प्रतिभूतियों के मूल्य में कमी हो गई जिसका सार्वजनिक ऋण पर बुरा प्रभाव पड़ा। रिजर्व बैंक खुले बाजार की क्रिया द्वारा भी साख पर नियंत्रण करती है। इसे साख समविभाजन तथा प्रत्यक्ष कार्यवाही का भी अधिकार है।

कृषि साख व्यवस्था—रिजर्व बैंक ने सन् १९३५ में एक कृषिसाख विभाग की स्थापना की। इस विभाग के दो वैधानिक कार्य हैं : (अ) एक योग्य कर्मचारी वर्ग द्वारा कृषिसाख का पूर्ण अध्ययन कराना तथा सरकार, सहकारी बैंक तथा अन्य बैंकों को परामर्श प्रदान करना। (ब) कृषिसाख के सम्बन्ध में बैंक की कार्यवाही में एकता लाना तथा रिजर्व बैंक का सहकारी तथा अन्य बैंकों से कृषिसाख सम्बन्धी संपर्क बनाये रखना। यह विभाग ग्रामीण ऋण तथा सहकारिता का विशेष अध्ययन

करके समय-समय पर अपने निष्कर्षों को प्रकाशित करता रहता है। कृषकों की सहायतार्थ रिजर्व बैंक सहकारी संस्थाओं को ऋण प्रदान करती है क्योंकि कृषकों को सीधा ऋण प्रदान करना इसके अधिकार क्षेत्र से बाहर है। रिजर्व बैंक साधारण कार्यों के लिये सहकारी समितियों को ऋण नहीं देती। केवल आपत्तिकाल में ऐसा करती है। यह ऋण केवल उन्हीं सहकारी बैंकों को प्रदान किया जाता है जो रिजर्व बैंक के पास अपने माँग दायित्व का २½ प्रतिशत तथा अवधि-दायित्व की १ प्रतिशत जमा रखते हैं। केवल निम्नलिखित प्रकार के ऋण प्रदान किये जाते हैं—

(अ) प्रांतीय सहकारी बैंकों तथा उनके द्वारा केन्द्रीय सहकारी बैंकों को सरकारी प्रतिभूतियों की जमानत पर ९० दिन के लिये ऋण।

(ब) अन्य भूमिबन्धक बैंकों के ऋणपत्रों की जमानत पर इसी प्रकार के ऋण, यदि ये ऋणपत्र शीघ्र विक्रय योग्य हैं।

(स) खजाने की हुंडियों की कटौती करके।

(द) मान्य सहकारी बिक्री तथा गोदाम समितियों के प्रतिज्ञापत्रों की जमानत पर ९० दिन के लिये ऋण। यदि इन प्रतिज्ञापत्रों पर प्रान्तीय सहकारी बैंक का बेचान हो गया है तथा ये कृषि बिक्री के सम्बन्ध में लिखे गये हैं।

(ई) उपरोक्त प्रतिज्ञापत्रों की कटौती करके।

(फ) भूमिबन्धक बैंकों के ऋणपत्र खरीदकर अथवा उनकी जमानत पर ऋण देकर। किन्तु प्रतिबन्ध यह है कि इन ऋणपत्रों की जमानत प्रांतीय सरकार ने कर रखी हो।

रिजर्व बैंक, ने कुछ विज्ञप्तियाँ प्रकाशित करके सहकारी साख समितियाँ, केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा भूमिबन्धक बैंकों की उन्नति के लिये कुछ ठोस सुझाव दिये। देशी बैंकरों तथा साहूकारों के साथ वार्तालाप करके उनकी उन्नति की भी योजना बनाई किन्तु देशी साहूकारों ने दुर्भाग्यवश इस योजना को स्वीकार नहीं किया।

अन्य कार्य—रिजर्व बैंक का यह भी दायित्व है कि वह ५) या उससे अधिक मूल्य वाले नोटों से थोड़े मूल्य के नोटों में परिवर्तित करे। बिना ब्याज दिये संस्थाओं तथा व्यक्तियों का रुपया जमा करे। सोने के सिक्कों तथा सोने का क्रय-विक्रय भी करे। रिजर्व बैंक मुद्रा, प्रतिभूयिाँ, आभूषण तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित रख सकती है। अपने ग्राहकों का लाभांश संग्रह कर सकती है तथा उनके ऋणपत्रों का भुगतान कर सकती है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य राष्ट्रों का खाता खोलकर उसके प्रतिनिधि का काम कर सकती है तथा अंतर्राष्ट्रीय लेन-देन कर सकती है। बैंकिंग

सम्बन्धी आँकड़े एकत्रित करके उन्हें प्रकाशित करती है। अपने निर्गमन एवं विभाग का सप्ताहिक विवरण पत्र में प्रकाशित करती है। मुद्रा तथा अर्थ सम्बन्धी वार्षिक रिपोर्ट एवं भारतीय बैंकों के आँकड़े भी प्रकाशित करती है। अपनी वार्षिक रिपोर्ट प्रकाशित करती है जिसमें सरकार तथा जनता के समक्ष देश की आर्थिक स्थिति तथा समस्यायें प्रस्तुत करती है।

इन सबके अतिरिक्त नवीन बैंकों को बैंकिंग कार्य करने के लिए लाइसेंस प्रदान करता है तथा उन्हें बन्द करने का आदेश देती है।

रिजर्व बैङ्क के प्रतिबंधित कार्य—रिजर्व बैंक निम्नलिखित कार्यों को नहीं कर सकती :—

(१) व्यापार नहीं कर सकती तथा किसी व्यापारिक एवं औद्योगिक संस्थाओं के लाभ में प्रत्यक्ष भाग नहीं ले सकती। यदि किसी ऋण की प्राप्ति में रिजर्व बैंक को ऐसी संस्थाओं की सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त हो गया है तो उसे शीघ्रातिशीघ्र बेच देना चाहिये।

(२) रिजर्व बैंक न किसी कम्पनी के अंशों का क्रय कर सकती है और न उसकी जमानत पर ऋण दे सकती है।

(३) किसी अचल सम्पत्ति के बन्धक पर न ऋण दे सकती है न उसे क्रय कर सकती है किन्तु अपने कार्यालय तथा कर्मचारियों के निमित्त अचल सम्पत्ति खरीद सकती है।

(४) असुरक्षित ऋण प्रदान नहीं कर सकती।

(५) दर्शनी हुन्डी के अतिरिक्त अन्य प्रकार की हुन्डी न आहरित कर सकती है न स्वीकार कर सकती है।

(६) चालू खाते की जमा पर ब्याज नहीं दे सकती।

रिजर्व बैङ्क की सफलतायें—रिजर्व बैंक की स्थापना के कारण ही, जिसने प्रथम अप्रैल १९५५ से अपना कार्य प्रारम्भ किया था, अपने अधिकतर कार्य सुचारु रूप से चला रही है, इसी की स्थापना के कारण ही भारतीय बैंकिंग पद्धति कुछ सीमा तक सुदृढ़, सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित हो सकी है। यह इसी का प्रभाव है कि भारतीय मुद्रा बाजार में ब्याज की दरें गिर सकी हैं। रिजर्व बैंक ने सदैव से ही अपनी बैंक दर ३ प्रतिशत रखी है। जब से रिजर्व बैंक की स्थापना हुई है तब से ही भारतीय मुद्रा बाजार में कभी भी रुपये की कमी नहीं हुई है। यद्यपि रिजर्व बैंक की स्थापना के पहले भी इम्पीरियल बैंक को सरकार १५ करोड़ रुपये तक का ऋण भारतीय कागजी मुद्रा रिजर्व से प्रति वर्ष ऋतु विशेष में दिया करती थी किन्तु वह कभी भी भारतीय द्रव्य बाजार की रुपये की कमी को दूर करने में सफल न हो सकी थी। यह बड़े हर्ष की

बात है कि रिजर्व बैंक इस कमी को दूर करने में सफल हो सकी है। यही नहीं कि रिजर्व बैंक कुछ सीमा तक भारतीय मुद्रा तथा साख पद्धति को भी नियंत्रित कर सकी है। रिजर्व बैंक ने प्रारम्भ से ही सस्ती मुद्रा नीति (Cheap money policy) को अपनाकर भारतीय व्यापार, उद्योग धन्धों तथा कृषि की बढ़ती हुई रुपये की माँग की पूर्ति करने में आशातीत सफलता प्राप्त की है। इसने भारत सरकार तथा अन्य बैंकों को भी संकट काल में पूरी-पूरी आर्थिक सहायता प्रदान की है। समय-समय पर उसे उचित परामर्श भी देती रही है। इसने भारतीय मुद्राबाजार को सुव्यवस्थित करने तथा स्वदेशी बैंकरों को नियमबद्ध करने के लिये भी बार-बार प्रयत्न किये हैं। यह भारतीय रुपये के साख मूल्य तथा आंतरिक मूल्य को कुछ सीमा तक स्थायी रखने में भी सफल हुई है। नोट प्रकाशन द्वारा रिजर्व बैंक मुद्रा की मात्रा पर पूरा पूरा नियंत्रण रखती है। और व्यापार की आवश्यकतानुसार मुद्रा में लोच उत्पन्न करके मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा संकुचन की बीमारी को रोकती है।

रिजर्व बैंक बहुत कम व्यय पर एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजने की सुविधा प्रदान करती है। रिजर्व बैंक बैंकों के नियंत्रण के लिए एक बैंकिंग कम्पनी अधिनियम पास करने में सफल हुई है। इस अधिनियम के द्वारा देश की बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिये बैंक को विशेष अधिकार प्राप्त हुए हैं। औद्योगिक वित्त के लिये रिजर्व बैंक ने औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना कराने में महत्वपूर्ण योग दिया है। देश के आर्थिक आँकड़े एकत्रित करके बैंक के सुयोग्य अधिकारी अनु-संधान करते हैं और अपने निष्कर्षों के आधार पर सरकार को आर्थिक विकास के लिये परामर्श देते हैं। रिजर्व बैंक ने देश के विभाजन तथा रुपये के अवमूल्यन जैसी महान घटनाओं के दुष्परिणामों से देश को बचाया है। यह आशा की जाती है कि रिजर्व बैंक राष्ट्रीयकरण के कारण कृषि साख व्यवस्था एवं देश में बैंकिंग प्रथा को विकसित कराने में अब और अधिक सहायता प्रदान करेगी। द्वितीय योजना काल में १२०० करोड़ रुपये के घाटे की व्यवस्था तथा विदेशी विनिमय की कमी के कारण देश की अर्थ व्यवस्था पर जो भार पड़ रहा है उसमें रिजर्व बैंक को और भी महत्वपूर्ण कार्य करना है। सफलता के साथ-साथ रिजर्व बैंक को निम्नलिखित कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त न हुई।

रिजर्व बैङ्क की असफलतायें

(१) मुद्रा बाजार के विभिन्न विभागों में आज भी सहयोग का भारी अभाव है और आज भी एक दूसरे से प्रतियोगिता कर रहे हैं। देश में अन्य छोटी-छोटी बैंक, सहकारी साख समितियाँ और देशी बैंक आज भी हैं, जिन पर यह नियंत्रण प्राप्त नहीं कर सकती है।

(२) रिजर्व बैंक रुपये का आन्तरिक मूल्य स्थिर नहीं रख सकी है। दूसरे महा-युद्ध में जो मुद्रा प्रसार की नीति उसने अपनाई थी, उसके घातक-परिणामों से अभी तक देश को छुटकारा नहीं मिल सकता है। परन्तु वास्तव में सारा दोष रिजर्व बैंक ही का नहीं था। उस समय भारत में विदेशी सरकार थी, जिसने रिजर्व बैंक ऐक्ट की सारी धाराओं का दुरुपयोग किया था।

(३) रिजर्व बैंक देश में एक सुव्यवस्थित हुन्डी बाजार को विकसित करने में भी सफल नहीं हो सकी है। यह बैंकों को दुबारा भुनाने की सुविधायें बहुत थोड़ी ही मात्रा में प्रदान कर सकी है।

(४) भारतीय मुद्रा बाजार की ब्याज की दरों की भिन्नता को भी यह दूर नहीं कर सकी है।

(५) कृषि साख की उचित व्यवस्था करने में भी यह असमर्थ रही है। और जो संस्थायें देश में कृषि साख प्रदान करती हैं, उन पर भी पूर्ण नियंत्रण प्राप्त नहीं कर पाई है। रिजर्व बैंक की ये असफलतायें सफलताओं के समक्ष अधिक नहीं हैं। रिजर्व बैंक देश के आर्थिक क्षेत्र में पूर्ण सफलता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रही है।

रिजर्व बैङ्क तथा मुद्राबाजार—मुद्रा तथा साख का नियंत्रण करने के लिए रिजर्व बैंक आधुनिक शस्त्रों से पूर्णतया सुसज्जित है। कागजी मुद्रा प्रकाशित करने का इसे एकाधिकार है। भारतवर्ष में लोगों को चेक द्वारा भुगतान की आदत बहुत कम है। अतः मुद्रा की समस्त पूर्ति रिजर्व बैंक के नोट ही करते हैं। किन्तु अब चेकों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में होने लगा है। अतः रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों की जमा धनराशि का कुछ प्रतिशत अपने पास रख कर देश के बैंकों पर तथा उनके नकद कोषों पर नियंत्रण रखती है। सरकारी नकद कोष भी रिजर्व बैंक के पास रहता है। इन सब बातों के कारण रिजर्व बैंक के लिए देश की मुद्रा तथा साख पर नियंत्रण रखना सुगम है।

भारतीय मुद्राबाजार में स्टेट बैंक का कुछ विचित्र स्थान है। जिन स्थानों पर रिजर्व बैंक की शाखायें नहीं हैं वहाँ रिजर्व बैंक के प्रतिनिधि के रूप में स्टेट बैंक ही केन्द्रीय बैंक का कार्य करती है। किन्तु साथ ही बैंकिंग के क्षेत्र में व्यापारिक बैंकों के साथ प्रतिस्पर्धा भी करती है जो उचित नहीं। स्टेट बैंक की इस कार्य पद्धति के कारण देश की बैंक संतोष अनुभव नहीं करतीं और उनके हृदय में स्टेट बैंक के प्रति कुछ ईर्षा रहती है। अतः रिजर्व बैंक को चाहिये कि सभी बैंकों के साथ समान व्यवहार करे और स्टेट बैङ्क को विशेष स्थान न दे।

भारतीय मुद्रा बाजार को विदेशी विनिमय बैंक भी प्रभावित करती हैं। शक्तिशाली होने तथा संसार के सभी भागों में इनकी शाखायें होने के कारण ये बैंक रिजर्व बैंक की नीति को कभी-कभी विफल बना देती हैं। अब देश स्वतन्त्र हो गया है। अतः रिजर्व बैंक इन विदेशी विनिमय बैंकों पर पूर्ण नियंत्रण कर सकती है और देश की भलाई के लिये अपनी स्वतन्त्र नीति निर्धारित कर सकती है।

ग्रामीण वित्त के ६० प्रतिशत का देशी बैंकर तथा साहूकार ही प्रबन्ध करते हैं। किन्तु इन देशी बैंकरों पर रिजर्व बैंक का पूर्ण नियंत्रण नहीं है। जब तक मुद्रा बाजार का इतना महत्वपूर्ण अंग रिजर्व बैंक के प्रभाव से बाहर रहेगा तब तक रिजर्व बैंक का नियंत्रण पूर्णतया सफल नहीं हो सकता। मुद्रा बाजार को पूर्णतया नियंत्रित करने के लिये रिजर्व बैंक का देशी साहूकारों से पूर्ण सम्बन्ध होना अति आवश्यक है। इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक ने जो योजना बनाई है उसको देशी साहूकार क्रान्तिकारी कहकर स्वागत नहीं करते। क्योंकि यह योजना उनके अस्तित्व को ही समाप्त करती है। रिजर्व बैंक को चाहिये कि इतने महत्वपूर्ण अंग को समाप्त न करके उसमें सुधार करने का प्रयत्न करे।

व्यापारिक हुंडियों की कमी के कारण रिजर्व बैंक की कटौती नीति सक्रिय नहीं होती। जब तक बैंक की यह नीति सक्रिय न होगी तब तक भारतीय मुद्रा बाजार अपने भाग्य पर जीवित रहेगा। अतः रिजर्व बैंक को एक समुचित एवं सक्रिय बैंक दर नीति निर्धारित करनी चाहिये। हमारे देश में बैंक दर तथा बाजार दर में कोई समुचित सम्बन्ध नहीं है। स्टेट बैंक शक्तिशाली होने के कारण अपनी दर अलग निर्धारित करती है। जब तक बैंक दर मुद्रा बाजार को प्रभावित नहीं करती तब तक रिजर्व बैंक की सर्वोच्चशक्ति हीन रहेगी। अतः इस दिशा में सुधार करने के लिये एक ठोस कदम की आवश्यकता है। अनेक बाधायें होते हुए भी आस्ट्रेलिया तथा दक्षिण अफ्रीका की केन्द्रीय बैंक वहाँ के मुद्रा बाजार में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किये हुई हैं और उनका बाजार के विभिन्न अंगों पर पूर्ण प्रभाव है।

एक अच्छे हुन्डी बाजार की स्थापना के लिये रिजर्व बैंक ने योजना बनाई है और व्यापारिक बैंकों के सहयोग से खजाने की हुंडियों का विकास करने के लिये प्रयत्नशील है। किन्तु यह योजना सफलता प्राप्त न कर सकी। खजाने की हुन्डियों का प्रचलन बढ़ जाने से रिजर्व बैंक सरकार से कम व्यय पर ऋण प्राप्त करके तथा इन हुंडियों की कटौती करके मुद्रा बाजार पर अधिक नियंत्रण कर सकती है।

रिजर्व बैंक ने एक सुदृढ़ बैंकिंग व्यवसाय को बढ़ावा देकर मुद्रा बाजार में सुधार किया है। रिजर्व बैंक बैंकों की निरीक्षण करके तथा उन्हें समय-समय पर परा-

मर्श देकर एक अच्छी दिशा में उनका पथ-प्रदर्शन करती है और मुद्रा बाजार पर अपने प्रभाव की स्थापना करती है।

विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय तथा उनके भार से देश की आर्थिक व्यवस्था की रक्षा की है। विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करके रिजर्व बैंक उस पर पूर्ण नियंत्रण करती है और समय-समय अपनी नीति में परिवर्तन करके देश की आन्तरिक आर्थिक व्यवस्था पर उसका भार नहीं पड़ने देती। सरकार को परामर्श देकर एक हितकारी आयात-निर्यात नीति निर्धारित करती है।

रिजर्व बैंक ने इस बात के लिये कई कदम उठाये कि बैंक की साख देश की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार निर्मित हो। सन् १९४९ के भारतीय रुपये के अव-मूल्यन के पश्चात् सट्टेबाजी का उदय हुआ। अतः रिजर्व बैंक ने देश के बैंकों को यह आदेश दिया कि वे ऋण केवल वास्तविक व्यापारिक आवश्यकताओं के लिए प्रदान करें, सट्टेबाजी के लिये नहीं। बैंकों के लिये प्रतिदिन १,००,००० रुपये से अधिक वाले ऋणों की सूची रिजर्व बैंक के पास भेजना अनिवार्य कर दिया गया। इन सूचियों के निरीक्षण से यदि रिजर्व बैंक को यह ज्ञात हुआ कि कुछ ऋण अवांछनीय हैं तो उसे तुरन्त वापस लेने का आदेश दिया गया। बैंकों ने रिजर्व बैंक के आदेशों का पालन करके सट्टेबाजी से उत्पन्न बढ़ते हुए मूल्यों को रोकने में सफलता प्राप्त की।

राष्ट्रीयकरणोपरांत रिजर्व बैंक देश की साख एवं मुद्रा पर पूर्ण नियंत्रण करने में सफलता प्राप्त कर रही है। कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि सभी बैंकों का राष्ट्रीकरण देश के हित में है। इससे जनता को अपना धन बैंकों में जमा करने में सुरक्षा का आभास होगा। किन्तु राष्ट्रीयकरण तभी मुद्रा बाजार पर अच्छा प्रभाव डाल सकता है जब राजनीति का इन आर्थिक संस्थाओं में समावेश न हो।

प्रश्न

1. What were the causes which led to the establishment of the Reserve Bank of India ? Discuss its influence on Indian banking.

भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना किन कारणों से हुई ? भारतीय बैंकिंग पर इसका क्या प्रभाव पड़ा ?

2. Examine the constitution and functions of the Reserve Bank of India. Can you suggest any improvements in its organisation and working ?

रिजर्व बैंक के विधान एवं कार्यों की विवेचना कीजिये। क्या आप इसकी व्यवस्था एवं कार्य पद्धति में सुधार के कुछ सुझाव दे सकते हैं ?

3. What is the business of the Reserve Bank of India ? How

has the creation of the Reserve Bank improved Indian Banking and Currency ?

भारतीय रिजर्व बैंक क्या कार्य करती है ? इसकी स्थापना से भारतीय बैंकिंग एवं मुद्रा में क्या सुधार हुआ है ?

4. Indicate the chief defects in the working of the Reserve Bank of India and suggest improvements.

भारतीय रिजर्व बैंक की कार्य पद्धति के मुख्य दोष बतलाइये तथा सुधार के सुझाव दीजिये।

5. Discuss the place of Reserve Bank of India *vis-a-vis* the Rural Credit.

ग्रामीण साख में रिजर्व बैंक के स्थान की विवेचना कीजिये।

6. What is the relation of the Reserve Bank of India with the Joint Stock Banks of the country ?

रिजर्व बैंक का देश के सम्मिलित पूँजी वाली बैंकों से क्या सम्बन्ध है ?

7. Express your views on "Nationalisation of Reserve Bank of India."

रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण पर अपने विचार स्पष्ट कीजिये।

अध्याय ५

स्टेट बैंक आफ इण्डिया

(State Bank of India)

स्थापना—भारत में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की आवश्यकता तो सन् १८३६ से ही प्रतीत होने लगी थी। परन्तु भारत सरकार की उदासीनता के कारण १९२० तक इस संबन्ध में कुछ भी न हो सका। अंत में भारत सरकार ने परिस्थितियों से विवश होकर १९२७ में बम्बई, मद्रास तथा बंगाल की तीनों प्रेसीडेन्सियों में बैंकों का एकीकरण करके इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया एक्ट १९२१ के अंतर्गत इम्पीरियल बैंक की स्थापना की। सन् १९५५ में राष्ट्रीयकरण के पश्चात् इम्पीरियल बैंक का नाम बदल कर स्टेट बैंक आफ इंडिया कर दिया गया है। इस बैंक का भारतीय बैंकिंग इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसी बैंक की स्थापना के साथ ही साथ भारत में आधुनिक बैंकिंग पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ। इस बैंक की स्थापना भारत सरकार के समस्त लेन-देन करने, बैंकों के बैंक का कार्य करने तथा भारत में आधुनिक बैंकिंग की सुविधाओं की वृद्धि करने के लिये की गई थी, परन्तु सन् १९३४ में इम्पीरियल बैंक एक्ट का शोधन कर दिया गया जिसके अनुसार इसके प्रथम दोनों कार्य इससे छीनकर रिजर्व बैंक को दे दिये गये। अब यह केवल एक बहुत ही महत्वपूर्ण व्यापारिक बैंक के रूप में रह गई है।

रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया की स्थिति—रिजर्व बैंक की स्थापना सन् १९३५ में हुई। उससे पहले इम्पीरियल बैंक सरकारी बैंक के रूप में कार्य करती थी। जितना भी सरकारी कोष होता था वह इम्पीरियल बैंक में ही रखा जाता था। सरकारी खजाने का काम भी इम्पीरियल बैंक ही करती थी। इम्पीरियल बैंक इस कार्य के लिये कोई कमीशन न लेता था। सरकार को जितना रुपया मिलना होता था वह इम्पीरियल बैंक लेता था और सरकार अपने व्यय के लिये उससे रुपया निकालती थी। परन्तु भारत सरकार के ऋण का प्रबन्ध भी इम्पीरियल बैंक ही करती थी।

सरकारी कारबार के अतिरिक्त १९३५ के पूर्व केन्द्रीय बैंक के भी कुछ कार्य करती थी। भारत के अधिकांश बैंक उसके साथ डिपाजिट रखते थे। इसके अतिरिक्त

भारत के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में स्थापित ११ समाशोधन गृहों का भी प्रबन्ध करती थी। इम्पीरियल बैंक जहाँ-जहाँ उसकी शाखायें थीं वहाँ एक स्थान से दूसरे स्थान तक रुपया भेजने की सुविधा प्रदान करती थी। बैंक तथा जनता दोनों ही इम्पीरियल बैंक द्वारा रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान को भेज सकते थे। इम्पीरियल बैंक रुपया भेजने के लिये जो कमीशन लेती थी उसको सरकार नियंत्रित करती थी। इसके बदले में इम्पीरियल बैंक को सरकारी खजानों के द्वारा देश में एक स्थान से दूसरे स्थान को बिना कुछ लिये ही रुपया भेजने की सुविधा दी गई थी।

जब देश के मुद्रा बाजार में कमी पड़े तो उस कमी को पूरा करने के लिये कागजी मुद्रा बैंक को १२ करोड़ रुपये तक ऋण दे सकती थी। किन्तु बैंक को उसकी जमानत स्वरूप हुंडी या बिल रखने पड़ते थे। सरकार बैंक से पहले ४ करोड़ रुपये के लिये ६ प्रतिशत और शेष ८ करोड़ के लिये ब्याज लेती थी। देश में बैंकिंग सुविधा बढ़ाने के उद्देश्य से इम्पीरियल बैंक के लिये कानून में ५ वर्षों के भीतर १०० शाखायें स्थापित करना अनिवार्य कर दिया गया था। इम्पीरियल बैंक ने इस शर्त को पूरा कर दिया था। आधी शाखायें ऐसे स्थान पर स्थापित की गईं थीं जहाँ पर कोई बैंक न थी। इसके बदले सरकार इम्पीरियल बैंक के पास अपना रुपया बिना ब्याज रखती थी।

एक व्यापारिक बैंक होने के नाते इम्पीरियल बैंक का वह सभी कार्य करती थी जो कि एक व्यापारिक बैंक करती है। इम्पीरियल बैंक भारतवर्ष में डिपाजिट ले सकती थी और ऋण ले सकती थी किन्तु देश के बाहर न तो डिपाजिट ही ले सकती थी न ऋण ही ले सकती थी। केवल लंदन शाखा को यह अधिकार था कि वह प्रेसीडेन्सी बैंकों के पुराने ग्राहकों से डिपाजिट ग्रहण कर सकती थी और बैंक की सम्पत्ति या लेन-देन की जमानत पर बैंक के कारबार के लिये ऋण ले सकती थी। इम्पीरियल बैंक अपना रुपया कहाँ लगावे इस पर कुछ प्रतिबन्ध लगे थे। इम्पीरियल बैंक केवल ट्रस्ट्री प्रतिभूतियों में रुपया लगा सकती थी। उदाहरण के लिये भारत सरकार तथा ब्रिटिश सरकार की प्रतिभूतियों में, सरकार द्वारा सहायता प्राप्त प्रतिभूतियों में, अधिकृत डिस्ट्रिक्ट बोर्ड प्रतिभूतियों तथा डिबेंचरों में ही इम्पीरियल बैंक अपना रुपया लगा सकती थी। इम्पीरियल बैंक ऊपर लिखी प्रतिभूतियों की जमानत पर ऋण दे सकती थी। इम्पीरियल बैंक हुंडियों और प्रामिसरी नोटों को स्वीकार कर सकती थी तथा माल अथवा उसके प्रलेखों को यदि जमा करा दिये गये हों तो उन्हें जमानत के रूप में स्वीकार करके ऋण दे सकती थी। किन्तु ६ महीने से अधिक के लिये ऋण नहीं दे सकती थी और न उसे ऐसे किसी विनिमय साध्य पुर्जे (Negotiable Instrument) को ही स्वीकार कर सकती थी जिस पर दो व्यक्तियों तथा

दो फर्मों के हस्ताक्षर न हों (जो आपस में साझेदार न हों) और जिनके पकने की अवधि ६ मास से अधिक न हो। इसी प्रकार किसी व्यक्ति या फर्म को कितना ऋण अधिक से अधिक दिया जा सकता है यह भी निर्धारित कर दिया गया था। इम्पीरियल बैंक केवल उन हुंडियों तथा अन्य विनिमय साध्य पुर्जों को केवल लिख सकती थी और भुना सकती थी और स्वीकार कर सकती थी जिनका कि भारत में या लंका में भुगतान होने वाला हो। किन्तु कानून द्वारा इम्पीरियल बैंक को विदेशी विनिमय का कार्य करने की आज्ञा नहीं थी। इम्पीरियल बैंक किसी ऐसे बिल इत्यादि को भुना भी नहीं सकती थी कि जिसकी अवधि ६ मास से अधिक हो और न किसी ऐसी विनिमय साध्य प्रतिभूति को क्रय कर सकती थी जिसकी अवधि ६ मास से अधिक हो। बैंक प्रतिभूतियों, आभूषणों तथा स्वर्ण इत्यादि को सुरक्षित रखने के लिये ले सकती थी। सोना खरीद और बेच सकती थी तथा ग्राहकों के लिये प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय कर सकती थी और उन पर ग्राहकों के लिये लाभ और ब्याज प्राप्त कर सकती थी।

इम्पीरियल बैंक की पूँजी तथा प्रबन्ध—इस बैंक की अधिकृत पूँजी ११.२५ करोड़ रुपये थी जो २,२५,००० अंशों में विभक्त थी। प्रत्येक अंश का मूल्य ५०० रुपये निर्धारित किया गया था। बैंक का सुरक्षित कोष ६·३५ करोड़ रुपये का था। १९३१ तक बैंक ने १६ प्रतिशत तथा उसके पश्चात् १२ प्रतिशत लाभांश घोषित किया।

सन् १९२० के अधिनियमानुसार इम्पीरियल बैंक का संगठन १६ संचालकों की, जिन्हें गवर्नर कहते थे, की समिति करती थी। इन १६ में १० गवर्नरों की नियुक्ति भारत के गवर्नर जनरल करते थे। इन १० में से २ प्रबन्ध गवर्नर, भारतीय आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले, ४ गैर सरकारी गवर्नर, स्थानीय समितियों के ३ सेक्रेटरी तथा १ भारत सरकार का अधिकारी होता था। शेष ६ गवर्नरों को तीनों स्थानीय सत्ताओं के अंशधारी निर्वाचित करते थे। यह निर्वाचित गवर्नर तीनों स्थानीय समितियों के प्रधान एवं उपप्रधान होते थे।

सन् १९३४ के संशोधित अधिनियम के अंतर्गत केन्द्रीय समिति में १६ संचालक होते थे जिनमें स्थानीय समितियों के प्रधान, उपप्रधान तथा सेक्रेटरी, स्थानीय समितियों के अंशधारियों का प्रतिनिधित्व करने वाले ३ संचालक गवर्नर जनरल द्वारा, २ गैर सरकारी मनोनीत व्यक्ति, १ केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारी तथा ५ वर्ष के लिए केन्द्रीय समिति द्वारा नियुक्त १ प्रबन्ध संचालक तथा १ उपप्रबन्ध संचालक सम्मिलित होते थे। केन्द्रीय संचालक समिति का कोई निश्चित स्थान नहीं था। अतः उसकी बैठकें बम्बई या कलकत्ते में हुआ करती थी। उपप्रबन्ध संचालक को प्रबन्ध

संचालक की उपस्थिति में मत प्रदान करने का अधिकार न था। बैंक का सभी कार्य अंतर्नियमों के अंतर्गत होता था। केन्द्रीय समिति तो केवल साधारण नीति निर्धारित करती थी।

रिज़र्व बैंक की स्थापना के पश्चात् इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया की स्थिति में परिवर्तन—इम्पीरियल बैंक रिजर्व बैंक की एक मात्र एजेंट नियुक्त कर दी गई। और इसलिये कुछ प्रतिबन्ध जो पहले इस पर लगे थे इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया में संशोधन करके उठा लिये गये। अब इम्पीरियल बैंक सरकारी बैंक का कार्य वहाँ तक ही करने लगी जहाँ तक कि वह रिजर्व बैंक की एजेंट है। और उसका सरकार से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रहा। पहले की भाँति अब वह अन्य बैंकों का बैंकर भी नहीं। इम्पीरियल बैंक भारत के बाहर भी जमायें प्राप्त कर सकती, शाखाएँ खोल सकती तथा ऋण ले सकती हैं। वह अब विदेशी विनिमय का कार्य भी करने लगी तथा विदेशी हुंडियों का क्रय विक्रय तथा कटौती करने लगी। अब वह प्रायः वे सभी कार्य करने लगी जो एक अन्य व्यापारिक बैंक कर सकती है। अब वह विदेशी हुंडियों को लिख व बेचने लगी। परन्तु ये हुंडियाँ कृषि के सम्बन्ध की हैं तो ९ मास से अधिक तथा अन्य कार्य की हैं तो ६ मास से अधिक की न होनी चाहिये। इम्पीरियल बैंक अब साख पत्र भी निकालने लगी और वह कमीशन पर कोई भी अर्थ सम्बन्धी आढ़त का कार्य करने लगी। तथा जमानत पर अथवा बिना जमानत के ही किसी प्रकार की क्षति पूर्ति का उत्तरदायित्व लेने लगी। इम्पीरियल बैंक कोर्ट आफ वार्डस को छोड़ कर अचल सम्पत्ति अथवा उसके अधिकार पत्रों पर नहीं ले सकती। इम्पीरियल बैंक अधिक से अधिक कितना ऋण साझेदार फर्म को दे सकती है यह भी कानून द्वारा सीमित कर दिया गया। इम्पीरियल बैंक बिना रिजर्व बैंक की अनुमति के कोई नवीन शाखा नहीं खोल सकती। इम्पीरियल बैंक को अपनी कोई शाखा बन्द करने का भी अधिकार नहीं। इस प्रकार रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् इम्पीरियल बैंक के कार्यों तथा अधिकारों में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया गया।

रिजर्व बैंक की स्थापना के उपरान्त इम्पीरियल बैंक के कार्य—इम्पीरियल बैंक अपना समस्त कार्य १९३१ के इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया के अंतर्गत करती है। सन् १९३५ में रिजर्व बैंक आफ इंडिया के स्थापित होने के पहले इम्पीरियल बैंक के कार्यों पर विधान द्वारा बहुत से प्रतिबन्ध लगे थे। परन्तु १९३५ में इम्पीरियल बैंक के बहुत से कार्य रिजर्व बैंक ने अपने ऊपर ले लिये। अतः यह आवश्यक हो गया कि इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया में संशोधन करके उस पर लगे प्रतिबन्धों को हटा लिया

जाये। इम्पीरियल बैंक के संशोधित विधान के अनुसार अब बैंक निम्नलिखित कार्य करने लगी—

(१) इम्पीरियल बैंक निम्नलिखित जमानतों के आधार पर ऋण तथा साख दे सकती है—

(अ) स्थानीय सरकार तथा अन्य संस्थाओं के ऋणपत्रों तथा अन्य प्रतिभूतियों पर, ट्रस्टी प्रतिभूतियों तथा रिजर्व बैंक के अंशों पर।

(ब) केन्द्रीय सरकार द्वारा घोषित रेलवे प्रतिभूतियों पर।

(स) अन्य संस्थाओं जैसे जिला बोर्ड अथवा नगरपालिका अथवा सीमित दायित्व वाली कम्पनियों के ऋणों पर।

(द) बैंक में जमा कराये हुए माल अथवा माल के अधिकार पत्रों के आधार पर।

(ई) स्वीकृत हुंडियाँ, प्रतिज्ञा पत्रों अथवा दो से अधिक व्यक्तियों अथवा साझे द्वारा लिखे हुए संयुक्त और पृथक प्रमाण पत्रों के आधार पर।

(द) सीमित दायित्व वाली कम्पनियों के पूर्ण रूप से भुगतान किये गये अंशों पर।

(२) यदि किसी ऋण के सम्बन्ध में कोई प्रतिज्ञापत्र, ऋणपत्र, माल, माल के अधिकार पत्र तथा अन्य प्रतिभूतियाँ बैंक के हाथ बेची जाती हैं तो यह ऋण भुगतान न होने पर उन्हें बेच कर अपने रुपये प्राप्त कर सकती है।

(३) स्थानीय सरकार की स्वीकृति से कोर्ट आफ वार्ड्स के सामाजिक, कृषि कार्यों तथा अन्य कार्यों के लिये रुपये उधार देना तथा उसे ब्याज सहित प्राप्त करना परन्तु ऐसे ऋण कृषि कार्यों के लिए तो ९ मास से अधिक तथा अन्य कार्यों के लिए ६ मास से अधिक के लिये नहीं होने चाहिये।

(४) यह विनिमय हुंडियाँ तथा अन्य विनिमय साध्य पत्रों को आहरित कर सकती है, स्वीकृत कर सकती है तथा क्रय-विक्रय कर सकती है।

(५) यहं प्रथम भाग में (अ) से (स) तक उल्लेखित जमानतों में अपना रुपया लगा सकती है। और उन्हें वहीं पर दी हुई अन्य प्रकार की प्रतिभूतियों में परिवर्तित भी कर सकती है।

(६) वह अपनी सम्पति पर रुपया उधार ले सकती है तथा अन्य प्रकार का कोई भी बैंकिंग कार्य कर सकती है। वह जमा प्राप्त कर सकती है और किसी भी शर्त पर हिसाब रख सकती है। वह लोगों को उधार भी दे सकती हैं।

(७) वह सोने-चाँदी की क्रय-विक्रय भी कर सकती है तथा सोने-चाँदी के

बर्तन, आभूषण, जवाहिरात, अधिकार तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को धरोहर के रूप में तथा सुरक्षित रख सकती है।

(८) वह चल और अचल सम्पत्ति तथा उसके अधिकार पत्रों को जो उसके अधिकार में हैं अथवा आयें उन्हें बेच सकती है तथा अन्य प्रकार के प्रयोग में ले सकती है।

(९) वह विदेशी हुंडियों को लिख सकती है, परन्तु यदि ये हुंडियाँ कृषि के सम्बन्ध की हैं तो ९ मास से अधिक तथा अन्य कार्यों के लिये हैं तो ६ मास से अधिक अवधि की नहीं होनी चाहिये। यह बैंक साखपत्र भी निकाल सकती है।

(१०) वह किसी भी सार्वजनिक कम्पनी के साखपत्रों और अंशों को कमीशन पर न खरीद बेच तथा हस्तांतरित कर अपने पास रख सकती है। वह उपर्युक्त रकम को देश में बाहर कहीं भी सार्वजनिक अथवा अपनी हुण्डियाँ द्वारा पहुँचा सकती है। यह किसी भी स्टेट के साधक (Executor), धरोहरी (Trustee) आदि की की व्यवस्था कर सकती है।

(११) वह कमीशन पर भी अर्थ सम्बन्धी आढ़त कार्य कर सकती है। तथा जमानत पर अथवा बिना जमानत के ही किसी प्रकार की क्षतिपूर्ति का अथवा प्रतिभूति का दायित्व ले सकती है।

(१२) वह अन्य कोई कार्य जो ऐक्ट द्वारा स्वीकृत किया गया हो तो अन्य सभी कार्य जिनके करने की आवश्यकता प्रसंगवश आ जाये कर सकती है।

इम्पीरियल बैङ्क के वर्जित कार्य—१९३४ के उपरांत इम्पीरियल बैंक के कार्यों पर निम्नलिखित प्रतिबन्ध लगाये गये—

(१) यह बैंक किन्हीं भी कृषि कार्यों के लिये ऋण ९ मास से अधिक तथा अन्य कार्यों के लिए ६ मास से अधिक अवधि के लिये ऋण नहीं दे सकती। यह स्वयं अपने अंशों पर भी ऋण नहीं दे सकती। इसी प्रकार कोर्टस् आफ वार्ड्स को छोड़ कर अचल सम्पत्ति अथवा उसके अधिकार पत्रों पर भी ऋण नहीं दे सकती है।

(२) यह बैंक किसी भी व्यक्ति के अथवा साझे के विनिमय साध्य पत्रों तथा अन्य अधिकार देने वाले साखपत्रों के जमानत पर न तो नकद साख ही दे सकती है न ऋण। न इस प्रकार के पत्रों को खरीद या भुना ही सकती है जब तक इन पर कम से कम दो स्वतन्त्र व्यक्तियों के अथवा साझे के पृथक-पृथक हस्ताक्षर तथा दायित्व न हों। और जो पारस्परिक साझेदार भी न हों। इम्पीरियल बैंक अधिक से अधिक कितना ऋण एक व्यक्ति अथवा साझे को दे सकेगी यह भी विधान द्वारा सीमित कर दिया गया है।

(३) यह बैंक केवल उन्हीं प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय अथवा कटौती कर सकती है तथा उनकी जमानत पर रुपया उधार दे सकती है जिनको ट्रस्ट ने अपने विनियोग के लिये स्वीकार कर रखा है।

(४) यह बैंक अब बिना रिजर्व बैंक की अनुमति के कोई भी नवीन शाख नहीं खोल सकती है।

उपरोक्त प्रतिबन्धों का लगाना इसी लिये आवश्यक समझा गया जिनसे इम्पीरियल बैंक रिजर्व बैंक के रूप में जिस सरकारी धन को रखती है उसे सुरक्षित रख सके।

१९५५ तक इम्पीरियल बैङ्क का देश के मुद्राबाजार में स्थान—इम्पीरियल बैंक के रूप में इस बैंक ने सन् १९५५ तक कार्य किया। १ जुलाई १९५५ को यह बैंक स्टेट बैंक में परिवर्तित कर दी गई। परिणत होने तक इम्पीरियल बैंक ने देश में बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार किया। इस समय इसकी लगभग ४७२ शाखायें देश के कोने-कोने में कार्य कर रही हैं जिससे स्पष्ट है कि इसने राष्ट्र की व्यापारिक और व्यवसायिक क्षेत्र में कितनी सेवा की। इतनी अधिक शाखायें होने के कारण इसने एक स्थान से दूसरे स्थान पर धन भेजने की सस्ती सेवायें प्रदान की। इम्पीरियल बैंक ने अपनी कटौती दर को स्थिर रख कर देश की अन्य संस्थाओं को भी कटौती दर स्थिर रखने को बाध्य किया। इम्पीरियल बैंक के पास पूँजी एक बड़ी मात्रा में है। अतः उसकी ब्याज दर सदैव कम रही है जिसका एक अच्छा प्रभाव यह हुआ कि अन्य बैंकिंग संस्थाओं को भी ब्याज की दरों को कम करने के लिये विवश होना पड़ा। यह बैंक सहकारी बैंकों को अधिक निकासी की सुविधायें प्रदान करके राष्ट्रीय हित में कार्य करती रही। इम्पीरियल बैंक खेती की फसलों की जमानत पर भी ऋण प्रदान करती रही जिसके कारण उनकी बिक्री और उनके यातायात में पर्याप्त सुगमता रही। इसने आर्थिक संकटों में बहुत से बैंकों को सहायता देकर समाप्त होने से बचाया। इसने देश के निकास गृहों का प्रबन्ध करके बैङ्किंग प्रणाली के विकास में सहायता पहुँचाई तथा इम्पीरियल बैंक ने देशी बैंकरों और अन्य व्यापारिक बैंकों को ऋण प्राप्त करने में बहुत सुविधायें प्रदान कीं।

इम्पीरियल बैंक भारत की सबसे बड़ी व्यापारिक बैंक थी। इसकी साख भी पर्याप्त थी। अतः इसको स्थानीय सरकारों से बिना ब्याज के जमा प्राप्त होती थी। इसके अतिरिक्त भारत की कुल बैंकों की जमा का २३% भाग इसके पास था तथा कुल बैंकों द्वारा लिये ऋण और हुन्डियों का २०% और कुल विनियोग की २५% भाग इस बैंक का था। इसके पास ५·६२ करोड़ रुपये की अंश पूँजी थी और ५.६५

करोड़ रुपये का सुरक्षित कोष था। इन तथ्यों से इस बैंक का भारतीय मुद्राबाजार में महत्व स्पष्ट हो जाता है।

इम्पीरियल बैंक की आलोचनायें- यद्यपि इम्पीरियल बैंक ने देश को बैंकिंग सुधार प्रदान करने में बड़ी सहायता की है फिर भी समय-समय पर उसकी कार्य प्रणाली की बड़ी आलोचना हुई। इस बैंक के संचालन में अधिकतर विदेशियों का हाथ था। बड़े-बड़े कर्मचारी भी सब विदेशी थे। १९५५ तक अपनी स्थापना के ३४ वर्षों में इसने कभी भी भारतीयों को ऊँचे पद पर नियुक्त नहीं किया। भारतीय व्यापारियों की अपेक्षा यह विदेशी व्यापारियों को ही प्रोत्साहन देती थी। विदेशियों के हाथों इसका संचालन होने से इसकी ऋण नीति कभी भी निष्पक्ष नहीं रही। इसने भारतीयों को बहुत कम ऋण दिये जब कि विदेशियों को बहुत ऋण दिये। और यह सदैव भारतीयों की जमा राशि से विदेशियों के स्वार्थों को पूरा करता रहा। कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह भी आरोप लगाया कि इम्पीरियल बैंक ने जो अपनी इतनी शाखायें खोल रखी हैं वे केवल जमा प्राप्त करने के उद्देश्य से ही खोली हैं न कि राष्ट्रीय हित के लिये। इम्पीरियल बैंक की कार्यविधि का सबसे बड़ा दोष यह रहा कि इसने हुन्डियों के प्रयोग को बढ़ाने के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। और इसने केवल व्यक्तिगत साख को ही महत्व दिया जिसके कारण भारतीय हुन्डी बाजार आज तक अविकसित रहा। भारतीय व्यापारिक बैंकों की ओर से यह भी कहा गया कि इसको रिजर्व बैंक के एजेन्ट का कार्य सौंप कर अनुचित प्रतियोगिता प्रदान करने की शक्ति प्रदान कर दी गई जिससे उनकी उन्नति में बाधा पड़ी।

उपरोक्त बहुत सी आलोचनायें बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर व्यर्थ हो गई हैं और अब इम्पीरियल बैंक स्टेट बैंक के रूप में सराहनीय कार्य करने लगा है।

स्टेट बैङ्क का राष्ट्रीयकरण—सरकार ने इम्पीरियल बैंक की कार्य विधि की जाँच करने के लिए एक ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति की नियुक्ति १९५० में की जिसने बैंक के राष्ट्रीयकरण को ही देश के हित में बतलाया। सरकार ने सैद्धांतिक रूप से राष्ट्रीयकरण को स्वीकार किया किन्तु कुछ कारणों से यह कार्य शीघ्र सम्पन्न न हो सका। १९५१ में रिजर्व बैंक के अखिल भारतीय ग्रामीण साख समिति ने भी भारतवर्ष में एक राज्य बैंक स्थापित किये जाने पर बल दिया तथा यह अनुरोध किया कि राज्य बैंक एक ऐसी व्यापारिक संस्था होनी चाहिये जो बैङ्किग व्यवसाय के सिद्धान्तों का उलंघन किये बिना एक ऐसी नीति अपनाये जो सरकार की राष्ट्रनीति के अनुसार हो तथा जो अन्य बैंकों को रुपया भेजने की सुविधायें प्रदान करे। उसने यह भी सुझाव दिया कि राज्य बैङ्क सरकार के साझे में स्थापित की जाएँ। यह सुदृढ़ व्यापारिक बैङ्क हो तथा उसकी देश भर में अनेकों शाखायें हों। अतः सरकार ने इम्पीरियल बैङ्क

को राज्य बैङ्क में परिणत करने की घोषणा करके मई १९५५ में भारतीय संसद के सम्मुख एक विधेयक उपस्थित किया जिस पर राष्ट्रपति ने अपनी स्वीकृति प्रदान की। प्रथम जुलाई १९५५ से इम्पीरियल बैङ्क के स्थान पर स्टेट बैङ्क ने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

स्टेट बैङ्क का संगठन—स्टेट बैंक को ६ स्थानीय क्षेत्रों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक क्षेत्र का प्रबन्ध एक स्थानीय समिति द्वारा होता है। किन्तु यह समितियाँ केन्द्रीय समिति द्वारा नियुक्त होती हैं। स्टेट बैंक की केन्द्रीय समिति (Central Board) में निम्नलिखित सदस्य होते हैं :—

(अ) एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष जिनकी नियुक्ति रिजर्व बैंक के परामर्श से केन्द्रीय सरकार करती है।

(ब) दो प्रबन्ध संचालक जिनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार की अनुमति से केन्द्रीय समिति करती है।

(स) ६ संचालक जिनका निर्वाचन रिजर्व बैंक के अतिरिक्त अन्य अंशधारी करते हैं।

(द) ८ संचालक जिन्हें रिजर्व बैंक के परामर्श से केन्द्रीय सरकार मनोनीत करती है। इन ८ में से कम से कम दो व्यक्ति ऐसे होने चाहिये जिन्हें सरकारी संस्थाओं एवं ग्रामीण आर्थिक अवस्था का पूर्ण ज्ञान हो तथा शेष व्यापार, उद्योग, बैंकिग तथा वित्त संबन्धी अनुभव रखते हों।

(ई) एक संचालक जिसे केन्द्रीय सरकार मनोनीत करती है।

(फ) एक संचालक जिसे रिजर्व बैंक मनोनीत करती है।

अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा प्रबन्ध संचालक केन्द्रीय सरकार के नियमानुसार ५ वर्ष तक कार्यपद सँभालते हैं।

स्टेट बैंक को रिजर्व बैंक के परामर्श एवं केन्द्रीय सरकार की अनुमति से १९६० तक देश के विभिन्न भागों में ४०० शाखायें स्थापित करनी हैं। १९५६ में १०० से अधिक शाखायें स्थापित कर दी गई थीं।

इम्पीरियल बैंक के पुराने अंशों को समाप्त करके क्षतिपूर्ति प्रदान की गई हैं, किन्तु पुराने अंशधारियों को उनकी इच्छा पर यह अवसर प्रदान किया गया कि वे चाहें तो अपने अंशों को केन्द्रीय सरकार की प्रतिभूतियों में परिवर्तित कर सकते हैं; उन प्रतिभूतियों पर ३½ प्रतिशत ब्याज मिलेगी और यह डेढ़ प्रतिशत कटोती पर परिवर्तित किये जाएँगे।

स्टेट बैंक की अधिकृत पूँजी २० करोड़ रुपये है जो २० लाख अंशों में विभक्त है। इस समस्त पूँजी का ५५ प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास है तथा शेष ४५ प्रतिशत

अन्य व्यक्तियों को दिया गया है जिनमें भूतपूर्व इम्पीरियल बैंक के अंशधारियों को प्राथमिकता दी गई है। रिजर्व बैंक के पास जो ५५ प्रतिशत अंश हैं उन पर जो लाभांश मिलता है वह एक विकास कोष में जमा किया जाता है। इस कोष में समय-समय पर केन्द्रीय सरकार तथा रिजर्व बैंक भी विशेष मामों के लिये रुपया जमा करते हैं। नवीन शाखाएँ खोलने के कारण स्टेट बैंक को जो घाटा रहेगा वह इसी कोष से पूरा किया जायेगा। वे सब हानियाँ तथा व्यय भी इस कोष से पूरे किये जा सकते हैं जिनकी अनुमति केन्द्रीय सरकार रिजर्व बैंक के परामर्श से प्रदान कर दे।

स्टेट बैङ्क के कार्य—स्टेट बैंक अधिनियम के अंतर्गत स्टेट बैंक को निम्नलिखित कार्य सौंपे गये हैं :—

(१) निम्न लिखित जमानत पर नकद साख खोलना एवं ऋण प्रदान करना।

(अ) अचल सम्पत्ति को छोड़ कर स्कंध (stock) तथा वे प्रतिभूतियाँ जिनमें नियमानुसार ट्रस्ट धन विनियोग किया जा सकता है।

(ब) स्थानीय सत्ताओं द्वारा अथवा उनकी ओर से निर्गमित ऋणपत्र एवं प्रतिभूतियाँ।

(ए) केन्द्रीय समिति के आदेशानुसार भारतवर्ष या अन्य स्थानों में पंजीकृत सीमित दायित्व वाली कंपनियों के ऋण पत्र।

(द) माल तथा वे अधिकार प्रपत्र जो स्टेट बैंक के नाम कर दिये गये हैं।

(ई) केन्द्रीय समिति की विशेष अनुमति से वे माल जो बैंक के पास गिरवीं रख दिये गये हैं।

(फ) दो से अधिक व्यक्तियों एवं स्वतन्त्र साझेदारियों द्वारा लिखे प्रतिज्ञापत्र तथा बेचान की हुई स्वीकृत हुन्डिया।

(ज) उपरोक्त के अतिरिक्त, अतिरिक्त गिरवी के रूप में समिति दायित्व वाली कम्पनियों के अंशपत्र अथवा अचल सम्पत्ति।

(२) उन सभी वस्तुओं का बेचना जो स्टेट बैंक को जमानत एवं गिरवी के रूप में प्राप्त हुई हैं।

(३) राज्य सरकार की अनुमति से कृषि कार्यों के लिये १५ मास तथा अन्य कार्यों के लिये ६ मास तक की कोर्ट आफ वार्ड्स को उनकी सम्पत्ति की जमानत पर ऋण प्रदान करना।

(४) हुन्डियों तथा अन्य विनिमय-साध्य विलेखों (Bills and other Negotiable instruments) आहरित करना, स्वीकार करना, कटौती करना एवं क्रय-विक्रय करना।

(५) बैंक के धन को नं० १ में लिखी प्रतिभूतियों में विनियोगित करना।

(६) साख पत्र लिखना, निर्गमित करना अथवा गश्तीरूप से भेजना।

(७) सोने तथा चाँदी एवं उनके सिक्कों का क्रय-विक्रय करना।

(८) जमा प्राप्त करना तथा खाते खोलना।

(६) बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित रखना।

(१०) उस समस्त चल एवं अचल सम्पत्ति का विक्रय करना जो ऋण के भुगतान में बैङ्क को प्राप्त हो।

(११) कमीशन लेकर एजेन्सी का कार्य करना तथा अपने ग्राहकों के लिये जमानत देना।

(१२) अपने ग्राहकों की ओर से उनकी सम्पत्ति की व्यवस्था करना तथा कमीशन लेकर उनके लिये प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करना, उनके लाभांश एवं ब्याज को एकत्रित करना तथा हुन्डी एवं धन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजना।

(१३) भारतवर्ष से बाहर देय हुन्डी आहरित करना।

(१४) कृषि वित्त के लिये १५ मास तथा अन्य कार्यों के लिये ६ मास तक की विदेशों में देय हुन्डियों का क्रय-विक्रय करना।

(१५) अपनी आवश्यकता के लिये रुपया उधार लेना तथा उसके लिये अपनी सम्पत्ति गिरवीं रखना।

(१६) इम्पीरियल बैङ्क के कर्मचारियों की पेंशन के लिये प्रबन्ध करना, तथा

(१७) वे सभी कार्य करना, जो किसी भी बैङ्क के लिये आवश्यक हैं तथा विदेशी विनियम व्यापार में भाग लेना।

केन्द्रीय सरकार की विशेष अनुमति से स्टेट बैङ्क निम्नलिखित कार्य भी कर सकती है—

(१) किसी भी बैङ्क को अथवा उसकी सम्पत्ति एवं दायित्वों का क्रय करना।

(२) किसी भी कम्पनी एवं सहकारी समिति को निस्तारण के हेतु किसी भी अवधि तथा किसी वस्तु की जमानत पर ऋण प्रदान करना।

(३) रिजर्व बैंक की अनुमति से किसी भी बैंक के अंशों का क्रय-विक्रय करना।

(४) किसी भी सहायक बैंक की स्थापना करना एवं उसकी व्यवस्था करना।

(५) यदि रिजर्व बैंक की प्रार्थना पर किसी बैंक का निस्तारण हो रहा है तो उसके लिये निस्तारक (Liquidator) का कार्य करना।

स्टेट बैंक के वर्जित कार्य—स्टेट बैंक अधिनियम के अन्तर्गत बैंक निम्नलिखित कार्य नहीं कर सकती :—

(१) बैंक ६ मास से अधिक के लिये अपने अंशों के आधार पर ऋण प्रदान नहीं कर सकती।

(२) बैंक उन विनिमय हुन्डियों को नहीं भुना सकती और न उनकी सुरक्षा पर ऋण प्रदान कर सकती है जिन पर एक ही व्यक्ति उत्तरदायी हो।

(३) किसी भी अवस्था में १५ मास से अधिक की कृषि हुन्डिया तथा ६ मास से अधिक की अन्य हुन्डियाँ नहीं भुना सकती।

(४) बैंक अपने भवन के अतिरिक्त कोई अन्य अचल सम्पत्ति क्रय नहीं कर सकती।

स्टेट बैंक के कार्यों पर एक दृष्टि—बैंक का राष्ट्रीयकरण हुए अभी ४ वर्ष हुए हैं। अतः इसके कार्यों की आलोचना इतनी शीघ्र नहीं की जा सकती। यह बात अवश्य है कि देश की सबसे बड़ी व्यापारिक बैंक होने के नाते यह अन्य बैंकों की सहायता करती है। जनता का इसमें पहले से अधिक विश्वास हो गया है, अतः इसकी जमा राशि में सतत वृद्धि हो रही है। इसका भविष्य बड़ा ही उज्वल है। यह आशा की जाती है कि देश की पंचवर्षीय योजनाओं को सफल बनाने में यह बैंक पूर्ण योग प्रदान करेगी, विशेषकर व्यक्तिगत औद्योगिक क्षेत्र में। इस बैंक से अच्छे कार्य की आशा इसलिये भी की जाती है कि ग्रामीण क्षेत्रों में शाखाएँ खोल कर यह ग्रामीणों की गड़ी हुई पूँजी को प्राप्त करके देश के आर्थिक विकास में लगायेगी।

प्रश्न

1. Briefly explain the functions of State Bank of India.

स्टेट बैंक के कार्यों की विवेचना कीजिये।

2. What was the position of the Imperial Bank of India before the creation of the Reserve Bank in India? In what ways has that position changed after the establishment of the Reserve Bank?

रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व इम्पीरियल बैंक आफ इन्डिया की क्या स्थिति थी? रिजर्व बैंक की स्थापना से इसमें क्या परिवर्तन हुआ है?

3. Examine the presesent position of the State Bank. What restrictions have been placed on its activities?

इम्पीरियल बैंक की स्थापना क्यों और किस प्रकार हुई? यह क्या कार्य कर सकती है और इसके किन कार्यों पर प्रतिबन्ध है?

4. How, and why, was the Imperial Bank of India established? What business it can transact and which it is prohibited to transact?

स्टेट बैंक की वर्तमान स्थिति की विवेचना कीजिये। इसके किन कार्यों पर प्रतिबन्ध है?

5. What was the idea behind nationalisation of the State Bank of India? Has it justified nationalisation?

स्टेट बैंक के राष्ट्रीयकरण का क्या उद्देश्य था? क्या इसके अच्छे परिणाम निकले?

अध्याय ६

संयुक्त पूँजी वाली अथवा व्यापारिक बैंक

(Joint Stock or Commercial Banks)

देश की बैंकिंग व्यवस्था में संयुक्त पूँजीवाली बैंकों का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। ये ही बैंक व्यापारिक बैंक के नाम से पुकारी जाती हैं। संयुक्त पूँजी वाली बैंक वह बैंक होती है जिसकी पूँजी अंशों में विभक्त होती है और जिन अंशों को बहुत से व्यक्ति क्रय कर लेते हैं। वे सभी बैंक जिनसे अधिकांश जनता परिचित है, संयुक्त पूँजीवाली बैंक ही हैं, उदाहरणतः पंजाब नेशनल बैंक, सेन्ट्रल बैंक, जयपुर बैंक, कलकत्ता बैंक इत्यादि। इन बैंकों के अंशधारियों का दायित्व सीमित होता है और इनका संगठन संचालन समितियाँ करती हैं। ये बैंक भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत तो पंजीकृत होती ही हैं, इण्डियन बैंकिंग अधिनियम के अंतर्गत भी पंजीकृत होती हैं। रिजर्व बैंक से लाइसेंस प्राप्त किये बिना कोई भी बैंक अपना कारोबार आरम्भ नहीं कर सकती। इन बैंकों पर रिजर्व बैङ्क का पूर्ण नियंत्रण होता है। भारत वर्ष में ये बैङ्क निम्नलिखित कार्य करती हैं :

व्यापारिक बैङ्कों के कार्य—इन बैंकों का मुख्य कार्य चालू, मुद्दती और जमा-खाते आकर्षित करना तथा थोड़े समय के लिये ऋण देना है। हुन्डियों को भुनाना अथवा क्रय करना है (यद्यपि भारतीय बैंक यह कार्य करती है क्योंकि बिल बाजार का उदय नहीं हुआ है।) सरकारी प्रतिभूतियों में अपना रुपया लगाना, नकद साख देना, कृषि के उत्पादन को ग्राम से नियत बन्दरगाहों तक तथा बन्दरगाहों से विदेशों के आये हुए माल को देश के भीतरी भागों तक पहुँचाने में आर्थिक सहायता देना है। इसके अतिरिक्त ये बैङ्क और भी छोटे-मोटे कार्य करती हैं। उदाहरण के लिये रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना इत्यादि। ये बैंक कृषि के धन्धे को सीधी आर्थिक सहायता नहीं देतीं। वे केवल बड़े जमीदारों, चाय इत्यादि के बगीचों के स्वामियों तथा ऐसे अन्य व्यक्तियों को ऋण देती हैं। पहले तो ये बैङ्क मुद्दती जमा पर ४ से ५ प्रतिशत अधिक ब्याज देती थीं किन्तु अब अधिकांश बैङ्क चालू खाते पर भी ब्याज नहीं देतीं और मुद्दती जमा पर भी २ प्रतिशत से अधिक ब्याज नहीं देतीं। बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों में जहाँ प्रतिभूति अधिक मिलती है वहाँ बैङ्क उनको जमानत पर

ऋण देती हैं। किन्तु जिन मंडियों तथा बाजारों में स्टाक बाजार की प्रतिभूति अधिक नहीं मिलती वहाँ कृषि के उत्पादन को अधिक रखकर यह बैङ्क ऋण दे देती हैं।

भारतवर्ष में सार्वजनिक गोदाम नहीं है। इस कारण बैङ्क अपने गोदाम रखती हैं जहाँ ग्राहक का माल रखकर उसकी जमानत पर उसे ऋण दे दिया जाता है। ऐसा भी होता है कि बैङ्क ग्राहक के गोदाम पर ही अधिकार कर लेती हैं और वहीं माल बन्द करके ग्राहक को ऋण दे देती हैं। कारखानों को उसके तैयार माल के विरुद्ध ऋण दे देती हैं। कभी-कभी बैङ्क इमारतों तथा अन्य स्थावर सम्पत्ति को गिरवीं रखकर ऋण दे देती हैं। किन्तु इस प्रकार का ऋण अधिक नहीं दिया जाता। इसका कारण यह है कि इस प्रकार की सम्पत्ति शीघ्र ही बेची नहीं जा सकती। बैङ्क व्यक्तिगत जमानत पर भी ऋण दे देती हैं। ऐसी दशा में ऋणी जो प्रामिसरी नोट लिखता है उस पर दो अच्छे हस्ताक्षर लिये जाते हैं। सर्राफ तथा मैनेजिंग एजेंटों के हस्ताक्षर होने पर बैंक सरलता से ऋण दे देती है। हुन्डी जो कि आज भी भारतीय बाजारों में प्रचलित है यद्यपि पहले से उसका प्रचार कम है, वास्तव में दो हस्ताक्षरों वाला पत्र है क्योंकि उससे देशी बैङ्करों का बेचान होता है। किन्तु व्यापार की मात्रा को देखते हुए जितने दो हस्ताक्षर वाले पत्रों को यह बैङ्क स्वीकार करके व्यापारियों को ऋण अथवा साख देती हैं वे अपेक्षाकृत कम ही होते हैं।

ऋण देने का सब से अधिक प्रचलित ढंग यह है कि ऋणी बैङ्क को प्रामिसरी नोट लिख देता है और कम्पनियों के अंश, माल अथवा बौंड अथवा अन्य कोई प्रतिभूति बैङ्क के पास जमानत के रूप में रख देता है, तथा बैङ्क उस ऋणी के नाम नकद साख खाता खोल देती है। यह ढंग दोनों पक्षों के लिए सुविधाजनक है। ऋणी जितना रुपया वास्तव में निकालता है उस पर ही उसे ब्याज देनी पड़ती है। फिर उसे यह भी सुविधा रहती है कि वह जब भी चाहे तब उस खाते में रुपया जमा कर दे अर्थात् कुछ ऋण चुका दे। किन्तु ऋणी को जितनी नकद साख दी गई है उसकी आधी रकम पर अवश्य ब्याज देनी होगी। ऋण देने का यह ढंग भारतवर्ष में हुन्डी बाजार को विकसित नहीं होने देता, किन्तु यह अधिक प्रचलित है क्योंकि बैंक और व्यापारी दोनों ही इसे अधिक पसन्द करते हैं। बैङ्क को सुविधा यह है कि वह जब चाहे तो नकद साख की इस सुविधा को वापस ले सकती है अर्थात् ऋणी को अधिक ऋण अथवा साख देना अस्वीकार कर सकती है और ऋण लेने वाले को यह सुविधा होती है कि उसे निश्चित रकम पर ही ब्याज देनी पड़ती है।

यह बैङ्क अधिकतर देश के भीतरी व्यापार के लिये अल्पकालीन साख का प्रबन्ध करती हैं। विदेशी व्यापार, उद्योग-धन्धों तथा कृषि को ये बहुत कम साख देती है। पिछले कुछ वर्षों से भारत की कुछ बड़ी बैंकों ने विदेशी विनिमय का कारबार

करना प्रारम्भ कर दिया है, परन्तु अभी तक यह नहीं के बराबर है। उद्योग-धन्धों को यह बैङ्क थोड़े समय के लिये स्थायी पूँजी के रूप में सहायता देती हैं। अधिक समय के लिये स्थायी पूँजी के रूप में यह बैंक उद्योग-धन्धों को सहायता नहीं देतीं। भारतीय बैंकों की कार्य पद्धति की एक विशेषता यह है कि वे हुन्डियों की अपेक्षा सरकारी प्रतिभूतियों में अपना समय अधिक लगाती हैं। इसका कारण यह है कि देश में व्यापारी हुन्डियों तथा बैंकों के स्वीकार योग्य पत्रों का अभाव है। अस्तु, बैङ्क अपना अधिकतर रुपया सरकारी प्रतिभूतियों में लगाती हैं।

इसके अतिरिक्त भारतीय बैङ्क और भी सहायक बैंकिंग का कार्य करती हैं। उदाहरण के लिये वे अपने ग्राहकों को अर्थ सम्बन्धी परामर्श देती हैं, उन्हें व्यापार सम्बन्धी जानकारी कराती हैं। उनके लिये सरकारी प्रतिभूतियों तथा कम्पनियों के अंश क्रय-विक्रय करती हैं और उनके एवज में रुपया चुकाती हैं और प्राप्त करतीं हैं। उनके एजेंट अथवा प्रतिनिधि का कार्य करती हैं। इन कार्यों के अतिरिक्त वे यात्रियों की सुविधा के लिये साख पत्र (Letter of Credit) देती हैं। रुपये को दूसरे स्थान पर भेजने के लिये बैङ्क ड्राफ्ट देती हैं तथा सरकार, कम्पनियों, नगरपालिकाओं तथा निगमों द्वारा निकाले हुए ऋण का अभिगोपन (underwriting) करती हैं। वे अपने ग्राहकों की साख, आर्थिक स्थिति तथा प्रसिद्धि के सम्बन्ध में अन्य व्यापारियों को अपनी सम्मति देती है। वे अपने ग्राहकों की मूल्यवान वस्तुओं को सुरक्षित रखती हैं।

भारतीय सम्मिलित पूँजी वाली बैंकों के दोष तथा कठिनाइयाँ—भारतवर्ष में संयुक्त पूँजी वाली बैंक पर्याप्त प्रगति नहीं कर पाई हैं। क्योंकि ये बैंक कुछ कठिनाइयाँ अनुभव करती हैं जो निम्नलिखित हैं—

(१) भारतीय पूँजी वाली बैंकों को अभी सरकार से प्रोत्साहन नहीं मिला है। नगरपालिकाओं, विश्वविद्यालयों, बन्दरगाह ट्रस्ट, कोर्ट आफ वार्ड्स इत्यादि ट्रस्टों का रुपया उनमें नहीं रखा जाता यद्यपि अब धीरे-धीरे स्थिति में परिवर्तन हो रहा है। १९३५ के पूर्व देश में कोई बैंक न होने के कारण उन्हें कठिनाई के समय ठीक नेतृत्व तथा सहायता नहीं मिलती थी और न उनसे पारस्परिक सहयोग ही स्थापित हो पाता था।

(२) विदेशी विनिमय बैंकों तथा स्टेट बैंक की प्रतिस्पर्धा तथा पारस्परिक सहयोग और सहानुभूति का अभाव भी उनकी उन्नति के मार्ग में एक रुकावट है। उनका यह भी विचार है कि भविष्य में सहकारी बैंक भी उनसे प्रतिस्पर्धा करेंगी। जहाँ तक इन बैंकों का ऐक्सचेंज बैंकों तथा स्टेट बैंक की प्रतिस्पर्धा का प्रश्न है यह बतलाया जा चुका है। जहाँ तक उनमें आपस में तथा मुद्रा बाजार के अन्य सदस्यों

में सहयोग तथा सद्भावना उत्पन्न करने का प्रश्न है उनके लिए अखिल भारतीय बैंकर्स संघ की स्थापना की आवश्यकता है।

(३) अभी तक बहुत से उद्योग-धन्धे तथा भारतीय व्यापार विदेशियों के हाथ में हैं और वे स्वभावतः अपने देश के बैंकों को प्रोत्साहन देते हैं। इस कारण भारतीय बैंकों की उन्नति तेजी से नहीं हुई। किन्तु अब भारत स्वतन्त्र हो गया है और अब यह कठिनाई क्रमशः दूर हो जायेगी।

(४) यही नहीं कि विदेशी व्यवसायी तथा विदेशी व्यापारिक फर्में अपने देश के बैंकों से अपना कारबार चलाती है वरन् जो भारतीय व्यापारी इनके एजेंट का कार्य करते हैं अथवा जिनका विदेशी बीमा कम्पनियों तथा विदेशी जहाज कम्पनियों से कारबार होता है उनको भी ये विदेशी फर्में और कम्पनियाँ विदेशी विनिमय बैंकों से कारबार करने पर विवश कर देती हैं।

(५) पिछले बैंक संकटों के कारण जो बैंक डूब गई उनसे बैंकों की स्थापना में कठिनाई होती थी। लोग बैंकों में रुपया जमा नहीं करते थे। किन्तु अब यह कठिनाई दूर हो गई है। पिछले वर्षों में बैंकों की संख्या तथा डिपाजिट में जैसी त्वरित वृद्धि हुई है उसे देखते हुए यह कहना पड़ेगा कि बैंकों के विरुद्ध अब विश्वास जाता रहा है।

(६) भारत की उन्नति न होने के कारण भारतीय बैंकों की उन्नति रुकी रही। अस्तु भारत की आर्थिक उन्नति के साथ-साथ भारत में बैंकिंग कारबार का विकास होना तथा जनता में बैंकिंग की आदत बढ़ाना अनिवार्य है जो अभी तक कम है।

(७) इसके अतिरिक्त बैङ्क को कुछ अन्य कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ता है। उदाहरण के लिए हिन्दू तथा मुसलमानों के पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी कानून ऐसे उलझे हुए हैं कि इस प्रकार की सम्पत्ति की जमानत पर बैंक ऋण देती है। थोड़े समय के लिये ऋण देने के लिये सबसे अच्छा ढंग यह है कि व्यापारी अपनी सम्पत्ति के प्रलेख (Documents) बैंक के पास बिना बन्धक पत्र (Mortgage Deeds) लिखे और उनका पंजीयन कराके रख दें और उन प्रलेखों का बैङ्क के पास जमा करा देना ही बन्धक मान लिया जाये। किन्तु भारत में यह सुविधा केवल बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास नगरों में ही दी गई है। अन्य स्थानों में यह सुविधा बैंकों को प्राप्त नहीं है।

(८) व्यापारिक बैंक इस आशा से सरकारी प्रतिभूतियों में अपना रुपया लगाती हैं कि संकट काल में सरकारी प्रतिभूतियाँ शीघ्र ही भुनायी जा सकती हैं। किन्तु कभी-कभी कठिनाई पड़ जाती है। ऐसा बहुत बार हुआ है कि बैङ्क स्टेट बैङ्क से सरकारी प्रतिभूतियों की जमानत पर ऋण प्राप्त न कर सके। अभी हाल में रिजर्व

बैङ्क ने भी इसी आशय की घोषणा की है कि यदि किसी बैङ्क की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है तो यह आवश्यक नहीं है कि सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर उसे ऋण दे दिया जायेगा।

(९) भारत में अधिक संख्या में बहुत सी ऐसी बैंक हैं जिनके पास अपनी निज की यथेष्ट पूँजी नहीं है। इस कारण उन्हें कठिनाई पड़ती है। वे जमा अधिक आकर्षित करने के लिये ब्याज अधिक देती हैं और इस कारण उन्हें अपना धन जोखिम के कारबार में लगाना पड़ता है। तभी वे अधिक ब्याज कमा सकती हैं। जमा आकर्षित करने के लिये ये छोटी बैंक दूर-दूर अन्य प्रांतों में शाखायें स्थापित करती हैं। इस कारण उनकी देखभाल और व्यवस्था ठीक प्रकार से नहीं हो पाती और उन्हें बड़ी बैंकों की प्रतिस्पर्धा को सहन करना पड़ता है। इस प्रकार की बैङ्क स्वभावतः निर्बल होती हैं और संकट के समय नहीं ठहर सकतीं।

(१०) इसके अतिरिक्त बहुत सी बैङ्कों के संचालक योग्य और अनुभवी नहीं हैं और योग्य कर्मचारियों की कमी है। यही नहीं, नवीन बैङ्कों को समाशोधन गृह का सदस्य बनने में बड़ी कठिनाई होती है। समाशोधन गृहों पर विदेशी बैङ्कों का बहुत प्रभाव है। और वे नवीन बैङ्कों को उसका सदस्य बनने देना नहीं चाहतीं। किन्तु अब यह कठिनाई क्रमशः दूर हो जायेगी।

(११) भारत की सभी बैङ्क अंग्रेजी में अपना कारबार करती हैं। उनके चेक, रसीदें तथा हिसाब सभी अंग्रेजी में होते हैं। केवल कुछ बैङ्क ही ऐसी हैं जो हिन्दी में लिखे गये चेकों को तथा हिन्दी में किये हस्ताक्षरों को स्वीकृत करती हैं। भारत में व्यापारियों तथा जनता का एक बहुत बड़ा भाग अंग्रेजी नहीं जानता। भारतवर्ष की स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत अंग्रेजी का महत्व अब घटता जा रहा है, अतएव अब बैङ्कों को अपना कारबार हिन्दी अथवा प्रान्तीय भाषा में करना चाहिये।

(१२) भारतीय बैङ्कों के सामने एक कठिनाई यह है कि यहाँ हुण्डियों तथा ऐसे पत्रों की बहुत कमी है जिन्हें बैङ्क स्वीकार कर सकें। इस कारण बैङ्कों को विवश होकर अपना अधिकांश कोष सरकारी प्रतिभूतियों में लगाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त भारत में बिना किसी सम्पत्ति की जमानत पर अथवा दूसरे हस्ताक्षर लिये हुए व्यक्तिगत साख पर ऋण देने की परिपाटी नहीं है जब कि अन्य देशों में यह बहुत प्रचलित है। और अधिकांश ऋण इसी प्रकार दिये जाते हैं। इसका एक कारण यह है कि पश्चिमी देशों में एक व्यक्ति एक बैङ्क का चलन है। अर्थात् एक व्यक्ति अपना सारा कारबार केवल एक बैङ्क से ही करता है। दूसरा कारण, प्रबन्ध अभिकर्ता हैं। बैङ्क जब किसी कंपनी को ऋण देते हैं तो वे जानते हैं कि कंपनी के वास्तविक कर्त्ता-धर्त्ता मैनेजिंग एजेंट ही हैं। एक तीसरा कारण यह भी है कि अभी तक

इस देश में ऐसी व्यापारिक एजेंसियाँ नहीं हैं जो व्यक्तियों की साख के संबंध में बैंकों को सारी जानकारी दे सकें।

(१३) भारतीय बैंकों ने अभी तक भारतवर्ष की परिस्थिति के अनुसार अपने संगठन को नहीं बनाया। वे एक्सचेंज बैंकों तथ स्टेट बैंक की नकल मात्र करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रबन्ध व्यय अधिक होता है, फिर भी उनके कर्मचारियों में न तो वह कुशलता है और न वह योग्यता। भारतीय बैंकों ने न तो विदेशी एजेंट बैंकों की कुशलता ही प्राप्त की है न देशी बैंकरों की सादगी और मितव्ययता ही वे अपना सके। आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय बैंक भारत के अनुकूल बैंकिंग सगठन की नवीन पद्धति निकालें जिसमें कम व्यय हो, क्योंकि भारत में ऐसे स्थान बहुत हैं जहाँ इतना कारबार आरंभ में तो नहीं मिल सकता कि एक आधुनिक शाखा का व्यय निकल सके। फिर भी वहाँ बैंकिंग की सुविधा की आवश्यकता है।

(१४) बहुधा भारतीय बैंकों पर दोष लगाया जाता है कि वे अपनी वास्तविक लाभ का बहुत बड़ा अंश अंशधारियों को इसलिये देती हैं कि जिनसे जनता में उनके प्रति विश्वास बना रहे, क्योंकि भारतीय जनता की यह धारणा है कि जो बैंक अधिक लाभ बाँटती है वह उतनी ही अच्छी हैं। जहाँ तक बड़ी और पुरानी बैंकों का सबंध है यह आरोप निराधार है किन्तु छोटी बैंकें यह करती हैं और इसका मुख्य कारण भारतीय जनता की उक्त भ्रमपूर्ण धारणा है।

व्यापारिक बैंकों में रिजर्व बैंक ने निम्नलिखित दोष अनुभव किये हैं—

(१) बैंकों के अधिकांश संचालक बैंक के व्यवसाय का पूर्ण ज्ञान नहीं रखते और न वे इतने अनुभवी होते हैं कि बैंक के अधिकारियों के कार्यों पर पूर्ण नियंत्रण रख सकें। फलस्वरूप ये अधिकारीगण ऋण प्रदान करने तथा बैंक का रुपया विनियोगित करने में मनमानी करते हैं। बहुत से बैंकों की आन्तरिक अंकेक्षण व्यवस्था एवं रोक-थाम भी दोषपूर्ण है। अतः बहुत सी बैंक डूबत ऋण, विनियोग की घटोतरी इत्यादि का प्रबंध किये बिना लाभांश घोषित कर देते हैं।

(२) **अविवेकपूर्ण विनियोग नीति**—अधिकांश बैंक उन कंपनियों के अंशों में रुपया विनियोगित करती हैं जिनमें संचालकों का हित है। ऐसे अंशों को शीघ्रतम नकदी में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। सरकारी प्रतिभूतियों में बहुत कम रुपया विनियोगित होता है।

(३) **ऋण देने की अनुचित नीति**—बहुत-सी बैंक अपने साधनों से भी अधिक ऋण प्रदान कर देती हैं। अधिकांश ऋण ऐसे होते हैं जिनके लिये कुछ

सुरक्षा नहीं ली जाती। ऋण लेने वाले व्यक्ति अथवा फर्म की आर्थिक स्थिति की पूर्ण जाँच किये बिना ही ऋण दे दिया जाता है।

(४) **शाखाओं पर पूर्ण नियंत्रण नहीं**—कुछ बैंक अविवेकपूर्ण शाखायें स्थापित कर देती हैं। इन शाखाओं पर प्रधान कार्यालय पूर्ण नियंत्रण नहीं कर पाता। इन शाखाओं से प्रधान कार्यालय में नियमानुसार सूचनायें एवं सूचियाँ प्राप्त नहीं होतीं और जो होती भी हैं तो उनकी गंभीरता से जाँच नहीं की जाती।

दोषों को दूर करने के सुझाव—भारतीय व्यापारिक बैंकों की कठिनाइयाँ तथा दोषों को दूर करने के लिये निम्नलिखित सुझाव दिये जाते हैं :—

(१) प्रत्येक विदेशी विनिमय का कार्यक्षेत्र निश्चित हो जाना चाहिये; जिससे वह अन्य बैंक से प्रतियोगिता न कर पाये और देश की बैंकिंग प्रणाली की उन्नति में बाधक न हो।

(२) सरकार को भी अपनी नीति में परिवर्तन करना आवश्यक है। उसे ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे बैंकों के प्रति जनता का विश्वास दृढ़ हो जाये। इस विश्वास को अटल बनाने के लिये कुछ बैंकों को नगरपालिका, पोर्टट्रस्ट, जिला बोर्ड, तथा शिक्षण आदि संस्थाओं के कोष जमा करने की आवश्यकता है।

(३) भारत सरकार को सहकारी बैंकों की भाँति उन व्यापारिक बैंकों को, जो ग्रामों में अर्थ व्यवस्था का प्रबंध करती हैं, करों में सुविधा देकर इनके लेन-देन का संबंध स्थापित करके तथा अन्य सुविधायें देकर प्रोत्साहन देना चाहिये।

(४) रिजर्व बैङ्क का भी भारी उत्तरदायित्व है। उसको भी अपनी नीति में परिवर्तन करना चाहिये। सर्व प्रथम उसको ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि देशी बैङ्क स्थानीय बैङ्कों में परिवर्तित कर दिये जाँय जिससे उनकी प्रतियोगिता से व्यापारिक बैंकों को आघात न पहुँचे। इतना ही नहीं, किन्तु उसको देश की छोटी-छोटी व्यापारिक बैंकों का एकीकरण कर देना चाहिये जिससे उनकी पारस्परिक प्रतियोगिता समाप्त हो जाये। इसके अतिरिक्त देश में समाशोधन गृहों के बढ़ाने का भी प्रयत्न करना चाहिये।

(५) ग्रामीणों की ऋण संबंधी आवश्यकतायें आज भी महाजनों द्वारा पूरी होती हैं। उनकी बचत का भी सदुपयोग नहीं हो पाता, क्योंकि ग्रामों में बैंकिंग सुविधायें प्राप्त नहीं हैं। रिजर्व बैंक की संरक्षकता में इन बैंकों को बड़ी-बड़ी व्यापारिक बैंकों के अतिरिक्त उन ग्रामों में जहाँ कच्चा माल एकत्रित होता है अपनी शाखायें खोलनी चाहिये। इस संबंध में रिजर्व बैंङ्क को रुपया भेजने और मँगाने तथा कृषि हुण्डियों की पुनर्कटौती करने की सुविधायें प्रदान करनी चाहिये।

(६) भारतवर्ष में आँकड़ों का बहुत अभाव है, जिसके कारण आर्थिक और

बैंकिंग स्थिति का पूर्ण ज्ञान नहीं मिलता और बैंकों को भी नवीन शाखायें खोलने में और अपनी साख नीति निर्धारित करने में बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं। इन कठिनाइयों को दूर करने और बैंकिंग विकास को पर्याप्त सहायता देने के लिये विश्वसनीय आँकड़ों का मिलना परमावश्यक है। यह केवल उसी समय संभव हो सकता है जब कि कुछ बैंक आपस में मिलकर अथवा अखिल भारतीय बैंक संघ की ओर एक आँकड़ा विभाग, समाचार विभाग, अनुशीलन विभाग (Research Department) और एक प्रचार विभाग स्थापित कर दें।

(७) बैंकों को अपनी कार्यविधि में आवश्यक परिवर्तन करने चाहिये; जिससे अशिक्षित व्यक्तियों को भी बैंकों का प्रयोग करने में कठिनाई न हो। भारतीय बैंकों को जनता की सुविधा का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये। बैंक का कार्य काल ऐसा होना चाहिये जो व्यापारियों, उद्योगपतियों तथा अन्य साधारण ग्राहकों के लिये सुविधा-जनक हो। बैंकों की ग्रामशाखाओं का कार्य-समय कृषकों की सुविधाओं को ध्यान में रख कर निश्चित करना चाहिये। भारतीय बैंकों के कृषि, व्यापार तथा अर्थ हुन्डियों के प्रयोग में अधिकाधिक सहायता देनी चाहिये। इन्हें व्यक्तिगत साख पर उधार देने की नीति को जहाँ तक हो सके प्रोत्साहित करना चाहिये। इनको जनता में चेक द्वारा ही अपने लेन-देन को करने की भावना भरना चाहिये। इन्हें अपनी ब्याज दरें भी अपने प्रतिद्वन्दियों को कुचलने की इच्छा से चाहे जब घटाना-बढ़ाना नहीं चाहिये।

(८) भारतीय बैंकों को नवीन, योग्य, अनुभवी, कार्यकुशल तथा विश्वस्त कर्मचारी नियुक्त करना चाहिये। जहाँ तक हो सके ऐसे व्यक्तियों को रखा जाना चाहिये जो भारतीय बैंकिंग प्रणाली के अभावों तथा विशेषताओं से पूर्ण रूप से परिचित हों। पुराने योग्य तथा अनुभवी कर्मचारियों को भी भारी प्रोत्साहन देना चाहिये। इस संबंध में स्वदेशी बैंकरों से अधिक सहायता मिल सकती है। क्योंकि वे भारत की प्राचीन बैंकिंग पद्धति से पूर्णतया परिचित हैं। भारत में अभी तक आधुनिक बैंकिंग की उच्च शिक्षा का भी उचित प्रबंध नहीं है। इस संबंध में उन्हें पूरा ध्यान देना चाहिये।

(९) अधिकांश भारतीय व्यापारिक बैंक विदेशी बैंकों की नकल करती हैं जिससे उनका व्यय बढ़ जाता है। अतः बैंकों को अपने कार्य में बहुत मितव्ययता से काम लेना चाहिये। इन्हें अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में कार्य करना चाहिये। आधुनिक यंत्रों द्वारा हिसाब, जोड़, बाकी इत्यादि को और भी अधिक सरल बनाना चाहिये। इन्हें स्वदेशी बैंकरों तथा विदेशी बैंकों से अपना संपर्क बढ़ाकर और उनसे सहयोग करके मितव्ययता और कार्यकुशलता सीखनी चाहिये।

(१०) भारत में इंगलैंड की सियेड्स (Syeds) तथा अमेरिका की ब्रेड स्ट्रीट (Brad street) तथा डून (Dun's) जैसी संस्थायें स्थापित की जानी चाहिये। ये संस्थायें संभात्री ग्राहक के चरित्र, आर्थिक स्थिति, व्यापक लेन-देन आदि के संबंध में बैंक को ठीक-ठीक सूचना देकर उन दोनों का संबंध स्थापित करने में समर्थ होती हैं। भारत में जहाँ तक संभव हो सके "एक व्यक्ति एक बैंक" के सिद्धान्त का पालन होना चाहिये।

(११) बैंकों की अपनी प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिये एक अखिल भारतीय बैंकिंग संघ की स्थापना होनी चाहिये और इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि वह देश के भिन्न-भिन्न भागों में ऋण लेने वालों की साख के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करें। प्रत्येक बैङ्क को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि उनमें पारस्परिक सहयोग रहे और यह कार्य संघ द्वारा ही किया जा सकता है। यदि संघ को इस बात का अनुभव हो कि एक बैङ्क गलत अफवाहें उड़ाती है तो वह उस बैङ्क के विरुद्ध कार्यवाही करे और उसे उपयुक्त दंड दे। यही नहीं, किन्तु संघ के अनुरोध पर रिजर्व बैंक को चाहिये कि बेंक और जनता दोनों ही के हित में कुछ विशेष उपयोगी कार्य करने के लिये प्रोत्साहन दे। आपसी प्रतियोगिता को समाप्त कर के छोटी-छोटी बैंकों का एकीकरण आवश्यक है। अत: रिजर्व बैंक को चाहिये कि बैंकों के एकीकरण के लिये आवश्यक कार्यवाही करे।

बैंकों का एकीकरण— जब दो अथवा दो से अधिक बैङ्क आपस में प्रतिस्पर्द्धा करती हैं तो इनका निजी अस्तित्व समाप्त करके सामूहिक रूप में एक स्वतंत्र बैङ्क स्थापित करना अथवा छोटी बैङ्क का बड़ी बैङ्क में विलयन करना एकीकरण कहलाता है। आजकल अनेकों व्यापारिक एवं औद्योगिक संस्थाओं का एकीकरण किया जा रहा है जिससे वृहत् उद्योग के संगठन के लाभ प्राप्त किये जा सकें। यदि छोटी-छोटी बैङ्क भी अपना एकीकरण करके एक वृहत् बैङ्क स्थापित कर लें तो इससे न केवल बैकों में वरन् जन साधारण की भी भलाई होगी।

एकीकरण के लाभ—विलीनीकरण से पारस्परिक हानिकारक प्रतियोगिता का अन्त हो जाता है। प्रबन्ध की कार्यक्षमता बढ़ जाती है। सुयोग्य तथा अनुभवी कर्मचारियों की सेवायें प्राप्त हो जाती हैं। वृहत् उद्योगों के सभी लाभ प्राप्त करने में भी यह क्रिया सहायक होती है तथा इस क्रिया से केन्द्रीय बैङ्क की निरीक्षण तथा नियंत्रण क्षमता बढ़ जाती है जिससे मुद्रा बाजार में समानता और स्थिरता आ जाती है और बैंकिंग व्यवसाय की क्षमता बढ़ती है।

हानियाँ—विलीनीकरण से एकाधिकार के सभी दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इससे अधिक शक्ति थोड़े से व्यक्तियों के पास केन्द्रित हो जाती है जिससे वे दुरुपगयो

करके जनता का शोषण कर सकते हैं। इससे व्यवसाय का क्षेत्र बहुत छोटा हो जाता है और कर्मचारियों की छँटनी होती है जिससे बेकारी की समस्या उत्पन्न हो जाती है। अधिक शक्ति के केन्द्रित हो जाने से बहुधा बैंक सट्टे का व्यापार आरम्भ कर देती है जिससे भ्रष्टाचार बढ़ता है।

भारत में बैंकों का एकीकरण—द्वितीय महायुद्ध काल में उद्योग तथा व्यापार में वृद्धि हो जाने से अनेकों नवीन बैंक स्थापित हुई और उनकी शाखायें बड़ी संख्या में खुल गईं; प्रतिस्पर्द्धा के उद्देश्य से बहुत सी बैंकों ने ऐसे स्थान पर भी शाखाएँ खोलीं जहाँ पर विशेष आवश्यकता न थी। नवीन बैंकों ने अधिक वेतन का प्रलोभन देकर पुरानी बैंकों के कर्मचारियों को अपने यहाँ नियुक्त किया जिससे पुरानी बैंकों की कार्यक्षमता कम हो गई और नवीन बैंकों का व्यय बढ़ गया। इतना होने पर भी बैंकों ने युद्ध काल में भारी लाभ प्राप्त किया। किन्तु युद्ध समाप्त हो जाने पर व्यवसाय तथा व्यापार में कमी आई। नवीन बैंकों को अपना व्यय पूरा करना कठिन हो गया तथा उन्हें घाटा रहने लगा जिससे बहुत सी शाखाएँ बन्द करनी पड़ीं, कुछ बैंकों का दूसरी बैंकों से एकीकरण हुआ। इससे पारस्परिक प्रतियोगिता समाप्त हो गई और कार्यक्षमता में वृद्धि हुई। अतः बैंकिंग कम्पनी अधिनियम में विधान द्वारा एकीकरण को प्रोत्साहन दिया गया। तीन बैंकों का एकीकरण करके यूनाइटेड बैंक आफ इंडिया की स्थापना की गई। १९५१ में डालमिया के भारत बैंक का पंजाब नेशनल बैंक से एकीकरण हुआ। इससे दोनों बैंकों की प्रतिस्पर्द्धा समाप्त हो गई और पंजाब नेशनल बैंक में भारत बैंक के कर्मचारियों की पुनर्नियुक्ति से बैंक की कार्यक्षमता में वृद्धि हुई। भूतपूर्व देशी रियासतों में जो रियासती बैंक थीं जैसे जयपुर बैंक, बीकानेर बैंक इत्यादि उनका स्टेट बैंक आफ इंडिया से एकीकरण की योजना बनाई गई है और यह आशा है कि यह योजना शीघ्र ही कार्यान्वित की जायगी।

भारत की ५ बड़ी व्यापारिक बैंक—यों तो भारतवर्ष में अनुसूचित बैंकों के अतिरिक्त ६० अनुसूचित बैंक हैं, किन्तु इनमें से इलाहाबाद बैंक लिमिटेड, बैंक आफ इंडिया लिमिटेड, बैंक आफ बड़ौदा लिमिटेड, सेन्ट्रल बैंक आफ इंडिया लिमिटेड तथा पंजाब नेशनल बैंक लिमिटेड ही सबसे शक्तिशाली बैंक हैं और इसीलिये ये "पाँच बड़ों" के नाम से पुकारे जाते हैं। अतः इन बैंकों का कुछ-कुछ विवरण देना वांछनीय है :—

(१) इलाहाबाद बैंक लिमिटेड—यह भारत की सबसे प्राचीन व्यापारिक बैंक है। इसकी स्थापना १८६५ में १,६०,००० रुपये की पूँजी से इलाहाबाद में हुई। सन् १९०० में इसकी पूँजी १० लाख तथा जमा राशि २ करोड़ हो गई। इस बैंक ने अपना विकास बड़ी सावधानी से किया। १९३८ में इस बैंक की ५६ शाखाएँ थीं

जो अधिकतर उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में ही स्थित थीं। १९२२ में यह बैंक पी० एण्ड ओ० बैङ्किङ्ग कार्पोरेशन से संलग्न हुई और १९२७ में चार्टर्ड बैंक आफ आस्ट्रेलिया ऐण्ड चाइना ने इलाहाबाद बैंक को अपने अधीन कर लिया, क्योंकि चार्टर्ड बैंक आफ इंडिया, ऐण्ड चाइना बैङ्किङ्ग कार्पोरेशन की सबसे बड़ी अंशधारी थी। इस प्रकार इलाहाबाद बैंक लिमिटेड पर योरोप वालों का ही पूर्ण आधिपत्य है। कुछ अर्थशास्त्री तो इसी कारण इलाहाबाद बैंक को विदेशी बैंक कहते हैं।

(२) **बैंक आफ इण्डिया लिमिटेड**—बैंक आफ इण्डिया की स्थापना ५० लाख रुपये की पूँजी से १९०६ में बम्बई में स्वदेशी आंदोलन के समय में हुई। प्रारम्भ से ही इस बैंक को भारत के बैंकिंग क्षेत्र में सबसे अधिक ख्याति प्राप्त करने का सौभाग्य रहा है। इस बैंक ने इंगलिश बैंकिंग नीति को अपनाया और सदैव ही अनुदार एवं सावधानीपूर्ण नीति का अनुसरण किया। यद्यपि इसकी पूँजी, कोष एवं जमाराशि ५ करोड़ से ऊपर हो गई थी फिर भी १९३७ तक इस बैंक ने कोई शाखा नहीं खोली। १९३८ में भी इसकी कुल १६ शाखाएँ थीं। द्वितीय महायुद्ध काल में इस बैंक ने बड़ी प्रगति की और इसकी जमाराशि ७० करोड़ हो गई। भारतीय विदेशी व्यापार को आर्थिक सहायता प्रदान करने के हेतु सबसे पहली यही भारतीय बैंक थी जिसने लन्दन में अपनी शाखा स्थापित की। इस प्रकार बैंक अपनी अनुदार नीति त्याग कर अपने व्यवसाय का विकास करने लगी। प्रारम्भ में यह बैंक अचल सम्पत्ति एवं कम्पनी के अंशपत्रों की जमानत पर कोई ऋण नहीं देती थी। किन्तु १९११ में इसने इस नीति का त्याग किया और अब तो ये अंश पत्रों पर ऋण प्रदान करने लगी है। इस बैंक की ३ विशेषताएँ हैं: (१) कम शाखाएँ, (२) औद्योगिक केन्द्रों में ही व्यवसाय करना तथा (३) अधिक नकद कोष रखना। इसी कारण अन्य बैंकों की अपेक्षा बैंक आफ इंडिया का व्यय अनुपात बहुत कम है।

(३) **सेंट्रल बैंक आफ इंडिया लिमिटेड**—सर सोराब जी पोचखान वाला के प्रयत्नों से १९११ में इस बैंक की स्थापना हुई। यह बैंक भारत की सबसे बड़ी एवं शक्तिशाली बैंक है। सर सोराब जी की देख-रेख में इस बैंक ने बड़े-बड़े संकटों का सामना किया। १९२३ में टाटा इन्डस्ट्रिल बैंक का इस बैंक से एकीकरण हुआ। फलस्वरूप इसकी पूँजी एवं कोष एकदम ८० लाख से बढ़कर २ करोड़ ६८ लाख तथा जमाराशि १४ करोड़ से १८ करोड़ हो गई। इस बैंक ने अपने व्यवसाय का खूब विकास किया और आज इसकी शाखाएँ भारत के भिन्न भिन्न स्थानों में ३०० से अधिक हैं। इस बैंक की लन्दन में भी एक शाखा थी जो १९३४ में समाप्त हो गई। इस बैंक का सम्पूर्ण प्रबन्ध सुयोग्य पारसियों के हाथों में है और यह बैंक व्यापारियों की बड़ी सेवा कर रही है।

(४) बैंक आफ बड़ौदा लिमिटेड—यह बैंक बड़ौदा महाराज की संरक्षकता में १६०६ में स्थापित हुई। प्रथम महायुद्ध में इसकी जमाराशि १ करोड़ थी। सन् १६२० में यह ५ करोड़ से भी अधिक हो गई। इस बैंक की ३५ शाखाएँ हैं जो अधिकतर गुजरात तथा कठियावाड़ में स्थित है। भूतकाल में इस बैंक ने अपनी विकास नीति बहुत धीमी रक्खी। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरांत इसने अपनी शाखाओं की संख्या में वृद्धि की और अब इसकी गिनती पाँच बड़ों में होने लगी है।

(५) पंजाब नेशनल बैंक लिमिटेड—सन् १८६६ में ४१,००० रुपये की पूँजी से यह बैंक पंजाब में स्थापित हुई। १६२० में स्वदेशी आन्दोलन के बल पकड़ जाने पर इसकी पूँजी १५ लाख तथा जमाराशि १ करोड़ से अधिक हो गई। १६१४ में इसकी जमाराशि १ करोड़ ४७ लाख से घटकर ७७ लाख रह गई किन्तु बैंक ने योग्यता के साथ इस संकट को पार किया और १६१६ में इसकी जमाराशि फिर १ करोड़ हो गई। १६४० में पंजाब नेशनल बैंक ने भगवानदास बैंक लिमिटेड को अपने में मिला लिया। भारत विभाजन का जितना बुरा प्रभाव पंजाब नेशनल बैंक पर पड़ा उतना किसी अन्य बैंक पर नहीं। इसके व्यापार का बहुत बड़ा भाग पाकिस्तान में था जो इसे बन्द करना पड़ा। पाकिस्तान से आये शरणार्थियों की जमाराशि का भुगतान इसने भारत में किया किन्तु लाला योधराज भल्ला जो भारत के सर्वोत्तम एवं अनुभवी बैंक व्यवस्थापक हैं उनकी देख-रेख में पंजाब नेशनल बैंक इस संकट को पार कर गई और कुछ दिन पश्चात् ही डालमिया की भारत बैंक लिमिटेड का पंजाब नेशनल बैंक से एकीकरण हुआ। भारत बैंक की समस्त देनदारियाँ पंजाब नेशनल बैंक ने अपने ऊपर लीं और भारत बैंक के कर्मचारियों को अपने यहाँ नियुक्त किया। भारत बैंक के एकीकरण से पंजाब नेशनल बैंक की संचालन समिति में डालमिया के प्रतिनिधियों का प्रभुत्व हो गया। आज पंजाब नेशनल बैंक भारतवर्ष के सभी प्रदेशों में बैंकिंग व्यवसाय कर रही है। अनेक सङ्कटों का सामना करने पर भी आज इसकी स्थिति सुदृढ़ है।

प्रश्न

1. Mention the different kinds of banking service which Indian banks are able to offer their clients. Explain briefly how the service is helpful to the trader.

भारतीय बैंक अपने ग्राहकों की जिन विभिन्न प्रकारों से बैंकिंग सेवाएँ करती हैं उनका वर्णन कीजिये। यह सेवायें व्यापारियों के लिये कहाँ तक लाभदायक हैं?

2. What are the usual functions of a bank? Explain the same as fully as you can.

बैंकों के साधारण कार्यों की पूर्णतया विवेचना कीजिये।

3. What are the difficulties and defects of Indian Joint Stock Banks ? Give suggestions for their improvement.

भारतीय सम्मिलित पूँजी वाली बैंकों की कमियाँ तथा कठिनाइयाँ क्या हैं ? इनके सुधार के सुझाव दीजिये।

4. Discuss the work done by the Indian joint stock banks. Discuss their defects and suggest remedies to remove them.

भारतीय सम्मिलित पूँजी वाली बैंकों ने क्या कार्य किया है ? उनके दोष बतलाइये तथा उन्हें दूर करने के उपाय बतलाइये।

5. What are the causes of slow growth of joint stock banks in India ? Explain clearly.

भारतीय बैंकों की धीमी प्रगति के क्या कारण हैं ? पूर्णतया विवेचना कीजिये।

6. Discuss the principal defects of Banking in India. Point out the effect of the lack of discounting facilities on Indian money market.

भारतीय बैंकिंग के मुख्य दोषों का वर्णन कीजिये।

7, Carefully examine the causes that have retarded the development of the banking habit in this country. Suggest measures to improve the present position.

भारतवर्ष में किन कारणों ने लोगों में बैंकिंग की आदत पड़ने में बाधा डाली ? वर्तमान स्थिति में सुधार के सुझाव दीजिये।

8. Examine carefully the progress made in the field of Banking in India. What steps do you consider necessary to improve the position in this respect ?

भारतीय बैंकिंग की प्रगति की विवेचना कीजिये। इस स्थिति में सुधार के लिये आप क्या आवश्यक कार्यवाही करेंगे ?

अध्याय ७

औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था

(Financing of Industries in India)

उत्पादन में वृद्धि करने के लिये हमको भवन, मशीनें, औजार तथा कच्चा माल, संचय, मजदूरी, ईंधन, शक्ति तथा अन्य सहायक शक्तियाँ, जिनसे उद्योग को स्थापित किया जा सके तथा सेवायें जिनसे उद्योग में गति लाई जा सके, आदि की अत्यधिक आवश्यकता पड़ती है और उनकी अर्थ-व्यवस्था करना ही औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था कहलाती है। साधारणतया किसी भी उद्योग में निम्न प्रकार की पूँजी की आवश्यकता होती है :—

(१) स्थिर पूँजी (Fixed Capital)—जो पूँजी स्थायी सम्पत्ति पर विनियोग करने के लिये ली जाती है उसे स्थिर पूँजी कहते हैं। इस प्रकार इस पूँजी का प्रयोग प्रायः उस सम्पत्ति के लिये किया जाता है जिससे उत्पादन में सहायता मिलती है। इसका अनुमान लगाने के लिये यह ध्यान में रखना चाहिये कि जिस सम्पत्ति में इसका व्यय किया जाता है वह यद्यपि बहुत बड़े समय तक व्यापार में रहती है, किन्तु उसका स्थान स्थायित्व भी परिवर्तनीय रहता है और उसमें समय के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है। औद्योगिक विकास तथा नवीन आविष्कारों के साथ-साथ स्थायी सम्पत्ति में परिवर्तन करना आवश्यक होता है। किन्तु प्रत्येक अवस्था में इसकी अवधि विशेष ही मानी जाती है। इस प्रकार की पूँजी के लिये दीर्घकालीन व्यवस्था की जानी चाहिये और उसमें उद्योग के स्थायित्व के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। यदि वह एकाकी अथवा साझेदारी हो तो पूँजी प्रायः व्यापारियों की निजी पूँजी होती है अथवा उसको साहूकारों से प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु सार्वजनिक कम्पनियों में यह पूँजी अंशधारियों से प्राप्त की जा सकती है। कभी-कभी बैंकिंग संस्थाएँ भी इस प्रकार की पूँजी में सहायता देती हैं।

(२) सक्रिय पूँजी (Working Capital)—यह पूँजी उद्योग के साधारण कार्यों में लगाई जाती है। उद्योग में कार्यकर्त्ताओं का वेतन, मजदूरी, विज्ञापन, याता-यात व्यय, चल सम्पत्ति के क्रय, उत्पादन व्यय, तथा अन्य सामान्य खर्चों में लगाई जाती है, उस समय जब कि उत्पादित वस्तु के विक्रय में देर हो जाती है और विशेष

पूँजी उसमें लगी होती है, उसके लिये भी अतिरिक्त कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है। इसलिये यह पूँजी मोटे रूप में समान व्यय अथवा आकस्मिक व्ययों के काम में लाई जाती है। कभी-कभी सक्रिय-पूँजी को "यथार्थ सक्रिय-पूँजी" कहते हैं। अर्थात् जो सम्पत्ति कम्पनी के उद्योग के दायित्वों से अधिक होती है उसको स्थिर पूँजी कहा जाता है। दूसरे शब्दों में दायित्वों के भुगतान के पश्चात् जो पूँजी शेष रह जाती है उसको वास्तविक अथवा यथार्थ सक्रिय पूँजी कहते हैं। यह पूँजी उद्योग के आकार पर ही निर्भर करती है, उसका प्रबन्ध निजी अथवा उधार ली गई पूँजी के द्वारा किया जाता हैं, क्योंकि इस पूँजी को सरलता से शीघ्र ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः जिन व्यक्तियों से यह पूँजी ऋण के रूप में ली जाय उनका समय पर भुगतान किया जा सकता है, किन्तु यह विचार सदैव लाभदायक ही सिद्ध होता है कि व्यापार की सक्रिय पूँजी भी प्रायः स्थाई पूँजी के समान ही आवश्यक होती है। अतः उसके लिये भी दूसरों पर आश्रित नहीं रहा जा सकता। उस अवस्था में, जब कि पूँजी केवल आकस्मिक अथवा सामयिक कार्यों के लिये ली जाये, किसी सीमा तक ऋणों पर आश्रित रहा जा सकता है। सक्रिय पूँजी की योजना बनाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि सक्रिय पूँजी की किस प्रकार की आवश्यकता है।

भारतवर्ष में उद्योग-धन्धे अपनी पूँजी को निम्न प्रकार से प्राप्त करते हैं :—

(१) **अंश निर्गमित करके**—प्रत्येक कम्पनी को एक स्वीकृत रकम तक अंश बेचने का अधिकार होता है। ये अंश कई प्रकार के होते हैं : साधारण अंश तथा पूर्व अधिकार वाले अंश। पूर्व अधिकार वाले अंश भी कई प्रकार के होते हैं। यदि कम्पनी को किसी वर्ष में लाभ होता है तो एक निश्चित दर से सबसे पहले पर्व अधिकार वाले अंशों पर ही लाभ दिया जाता है चाहे स्थगित तथा साधारण अंशों के लिये कुछ भी शेष न रहे। पूर्वाधिकार वाले अंशों को कभी-कभी अतिरिक्त लाभ में से भी कुछ अंश मिल जाता है। बहुत सी कम्पनियों में पूर्व अधिकार वाले अंशों को संचालक चुनने के लिये मताधिकार प्राप्त नहीं होता। जिस कम्पनी में स्थगित अंश नहीं होते तो एक निश्चित दर से पूर्व अधिकार वाले अंशों पर लाभांश देने के पश्चात् जितना भी लाभ का शेषांश बच जाता है वह साधारण अंशों में ही विभाजित कर दिया जाता है। किन्तु जिस कम्पनी में स्थगित अंश भी होते हैं वहाँ अंशों पर भी एक निश्चित दर से ही लाभांश मिलता है और शेषांश स्थगित अंशों में विभाजित कर दिया जाता है। भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्य भिन्न प्रकार के अंशों को पसंद करते हैं। अतः उद्योगपति अधिक पूँजी प्राप्ति के लिये उनकी इच्छानुसार उनको अंश बेचते हैं। अंश विक्रय करके जो रुपया प्राप्त होता है वह प्रायः मशीन क्रय करने के लिये भवन इत्यादि बनाने के काम में लिया जाता है।

ऋण-पत्र बेच कर—प्रत्येक कम्पनी को ऋण प्राप्त करने का वैधानिक अधिकार है। जब ऋण किसी विशेष व्यक्ति से न लेकर जनता से प्राप्त किया जाता है तो उसके लिये ऋण-पत्र अंशों की भाँति ही निर्गमित किये जाते हैं। इन ऋण-पत्रों पर एक निश्चित दर से ब्याज दी जाती है। ऋण-पत्र और पूर्व निर्गमित अधिकार वाले अंशों में यह अन्तर है कि ऋण-पत्रधारी तो कम्पनी के ऋणदाता हैं परन्तु पूर्व अधिकार वाले अंशधारी कम्पनी के स्वामी हैं। इनसे निश्चित दर से लाभांश तभी मिलेगा जब कि ऋण-पत्र धारियों को निश्चित दर से ब्याज का कम्पनी को लाभ हो अथवा न हो, देनी ही पड़ेगी। ऋण-पत्र भी दो प्रकार के होते हैं जैसे सुरक्षित और असुरक्षित। सुरक्षित ऋण-पत्र के बदले कम्पनी अपनी कुछ सम्पत्ति गिरवी रख देती है परन्तु असुरक्षित ऋण-पत्रों में ऐसी कोई सम्पत्ति गिरवी नहीं रखी जाती। प्रत्येक प्रकार के ऋण-पत्र धारियों को कम्पनी की चल सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं से ऋण प्राप्त करके—भारतीय उद्योग-धन्धों की उन्नति करने के लिए यहाँ पर एक नवीन पद्धति का जन्म हुआ जो अपने ढङ्ग की एक विचित्र प्रणाली है। यह पद्धति पाश्चात्य देशों में बहुत कम प्रचलित है, परन्तु भारत की आर्थिक तथा औद्योगिक स्थितियों के अनुकूल होने के कारण इस प्रणाली का भारत के उद्योग-धन्धों को आधुनिक ढङ्ग से संस्थापित करने, उनका प्रबन्ध करने तथा उनको प्रत्येक प्रकार की सहायता देने में पूरा-पूरा हाथ रहता है। प्रबन्ध अभि-कर्त्ता ही साधारणतया नवीन औद्योगिक संस्थाओं के मूल संस्थापक होते हैं। वे ही उन्हें संस्थापित करने की जोखिम और उन्हें सुचारु रूप से चलाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं। वे ही इन कम्पनियों की अधिकांश स्थिर तथा सक्रिय पूँजी को प्रदान करते हैं। बम्बई तथा अहमदाबाद की बड़ी-बड़ी कपड़े के मिलें उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप ही स्थापित हो सकी हैं। इन्होंने ही प्रयोगात्मक कठिनाइयों तथा प्रारम्भिक असफलताओं का सामना करके अनेक सफल उद्योगों की नींव डाली है। वे लोग कम्पनी के अंश स्वयं क्रय करके उसे आवश्यकतानुसार तथा संकट काल में ऋण देकर उसके ऋण-पत्रों को स्वयं अथवा अपने मित्रों को क्रय करवाकर तथा बैंकों एवं अन्य व्यक्तियों के लिये ऋण की जमानत करके कम्पनी को बहुत बड़ी आर्थिक सहायता पहुँ-चाते हैं। वे ही अपनी प्रतिष्ठा तथा विश्वसनीयता के कारण जनता से अधिकाधिक मात्रा में सार्वजनिक जमाएँ प्राप्त करने में सफल होते हैं। वर्तमान काल में वे अपनी कम्पनियों के अंशों तथा ऋण-पत्रों के अभिगोपन का कार्य भी करने लगे हैं। इनके लम्बे व्यावहारिक जीवन और व्यापार-संसार में नाम तथा प्रसिद्धि के सहारे जनता को नवीन कम्पनियों से संबन्ध स्थापित करने में सुविधा रहती है। नई-नई कम्पनियाँ भी इनके अनुभव तथा कुशलता को प्राप्त कर लेती हैं।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता द्वारा आर्थिक सहायता के दोष—प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था में पर्याप्त हाथ बटाया है। किन्तु यह सब अपरिचित सेवाएँ उन्होंने स्वार्थ त्याग तथा सेवा भावना से नहीं की परन्तु इसमें उनका निजी स्वार्थ रहा है और अपनी साख तथा ख्याति बनाये रखने के लिये ही उन्होंने यह सब कार्य किये हैं और करते रहते हैं। प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की आर्थिक सहायता के अनेक दोष भी हैं जिनमें से मुख्य ये हैं :—

भारतीय बैंक प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की साख पर कम्पनी को ऋण देती हैं न कि कम्पनी की स्वयं की साख पर, अतः यदि किसी कारणवश प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की आर्थिक स्थिति दुर्बल हो जाये तो बैंक अपने ऋण को वापस ले लेती हैं। प्रमंडल आर्थिक सुविधाओं के लिये बहुत कुछ सीमा तक अपने प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं पर निर्भर रहती हैं। परिणाम स्वरूप उद्योग औद्योगिक कारणों से प्रभावित न होकर आर्थिक कारणों के प्रभुत्व में आ जाते हैं तथा अर्थ उद्योग का सेवक न होकर उसका स्वामी बन बैठता है जिसका भारी भयावह प्रभाव उस उद्योग पर पड़ता है। प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं पर निर्भर रहने के कारण प्रमंडल अपनी स्वतंत्र आर्थिक सहायता पद्धति विकसित नहीं कर पाती, प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं द्वारा होने वाली आर्थिक पूर्ति बहुत मँहगी तथा हानिकर होती है, क्योंकि वह अपने ऋणों पर बहुत अधिक ब्याज लेती है और अपने प्रभाव के कारण अरक्षित ऋणों को रक्षित ऋणों में परिवर्तित कर लेती हैं जिससे प्रमंडल उनके हाथ का खिलौना बन जाता है। प्रमंडल पर अपना आर्थिक प्रभुत्व बनाये रखने के लिये वे अपने व्यवस्थापित प्रमंडलों को समय-समय पर आर्थिक सहायता देते रहते हैं जिससे वे उनके ऋण भार से सदैव दबे रहकर उनके चंगुल में फँसे रहते हैं।

सार्वजनिक जमायें—भारतवर्ष में बैंकिंग सुविधाओं की कमी होने के कारण सर्वसाधारण जनता बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों के स्वामियों तथा प्रबन्धकर्त्ताओं के पास, जिनमें उनका पूरा-पूरा विश्वास है, अपनी बचत जमा करती रही है। प्रबन्धकर्त्ताओं के द्वारा ये जमाएँ स्थायी जमा के रूप में काम में लाई जाती हैं। ये जमायें स्थायी जमा के रूप में होती हैं और इनकी अवधि ६ मास से लेकर १ वर्ष तक, परन्तु अहमदाबाद में ७ वर्ष तक होती हैं। ये जमाएँ बिना किसी प्रकार की प्रतिभूति दिये ही प्राप्त की जाती हैं और इन पर ब्याज २ प्रतिशत से ७ प्रतिशत तक दी जाती है। यह पद्धति औद्योगिक कार्यों के लिये सुविधापूर्वक कम व्यय पर प्रचुर मात्रा में पूँजी प्राप्त करने की एक अच्छी तथा सरल प्रणाली है।

बैंक ऋण—भारतीय बैंक उद्योगों की स्थिर तथा सक्रिय पूँजी की पूर्ति के लिये बहुत कम सहायता देती हैं। चालू पूँजी की पूर्ति में स्टेट बैंक संयुक्त स्कंध बैंकों का अवश्य कुछ हाथ है किन्तु इतना अधिक नहीं। व्यापारिक बैंक केवल उद्योग-धन्धों की

आर्थिक सहायता, हुन्डियों की कटौती करके अल्पकालीन सुरक्षित ऋण देकर, नकद साख खाता खोलकर अधिविकर्ष की सुविधाएँ देकर तथा व्यक्तिगत साख पर उधार देकर कर सकती हैं। ऋण बहुधा कच्चे माल, तैयार माल तथा अन्य प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों की जमानत पर तथा दो अच्छे हस्ताक्षरों वाले प्रतिज्ञापत्रों के आधार पर दिये जाते हैं। ऋण एक वर्ष से अधिक अवधि के लिये नहीं दिये जाते हैं। स्टेट बैंक तो केवल ६ मास की अवधि के लिये ही ऋण देती है। ४ से ६ प्रतिशत तक ब्याज देती है। यदि ऋण माल के आधार पर लिया जाता है तो ३० अथवा २५ प्रतिशत का अंतर बैंक अपने पक्ष में रखती हैं। भारतीय बैंक व्यक्तिगत साख पर तो बहुत ही कम ऋण लेती हैं। इस प्रकार भारत में औद्योगिक कम्पनियों को प्रचुर मात्रा में बैंकिंग सुविधायें प्राप्त नहीं होती हैं।

बैंकों की आर्थिक सहायता में दोष—बैंकों के ऋण प्रदान करने की पद्धति में कुछ दोष हैं—

(१) बैंक जमानत में केवल ऐसी वस्तुओं को लेना चाहती हैं, जो कि आसानी से बेची जा सकें और स्थायी सम्पत्ति जैसे, भूमि, भवन, मशीन को नहीं चाहतीं।

(२) वे जमानत पर मूल्य पर केवल ५० प्रतिशत से ७० प्रतिशत तक ही ऋण देती हैं जिससे मंदी में उद्योगपतियों को बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

(३) कभी-कभी बैंक जमानत में एक विशेष प्रकार का ही माल लेना चाहती हैं जिससे उद्योगपतियों को अपने माल का पूरा मूल्य प्राप्त नहीं हो सकता है।

(४) जमानती माल को बैंक अपने गोदाम में रखती हैं जिससे माल के लाने-ले जाने पर बहुत व्यय होता है तथा उद्योगपति को उस माल को प्रयोग करने में बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

(५) बैंक की नं० ४ की क्रिया से उद्योगपति का बाजार में मान कम हो जाता है।

(६) रोकड़ उधार प्राय: देखने में तो बहुत सुन्दर प्रतीत होती है, किन्तु उद्योग-पति बैंक से ली हुई राशि केवल ५० प्रतिशत ही निकाल सकती हैं अथवा बैंक अपनी इच्छा पर कभी-कभी उसको बन्द कर सकती हैं। यदि ऐसे ऋण पर जमानत दी गई हो और जमानत का मूल्य कम हो गया हो तो बैंक आगे रुपया देना बन्द कर देती है।

(७) दो हस्ताक्षरों का अर्थ उद्योगों में प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति को प्रोत्साहन देना है, क्योंकि बैंक प्रायः प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं से सम्बन्धित रहते हैं। अतः प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उद्योगों में प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति को प्रोत्साहन देते हैं।

(८) बैंकिंग जाँच कमेटी के समक्ष यह बात भी आई थी कि बैंक ऋण देने में पक्षपात करती हैं तथा जिन लोगों से उनका स्वार्थ होता है उनको अनावश्यक ऋण भी दे दिया जाता है।

(९) बैंकों के ऋण देने की पद्धति में उनके प्रबन्धकों का बहुत बड़ा दोष रहता है, क्योंकि वे प्राय: जिन व्यक्तियों के प्रभाव में होते हैं उनको ही अधिकांश ऋण मिलता है।

(१०) ऋण का भुगतान भी भारत में बहुत शक्ति के साथ करवाया जाता है तथा ऐसी बहुत कम स्थिति होती है, जब ऋणी को कुछ छूट दे दी जाती है।

(११) बैंक में दीर्घकालीन ऋण देने की बहुत कम व्यवस्था है।

विनियोग प्रन्यासों द्वारा (Investment Trust) – विनियोग प्रन्यास विशाल पूँजी वाली सार्वजनिक कम्पनियाँ होती हैं, जो उद्योग तथा पूँजी लगाने के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक होती हैं तथा अपनी पूँजी अंश बेचकर एकत्रित करती हैं। ये संस्थाएँ उद्योग के अंश तथा प्रतिभूतियों का अभिगोपन करके उनसे मुद्रा बाजार में प्रसारित करती हैं। इन प्रन्यासों के कार्य तथा औद्योगिक बैंकों के कार्यों में केवल यही विशेषता होती है कि औद्योगिक बैंक विनियोक्ता के रूप में कार्य करती हैं। किन्तु ये प्रन्यास अंश तथा प्रतिभूतियों के निर्गमन में मध्यस्थ का कार्य करते हैं और केवल औद्योगिक प्रतिभूतियों से ही सम्बन्ध रखती हैं। ये संस्थायें सामान्य विनियोक्ताओं से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में धन एकत्रित करती हैं तथा उद्योग की अर्थपूर्ति में बड़ी सहायक सिद्ध होती हैं। अमेरिका में पूँजी का निर्गमन करने वाली संस्थायें विनियोग प्रन्यासों को अपनी आवश्यकता बतला देती हैं तथा प्रन्यास उसकी पूरी जाँच करके तथा उसके आवश्यक स्रोतों का अनुमान लगाकर उनके निश्चित अंशों का अभिगोपन कर लेती हैं और फिर अपने प्रभाव के कारण उसको जनता में निर्गमित कर देती हैं। इस प्रकार प्रतिभूतियों का विनियोग बड़ी सरलता से हो जाता है।

जब यह प्रन्यास किसी उद्योग के अंशों का अभिगोपन कर लेता है तो कम्पनी को आवश्यक परामर्श भी देता है तथा उसके विषय में विनियोक्ताओं द्वारा होने वाली पूछताछ का भी संतोषप्रद उत्तर देता रहता है तथा कम्पनी को आयकर तथा अर्थ सम्बन्धी परामर्श भी देता रहता है। ये प्रन्यास कभी-कभी कम्पनी के संचालक मंडल में अपने प्रतिनिधि को भेजते हैं, जो कि कम्पनी की आर्थिक व्यवस्था का समुचित नियंत्रण करता है, जिससे कम्पनी की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो जाती है तथा साधारण विनियोक्ताओं का कम्पनी के प्रति विश्वास बन जाता है।

विनियोग प्रन्यासों का उद्देश्य कम्पनियों की लम्बी अर्थपूर्ति का करना होता है। अतः इसके लिए वाणिज्य बैंकों के कार्य सर्वथा अनुपयुक्त होते हैं, क्योंकि उनसे उनके उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। साथ ही साथ इन प्रन्यासों को कम्पनी के प्रवर्तन में भी भाग नहीं लेना चाहिये, क्योंकि इनसे या तो वे अस्वस्थ संस्था को जन्म दे सकते हैं अथवा अपना सम्बन्ध उससे प्रदर्शित करके आर्थिक हानि उठा सकते हैं। विनियोग प्रन्यासों को किसी प्रकार की प्रतिभूति लेने के पूर्व उसकी स्थापना की जाँच किसी विशेषज्ञ से करवा लेनी चाहिये। जिससे उनका निर्गमन सुविधाजनक हो सके और प्रन्यास विनियोक्ताओं को सही प्रतिभूति दिलाने में सफल हो सके।

भारत में इस प्रकार की संस्थायें द्वितीय महायुद्ध के पूर्व नाममात्र को भी नहीं थीं। किन्तु इस महायुद्ध तथा युद्धोत्तर काल में इस प्रकार की संस्थाओं की बाढ़ सी आ गई है। टाटा इन्वेस्टमेन्ट कार्पोरेशन आफ इण्डिया, इन्डस्ट्रियल इन्वेस्टमेन्ट ट्रस्ट लिमिटेड, वर्डस इन्वेस्टमेंट लिमिटेड आदि प्रमुख विनियोग प्रन्यास हैं। ये संस्थायें अल्प साधनों वाले विनियोजकों को बहुत सहायता प्रदान करती हैं। एक साधारण विनियोजक के पास न तो इतना समय ही होता है और न उसके पास इतनी शक्ति, योग्यता तथा साधन ही होते हैं कि वह जिसकी प्रतिभूति में अपना रुपया लगाना चाहता है उसका वास्तविक मूल्य ज्ञात कर सके। परन्तु विनिमय प्रन्यास अपने सुयोग्य प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं तथा विशेषज्ञों की सहायता से यह कार्य बहुत ही सरलता से कर सकता है। इस प्रकार वह साधारण जनता से एक अच्छी प्रतिभूति प्रदान करने में सहायक सिद्ध होता है। ये संस्थायें जनता में विनियोग करने की भावना जाग्रत करती हैं। परन्तु हमारे देश के लिये यह एक नवीन संस्था है। अतः इसका विकास तथा प्रसार बहुत ही नियंत्रित रूप में हो जाना चाहिये जिससे यह देश की औद्योगिक उन्नति में पूर्ण रूप से सहायक हो सके। यदि इन विनियोग प्रन्यासों का प्रबन्ध अयोग्य तथा बेईमान व्यक्तियों के हाथ में होगा तो वे देश के लिये अधिक घातक सिद्ध हो सकते हैं। अतः हमारे यहाँ भी स्थायी प्रन्यासों को भी प्रोत्साहित करना चाहिये।

इस समय हमारे देश में विनियोग प्रन्यास बहुत कम है। इनका विकास इतना नहीं हुआ है जितना अमेरिका तथा अन्य पाश्चात्य देशों में।

औद्योगिक बैंकों से ऋण प्राप्त करके—औद्योगिक दीर्घकालीन वित्त का एक साधन औद्योगिक बैंक भी है, औद्योगिक बैंक का उद्देश्य औद्योगिक संस्थाओं की पूर्ण दीर्घकालीन आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है जिनकी पूर्ति साधारण बैंकिंग संस्थाओं द्वारा नहीं की जा सकती। यह संस्था बैंकों से प्रतिस्पर्धा करने वाली

(८) बैंकिंग जाँच कमेटी के समक्ष यह बात भी आई थी कि बैंक ऋण देने में पक्षपात करती हैं तथा जिन लोगों से उनका स्वार्थ होता है उनको अनावश्यक ऋण भी दे दिया जाता है ।

(६) बैंकों के ऋण देने की पद्धति में उनके प्रबन्धकों का बहुत बड़ा दोष रहता है, क्योंकि वे प्रायः जिन व्यक्तियों के प्रभाव में होते हैं उनको ही अधिकांश ऋण मिलता है ।

(१०) ऋण का भुगतान भी भारत में बहुत शक्ति के साथ करवाया जाता है तथा ऐसी बहुत कम स्थिति होती है, जब ऋणी को कुछ छूट दे दी जाती है ।

(११) बैंक में दीर्घकालीन ऋण देने की बहुत कम व्यवस्था है ।

विनियोग प्रन्यासों द्वारा (Investment Trust)—विनियोग प्रन्यास विशाल पूँजी वाली सार्वजनिक कम्पनियाँ होती हैं, जो उद्योग तथा पूँजी लगाने के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक होती हैं तथा अपनी पूँजी अंश बेचकर एकत्रित करती हैं । ये संस्थाएँ उद्योग के अंश तथा प्रतिभूतियों का अभिगोपन करके उनसे मुद्रा बाजार में प्रसारित करती हैं । इन प्रन्यासों के कार्य तथा औद्योगिक बैंकों के कार्यों में केवल यही विशेषता होती है कि औद्योगिक बैंक विनियोक्ता के रूप में कार्य करती हैं । किन्तु ये प्रन्यास अंश तथा प्रतिभूतियों के निर्गमन में मध्यस्थ का कार्य करते हैं और केवल औद्योगिक प्रतिभूतियों से ही सम्बन्ध रखती हैं । ये संस्थायें सामान्य विनियोक्ताओं से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में धन एकत्रित करती हैं तथा उद्योग की अर्थपूर्ति में बड़ी सहायक सिद्ध होती हैं । अमेरिका में पूँजी का निर्गमन करने वाली संस्थायें विनियोग प्रन्यासों को अपनी आवश्यकता बतला देती हैं तथा प्रन्यास उसकी पूरी जाँच करके तथा उसके आवश्यक स्रोतों का अनुमान लगाकर उनके निश्चित अंशों का अभिगोपन कर लेती हैं और फिर अपने प्रभाव के कारण उसको जनता में निर्गमित कर देती हैं । इस प्रकार प्रतिभूतियों का विनियोग बड़ी सरलता से हो जाता है ।

जब यह प्रन्यास किसी उद्योग के अंशों का अभिगोपन कर लेता है तो कम्पनी को आवश्यक परामर्श भी देता है तथा उसके विषय में विनियोक्ताओं द्वारा होने वाली पूछताछ का भी संतोषप्रद उत्तर देता रहता है तथा कम्पनी को आयकर तथा अर्थ सम्बन्धी परामर्श भी देता रहता है । ये प्रन्यास कभी-कभी कम्पनी के संचालक मंडल में अपने प्रतिनिधि को भेजते हैं, जो कि कम्पनी की आर्थिक व्यवस्था का समुचित नियंत्रण करता है, जिससे कम्पनी की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो जाती है तथा साधारण विनियोक्ताओं का कम्पनी के प्रति विश्वास बन जाता है ।

विनियोग प्रन्यासों का उद्देश्य कम्पनियों की लम्बी अर्थपूर्ति का करना होता है। अतः इसके लिए वाणिज्य बैंकों के कार्य सर्वथा अनुपयुक्त होते हैं, क्योंकि उससे उनके उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। साथ-ही-साथ इन प्रन्यासों को कम्पनी के प्रवर्तन में भी भाग नहीं लेना चाहिये, क्योंकि इनसे या तो वे अस्वस्थ संस्था को जन्म दे सकते हैं अथवा अपना सम्बन्ध उससे प्रदर्शित करके आर्थिक हानि उठा सकते हैं। विनियोग प्रन्यासों को किसी प्रकार की प्रतिभूति लेने के पूर्व उसकी स्थापना की जाँच किसी विशेषज्ञ से करवा लेनी चाहिये। जिससे उनका निर्गमन सुविधाजनक हो सके और प्रन्यास विनियोक्ताओं को सही प्रतिभूति दिलाने में सफल हो सके।

भारत में इस प्रकार की संस्थायें द्वितीय महायुद्ध के पूर्व नाममात्र को भी नहीं थीं। किन्तु इस महायुद्ध तथा युद्धोत्तर काल में इस प्रकार की संस्थाओं की बाढ़ सी आ गई है। टाटा इन्वेस्टमेन्ट कार्पोरेशन आफ इण्डिया, इन्डस्ट्रियल इन्वेस्टमेन्ट ट्रस्ट लिमिटेड, वर्डस इन्वेस्टमेंट लिमिटेड आदि प्रमुख विनियोग प्रन्यास हैं। ये संस्थायें अल्प साधनों वाले विनियोजकों को बहुत सहायता प्रदान करती हैं। एक साधारण विनियोजक के पास न तो इतना समय ही होता है और न उनके पास इतनी शक्ति, योग्यता तथा साधन ही होते हैं कि वह जिसकी प्रतिभूति में अपना रुपया लगाना चाहता है उसका वास्तविक मूल्य ज्ञात कर सके। परन्तु विनिमय प्रन्यास अपने सुयोग्य प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं तथा विशेषज्ञों की सहायता से यह कार्य बहुत ही सरलता से कर सकता है। इस प्रकार वह साधारण जनता से एक अच्छी प्रतिभूति प्रदान करने में सहायक सिद्ध होता है। ये संस्थायें जनता में विनियोग करने की भावना जागृत करती हैं। परन्तु हमारे देश के लिये यह एक नवीन संस्था है। अतः इसका विकास तथा प्रसार बहुत ही नियंत्रित रूप में हो जाना चाहिये जिससे वह देश की औद्योगिक उन्नति में पूर्ण रूप से सहायक हो सके। यदि इन विनियोग प्रन्यासों का प्रबन्ध अयोग्य तथा बेईमान व्यक्तियों के हाथ में होगा तो वे देश के लिये अधिक घातक सिद्ध हो सकते हैं। अतः हमारे यहाँ भी स्थायी प्रन्यासों को भी प्रोत्साहित करना चाहिये।

इस समय हमारे देश में विनियोग प्रन्यास बहुत कम है। इनका विकास इतना नहीं हुआ है जितना अमेरिका तथा अन्य पाश्चात्य देशों में।

औद्योगिक बैंकों से ऋण प्राप्त करके—औद्योगिक दीर्घकालीन वित्त का एक साधन औद्योगिक बैंक भी है, औद्योगिक बैंक का उद्देश्य औद्योगिक संस्थाओं की पूर्ण दीर्घकालीन आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है जिनकी पूर्ति साधारण बैंकिंग संस्थाओं द्वारा नहीं की जा सकती। यह संस्था बैंकों से प्रतिस्पर्धा करने वाली

नहीं किन्तु उनकी पूरक है। अथवा उनसे प्रतिद्वन्द्विता करने के लिये नहीं अपितु उनकी कमी को पूरा करने के लिये स्थापित होती है। औद्योगिक बैंकों के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) औद्योगिक संस्थाओं के द्वारा उधार लिये हुए उन दीर्घकालीन ऋणों की गारन्टी करना जो कि अधिक-से-अधिक २५ वर्ष की अवधि के लिये पूँजी बाजार में प्राप्त करते हैं।

(२) औद्योगिक संस्थाओं द्वारा निर्गमित किये हुए अंशों, ऋण-पत्रों आदि का अभिगोपन करना।

(३) अभिगोपन किये हुए अंशों, ऋण पत्रों आदि को यदि जनता से तुरन्त क्रय न किया तो इनकी प्राप्ति अधिक-से-अधिक सात वर्ष की अवधि के भीतर रखकर बेचना।

(४) औद्योगिक संस्थाओं को इस प्रकार के ऋण देना अथवा उनके ऋण-पत्रों को क्रय करना जिनका भुगतान २५ वर्ष के भीतर होने वाला है।

(५) इन उपर्युक्त कार्यों के लिये निश्चित किया हुआ कमीशन प्राप्त करना।

(६) अन्य उन समस्त कार्यों को करना जो कि उपर्युक्त कार्यों से सम्बन्धित है तथा औद्योगिक बैंकों को अपने अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों को भली-भाँति पूर्ण करने के लिये आवश्यक है।

उपरोक्त कार्य करने के लिये औद्योगिक बैंक अपने अधिक-से-अधिक अंश जनता को बेचती है तथा जनता को अपने ऋण-विपत्र जारी करती है, जो औद्योगिक संस्था औद्योगिक बैंक से ऋण लेना चाहती है उसे स्मारक-पत्र तथा अंतर्नियम सहित एक प्रार्थना-पत्र बैङ्क के पास भेजना पड़ता है। बैंक उद्योग-धन्धे की आर्थिक आवश्यकताओं को तथा उसकी चल-अचल सम्पत्ति को ध्यान में रखते हुए ऋण की धन-राशि स्वीकृत कर देती है। जिस उद्योग-धन्धे को ऋण दिया जाता है उसके प्रबन्ध में भाग लेने के लिये अपनी ओर से किसी प्रतिनिधि को नियुक्त कर देती है।

भारतवर्ष में समय-समय पर ऐसी बैंकों की स्थापना हुई परन्तु ये सफलता प्राप्त न कर सकीं और या तो समाप्त हो गईं, अथवा व्यापारिक बैंकों में विलीन कर दी गईं। भारतवर्ष में औद्योगिक बैंकों की कुछ कारणों से उन्नति नहीं हुई।

भारतवर्ष में औद्योगिक बैंकों की उन्नति न होने के कारण—भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है। अतएव ग्रामों में रहने वाले लोग अधिकतर अपनी बचत को सोने-चाँदी के आभूषण तथा भूमि क्रय करने और कृषि का सुधार करने में तथा अपने ग्राम वालों को ऋण देने में लगाते हैं। मध्यम श्रेणी के वे लोग जो कि नगरों में

रहते हैं जिनमें छोटे व्यापारी तथा भिन्न-भिन्न देशों के लोग भी सम्मिलित हैं वे अपनी बचत को भूमि, भवन तथा राजकीय ऋण, नगरपालिका ऋण तथा कृषि सार्टीफिकेट ऋण में लगभग अधिक पसन्द करते हैं। वे व्यवसायिक जोखिम नहीं उठाना चाहते। बड़े-बड़े नगरों तथा व्यापारिक केन्द्रों में भी बहुत बड़ी संख्या में लोग अपनी बचत को उद्योग-धन्धों में न लगाकर सरकारी प्रतिभूतियों में लगाते हैं। जहाँ ग्रामों तथा कस्बों का प्रश्न है वहाँ एक कारण तो यह है कि ये धन्धों की जोखिम ही नहीं उठाना चाहते। दूसरे वहाँ बैंक इत्यादि भी नहीं हैं जिनके द्वारा वे कम्पनियों के अंश-पत्रों के क्रय-विक्रय की भी कोई सुविधा नहीं है, केवल बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास में पूँजी-बाजार हैं। बैंक इत्यादि कम्पनियाँ अंशों पर ऋण नहीं देतीं। इस कारण भी लोग अपना रुपया अंशों में फँसाने में हिचकते थे। इसके अतिरिक्त उससे पूर्व भारत सरकार की नीति उद्योग-धन्धों को अधिक प्रोत्साहन न देने की थी। इस कारण भी लोग अपनी बचत को उद्योग-धन्धों में नहीं लगाते थे। भारतीयों का उद्योग धन्धों की ओर आकर्षित न होने के केवल ये ही कारण नहीं थे—एक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि कम्पनियों के प्रबन्ध अभिकर्त्ता जो कि कंपनी के सर्वेसर्वा हैं, वे कम्पनियाँ यदि सफल हो जाती हैं तो उनका अधिकांश लाभ अपनी जेब में रख लेते हैं। अंशधारियों को बहुत कम लाभ मिलता है और कभी-कभी तो उन्हें बहुत धोखा दिया जाता है। भारत में कंपनियों का संगठन अन्य प्रकार का होता है कि अंशधारियों का उस पर तनिक भी प्रभाव नहीं होता। प्रबन्ध अभिकर्त्ता ही उनके वास्तविक स्वामी तथा कर्त्ताधर्त्ता होते हैं। ऐसी दशा में कोई कम्पनी के अंशपत्रों में अपना रुपया क्यों लगाना चाहेगा? ये ही कारण थे कि भारत में अधिकतर लोग अपनी बचत को उद्योग धन्धों में नहीं लगाते थे, किन्तु १९४० के उपरांत द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप लोगों का ध्यान उधर गया है और वे उद्योग-धंधों में अपनी पूँजी लगाने लगे हैं।

अन्य देशों में यदि कोई व्यवसायी अथवा व्यावसायिक बुद्धि रखने वाला किसी धंधे की योजना करता है और कम्पनी स्थापित करता है और यदि उसकी योजना अच्छी होती है और उसके सफल होने की संभावना होती है तो जनता उसके अंश क्रय कर लेती है। यही नहीं वहाँ की बैंक नवीन कम्पनियों के अंशों का अभिगोपन कर देती हैं। किसी-किसी देश में बैंकों के अतिरिक्त पेशेवर अभिगोपक हैं जो नवीन कम्पनियों के अंशों का अभिगोपन करते हैं। अभिगोपन (Underwriting) का अर्थ यह है कि बैंक का अभिगोपक (Underwriter) इस बात का उत्तरदायित्व लेता है कि यदि उस कम्पनी का अंश न बिके तो वह शेष सारे अंश क्रय कर लेगा। इस कार्य के लिये वे थोड़ा-सा कमीशन लेते हैं। बैंक तो इसके लिये विशेषज्ञ रखती

हैं जो नवीन योजनाओं की छानबीन करती हैं। अतः जब कोई प्रतिष्ठित बैंक या अभिगोपक नवीन कम्पनियों के अंशों के न बिकने पर उनको स्वयं क्रय करने का उत्तरदायित्व लेता है तो जनता में उसके प्रति विश्वास जम जाता है और उसके अंश बिक जाते हैं। फिर यदि कुछ शेष रह जाते हैं तो बैंक उसको क्रय कर लेती हैं। फिर आगे क्रमशः उन अंशों को जनता में बेच देते हैं किन्तु भारतवर्ष में न तो बैंक ही उस कार्य को करते हैं और न पेशेवर अभिगोपक ही। अस्तु यहाँ जब तक किसी नवीन कम्पनी के पीछे कोई बड़ा पूँजीपति या व्यवसायी न हो तब तक उसको पूँजी ही नहीं मिल सकती। उदाहरण के लिये यदि बिरला ब्रदर्स किसी नवीन कम्पनी को स्थापित करते हैं तो पहले वे तथा उनके अन्य मित्र ही उनके अंश क्रय करते हैं और शेष अंश वे जनता को बेच देते हैं। उनकी प्रसिद्धि मुद्रा बाजार में साख होने के कारण बहुधा उस कंपनी के अंश बिक जाते हैं। अन्यथा स्वयं उनको क्रय करके बेचने का प्रबन्ध करते हैं क्योंकि ये ही कम्पनी को स्थापित करते हैं तथा उसके यथेष्ट अंश अपने अधिकार में रखते हैं। अतएव वे अपने को उसका प्रबन्ध अभिकर्त्ता नियुक्त कर लेते हैं और इस प्रकार वे उसके सर्वेसर्वा बन जाते हैं। आज देश में स्थिति यह है कि यदि टाटा एण्ड सन्स, बिरला ब्रदर्स, तथा डालमिया इत्यादि प्रसिद्ध पूँजीपतियों की मैनेजिंग एजेंसी में कोई नवीन कम्पनी स्थापित होती है तब तो उसको पूँजी मिल जाती है। अन्यथा यदि कोई साधारण व्यक्ति जिसमें व्यवसायिक योग्यता है, और यदि वह कोई नवीन कम्पनी स्थापित करता है, तो उसको पूँजी नहीं मिल पाती।

राजकीय आर्थिक सहायता प्राप्त करके—विदेशों में उद्योग-धंधे सरकार से भी आर्थिक सहायता प्राप्त करते हैं। अमेरिका की बड़ी-बड़ी कम्पनियों को सरकार से सहायता प्राप्त होती है। इंगलैण्ड, आस्ट्रेलिया तथा जापान में भी उद्योगपतियों को पूँजी जुटाने के लिये सरकार ने नवीन-नवीन संस्थायें स्थापित की हैं। भारत की विदेशी सरकार ने इस प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं किया, किन्तु भारत की स्वतंत्र सरकार ने इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करके एक केन्द्रीय संस्था जिसे औद्योगिक वित्त निगम कहते हैं तथा कुछ प्रान्तीय संस्थायें, जिन्हें राज्य वित्त नियम कहते हैं, स्थापित कीं।

औद्योगिक वित्त निगम—इस निगम की स्थापना सन् १९४९ के अधिनियम के अंतर्गत हुई। नियम के निम्नलिखित कार्य हैं :—

(१) निगम ऋण-पत्रों की ब्याज अथवा मूलधन संबंधी प्रतिभूति दे सकता है। इन ऋणों की अवधि १५ वर्ष से अधिक नहीं होगी।

(२) सार्वजनिक सीमित कम्पनियाँ तथा सहकारी समितियों को २५ वर्ष की अवधि तक के लिये ऋण दे सकता है।

(३) ५ वर्ष की अवधि के लिये १० करोड़ की सीमा तक जन निक्षेप रख सकती है।

(४) औद्योगिक संस्थाओं के अंश, अनुबंध, ऋण-पत्र आदि का अभिगोपन कर सकती है।

(५) एक संस्था को अधिक-से-अधिक १ करोड़ रुपये तक का ऋण दिया जा सकता है। यदि ऋण केन्द्रीय सरकार द्वारा रक्षित हो तो उसकी राशि बढ़ाई जा सकती है।

(६) उद्योगों को (जिनको विदेशी पूँजी की आवश्यकता हो) अंतराष्ट्रीय बैंक से रुपया दिलवा सकती है।

(७) कम्पनी के ऋण-पत्रों की गारंटी दे सकती है। खुले बाजार वाले ऋण-पत्रों की गारंटी २५ वर्ष से अधिक नहीं होगी।

(८) जब तक संचित कोष प्रदत्त पूँजी के समान न हो जाये तब तक २½ प्रतिशत से अधि लाभांश नहीं दिया जायेगा। ५ प्रतिशत अधिक-से-अधिक है।

(९) उद्देश्य की पूर्ति के लिये अधिक-से-अधिक कार्य।

(१०) किसी पूँजी के १० प्रतिशत अथवा ५० लाख रुपये से अधिक दत्त पूँजी में नहीं दे सकता।

संगठन वित्त नियम की अधिकृत पूँजी १० करोड़ रुपये है तथा निर्गमित पूँजी ५ करोड़ है। इसका विभाजन निम्नलिखित प्रकार से है—

अनुसूचित अधिकोष १.२५ करोड़ रुपया है। बीमा कम्पनियाँ, विनिमय प्रन्यास तथा अन्य १·२५ करोड़ रुपया। सहकारी अधिकोष ५० लाख रुपया। यह पूँजी केन्द्रीय सरकार तथा रिजर्व बैंक के द्वारा निश्चित अनुपात में दी जायेगी। अंशों का मूल्य ५ हजार रुपये रखा गया है। जून १९५२ में अंशों का निर्गमन इस प्रकार हुआ केन्द्रीय सरकार २०००, रिजर्व बैंक २०५४, अनुसूचित अधिकोष २४३५, बीमा कंपनियाँ आदि २५६८ तथा सहकारी अधिकोष ९४३, निगम के अंश केन्द्रीय सरकार के द्वारा गारंटी किये हुए हैं।

निगम जन निक्षेपों द्वारा तथा उधार लेकर अपनी कार्यशील निधि को बना सकेगा। उसके लिए वह अपने अनुबंध तथा ब्याज वाले ऋण-पत्रों का निर्गमन कर सकेगा, किन्तु यह निर्गमन निगम की पूँजी तथा कोषों के ५ गुने से अधिक नहीं हो सकता। इन पर दी जाने वाली ब्याज केन्द्रीय सरकार के निर्धारित ब्याज से अधिक

नहीं हो सकेगी। जन निक्षेप १० करोड़ से अधिक नहीं हो सकेंगे तथा उनका भुगतान ५ वर्षों के भीतर किया जाना चाहिये।

निगम का प्रबंध संचालक मंडल, कार्यकारिणी समिति तथा प्रबंध संचालक द्वारा किया जायेगा। प्रबंध करने के लिये संचालक मंडल को सरकार की नीति का अनुसरण करना पड़ेगा। वह अपनी सहायता के लिये परामर्शदात्री समिति नियुक्त कर सकेगा।

प्रबन्धक मंडल में १५ संचालक होंगे, जिनमें ४ केन्द्रीय सरकार द्वारा, ३ रिजर्व बैंक द्वारा, २ बीमा कम्पनियों आदि द्वारा तथा २ सहकारी बैंकों द्वारा निर्वाचित होंगे। प्रबन्ध संचालक तथा उप प्रबन्ध संचालक भी कार्य करेंगे। कार्यकारिणी समिति में प्रबन्ध संचालक, सभापति तथा संचालक मंडल में से चुने हुए दो अन्य संचालक होंगे। प्रबन्ध संचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किया जायेगा तथा उप संचालक निगम द्वारा नियुक्त किया जायेगा। ये दोनों पूरे समय के लिये अधिकारी होंगे।

ऋण देने का ढङ्ग—ऋण प्रदान करने से पहले प्रमंडल विशेष सतर्कता व्यवहार में लाता है। यह अपने ऋणियों से फैक्टरी की स्थिति, उत्पादन की वस्तु के स्वभाव, भूमि, भवन पर अधिकार, उनके प्रबन्ध, बाजार की आर्थिक अवस्थायें, मशीनों, उत्पादन व्यय, ऋण लेने का उद्देश्य, ऋण लौटाने का ढंग, आदि के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् अपने एक कर्मचारी को फैक्टरी में जाँच करने के लिये भेजता है। यह कर्मचारी फैक्टरी सम्बन्धी सभी बातों को ज्ञात करने के पश्चात् प्रमंडल को एक रिपोर्ट देता है। प्रमंडल के लिये हुए ऋण की गारंटी व्यक्तिगत और सम्मिलित रूप में देनी पड़ती है। प्रमंडल यह पता लगाने के लिये कि उसके ऋण का उचित प्रयोग हो रहा है अथवा नहीं, कुछ अन्य कार्यवाहियाँ भी करता है। ऋण का भुगतान न करने की स्थिति में प्रमंडल ऋणी कम्पनी का प्रबन्ध अपने हाथों में ले सकता है और गिरवी रखे माल को बेच सकता है। यह ऋण के उपयोग के संबन्ध में समय-समय पर रिपोर्ट भी माँग सकता है और जाँच भी कर सकता है। वह समय-समय पर सरकार के विभिन्न मंत्रियों तथा वैज्ञानिक और औद्योगिक व्यापारियों आदि से परामर्श लेता रहता है। १९५२ के एक संशोधन के अनुसार प्रमंडल से सहायता पाने वाले उद्योगों में जलयान भी सम्मिलित कर दिये गये हैं, परन्तु साझेदारी तथा लिमिटेड कम्पनियों को सहायता नहीं दी जा सकती। अधिनियम के अनुसार प्रमंडल किसी भी कारखाने को उसकी चुकता पूँजी की १० प्रतिशत अथवा ५० लाख रुपयों, जो भी कम हो, की सहायता दे सकता था, परन्तु १९५२ के संशोधनानुसार अब यह

सहायता १ करोड़ रुपये तक दी जा सकती है। सरकार द्वारा गारंटी देने पर इस सहायता में और भी वृद्धि हो सकती है।

निगम की आलोचनाएँ—प्रमंडल के विधान एवं कार्य के ढङ्ग के संबन्ध में बड़ी आलोचनाएँ की गई हैं। कुछ अर्थशास्त्रियों का कथन है कि यह केवल बड़े-बड़े उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करता है। और इस प्रकार एक ओर तो छोटे-छोटे उद्योग-धंधों को हानि पहुँचाने की संभावना दृढ़ हो जाती है, दूसरी ओर पूँजी के केन्द्रीयकरण का भय उत्पन्न हो जाता है। प्रमंडल निजी अंशधारियों की संस्था है जिसका उपयोग केवल राज्य अथवा वर्गीय हितों को बढ़ाने के लिये किया जा सकता है। तथा यह भी संभव है कि यह राष्ट्रीय हितों को ध्यान में न रखे। यद्यपि यह आलोचना सर्वथा व्यर्थ है; क्योंकि रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् प्रमंडल के ४० प्रतिशत अंश सरकार के पास आ गये हैं तथा इस प्रकार राष्ट्रीय अहित होने की अब आशा नहीं की जा सकती। प्रमंडल ने आर्थिक सहायता बहुत कम दी है। यही नहीं, किन्तु एक तो ऋण देने में पर्याप्त समय लिया तथा दूसरे इसने भारतीय बाजार को विकसित करने में कोई सहायता नहीं पहुँचाई है। यह भी कहा जाता है कि इसका कार्य करने का ढंग बहुत ही पुराना है और यह प्रार्थना-पत्रों को बहुत ही छोटी-छोटी त्रुटियों पर रद्द कर देता है। प्रमण्डल की ब्याज दर भी बहुत ऊँची है। कुछ व्यक्तियों का यह भी आरोप है कि प्रमण्डल ने अर्ध-विकसित तथा पिछड़े हुए उद्योगों को कुछ भी सहायता नहीं दी, किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य विभिन्न राज्यों तथा ऐसे उद्योगों को सहायता देता रहा है जिनकी स्थिति पहले से अच्छी थी।

निगम की प्रगति एवं वर्तमान स्थिति—जून १९५३ तक निगम ने ९.६६ लाख रुपये वास्तविक लाभ कमाया। यह लाभ प्रबन्ध-व्यय, ब्याज तथा बहीखाते में देने के पश्चात् बचा। सरकार ने २½ प्रतिशत के हिसाब से ११.२५ लाख रुपये वितरित किये। जून १९५४ में ३०.९५ लाख रुपये लाभांश बाँटा गया। निगम ने इस वर्ष ब्याज की दर ६½ प्रतिशत तथा छूट की दर १ प्रतिशत ही रखी। इन वर्षों में वस्त्र सीमेंट, लोहा, रसायनिक आदि उद्योगों में व्यापक प्रगति हुई। इसके साथ कृषि में भी पर्याप्त उत्पादन हुआ है। सोदपुर ग्लास वर्कस कलकत्ता में संचालक मण्डल ने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि निगम उस काम को अपने हाथ में रखेगा तो प्रति वर्ष उसको हानि उठानी पड़ेगी तथा केन्द्रीय सरकार के उत्पादन मंत्रणालय की असमर्थता प्रकट करने पर कम्पनी ६२ लाख रुपये में बेच दी गई। निगम से ऋण लेने वाली अन्य ४ कम्पनियों में असंतोषप्रद कार्य होने से निगम ने गिरवीनामे के अनुसार उनकी सम्पति पर अपना अधिकार कर लिया। इनमें से तीन कम्पनियों का

कार्य बन्द कर दिया गया और एक का कार्य अत्यंत नियमित रूप से चल रहा है; पिछले ७ वर्षों में निगम ने चीनी उद्योग को ४.४३ करोड़, वस्त्रोद्योग को ४.११ करोड़, कागज को २.८१ करोड़ रुपये तथा रसायनिक को २.८१ करोड़ रुपये ऋण के रूप में दिये हैं। जून १९५५ तक आसाम, उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान तथा मध्य भारत में ५ स्टेट-फाइनेंस निगम खोले गये हैं, जिससे कि राज्यों में कुल ११ निगम हो गये हैं। केन्द्रीय तथा राज्य निगम के कार्य तथा क्षेत्र निर्धारित कर दिये गये हैं। इस प्रकार उद्योग वित्त निगम देश की औद्योगिक अर्थ व्यवस्था में पर्याप्त प्रगति कर रहा है।

जिस समय यह निगम स्थापित की गई थी उस समय औद्योगिक वित्त के लिये सब से बड़ा प्रयास था। किन्तु इसकी स्थापना के पश्चात् औद्योगिक वित्त के लिये कुछ और भी संस्थाएँ स्थापित हुईं। लघु उद्योगों के लिये राज्य वित्त निगम, राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम, औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम तथा राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम स्थापित हुईं। अतः अब यह आवश्यक हो गया है कि औद्योगिक वित्त निगम तथा राज्य वित्त निगमों के कार्यक्षेत्र को पूर्ण तथा स्पष्ट कर दिया जाये।

राज्य-वित्त-निगम—औद्योगिक वित्त निगम केवल वृहत उद्योगों को ही वित्त सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करता है। व्यक्तिगत कम्पनियाँ साझीदारों तथा व्यक्तिगत लघु उद्योगों को यह निगम कोई सहायता नहीं देता। इस कमी को पूरा करने के हेतु १९५१ में भारतीय संसद ने राज्य वित्त निगम, अधिनियम परित करके राज्यों को यह अधिकार दिया कि वे अपने यहाँ औद्योगिक वित्त निगम स्थापित करके लघु उद्योगों को सहायता प्रदान करें। राज्य वित्त निगम लघु उद्योगों को २० वर्ष के लिये ऋण प्रदान कर सकता है।

भारत के १३ राज्यों में राज्य वित्त निगम स्थापित हो चुके हैं। राज्य वित्त निगम की पूँजी ५० लाख से कम तथा ५ करोड़ से अधिक नहीं होती। निगम की २५ प्रतिशत पूँजी जनता से प्राप्त की जा सकती है। शेष पूँजी राज्य सरकार रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंक, सहकारी बैंक तथा बीमा कम्पनियों द्वारा जुटाई जायेगी। निगम पूँजी पर से ५ प्रतिशत से अधिक लाभांश घोषित नहीं कर सकता। कोई भी राज्य निगम अपनी पूँजी की ५ गुनी रकम तक के लिये ऋण-पत्र जारी करके ऋण प्राप्त कर सकती है। ऋण-पत्रों की जमानत केन्द्रीय सरकार की अनुमति से राज्य सरकार द्वारा की जाती है। राज्य वित्त निगम को जनता से जमाएँ प्राप्त करने का भी अधिकार है। किन्तु जमा की राशि निगम की चुकता पूँजी से अधिक नहीं हो सकती।

निगम का प्रबन्ध १० संचालकों की समिति के सुपुर्द होता है जिसमें से ३ संचालकों को राज्य सरकार एक संचालक को रिजर्व बैंक, एक संचालक को औद्योगिक

वित्त निगम मनोनीत करती है। एक प्रबन्ध संचालक राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है। शेष ४ संचालक अन्य अंशधारियों द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं।

राज्य वित्त निगम के कार्य—राज्य वित्त निगम को निम्नलिखित कार्य करने के अधिकार हैं :—

(अ) किसी उद्योग को २० वर्ष तक के लिये ऋण प्रदान करना अथवा उनसे ऋण-पत्र क्रय करना।

(ब) औद्योगिक संस्थाओं द्वारा २० वर्ष की अवधि के लिये जो ऋण दिये जाते हैं उनकी जमानत करना।

(स) औद्योगिक संस्थाओं के अंश तथा ऋण-पत्रों का अभिगोपन (under-write) करना। यदि निगम को ये पत्र स्वयं क्रय करने पड़ें तो ये पत्र ७ वर्ष के भीतर स्वयं बेच देना चाहिये।

निगम किसी भी औद्योगिक संस्था को उसकी चुकता पूँजी के १० प्रतिशत से अधिक ऋण प्रदान नहीं कर सकता और वह १० प्रतिशत भी १० लाख से अधिक नहीं होनी चाहिये। निगम का मुख्य कार्य ऋण प्रदान करना है, औद्योगिक संस्थाओं के अंशपत्र क्रय करना नहीं। राज्य वित्त निगमों ने लघु उद्योगों की भलाई के लिये इतना अच्छा कार्य नहीं किया जितने कि उनसे आशा थी क्योंकि इन निगमों के रास्ते में कुछ बाधाएँ हैं—

राज्य वित्त निगम की बाधाएँ—राज्य वित्त निगमों को निम्नलिखित बाधाओं का सामना करना पड़ रहा है—

(१) निगम को औद्योगिक संस्थाओं के लिये केवल पूँजी जुटाने का अधिकार है जब कि उद्योगों को कार्यशील पूँजी की भी आवश्यकता होती है। अतः कार्यशील पूँजी के लिये इन्हें इसका मुँह ताकना पड़ता है।

(२) राज्य निगम एक न्यूनतम राशि से कम का ऋण प्रदान नहीं करती। अतः अति लघु उद्योग जिनकी आर्थिक आवश्यकताएँ कम होती है, निगम के क्षेत्र से बाहर रह जाती हैं।

(३) ऋण प्रदान करने के लिये निगम ऋण माँगने वाली संस्था के हिसाब-किताब की पूर्ण जाँच-पड़ताल करती है। लघु उद्योग अपने हिसाब वैज्ञानिक ढंग से नहीं रखतीं और न अंकेक्षण कराती है क्योंकि ऐसा करने में व्यय अधिक होता है।

(४) लघु उद्योगों के पास इतनी सम्पत्ति नहीं होती कि वे उसे जमानत के रूप में रखकर ऋण प्राप्त कर सकें। निगम केवल सम्पत्ति के बन्धन पर ही ऋण प्रदान करती है।

(५) ऋण प्राप्त करने वाली संस्था को ब्याज के अतिरिक्त कुछ और भी व्यय करने होते हैं, जैसे बन्धन रजिस्ट्री व्यय, स्टाम्प इत्यादि। निगम ६ प्रतिशत से कम ब्याज दर ऋण नहीं देती अतः ऋण प्राप्त करने वालों को यह ऋण अधिक खर्चीला पड़ता है।

यदि उपरोक्त बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न किया जाये तो राज्य वित्त निगम लघु उद्योगों की भलाई के लिये अच्छा कार्य करने में सफल हो सकती है।

औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम—इस निगम का प्रारम्भ जनवरी १९५५ में निजी क्षेत्र में निजी प्रबन्ध के अंतर्गत किया गया। इसका उद्देश्य निजी उद्योगों को सहायता प्रदान करना है। इसका संगठन अंतर्राष्ट्रीय निजी विनियोक्ताओं के आर्थिक योग के आश्वासन पर एक नवीन प्रयोग है।

निगम की अधिकृत पूँजी २५ करोड़ रुपया तथा निर्गमित पूँजी ५ करोड़ रुपया है, जिसमें ७·५ करोड़ रुपया अमेरिकन विनियोक्ता तथा बैंकों के द्वारा, एक करोड़ रुपया ब्रिटेन के ८ विनिमय बैंकों, कामनवेल्थ डेवलपमेंट से वित्त कम्पनी आदि के द्वारा ३·५ करोड़ रुपया भारतवर्ष के द्वारा (जिसमें २ करोड़ विनिमय संस्थाओं तथा १·५ करोड़ साधारण जनता का था) लगाया गया है। इस प्रकार इस पूँजी में भारत, ब्रिटेन तथा अमेरिका का क्रमशः ७० प्रतिशत, २० प्रतिशत तथा १० प्रतिशत है।

निगम को अंतर्राष्ट्रीय बैंक के द्वारा ४·७२ करोड़ रुपयों का ऋण प्राप्त हो सकता है तथा भारत सरकार ने उसको ७·५ करोड़ रुपयों का ऋण दिया है। यह रुपया ब्याज रहित है और इसका भुगतान १५ वर्षों के पश्चात् १५ बराबर प्रभागों (किस्तों) में किया जायेगा। यह रुपया संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेशी शल्य प्रबन्ध (Foreign Operation Administration) के अधीन भारत अमेरिका तांत्रिक सहकारिता के अंतर्गत प्राप्त किया जा रहा है। हाल में केन्द्रीय वित्त मन्त्री ने यह स्पष्ट किया है कि यद्यपि यह अधिक योग निजी उद्योगों को सहायता देता है जिनको लाइसेंस दिया जाने वाला है। इस सहायता से निगम साधारण ब्याज से एक प्रतिशत कम ब्याज पर ऋण देगी।

निगम की दूसरी विशेषता यह है कि उस पर कोई भी औद्योगिक कम्पनियों का दल हावी नहीं हो सकेगा। इसका प्रबन्ध ११ संचालकों के एक संचालक समिति के अधीन होगा जिसमें ७ भारतीय अंशधारियों द्वारा नियुक्त, दो ब्रिटेन द्वारा, एक अमेरिका द्वारा तथा एक भारत सरकार द्वारा नियुक्त होंगे। यदि सरकार का ऋण नहीं चुकाया जायेगा तो ऋण चुकाये जाने के समय तक सरकार एक और अन्य संचालक नियुक्त कर सकेगी। यदि निगम की अर्थ-व्यवस्था किसी प्रकार से

खराब हो गई हो तो सरकार उसमें समापन का आवेदन कर सकेगी। इसके अतिरिक्त निगम पर सरकार का हर प्रकार से नियंत्रण रहेगा।

निगम उद्योगों को सीधा ऋण अथवा उनके अंशों का अभिगोपन करके आर्थिक सहायता देगा तथा समय-समय पर एक प्रबन्ध सम्बन्धी परामर्श एवं सहायता भी देता रहेगा। इसका उद्देश्य उद्योगों को बहुमुखी सहायता देना है। अब निगम ने कागज, विद्युत, यंत्र, रसायनिक, ईंधन, सूती वस्त्र, चीनी तथा खनिज पदार्थ आदि उद्योगों को सहायता देना प्रारम्भ कर दिया है। उद्योगों को किसी भी प्रकार की सहायता देने से पूर्व निगम उनकी पूर्ण जाँच करता है, जिससे कभी-कभी ऋण देने में विलम्ब हो जाता है।

बीमा कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् १८ प्रतिशत अंश पूंजी सरकार के अधीन चली गई है। फिर भी अभी यह पूर्ण रूप से निजी संस्था ही है और अब भारत सरकार इसमें सबसे अधिक अंशों की स्वामिनी है। किन्तु सरकार ने निगम को पूर्ण आश्वासन दिया है कि उसका उद्देश्य निगम पर किसी प्रकार का अधिकार करने का नहीं है और यह उसके दैनिक कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी। इससे निजी क्षेत्रों का भय अब निश्चित रूप से दूर हो गया है। वर्तमान काल में इस निगम का महत्व बहुत अधिक है और आशा की जाती है कि इसके द्वारा उद्योगों का विकास सुविधा से हो सकेगा।

राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम—इस निगम की स्थापना फरवरी १९५५ में इस विचार से हुई थी कि यह भारत के लघु उद्योगों की सहायता करेगा, वित्त प्रदान करेगा, संरक्षण करेगा और उसको प्रोत्साहित करेगा। वे सभी उद्योग, जिसमें ५ व्यक्ति हैं और जो शक्ति से उत्पादन कर रहे हैं अथवा वे उद्योग जिनमें १०० व्यक्तियों से कम बिना शक्ति के काम कर रहे हैं और जिनकी सम्पत्ति पूँजी ५ लाख रुपये से अधिक नहीं है इस निगम के कार्यक्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। यह निगम भी एक व्यक्तिगत सम्मिलित पूँजी की संस्था है जिसकी अधिकृत पूंजी १० लाख रुपया है और जो सौ-सौ रुपयों के १० हजार साधारण अंशों में विभाजित है।

इस प्रकार भारतवर्ष में अब जनता की रुचि उपरोक्त प्रकार के निगमों की स्थापना के प्रति दिन-दिन बढ़ती जा रही है जो इस बात की सूचक है कि भारतवर्ष में भविष्य में औद्योगिक वित्त की कमी पूर्णतया समाप्त हो जायेगी।

अंतर्राष्ट्रीय अर्थ निगम (International Finance Corporation)—जुलाई १९५६ में अंतर्राष्ट्रीय अर्थ निगम की स्थापना हुई। यह प्रयास विश्व बैंक के पिछले १० वर्षों के महत्वपूर्ण प्रयोगों द्वारा संभव हो सका। इस प्रकार की संस्थाओं को निजी आधार पर चलाने का विचार किया गया तथा इसके द्वारा समस्त

निजी क्षेत्र के विनियोक्ताओं को सम्मिलित करने का प्रयास किया गया। भारतवर्ष ने इस हेतु अक्तूबर १९५५ में समझौते पर हस्ताक्षर किये।

निगम की अधिकृत पूँजी ४८ करोड़ रुपये है जो सम मूल्य के १ लाख अंशों में विभाजित की गई। इसमें यह प्रतिबन्ध लगाया गया था कि कम-से-कम ३२ राष्ट्रों को इसमें ७५ मिलियन डालर देने पड़ेंगे। अब तक ४५ देश ९० मिलियन डालर दे चुके हैं। निगम के संचालक मंडल को १० प्रतिशत अतिरिक्त विनियोग करने का अधिकार दे दिया गया जिसमें सदस्य देशों को प्राथमिकता दी जायेगी। निगम का सम्बन्ध विश्व बैंक से है, परन्तु अस्तित्व उसका स्वतंत्र है। इसके संचालक मंडल में विश्व बैंक का अध्यक्ष पद पदेन (Ex-officio President) के रूप में रहेगा, अथवा किसी अन्य को सभापति के पद पर नियुक्त किया जा सकेगा। इसके कार्य स्वतंत्र चार्टर के अनुसार ही होंगे।

निगम के उद्देश्य सदस्य देशों को जो अविकसित तथा अर्धविकसित हैं आर्थिक सहायता देना तथा निजी क्षेत्रों को विकास के लिये प्रोत्सहित करना है। हाल में निगम की गतिविधि औद्योगिक संस्थाओं तक ही सीमित रहेगी, किन्तु भविष्य में इसका क्षेत्र बढ़ाया जा सकेगा।

ऋण देने के सम्बन्ध में किसी भी उद्योग अथवा उद्योगों का प्रबन्ध तथा व्यापार की स्थिति को देखेगा और संतोषजनक अवस्था में ही ऋण देगा। निगम कुछ ऋण का केवल ५० प्रतिशत देगा तथा ५० प्रतिशत ऋण लेने वाली संस्था को पहले ही विनियोग करना होगा। निगम के द्वारा दिया गया ऋण लेने वाली संस्थाओं के अंशों तथा सम्बन्धों में सम्मिलित नहीं किया जा सकेगा। निगम का उद्देश्य घरेलू तथा विदेशी निजी क्षेत्रों में सहकारिता उत्पन्न करना है। इसलिये ज्यों ही ऋण प्राप्तकर्त्ता लाभ पर कार्य करने लगता है, निगम उसको दिये गये धन को अन्य संस्थाओं में विनियोग कर देगा। यह निगम अंतर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है तथा आशा की जाती है कि जैसे-जेसे इसका कार्यक्षेत्र बढ़ेगा, इसके सदस्य देशों को अधिकाधिक लाभ पहुँच सकेगा।

प्रश्न

1. How do the State Bank and the Commercial banks finance Indian industries ? Suggest measures by which they can be made more useful in this respect.

स्टेट बैंक तथा व्यापारिक बैंक भारतीय उद्योगों की किस प्रकार आर्थिक सहायता करती हैं ?

2. What in your opinion, should be the lines on which Industrial Banks should work in this country ? Are you in favour of their establishment ?

आपके विचार में भारतीय औद्योगिक बैंक अपना कार्य किस प्रकार करें ? क्या आप इन बैंकों की स्थापना के पक्ष में हैं ?

3. What are Industrial Banks ? What is their business and how do they transact this business ?

औद्योगिक बैंक किसे कहते हैं ? वे किन-किन कार्यों को किस प्रकार करती हैं ?

4. How are major industries in India financed ?

भारतीय बृहत उद्योगों को पूँजी किस प्रकार प्राप्त होती है ?

5. What are the causes for the slow growth of industrial banking in India ?

भारतवर्ष में औद्योगिक बैंकों की धीमी प्रगति के क्या कारण हैं ?

6. How do the important industries get their capital ?

7. Discuss the objects, constitution and functions of the Industrial Finance Corporation in India. What criticism has been levelled against it ?

औद्योगिक वित्त निगम के उद्देश्य, विधान तथा कार्यों का वर्णन कीजिये। इसकी क्या आलोचनाएँ हुई हैं ?

8. Write short notes on :—
(a) State Finance Corporation ;
(b) Industrial Credit and Investment Corporation ;
(c) International Finance Corporation.

निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये— (अ) राज्य वित्त निगम, (ब) औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम, (स) अन्तर्देशीय वित्त निगम।

अध्याय ८

विदेशी विनिमय बैङ्क

(Foreign Exchange Banks)

परिभाषा—विदेशी विनिमय बैंक वास्तव में वे व्यापारिक बैंक हैं जिनके प्रधान कार्यालय विदेशों में हैं तथा उनकी शाखाएँ भारत में विद्यमान हैं। ये शाखाएँ अधिकतर भारतीय बन्दरगाहों तथा उन मुख्य व्यापारिक केन्द्रों में स्थापित हैं जहाँ से आयात-निर्यात का व्यापार अधिक होता है। इन विदेशी विनिमय बैंकों का मुख्य कार्य विदेशी व्यापार में आर्थिक सहायता तथा विनिमय की सुविधा प्रदान करना है। परन्तु वर्तमान काल में इन बैंकों ने अपनी शाखाएँ देश के आंतरिक भागों में भी स्थापित कर ली हैं और वह अन्य व्यापारिक बैंकों की भाँति साधारण बैंकिंग कार्य भी करती हैं।

विदेशी विनिमय बैंक के कार्य

(१) आयात-निर्यात के व्यापार को आर्थिक सहायता देना—विदेशी विनिमय बैंकों का मुख्य कार्य भारत के आयात-निर्यात को आर्थिक सहायता प्रदान करना है। उदाहरणार्थ जब भारतीय निर्यातकर्ता इस माल का भुगतान करने के लिये लंदन के किसी बैंक या साख कार्यालय से साख का प्रबन्ध कर लेता है और विदेशी बैंक द्वारा भारतीय निर्यातकर्ता को इसकी सूचना देता है और भारतीय व्यापारी उस साख के आधार पर लन्दन स्थित बैंक या साख कार्यालय पर ६० दिन की देखनहार विदेशी विनिमय हुन्डी लिख देता है। इस बिल के साथ अन्य प्रलेख जैसे जहाजी रसीद, बीमा की रसीद, बीजक आदि होते हैं। भारतीय व्यापारी इस विनिमय हुन्डी को भारत में किसी विनिमय बैंक को, जिसकी शाखा इंगलैण्ड में भी हो, देकर रुपये प्राप्त कर सकता है। यह विनिमय बैंक इस विनिमय हुन्डी को लंदन में उस विशेष विनिमय बैंक की स्वीकृति के लिये भेज देती है। स्वीकृत हो जाने पर विनिमय बैंक उसे बेचान कर देती है और यह हुन्डी लंदन की मुद्रा हुन्डी में बेच करके उस बिल की रकम प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार विनिमय बैंक विदेशी विनिमय हुन्डी को भारत में रुपयों में क्रय करके उसकी रकम लंदन में स्टर्लिङ्ग में प्राप्त कर लेते हैं। यदि विदेशी बैंकों के पास यथेष्ट धनराशि हो तो वे उसे अवधि तक अपने पास रख कर निश्चित तिथि पर उसका भुगतान ले सकते हैं। परन्तु यदि बाजार में

धन की कमी हो और व्यापार में तेजी हो तो वह हुन्डी को लंदन के मुद्रा बाजार में उसी समय बेचकर तुरन्त रुपये प्राप्त कर सकता है। ये विदेशी विनिमय हुन्डियाँ दो प्रकार की होती हैं : प्रथम—स्वीकृति पर कागजपत्र वाली हुन्डी और द्वितीय—भुगतान पर कागजपत्र वाली हुन्डी। स्वीकृति पर कागज-पत्र वाली हुन्डी ऐसे ग्राहकों के नाम लिखी जाती है जो विश्वासपात्र होते हैं और जिन्हें कुछ दिन की साख दी जा सकती है। इस प्रकार की हुन्डी ग्राहक द्वारा स्वीकार कर लेने पर ही माल के अधिकार सम्बन्धी कागज-पत्र ग्राहक को दे दिये जाते हैं।

यदि विनिमय हुन्डी भुगतान हुंडी है तो विनिमय बैंक लंदन के व्यापारी को कागज-पत्र तभी देगी जब कि वह इस हुन्डी का भुगतान कर दे। ब्रिटेन संयुक्त राज्य अमेरिका उथा उपनिवेशों और भारत के मध्य जो विदेशी विनिमय हुन्डियाँ लिखी जाती हैं वे प्रायः स्टर्लिङ्ग में ही लिखी जाती हैं। कभी-कभी ग्राहक अपनी बैंक में रोकड़ी रुपये जमा करा लेता है और उसे आदेश देता है कि वह अपनी विदेश स्थित शाखा अथवा प्रतिनिधि के द्वारा विक्रेता से माल सम्बन्धी कागज-पत्रों को लेकर नकद भुगतान कर दे। इस प्रकार के भुगतान पर कागज-पत्र प्राप्त करने को नकद भुगतान पर कागज-पत्र प्राप्त करना कहते हैं।

इस प्रकार यदि किसी भारतीय आयातकर्त्ता ने इंगलैण्ड से माल मँगाया हो तो इसका आर्थिक प्रबन्ध दो प्रकार से किया जा सकता है। प्रथम रीति के अनुसार जब भारतीय आयातकर्त्ता अथवा अन्य योरोपियन व्यापारी जिनका लंदन मुद्रा बाजार में ऐसा कार्यालय नहीं है जिसकी वहाँ पर अच्छी साख हो तब निर्यातकर्त्ता भारतीय आयातकर्त्ताओं पर ६० दिन का देखनहार बिल लिखता है। उसके साथ ही माल के अधिकार सम्बन्धी पत्र जैसे जहाजी रसीद, समुद्री बीमा, माल का बीजक आदि लगा देता है। ये पत्र और विनिमय बिल इंगलैंड का व्यापारी किसी विनिमय बैंक के द्वारा जिसकी शाखा भारत में स्थित है, भेज देता है। यह भारत स्थित शाखा भारतीय आयातकर्त्ता से बिल का भुगतान लेकर (यदि बिल का भुगतान बिल है) अथवा बिल को स्वीकृत कराकर माल के अधिकार पत्र में भारतीय आयातकर्त्ता को दे देगी। इस अवधि के पश्चात् इस हुन्डी का भुगतान भारतीय आयातकर्त्ता से लेकर यह रकम यह बैंक अपने प्रधान कार्यालय को भेज देती है।

दूसरी विधि के अनुसार यदि भारत के किन्हीं ऐसे आयातकर्त्ताओं द्वारा इंगलैण्ड से माल क्रय कर लिया गया है जिसके कार्यालय इंगलैण्ड में है, तो निर्यातकर्त्ता इंगलैण्ड की विनिमय बैंक के नाम विपत्र प्रलेख लिखकर उसे वहीं पर स्वीकृत करा के उसकी लंदन के मुद्रा बाजार में ही कटौती करा लेता है। और इस प्रकार माल का मूल्य स्टर्लिङ्ग में प्राप्त कर लिया जाता है। लंदन स्थित बैंक उस हुन्डी को स्वीकार

करके जहाजी रसीद, समुद्री बीमा तथा बीजक आदि विपत्र भारत से अपनी शाखा को भेज देता है। भारत स्थित शाखा भारतीय आयातकर्त्ता से अवधि समाप्त होने से पहले ही रुपये प्राप्त करके लंदन भेज देती है। इस प्रकार विदेशी हुन्डियाँ दोनों अवस्थाओं में स्टर्लिङ्ग में ही लिखी जाती हैं। परन्तु प्रथम रीत्यानुसार बिलों की कटौती में भारतीय व्यापारियों को अधिक ऊँची दर से ब्याज देनी पड़ती है क्योंकि ये विनिमय हुन्डियाँ लंदन में ही भुना ली जाती हैं जहाँ पर बट्टे की दर बहुत ही कम होती है।

(२) **विदेशी विनिमय बिलों का क्रय-विक्रय**—विदेशी विनिमय बैंक विदेशी व्यापार का भुगतान करने तथा प्राप्त करने के लिये विदेशी विनिमय हुन्डियों का क्रय-विक्रय करती हैं। जब इनके पास इस प्रकार की हुंडियों की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है तो वे रिजर्व बैंक को ये हुन्डियाँ एक निश्चित दर पर बेच सकती हैं और यदि इनके पास इन बिलों की कमी हो तो रिजर्व बैंक से विदेशी विनिमय एक निश्चित दर पर क्रय कर सकती हैं।

(३) **विदेशों को रुपये भेजने की सुविधा प्रदान करना**—विदेशी विनिमय बैंक, बैंक ड्राफ्ट, विदेशी विनिमय हुन्डियों तथा तार द्वारा विदेशों में धन भेजने का प्रबन्ध करती हैं। ये विदेशों में रुपये भेजने का एक सस्ता और सुविधाजनक साधन है। इसके अतिरिक्त विदेशी विनिमय बैंक संसार के प्रत्येक व्यापारिक केन्द्र पर तार की हुन्डी वेचती है।

भारतवर्ष में विदेशी विनिमय बैंकों का स्थान—विनिमय बैंक मुख्यतः विदेश व्यापार में आर्थिक सहायता प्रदान करती हैं जब कि व्यापारिक बैंकों का मुख्य कार्य देश के आंतरिक व्यापार को आर्थिक सहायता देना है। भारत में आयात और निर्यात व्यापार की उन्नति के साथ ही विनिमय की सुविधाओं के लिए विनिमय बैङ्कों की स्थापना हुई है। परन्तु प्रारंभिक अवस्था में विदेशी व्यापार इंगलैंड और भारत के मध्य ही सीमित रहा। अतः भारत में स्थापित पहले की विनिमय बैंक अंग्रेजी बैंकों की शाखायें थीं उन बैंकों के प्रधान कार्यालय लंदन में होते थे। किन्तु बाद में जब संसार के अन्य प्रमुख देशों के साथ भारत का विदेशी व्यापार अधिक मात्रा में होने लगा तब लंदन सुदूर पूर्व तथा संयुक्त राज्य में स्थापित विनिमय बैंकों की शाखाएँ भारत में भी स्थापित होने लगीं। उनमें से कुछ अपना अधिकतर व्यापार भारत में ही करती हैं, जैसे नेशनल बैंक आफ इंडिया, आस्ट्रेलिया ऐन्ड चाइना; दी मर्केन्टाइल बैंक आफ इंडिया, ग्रिडले ऐंड कम्पनी तथा ईस्टर्न बैंक। परन्तु दूसरी बैंक भारत में बहुत ही थोड़ा व्यापार करती हैं। विनिमय बैंकों के प्रधान कार्यालय भारत से बाहर है। आज-कल भारत में व्यापार करने वाली १८ बैंक हैं।

विनिमय बैंकों का मुख्य कार्य भारत के विदेशी व्यापार को आर्थिक सहायता प्रदान करना है। ये बैंक भारतीय निर्यात करने वालों द्वारा जारी की गई विनिमय हुंडियों को क्रय-विक्रय करती तथा कटौती करती हैं और साथ ही भारतीय आयात करने वालों पर क्रय की हुई वस्तुओं के लिये जारी की गई हुंडियों का रुपया प्राप्त करती हैं। इन विनिमय बैंकों का भारत के विदेशी व्यापार में सहायता पहुँचाने का एकाधिकार है, क्योंकि सीमित मात्रा में अपने व्यापारियों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के विदेशी व्यापार में आर्थिक सहायता करना स्टेट बैंक के लिये विधानतः निषिद्ध है। इसी प्रकार संयुक्त पूँजी वाली बैंकों के पास न तो पर्याप्त साधन ही हैं और न उनमें यह कार्य करने की विशेष योग्यता तथा प्रशिक्षण है। अतएव ये दोनों प्रकार की बैंक यह कार्य नहीं कर पातीं। जमा के कार्यों में ये विनिमय बैंक हमारी संयुक्त पूँजी वाली बैंकों से प्रतियोगिता करने में बड़ी समर्थ हैं। इन बैंकों ने अभी हाल में उन स्थानों में जहाँ वे स्थापित हैं, देश के भीतरी व्यापार में आर्थिक सहायता पहुँचाने की ओर प्रयास किया है। हमारे भारत की बैंकिंग के लिये यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि देश में व्यापार का इतना अधिक विस्तार होने पर भी केवल विदेशी व्यापार का काम करने के लिये अपनी निजी बैंक नहीं हैं। भारत में काम करने वाली इन बैंकों के विरुद्ध बहुत सी शिकायतें केन्द्रीय तथा प्रांतीय बैंकिंग कमेटियों के सामने आई हैं।

भारतीय बैंकिंग के पिछड़े होने के कारण—भारतीय बैंक विनिमय बैंकों का कार्य करने में असफल रही हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि ब्रिटिश सरकार की छत्रछाया में विदेशी बैंकों ने भारतीय विनिमय बैंकों के साथ उचित तथा अनुचित प्रतिद्वंद्विता करके उनकी उन्नति को ठेस पहुँचाई। भारतीय बैंकों की अधिकतर पूँजी देश के आंतरिक व्यापार में लगी रहती है तथा विदेशी व्यापार के लिये उनके पास बहुत कम पूँजी शेष रहती है। भारतीय बैंकों ने विदेशों में शाखायें खोलने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। विदेशी हुंडियों के क्रय करने तथा बेचने से सदैव ही पूँजी विदेशों से आती-जाती रहती है। इस पूँजी का प्रबन्ध करने के लिये विदेशों में इस बैंक की शाखा होना आवश्यक है। ब्रिटिश काल में भारतीय बैंकों को विदेशों में शाखा खोलने के लिये आर्थिक कठिनाई के अतिरिक्त राजनैतिक कठिनाइयाँ भी थीं। यदि विदेशों में शाखायें खोल भी दी जातीं तो भारतीय दासता के कारण वहाँ उनको किसी प्रकार के स्थानीय जमा मिलने की आशा न थी। विदेशों की मुद्रा प्रणाली की गूढ़ समस्याओं को समझने के लिये भारतीय बैंकों के पास सुरक्षित तथा अनुभवी कर्मचारी न थे। रिजर्व बैंक की स्थापना से पहले भारतीय बैंकों को विनिमय बैंकों के कार्य करने में प्रोत्साहन देने वाली कोई संस्था न थी। इम्पीरियल बैंक जिससे भारतीय

बैंक पथ प्रदर्शन की आशा करती थीं भारतीयों के मुकाबले सदैव विदेशियों का ही पक्ष ग्रहण करता था। यहाँ तक कि भारत सरकार भी अपना विनिमय का कार्य भारतीय बैंकों से कराने को तैयार न थी।

भारतीय विनिमय बैंक की स्थापना—भारतीय व्यापारियों को विदेशी विनिमय बैंकों के कारण विदेशी व्यापार चलाने में बड़ी असुविधा रहती है। एक भारतीय विनिमय बैंक की स्थापना अनुभव की जा रही है। विनिमय बैंक के भारी व्यय को दृष्टि में रखते हुए केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने यह सुझाव दिया कि भारतीय शक्तिशाली बैंक विदेशों में बैंकों से अपना सम्बन्ध स्थापित करके विदेशी व्यापार के लिये पूँजी जुटाने का कार्य करें। जर्मनी के बैंकों ने यही ढंग अपनाकर अपने विदेशी व्यापार को सहायता प्रदान की, किन्तु भारतीय बैंकों ने अभी तक विदेशी व्यापार में कोई भाग नहीं लिया। इसके कारण भारतीय व्यापारियों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। किन्तु यह हर्ष का विषय है कि पिछले कुछ वर्षों में भारतीय बैंकों ने विदेशी व्यापार पर ध्यान देकर विदेशों में अपनी शाखायें स्थापित कीं अथवा सम्बन्ध स्थापित किये। १६५८ में ३२ अनुसूचित बैंकों की और २७ अन-अनुसूचित बैंकों की १५ देशों में शाखायें तथा सम्बन्ध थे। ये शाखायें अधिकतर पाकिस्तान, मलाया, ब्रह्मा, लंका, जापान, आसाम, इंगलैण्ड तथा अमेरिका में हैं। हमारे बैंकों की विदेशी शाखायें बहुत अच्छा कार्य कर रही हैं। इनके पास विदेशों में १३५ करोड़ के लगभग जमा प्राप्त है। इन बैंकों का नकद कोष सुदृढ़ है। इन शाखाओं के स्थापित हो जाने से भारतीय व्यापारियों को विदेशी व्यापार चलाने में पर्याप्त सुविधायें प्राप्त हुई हैं। यदि भारतीय बैंक विदेशों में और अधिक शाखायें स्थापित कर लें तो इससे हमारे विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा और विदेशी विनिमय बैंकों का महत्व भी कम हो जायेगा।

विदेशी विनिमय बैंकों की आलोचनायें—विदेशी विनिमय बैंकों की कार्य पद्धति की समय-समय पर बड़ी आलोचनायें हुई हैं जो इस प्रकार हैं :—

(१) इन बैंकों के संचालक, अधिकारीगण तथा सब बड़े-बड़े कर्मचारी विदेशी होते हैं तथा भारतवासियों के साथ इन लोगों का व्यवहार ईर्षाजनक होता है। इन बैंकों ने विदेशी व्यापारियों को अधिक सुविधायें देकर तथा भारतीय व्यापारियों को उन सुविधाओं से वंचित रखकर विदेशी व्यापारियों को अधिक प्रोत्साहन दिया है।

(२) इन बैंकों की द्वेषपूर्ण नीति के कारण भारतीय जहाजी तथा बीमा कम्पनियाँ भी नहीं पनप सकीं; क्योंकि जो भारतीय व्यापारी इन बैंकों के साथ व्यवहार करते हैं उनको विदेशी जहाजों तथा विदेशी बीमा कम्पनियों की सेवा प्राप्त करने के लिये बाध्य किया जाता है।

(३) ये बैंक विदेशी व्यापारियों को ही विदेशों से माल साख पर मँगवाने की सुविधा देती हैं। परन्तु भारतीय व्यापारियों को ये सुविधायें रोकड़ मूल्य देने पर भी बड़ी कठिनता से देती हैं। ये बैंक विदेशी व्यापारियों की हुडियों को बहुत कम बट्टे तथा बिना किसी जमानत के चुका देते हैं परन्तु भारतवासियों को नहीं देतीं। ये भारतीय व्यापारियों से हर प्रकार का अनुचित व्यवहार करती हैं। इतना ही नहीं, ये विदेशी विनिमय बैंक भारतीय व्यापारियों को विदेशी विनिमय भी समय-समय पर ऊँची दरों से वेचती हैं जिससे भारतीय व्यापारियों को हानि उठानी पड़ती है।

(४) यह विदेशी विनिमय बैंक भारतीयों से बहुत-सा रुपया जमा करा लेती हैं और उस धन का उपयोग विदेशी व्यापारियों के लिये करती हैं। और कभी-कभी इस प्रकार जमा की हुई पूँजी को विदेशों में ले जाकर ब्याज पर लगा देती हैं जब कि भारत में स्वयं पूँजी की कमी है। ये बैंक भारत में नकद कोष नहीं रखतीं। फलस्वरूप भारतीय मुद्रा बाजार में पूँजी की सदैव ही कमी बनी रहती है।

भारतीय मुद्रा बाजार में इन बैंकों का कितना आधिपत्य है यह निम्नलिखित आँकड़ों से सुस्पष्ट हो जायेगा :—

विदेशी बैंकों का भारतीय व्यापार

लाख रुपयों में

वर्ष	जमाराशि	सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग	ऋण	हुंडियों की कटौती एवं क्रय	शुद्ध लाभ
१९४९	१६५,८८	४९,१५	१०५,६१	१६,४९	२,२४
१९५०	१७४,१६	४८,३३	११२,७३	२३,०१	२,०९
१९५१	१६९,८४	४५,१६	१४८,६९	२५,८३	३,१४
१९५२	१७६,५०	४३,३४	१३१,००	१९,३१	१,८७
१९५३	१६५,८४	४५,९७	११०,७१	२०,४४	१,३९
१९५४	१७८,४९	४६,३९	१२४,९४	२५,७५	१,२५
१९५५	१९५,१३	४६,०१	१४१,७९	३१,८८	१,६८
१९५६	१९६,१९	४६,७९	१४०,३२	३२,१९	१,८१
१९५७	१९९,०४	५१,११	१३९,२५	३४,२२	१,९०

उपरोक्त तालिका यह स्पष्ट करती है कि अभी तक विदेशी विनिमय बैंकों का भारत में व्यापार लगातार बढ़ रहा है। किन्तु यह इसलिये आश्चर्यजनक नहीं है कि भारत में व्यापारिक एवं औद्योगिक चहल-पहल अधिक हो रही है। जनता की क्रय-शक्ति में वृद्धि हुई है और न केवल विदेशी विनिमय बैंकों के व्यापार में, अपितु भारतीय बैंकों के व्यापार में भी आशातीत वृद्धि हुई है।

(५) इन बैंकों ने भारत की राजनैतिक एवं आर्थिक उन्नति में सदैव ही अड़-चनें डाली हैं और सदैव ही इस बात का प्रयत्न किया है कि भारत में कोई अच्छा मुद्रा मान स्थापित न होने पाये। ये बैंक ऐसी नीति अपनाती हैं जो राष्ट्रीय हित में नहीं होतीं। ये बैंक विदेशियों को भारत के व्यापारियों की आर्थिक स्थिति के विषय में द्वेषपूर्ण सूचना देती हैं जिससे हमारी साख को ठेस पहुँचती है।

(६) अधिकतर इन बैंकों का कार्य लन्दन मुद्रा बाजार के अल्पकालीन कोषों से चलता रहा है, परन्तु कुछ वर्षों में इन बैंकों ने पर्याप्त धन लोगों से जमा के रूप में प्राप्त कर लिया है और अब ये उसी से काम चलाते हैं। ये बैंक भारतीय व्यापार बैंकों से प्रतियोगिता करती हैं। वे भारतीयों से अधिक ब्याज देकर अधिक जमा प्राप्त करती हैं। उनके पास इतनी प्रचुर मात्रा में पूँजी होने के कारण तथा उनका संबन्ध लंदन मुद्रा बाजार से होने के कारण भारतीय मौद्रिक अधिकारी उन पर उपर्युक्त नियंत्रण रखने में असफल रहे।

(७) ये बैंक विदेशी व्यापारियों से विनिमय समझौतों के पूरा होने में यदि देर हो जाये तो अनुचित हर्जाना ले लेते हैं। विनिमय बैंक संघ की प्रत्येक कार्यवाही को भारतीय व्यापारियों से छिपाकर रखा जाता है जिससे भारतीय व्यापारियों को संघ के व्यवहारिक नियमों से कोई लाभ नहीं मिलता। कुछ व्यापारियों का यह भी आरोप है कि ये बैंक उन देशों की मुद्रा को परिवतन के लिए बहुत अधिक समय लेती हैं और अधिक कमीशन भी लेती हैं जिन देशों की बैंकें या बैंकों की शाखायें भारत में नहीं है। भारतीय व्यापारियों का यह भी कथन है कि ये बैंक भारतीय पूँजी को विदेशी उद्योगों और प्रतिभूतियों में विनियोगित करती हैं तथा इस प्रकार भारतीय पूँजी से लाभ विदेशियों को होता है।

(८) प्रत्येक देश में यह प्रथा है कि हुन्डी उस देश की मुद्रा में लिखी जाती है जो माल आयात करता है, और आयातकर्ता की स्वीकृति हो जाने पर इन हुन्डियों की कटौती होती है, किन्तु भारतीय विदेशी व्यापारिक हुंडियाँ भारतीय मुद्रा में न लिखी जाकर इंगलैंड तथा अमेरिका की मुद्रा में लिखी जाती हैं, क्योंकि विदेशी विनिमय बैंक विदेशी मुद्रा की हुंडियों को ही प्रोत्साहन देती हैं। फलस्वरूप भारतीय बैंक इन हुंडियों की कटौती करने में असमर्थ रहती हैं।

विदेशी विनिमय बैंकों के उपरोक्त दोषों का अध्ययन करने के पश्चात् इस बात की आवश्यकता अनुभव होती है कि इन बैंकों पर पूर्ण नियंत्रण रखा जाये। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के सम्मुख साक्षी देते हुए श्री मनु सूबेदार तथा नलिनी रंजन सरकार ने इन दोषों को दूर करने के लिये कुछ सुझाव दिये थे।

विनिमय बैंकों की कार्य पद्धति में सुधार करने के सुझाव

(१) इन विदेशी विनिमय बैंकों को अपनी कार्यशील पूँजी का ५० प्रतिशत विदेशों से लाभ चाहिये।

(२) इन बैंकों को भारत में केवल इतनी जमा राशि प्राप्त करने की अनुमति दी जाये जितना भारतीय विदेशी व्यापार में विनियोग करने के लिये आवश्यक है तथा भारतीय जमा राशि के लिये इन बैंकों पर कुछ विशेष कर लगाया जाये।

(३) केवल उन्हीं बैंकों को जमाराशि प्राप्त करने का अधिकार दिया जाये जो भारतीय मुद्रा के साथ पंजीकृत हुई हैं तथा जिनकी संचालक समिति में अधिकतर भारतीय हैं।

(४) विदेशी विनिमय बैंकों के बंदरगाहों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर शाखा खोलने की अनुमति प्रदान नहीं की जाये।

(५) भारतीय बैंकों के संगठन में इन्हें किसी प्रकार का अधिकार न दिया जाये।

(६) इन बैंकों पर यह प्रतिबंध लगाया जाये कि ये किसी प्रकार का संयोग सन्निधि, पार्षद् एवं प्रन्यास इत्यादि स्थापित न करें क्योंकि ऐसा करने में बैंक शक्तिशाली होकर भारतीय बैंकों के साथ प्रतिस्पर्धा करने में सफल होते हैं।

(७) विनिमय बैंक अपने नियमों में केवल भारतीय व्यापारियों के परामर्श से ही परिवर्तन करें।

(८) इन बैंकों के लिये यह अनिवार्य कर दिया जाये कि भारतीय युवकों को ऊँचे पद पर नियुक्त करें तथा भारतीय बीमा कम्पनियों को प्रोत्साहन दें।

(९) इन बैंकों को भारतीय बैंकों तथा व्यापारियों के साथ सौतेली माता जैसा व्यवहार न करना चाहिये। जहाँ भी विनिमय बैंक की शाखा हो वहाँ एक स्थानीय परामर्श बोर्ड स्थापित की जाये जो ऋण देने के सम्बन्ध में उचित परामर्श दे सके। इस से विदेशी बैंकों तथा भारतीय व्यापारियों के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो जायेंगे।

(१०) केवल उन देशों के बैंकों को ही भारत में व्यापार करने की अनुमति प्रदान की जाये जो भारतीय बैंकों को अपने देश में इसी प्रकार की अनुमति प्रदान करती हैं। इंगलैंड तथा अमेरिका में विदेश बैंक सम्बन्धी यही नीति है। हमें भी इसका अनुसरण करना चाहिये।

१९४९ के भारतीय बैंकिंग कम्पनी अधिनियम में विनिमय बैंक संबंधी विधान—१९४९ बैंकिङ्ग कम्पनीज अधिनियम के पारित हो जाने से विदेशी विनिमय बैंक पर पर्याप्त नियंत्रण होने लगा है। अधिनियम के अंतर्गत बैंकों पर निम्नलिखित प्रतिबन्ध लगाये गये हैं :—

(१) उस विदेशी बैंक की, जो भारतवर्ष से बाहर पंजीकृत है, चुकता पूँजी तथा संचय १५ लाख रुपये से कम नहीं होना चाहिये और यदि यह बैंक बम्बई अथवा कलकत्ते या दोनों में व्यापार करती हैं, तो यह राशि २० लाख से कम न होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त इन बैंकों के लिये यह भी अनिवार्य है कि एक निर्धारित रकम नकदी में अथवा सरकारी प्रतिभूतियों में रिजर्व बैंक के पास जमा रखें, जिससे इस रकम से बैंक का विघटन हो जाने पर ऋणदाताओं का भुगतान किया जा सके।

(२) रिजर्व बैंक केवल उन्हीं बैंकों को अनुमति प्रदान करेगी जिनकी आर्थिक अवस्था संतोषजनक है तथा जिस देश की वे बैंक हैं वे देश भारतीय बैंकों के साथ कोई भेदभाव नहीं करतीं।

(३) इन बैंकों की कम-से-कम इतनी सम्पत्ति भारत में होनी चाहिये जो इनकी माँग तथा सामाजिक दायित्व के ७५ प्रतिशत के समान हो। इस सम्पत्ति की सूची रिजर्व बैंक के पास ३१ मार्च, ३० जून, ३० सितम्बर तथा ३१ दिसम्बर को भेजी जायेगी। यह विधान इसलिये किया गया है जिससे भारतीय पूँजी बाहर जाने से रुक जाये। इन बैंकों के लिये यह अनिवार्य है कि ये भारतीय व्यापार सम्बन्धी लाभालाभ लेखे तथा चिट्ठे प्रथक बनायें और इनका अंकेक्षण तथा प्रकाशन उसी प्रकार करें जिस प्रकार भारतीय बैंक करती हैं।

(४) प्रधान कार्यालय तथा प्रत्येक शाखा में एक प्रमुख स्थान पर बैंक का लाभालाभ लेखा तथा चिट्ठा हर समय तब तक लगा रहेगा जब तक दूसरा नवीन न लग जाये।

रिजर्व बैंक द्वारा नियंत्रण के कारण विदेशी विनिमय बैंक अब उतनी शक्तिशाली नहीं रहीं जितनी पहले थीं और शनैः-शनैः भारतीय बैंकों के साथ इनकी प्रतिस्पर्धा कम होती जा रही है।

प्रश्न

1. Explain the nature of the business of the Exchange Banks in India. What criticism have been levelled against them ?

भारतवर्ष में विनिमय बैंकों के कार्यों की विवेचना कीजिये। उन पर क्या आरोप लगाये जाते हैं ?

2. How do the Exchange Banks Finance the foreign trade of this country ? Can you suggest improvements in the method of their operations ?

विनिमय बैंक इस देश के विदेशी व्यापार की किस प्रकार आर्थिक सहायता करती हैं ? क्या आप इनकी कार्य पद्धति में सुधार के सुझाव दे सकते हैं ?

3. What specific measures would you suggest for the creation and growth of Exchange Banking in India? Why has Indian Exchange Banking remained undeveloped so far?

भारतवर्ष में विनिमय बैंकों की स्थापना एवं विकास के लिये आपके ठोस सुझाव क्या हैं ?

4. Indicate the place of Exchange Banks in the Indian banking system and describe the nature of work they perform.

भारतीय बैंकिंग पद्धति में विनिमय बैंकों का स्थान बतलाइये तथा उनके कार्यों का वर्णन कीजिये।

5. The Exchange Banks operating in India are mostly foreign. How do you account for this and how does this fact operate against the interests of our country?

"भारतवर्ष में कार्य करने वाली अधिकांश विनिमय बैंक विदेशी हैं।" आप इस कथन की कहाँ तक पुष्टि करते हैं ? और यह भारतीय हितों के किस प्रकार विरुद्ध हैं ?

6. Describe the main functions of Exchange Banks. Give names of four important Exchange Banks working in India.

विनिमय बैंकों के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये तथा भारतवर्ष में कार्य करने वाली चार प्रमुख विनिमय बैंकों के नाम बतलाइये।

7. "Foreign Exchange Banks gave a step-motherly treatment to Indian traders." Confirm this statement.

"विदेशी विनिमय बैंकों ने भारतीय व्यापारियों के साथ सदैव ही सौतेले बेटे जैसा व्यवहार किया है।" इस कथन की पुष्टि कीजिये।

8. How are the Foreign Exchange Banks controlled in India?

विदेशी विनिमय बैंकों पर भारतवर्ष में किस प्रकार नियंत्रण होता है ?

अध्याय ९

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक

(International Bank)

बैंक की स्थापना—द्वितीय महायुद्ध काल में संसार के सभी अर्थशास्त्रियों एवं राजनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि युद्ध के कारण हुए विनाश की पूर्ति करने के लिये सभी देशों के पुनर्निर्माण तथा विकास की आवश्यकता होगी। कोई भी व्यक्तिगत संस्था इतने बड़े आर्थिक भार को सहन करने में असमर्थ रहेगी। अतः १९४४ में ब्रीटनवुड्ज़ में एक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंस हुई और अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निमाण तथा विकास बैंक की स्थापना के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता हुआ। बैंक की स्थापना का मुख्य उद्देश्य दीर्घकालीन पूँजी को एक देश से दूसरे स्थान पर पहुँचाना, अन्तर्देशीय व्यापार को बढ़ावा देना तथा सदस्य देशों के भुगतान के संतुलन की समानता स्थिर रखना था। इसके अतिरिक्त सदस्य राष्ट्रों की आर्थिक उन्नति एवं पुनर्निर्माण में सहायता पहुँचाने के हेतु अन्तर्राष्ट्रीय बैंक सदस्य राष्ट्रों को ऋण देगी तथा अन्य देशों द्वारा दिये गये ऋण की जमानत करेगी। इस प्रकार बैंक का मुख्य कार्य सदस्य राष्ट्रों की आर्थिक सहायता करना है। इसके अतिरिक्त बैंक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तिगत ऋणों की गारंटी लेकर प्रोत्साहन देगी और यदि ऐसे ऋण उपलब्ध न हो सकें तो स्वयं उत्पादन कार्यों के लिये ऋण प्रदान करेगी जिससे सदस्य देशों की उत्पादक शक्ति, जीवन स्तर तथा श्रमिकों की कार्य-दशा में उन्नति हो सके। बैंक का एक उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगों को उचित सुविधाएँ प्रदान करके प्रोत्साहन देना भी है जिससे इनका व्यापारिक स्थिति पर ठीक प्रभाव पड़े। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये १९४५ में अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना हुई। यह बैंक केवल उत्पादन कार्यों के लिये ही ऋण प्रदान कर सकती है। बैंक से ऋण लेकर सदस्य किसी भी देश में सामान क्रय करने के लिये स्वतंत्र होता है। उस पर ऐसा कोई भी प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता कि वह किसी भी देश में धन व्यय करे।

बैंक की पूँजी—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की अधिकृत पूँजी १० अरब डालर है। सन् १९५५ में ९ अरब डालर पूँजी बैंक के ५८ सदस्य देशों द्वारा लगाई गई थी।

अंतर्राष्ट्रीय बैंक का केवल वही राष्ट्र सदस्य हो सकता है जो अन्तर्राष्ट्रीय कोष का भी सदस्य हो।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की पूँजी का जितना भाग प्रत्येक देश को दिया गया है उसकी केवल २० प्रतिशत पूँजी ही सदस्यों ने चुकाई है। शेष ८० प्रतिशत पूँजी सुरक्षित गारंटी के तौर पर है जिसे बैंक जब चाहे माँग सकता है। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के मुख्य कार्य सदस्य बैंकों द्वारा लिये ऋण की गारंटी देना है। अस्तु, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को बहुत अधिक पूँजी इकट्ठी करने की आवश्यकता नहीं थी। यदि कोई देश अपना ऋण न चुका सके तभी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को उस ऋण का मूलधन तथा उसकी ब्याज देनी होगी, क्योंकि उसने उस ऋण की गारंटी दी है। ऐसी स्थिति बहुत कम उपस्थित होगी। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के लिये यह आवश्यक नहीं था कि वह प्रत्येक देश से उसके माँग की पूरी रकम प्राप्त कर लेती। अस्तु, बैंक ने प्रत्येक देश से उसके माँग की २० प्रतिशत रकम ही प्राप्त की है। शेष ८० प्रतिशत जब बैंक चाहे तब प्राप्त कर सकती है।

प्रत्येक देश ने अपने माँग की २० प्रतिशत रकम को इस प्रकार चुकाया है.—

२ प्रतिशत स्वर्ण अथवा अमेरिकन डालर के रूप में तथा शेष उस देश की अपनी मुद्रा में। यदि कभी बैंक को शेष ८ प्रतिशत पूँजी को माँगना पड़ा तो सदस्य देश की सुविधानुसार स्वर्ण में, अथवा अमेरिकन डालर में, अथवा उस मुद्रा में जिसका बैंक को भुगतान करने के लिये उस समय आवश्यकता है, चुकाया जावेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने प्रत्येक देश से उसके भाग की केवल २० प्रतिशत रकम ही प्राप्त की है। यही अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की कार्यशील पूँजी है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि इससे ही बैंक की सदस्य देशों को ऋण देने की शक्ति सीमित हो जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ऋण की गारंटी देने अथवा सीधा ऋण देने के अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर किसी सदस्य देश के बाजार में अपनी प्रतिभूति (ऋणपत्र) बेचकर धन प्राप्त कर सकती है तथा उस धन को ऋण स्वरूप अन्य देश को दे सकती है।

भारतवर्ष में ४० करोड़ डालर पूँजी क्रय करने का वचन दिया है। जिसमें से कुछ डालर में, कुछ भारतीय रुपये में तथा कुछ ब्याज रहित अविनिमय साध्य माँगपत्रों में लगाई गई है। भारत को ४२५० मतों का अधिकार प्राप्त है।

बैंक का संगठन—बैंक का संगठन एक गवर्नर-परिषद, कार्यकारिणी समिति तथा अध्यक्ष द्वारा होता है। प्रमुख संगठन गवर्नर परिषद ही है। इस परिषद में प्रत्येक सदस्य अपना एक-एक प्रतिनिधि भेजता है। कार्यकारिणी समिति में १२

सदस्य होते हैं जिसमें से ५ सदस्य बड़े-बड़े देशों द्वारा तथा शेष अन्य सदस्यों द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। अध्यक्ष की नियुक्ति कार्यकारिणी समिति करती है। बैंक ७ सदस्यों वाली एक परामर्शदात्री समिति नियुक्त करती है जो बैंक को समय-समय पर बैंक की सामान्य नीति सम्बन्धी परामर्श देती है। ऋण सम्बन्धी आवेदन-पत्रों की जाँच-पड़ताल एक विशेष समिति द्वारा की जाती है जिसे कार्यकारिणी समिति नियुक्त करती है। बैंक की गवर्नर-परिषद की बैठक सदस्य देशों के नियंत्रण पर भिन्न-भिन्न देशों में होती है। रूस अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का सदस्य नहीं है, अतः भारत ५ बड़े राष्ट्रों की श्रेणी में आ गया और उसको बैंक की परिषद् में एक स्थान मिला हुआ है।

बैंक की कार्य-प्रणाली—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक केवल निम्नलिखित परिस्थितियों में ही ऋण प्रदान करती है—

(१) यदि कोई सदस्य राष्ट्र की सरकार स्वयं ऋण लेना चाहे तब तो अन्तर्राष्ट्रीय बैंक बिना केन्द्रीय बैंक की जमानत पर ऋण दे देगी अन्यथा जिस देश में कोई योजना कार्यान्वित की जा रही है उसको ऋण देने के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उस देश की केन्द्रीय बैंक से ऋण के चुकाने की जमानत लेगी। यदि बैंक ऋणदाता देश के ब्याज की दर और शर्तों से संतुष्ट है और ऋणों के भुगतान करने की नीति उसे उचित लगती है, तभी वह ऋण प्रदान करती है।

(२) जब ऋण किसी देश के उद्योगों अथवा स्थानीय सरकारों द्वारा लिया जाता है, उस समय ऋण का उत्तरदायित्व उस देश की सरकार को लेना पड़ता है, तभी विश्व बैंक ऋण प्रदान करती है अथवा व्यक्तिगत ऋणों का उत्तरदायित्व लेती है।

(३) बैंक स्वयं ऋण उसी समय प्रदान करती है जब कि ऋण माँगने वाले देश को किसी अन्य देश से ऋण प्राप्त नहीं होता। ऋणी देश ऋणदाता देश से वस्तुओं के रूप में ऋण लेने के लिये मजबूर नहीं किया जा सकता।

(४) ऋण देते समय बैंक इस बात का भी ध्यान रखती है कि सदस्य राष्ट्र उस ऋण को चुकाने की क्षमता रखता है अथवा नहीं। यदि बैंक स्वयं किसी सदस्य राष्ट्र को ऋण देगी तभी तो वह उचित ब्याज लेगी ही, परन्तु यदि बैंक स्वयं किसी राष्ट्र को दिये गये ऋण की आमदनी की गारंटी देगी तो भी वह इस जोखिम के बदले में कुछ गारंटी कमीशन लेगी।

(५) जिस योजना के लिये ऋण माँगा गया है, बैंक उस योजना की जाँच एक विशेषज्ञों की समिति द्वारा कराती है और जब उसे ये संतोष हो जाता है कि योजना आर्थिक दृष्टि से ठीक है तभी उसे ऋण प्रदान किया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि योजना प्रत्यक्ष रूप से लाभदायक हो। योजना का महत्व एवं लाभ देश

के आर्थिक विकास की पृष्ठभूमि से ज्ञात किया जाता है। बैंक ऋण उसी समय प्रदान करती है जब ऋण माँगने वाले देश को किसी अन्य प्रकार से ऋण प्राप्त न हो सके।

(६) बैंक इस बात का भी निरीक्षण करती है कि जिस उद्देश्य के लिये ऋण लिया गया है उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये इसका उपयोग किया जा रहा है अथवा नहीं। इसी दृष्टि से बैंक ऋण लेने वाले सदस्यों को तांत्रिक (Technical) परामर्श भी देती है।

(७) किसी भी समय में बैंक द्वारा दिये गये ऋणों तथा उत्तरदायित्व लिये गये ऋणों की कुल राशि बैंक की पूँजी और संचित कोष से अधिक नहीं होगी। इस प्रकार बैंक के कुल दायित्व उसके कुल साधनों के समान होंगे। दिये गये ऋणों का जोखिम सदस्य देशों में उसके भाग के अनुपात में विभाजित होता है।

बैंक के ऋणों की मात्रा सदस्यों के चंदे पर निर्भर नहीं रहती। ऋण प्रदान करने के सम्बन्ध में बैंक किसी भी देश से प्रतियोगिता नहीं करती। बैंक अपने ऋणों पर ब्याज प्राप्त करने के अतिरिक्त अन्य देशों के ऋणों का उत्तरदायित्व लेती है जो एक अलग कोष में जमा कर दिया जाता है। इस कोष का उपयोग केवल डूबने ऋणों के कारण होने वाली हानि को पूरा करने के लिये होता है।

बैंक की सफलता—जैसे ही बैंक स्थापित हुई डालर ऋण के लिये कई देशों के प्रार्थनापत्र आये किन्तु मई १९४७ में जाकर कहीं बैंक ने पहला ऋण दिया। शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंकों को ऋण देने के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका के द्रव्य बाजार में ऋण लेना होगा। ब्रीटन-वुड्ज़ सम्मेलन में लोगों का यह विचार था कि प्रत्येक देश जो डालर ऋण लेना चाहेगा अपने बौंड संयुक्त राज्य अमेरिका में बेचेगा और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उनकी अदायगी की गारंटी देगी। विद्वानों का विचार था कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की गारंटी अमेरिकन पूँजीपतियों को उन देशों के बौंडों में अपना धन लगाने के लिये प्रोत्साहित करेगी। परन्तु बैंक ने द्रव्य बाजार की अव्यवस्थित दशा के कारण अन्य देशों के बौंडों की गारंटी न देकर स्वयं अपने बौंड संयुक्त राज्य अमेरिका के द्रव्य बाजार में बेचकर धन प्राप्त करना प्रारंभ किया। बैंक की जून १९५० में समाप्त होने वाली वर्ष की रिपोर्ट से विदित है कि मार्च १९५० में बैंक ने स्विस बैंकों और "बैंक फार इण्टरनेशनल सेटिलमेंट" को भी अपने बौंड बेचे। जून १९५१ में समाप्त होने वाले वर्ष में बैंक ने पहली बार बिना अपनी गारंटी के अपने ऋणियों के बौंड, योरोप, कनाडा तथा संयुक्त अमेरिका में बेचे। लंदन के बाजार में भी बैंक ने ब्रिटिश प्रतिभूतियाँ बेचीं।

बैंक ने ३१ मार्च १९५८ तक कुल मिलाकर २ अरब ९२ करोड़ ७० लाख डालर के ऋण प्रदान किये जिसमें से २ अरब २० करोड़ वास्तव में दे दिये गये हैं। इनमें से ५२ करोड़ ६० लाख डालर के ऋणों का भुगतान वापस मिल गया है तथा कुछ व्यक्तिगत विनियोग दाताओं ने बैंक से क्रय कर लिया है। कुल ऋण में से १ अरब ८१ करोड़ ३५ लाख डालर का ऋण अमेरिकन मुद्रा में दिया गया है। अधिकांश ऋण फ्रांस, नीदरलैंड्ज़, डेनमार्क, लाक्जम्बर्ग, बेल्जियम, फिनलैंड, टर्की, यूगोस्लेविया, चिली, मेक्सिको, ब्राजील, कोलम्बिया, ईराक, पाकिस्तान तथा भारत को दिये गये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक द्वारा भारत को ऋण—बैंक ने भारत को ३ करोड़ ४० लाख डालर का प्रथम ऋण ऐंजिन क्रय करने के लिये १८ अगस्त १९४९ को प्रदान किया। यह ऋण ३ प्रतिशत ब्याज पर तथा १ प्रतिशत कमीशन पर १५ वर्ष के लिये लिया गया। १ करोड़ डालर का दूसरा ऋण उसी ब्याज की दर से ७ वर्ष के लिये मध्य प्रदेश तथा भूपाल में काँसग्रस्त भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिये २९ सितम्बर १९४९ को प्रदान किया गया। १ करोड़ ८८ लाख डालर का तीसरा ऋण ४ प्रतिशत ब्याज तथा १ प्रतिशत कमीशन की दर से अप्रैल १९५० में दामोदर घाटी के विकास के लिये दिया गया। चौथा ऋण ३ करोड़ १५ लाख डालर का पौने पाँच प्रतिशत ब्याज तथा १ प्रतिशत कमीशन की दर से १५ वर्षों के लिये इंडियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी को १९५२ में प्रदान किया गया। जनवरी १९५३ में दामोदर घाटी निगम को २५ वर्ष के लिये १ करोड़ ९५ लाख डालर का एक और ऋण अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से प्राप्त हुआ। १९५६ में ७ करोड़ ५० लाख डालर का एक ऋण १५ वर्ष की अवधि के लिये ३½ प्रतिशत ब्याज की दर पर टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी को अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से प्राप्त हुआ। द्वितीय योजना को सफल बनाने के लिये भारतवर्ष को अधिक पूँजी की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में भारत के वित्त मन्त्री श्री मुरारजी देसाई ने अपनी अमेरिका यात्रा में बैंक के अधिकारियों से ऋण देने का अनुरोध किया। बैंक ने कुछ कार्यों के लिये ऋण देना स्वीकार भी कर लिया है और अपने विशेषज्ञों द्वारा ऋण के उद्देश्यों की जाँच-पड़ताल कर रहीं है।

सन् १९५६ में बैंक ने अपने से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग को बढ़ावा देने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना की। इस बैंक की पूँजी ७ करोड़ ८० लाख डालर है जो ३१ सदस्य देशों द्वारा लगाई गई है। इस निगम द्वारा दिये ऋण के लिये सरकार की जमानत की आवश्यकता नहीं है। यह आशा की

जाती है कि यह निगम व्यक्तिगत पूँजी को भिन्न देशों के उत्पादक कार्यों में लगाने के लिये प्रोत्साहन देगा।

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने अधिकांश ऋण पाश्चात्य देशों को ही प्रदान किये हैं फिर भी इसका कार्य सराहनीय है। भारत को इस बैंक से पर्याप्त सहायता प्राप्त हो रही है। आज भी भारत में ऐसी कई योजनाएँ विचाराधीन हैं जिनके लिये अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से आर्थिक सहायता प्राप्त होगी। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय बैंक अपने सदस्य देशों के आर्थिक विवादों के शान्तिपूर्वक सुलझाने में भी योग प्रदान करती है। भारत, पाकिस्तान का नहरी-पानी विवाद इसी बैंक की अध्यक्षता में सुलझाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

प्रश्न

1. What is International Bank and what are its functions?
   विश्व बैंक क्या है, तथा वह क्या कार्य करता है?
2. Describe the constitution and working of the World Bank.
   विश्व बैंक के विधान एवं कार्यों का वर्णन कीजिये।
3. What help do you expect for India from the International Bank for Development and Reconstruction? To what extent this help has been extended to this country?
   अन्तर्देशीय विकास एवं पुनर्निर्माण बैंक से भारत के लिये आप किस सहायता की आशा करते हैं? भारतवर्ष को यह सहायता कहाँ तक प्रदान की गई है?

अध्याय १०

सहकारी बैंक

(Co-operative Banks)

भारतवर्ष का कृषक सदा से ही निर्धन रहा है क्योंकि भारत की कृषि वर्षा पर निर्भर है। वर्षा न होने से भारतीय कृषक पर संकट आ जाता है। उसे अपना समस्त कार्य ऋण लेकर चलाना पड़ता है। भारतीय कृषक के पास कृषि करने के लिये बहुत कम जमीन है। जैसे-जैसे कुटुम्ब बढ़ता है वैसे-वैसे जमीन कम होती चली जाती है तथा कृषक को खेत में वर्ष में १५० दिन कार्य करना पड़ता है और शेष समय कुछ अन्य धंधा न होने के कारण व्यर्थ ही नष्ट करना पड़ता है। निर्धन होने के कारण भारतीय कृषक अच्छे औजार, अच्छे बीज तथा अच्छे खाद का प्रबन्ध नहीं कर सकता। फलतः कृषि में उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है। जो कुछ होती भी है उसके बेचने का उचित प्रबन्ध नहीं है। अतः निर्धन कृषक को परिश्रम द्वारा कमाई हुई उपज का पूरा मूल्य नहीं मिल पाता। इन सब कारणों से कृषक की आर्थिक अवस्था सदैव अच्छी नहीं रही है तथा उसे अपना कार्य ऋण लेकर चलाना पड़ता है।

कृषि के लिये तीन प्रकार के ऋणों की आवश्यकता होती है :—

(१) **थोड़े समय के लिये**—कृषक खाद तथा बीज को क्रय करने के लिये, आबपाशी तथा लगान चुकाने के, लिये गृह संबंधी व्यय के लिये थोड़े समय को ऋण लेता है। यह ऋण प्राय: ६ मास से लेकर १ वर्ष तक के लिये लिया जाता है।

(२) **साधारण समय के लिये**—पशुओं के क्रय करने, कृषि सम्बन्धी अधिक मूल्य के यंत्रों तथा औजारों को क्रय करने तथा भूमि सुधार के लिये १ वर्ष से ३ वर्ष तक के लिये ऋण की आवश्यकता होती है।

(३) **लंबी अवधि के लिये**—पशुओं के क्रय करने, पुराने ऋण चुकाने, कुओं इत्यादि बनाने के लिये ३ वर्ष से २० वर्ष तक के ऋण की आवश्यकता होती है।

ऋण मिलने के साधन—कृषक को भिन्न प्रकार के ऋण मिलने के साधन केवल ग्रामीण साहूकार सरकारी तकावी ऋण, सहकारी साख समिति तथा भूमि बंधन बैंक है।

साहूकार—भारतवर्ष के प्रत्येक ग्राम में महाजन अथवा साहूकार होता है जो लेन-देन का कार्य करता है। इन पेशेवर महाजनों तथा साहूकारों के अतिरिक्त और बहुत से गैर पैशेवर लोग, जैसे जमींदार, नौकरी करने वाले, वकील तथा व्यापारी इत्यादि भी ऋण देते हैं। जिसके पास थोड़ा सा भी धन संग्रह हो जाता है वही लेन-देन करने लगता है।

ग्रामों का पेशेवर साहूकार अथवा महाजन छोटी-मोटी रकम का ऋण अपनी बही में लिखकर देता है। उसकी न कोई साक्षी होती है, किन्तु जब रकम अधिक होती है तो प्रामिसरी नोट लिख लिया जाता है। वे कृषक को बिना किसी जमानत के इस आधार पर ऋण देते हैं कि ऋणी कृषक अपनी पैदावार को महाजन को बेच देगा अथवा महाजन द्वारा बेचेगा। एक प्रकार से यह फसल को गिरवी रख लेना है किन्तु रकम जब अधिक होती है तो भूमि, गहने तथा मकान बंधक रख दिये जाते हैं। महाजन को इस बात की कोई चिन्ता नहीं होती कि कृषक किस कार्य के लिये ऋण ले रहा है। उत्पादक कार्य अथवा विवाह-शादी जैसे अन्य अनुत्पादक कार्यों के लिये ऋण लेता है इससे महाजन को कोई सम्बन्ध नहीं होता। ऋण सम्बन्ध सुविधाओं के लिये ग्रामीण साहूकार ही केवल कृषकों का सहायक है। यह बिना जमानत के हर समय ऋण देने को प्रस्तुत रहता है। यह तो ठीक ही है कि वह अधिक ब्याज लेता है, परन्तु फिर भी कृषक की आवश्यकताओं को जिसे कोई दूसरा पूरा करने के लिये तैयार नहीं है, पूरा कर ही देता है। साहूकार ही एक ऐसा ऋणदाता है जो संकट काल में भी अपने ऋणी की सहायता करता है। अतः साहूकार ग्रामीण साख में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। साहूकारों का पूर्ण अध्ययन एक पृथक अध्याय में किया जायेगा।

सरकारी तकावी ऋण—भारतवर्ष में राज्यीय सरकारें कृषक को लम्बे समय के लिये तकावी ऋण देती हैं। उन्हें लम्बे समय के लिये तकावी ऋण १८८३ के भूमि सुधार कानून के अंतर्गत दिया जाता है। और थोड़े समय के लिये तकावी ऋण कृषक कानून के अंतर्गत दिया जाता है। पहले कानून के अंतर्गत भूमि सुधार करने, कुँआ खोदने अथवा बाँध बनाने के लिये लम्बे समय के लिये ऋण दिया जाता है। तथा दूसरे कानून के अंतर्गत खेतीबारी के लिये, उदाहरणतः-बीज, खाद, हल, बैल, खाद इत्यादि क्रय करने के लिये थोड़े समय के लिये ऋण दिया जाता है। पहले कानून के अनुसार ऋण अधिक-से-अधिक ३५ वर्षों के लिये दिया जा सकता है। किन्तु व्यवहार में २० वर्षों से अधिक के लिये ऋण नहीं दिया जाता। दूसरे कानून के अंतर्गत ऋण एक अथवा दो वर्ष के लिये दिया जाता है तथा फसल तैयार होने पर प्राप्त कर लिया जाता है। इन दोनों कानूनों के अंतर्गत सब प्रान्तीय सरकारों

द्वारा दिये गये ऋण की रकम क्रमशः ३५ लाख और ६० लाख रुपये वार्षिक होती है। भारत जैसे विशाल देशों में इतना कम ऋण लिया जावे, इस बात को सिद्ध करता है कि यह ऋण अधिक आकर्षक नहीं है तथा कृषक सरकार द्वारा दी गई इस सुविधा का उपयोग नहीं करते। इसके निम्नलिखित कारण हैं :—

कृषकों की आवश्यकता को देखते हुए ऋण बहुत कम दिया जाता है। जब कृषक ऋण के लिये प्रार्थनापत्र देता है तो उसे महीनों प्रतीक्षा करनी पड़ती है, तब कहीं जाकर उसे ऋण मिलता है। यद्यपि ब्याज बहुत उचित दी जाती है (६ प्रतिशत) परन्तु तहसील के कर्मचारी जो ऋण देने का कार्य करते हैं वे कृषक से उत्कोच और नजराना लेकर उनके प्रार्थनापत्र पर सिफारिश करते हैं। अतएव कृषक को ६ प्रतिशत से बहुत अधिक देना पड़ता है। ऋण को प्राप्त करने में बहुत अधिक कठोरता का व्यवहार किया जाता है। कभी-कभी कृषक को महाजन से ऋण लेकर तकावी का रुपया जुटाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह ज्ञान कि तकावी किस प्रकार ली जाती है, अधिकांश कृषकों को नहीं है। इस कारण तकावी ऋण का भारतीय कृषकों ने अधिक उपयोग नहीं किया।

यदि ऋण का प्रबन्ध ठीक प्रकार से हो, ऋण लेने वाले को अधिक समय तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़े, उसे तहसील के कर्मचारियों को उत्कोच तथा नजराना न देना पड़े, यदि फसल नष्ट हो जावे तो वसूली रोक दी जाये, तकावी के प्राप्त करने में कम कठोरता व्यवहार में लाई जावे, तकावी किस प्रकार मिलती है इसका ज्ञान कृषक को दिया जावे तथा सरकार यथेष्ट रकम ऋण देने लगे तो इसका अधिक उपयोग हो सकता है। नहीं तो तकावी ऋणों का ग्रामीण साख में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है।

सहकारी साख समितियाँ—कृषकों की ऋण समस्या को सुलझाने के लिये तथा उनकी आर्थिक उन्नति के लिये १९०४ में एक कानून पास करके सरकारी साख समितियाँ स्थापित करने का कार्य प्रारम्भ किया गया। उक्त कानून में कुछ दोषों को दूर करने के लिये १९१२ में एक नवीन सहकारी संविधान बना दिया गया तथा उसके अंतर्गत बहुत से स्थानों पर प्रारंभिक साख समितियाँ स्थापित कर दी गईं जो देश में कृषकों तथा अन्य छोटे-छोटे व्यक्तियों की उचित सेवायें कर रही हैं। ग्राम में चालू होने वाली एक प्रारंभिक साख समिति का विधान तथा कार्यों का वर्णन नीचे दिया जाता है :—

प्रायः एक ग्राम में एक ही साख समिति स्थापित की जाती है। समिति का प्रबन्ध करने का अधिकार साधारण सभा तथा प्रबन्ध कारिणी समिति अर्थात् पंचायत को होता है। साधारण सभा सब महत्वपूर्ण प्रश्नों पर अपना मत स्पष्ट देती है।

और पंचायत साधारण सभा की आज्ञा का पालन करती है। वस्तुतः साधारण सभा केवल नीति निर्धारित करती है और पंचायत द्वारा कार्य करती है।

प्रबन्धकारिणी समिति निम्नलिखित कार्य करती है :—

(१) सब सदस्यों को अंश देती है और समिति का सदस्य बनाती है।

(२) यह ग्राम में जमा संग्रह करने का प्रयत्न करती है तथा सेन्ट्रल तथा जिले के सहकारी बैंक से ऋण लेने का प्रयत्न करती है।

(३) वह यह भी निश्चय करती है कि किन सदस्यों को कितने समय के लिये रुपया उधार दिया जावे। साथ ही उस अवधि के अंत में ऋण के रुपयों को प्राप्त करती है।

(४) यह समिति के आय-व्यय का लेखा रखती है और सहकारिता विभाग के रजिस्ट्रार से लिखा-पढ़ी करती है।

(५) यह उन सदस्यों के लिये जो सम्मिलित रूप से आवश्यक वस्तुओं को क्रय करना चाहते हैं, तथा खेती की पैदावार को बेचना चाहते हैं, दलाल का काम करती है।

(६) यह सदस्यों में मितव्ययता का प्रचार करती है तथा अपनी बचत को जमा करने के लिये प्रोत्साहित करती है। यह सरपंच तथा मंत्री का चुनाव करती है। सरपंच समिति के कार्य की देखभाल करती है तथा मंत्री समिति का हिसाब रखता है।

समिति प्रवेश फीस, अंशों का मूल्य, डिपाजिट तथा ऋण के द्वारा कार्यशील पूँजी संग्रह करती है। रक्षित कोष भी समिति की कार्यशील पूँजी को बढ़ाता है। प्रवेश फीस नाम मात्र की होती है जो समिति की स्थापना में होने वाले व्यय के लिये ली जाती है। कुछ प्रान्तों में अंश होते ही नहीं। पंजाब, उत्तर प्रदेश, तथा मद्रास में साख समितियाँ अंशवाली होती हैं। अन्य प्रान्तों में अंश तथा अंश रहित दोनों ही प्रकार की समितियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

भारतवर्ष में समितियाँ अंशवाली तथा अंश रहित होनी चाहिये यह प्रश्न विचारणीय है। कुछ विद्वानों का मत है कि समितियाँ अंशवाली होनी चाहिये क्योंकि अंशों को बेचकर, थोड़ी कार्यशील पूँजी इकट्ठी कर ली जाती है। समिति अपनी पूँजी सदस्यों को ऋण स्वरूप देकर उन पर लाभ उठाती है तथा प्रत्यक्ष रूप से रक्षित कोष की वृद्धि होती है। सदस्य समिति के कार्यों में विशेष रुचि से भाग लेते हैं क्योंकि वे समिति को अपनी वस्तु समझते हैं। यह सब ठीक है परन्तु भारत के ग्रामों में इतनी निर्धनता है कि ईमानदारी परिश्रमी को अंश का मूल्य चुकाने में कठिनाई हो सकती है तथा वह समिति की सदस्यता से वंचित रह सकता है। इस

कारण कुछ प्रान्तों में तो अंश होते ही नहीं तथा जहाँ होते भी हैं बीस रुपये से अधिक नहीं होते जिन्हें सदस्य धीरे धीरे चुकाता है।

साख समिति का कोई भी सदस्य एक निश्चित रकम से अधिक के अंश क्रय नहीं कर सकता। प्रत्येक सदस्य को केवल एक वोट देने का अधिकार होता है। प्रवेश फीस तथा अंशों के मूल्य से समिति के पास नाम-मात्र की पूँजी इकट्ठी होती है। इस कारण समितियाँ अधिकतर सहकारी अथवा जिला सहकारी बैंकों से ऋण लेकर काम चलाया करती हैं। भारत में सहकारी साख समितियाँ अभी तक डिपाजिट आकर्षित करने में सफल नहीं हुई। वास्तव में कोई साख समिति जितनी ही अधिक डिपाजिट आकर्षित करे वह उतनी ही सफल समझी जानी चाहिये, क्योंकि डिपाजिट तभी जमा होगी जब कि जनता को समिति का विश्वास होगा। भारतवर्ष में बम्बई प्रान्त को छोड़कर अन्य किसी प्रान्त में अभी तक साख समितियाँ डिपाजिट आकर्षित नहीं कर पाई हैं। साख समितियाँ उन लोगों से भी डिपाजिट स्वीकार करती हैं जो समिति के सदस्य नहीं होते। समिति के पंचों को कोई वेतन नहीं मिलता। केवल मन्त्री को यदि वह सदस्य हो तो थोड़ा सा वेतन दिया जाता है।

सहकारी साख समितियों की स्थापना लाभ की दृष्टि से नहीं की जाती। अतः अपरिमित दायित्व वाली समितियों का लाभ तो बाँटा नहीं जाता और यदि बाँटा भी जाता है तो जब रक्षित कोष पूँजी के बराबर हो जाता है तब प्रान्तीय सरकार से आज्ञा लेकर बाँटा जाता है। परिमित दायित्व वाली समितियों में लाभ बाँटा जा सकता हैं। किन्तु उनको भी यथेष्ट धन रक्षित कोष में जमा करना पड़ता है।

सहकारी साख समितियों का प्रबन्ध-व्यय बहुत कम होने के कारण तथा लाभ न बँटने के कारण रक्षित कोष यथेष्ट जमा हो जाता है। प्रत्येक साख समिति के लिये रक्षित कोष अत्यन्त आवश्यक है। रक्षित कोष किसी भी अवस्था में सदस्यों में बाँटा नहीं जा सकता। उसका उपयोग समिति के कार्यों में हानि होने पर उसे पूरा करने में होता है। यदि किसी देनदार से रुपया प्राप्त नहीं होता अथवा किसी वस्तु को बेचने में हानि हो तो उसको रक्षित कोष से पूरा किया जाता है। यदि साख समिति भंग हो जावे तो रक्षित कोष या तो किसी अन्य सहकारी समिति को दे दिया जायेगा अथवा सहकारिता विभाग के रजिस्ट्रार की अनुमति से ग्राम सार्वजनिक हितकर कार्य में व्यय किया जायेगा। अपरिमित दायित्व वाली समितियाँ रक्षित कोष के धन को निजी कार्य में लगाती हैं। बाहर जमा नहीं करतीं।

यदि किसी समिति को हानि हो जाये तो सर्व प्रथम उस सदस्य से रुपया प्राप्त किया जायेगा जिसने ऋण लिया है। यदि उससे प्राप्त न हुआ तो रक्षित कोष

से हानि भर दी जायेगी। यदि उससे भी हानि पूरी न हुई तो समिति की पूँजी का उपयोग किया जायेगा। यदि समिति की पूँजी देकर भी हानि पूरी न हो सके तो समिति के सदस्यों को समिति के लेनदारों का रुपया चुकाना होगा। प्रत्येक सदस्य को कितना रुपया देना होगा इसका हिसाब Liquidater लगायेगा। व्यवहारिक दृष्टि से अपरिमित दायित्व से यही अर्थ निकलता है। किन्तु सिद्धान्त से प्रत्येक सदस्य व्यक्तिगत रूप से सारे ऋण को चुकाने के लिये बाध्य है। यह उसी दशा में हो सकता है जब अन्य सदस्यों से रुपया प्राप्त न हो सके।

साधारण सभा अपनी मीटिंग में समिति की साख निर्धारित कर देती है। पञ्चायत उससे अधिक ऋण नहीं ले सकती। समिति की साख को निर्धारित करने के लिये यह आवश्यक है कि समिति के सदस्यों की सम्पत्ति का एक-चौथाई से आधी तक साख निर्धारित की जाती है। समिति इस कार्य के लिये एक हैसियत रजिस्टर रखती है जिसमें प्रत्येक सदस्य की हैसियत का लेखा रहता है। इस रजिस्टर का प्रति-वर्ष संशोधन होता है तथा प्रत्येक सदस्य की हैसियत का यथार्थ लेखा रखने का प्रयत्न कि याजाता है।

इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित कर दिया जाता है कि प्रत्येक सदस्य अधिका-धिक कितना रुपया उधार ले सकता है। किसी भी दशा में सदस्य की सम्पत्ति का ५० प्रतिशत से अधिक ऋण नहीं दिया जाता। रुपया उधार देने के समय पञ्चायत ऋण लेने का उद्देश्य तथा सदस्य की चुकाने की शक्ति का अनुमान लगा कर ही ऋण देने का निश्चय करती है।

सहकारी साख आन्दोलन का यह सिद्धान्त है कि ऋण अनुत्पादक तथा व्यर्थ कार्यों के लिये न दिया जाये। किन्तु भारत में सहकारी समितियाँ अनुत्पादक कार्यों के लिये विशेषकर धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों के लिए ऋण देती हैं। पञ्चायत का यह मुख्य कर्त्तव्य है कि वह इस बात की जाँच करे कि सदस्य ऋण किस कार्य के लिये ले रहा है। साथ ही पञ्चायत को इस बात का भी पता लगना चाहिये कि सदस्य ने उसी कार्य में धन व्यय किया अथवा नहीं। यदि सदस्य ने किसी अन्य कार्य में धन व्यय किया है तो पञ्चायत को रुपया वापस ले लेना चाहिये, परन्तु भारतवर्ष में इस ओर पञ्चायत कभी भी ध्यान नहीं देती। कृषि के लिये धन दिया जाता है तथा व्यय होता है अनुत्पादक कार्यों पर। किन्तु पञ्चायत कभी भी रोक-टोक नहीं करती। पञ्चायत ऋण देते समय सदस्य की स्थिति को ध्यान में रख कर किश्तें बाँध देती है, क्योंकि सदस्यों को किश्तों में रुपया चुकाने में सुविधा होती है। पञ्चायत का यह मुख्य कार्य है कि वह सदस्य से समय-समय पर किश्त प्राप्त करे।

केन्द्रीय बैङ्क तथा बैंकिंग यूनियन—१६१२ के सहकारिता कानून के अंतर्गत केन्द्रीय बैंक स्थापित करने की सुविधायें दी गईं।

केन्द्रीय बैंक दो प्रकार की होती हैं :—(१) ऐसी केन्द्रीय बैंक जिनके सदस्य केवल समितियाँ ही हो सकती हैं, उन्हें बैंकिंग यूनियन भी कहते हैं। ऐसी केन्द्रीय बैंक जिनके सदस्य व्यक्ति तथा समितियाँ दोनों ही होते हैं। बैंकिंग यूनियन वास्तव में आदर्श सहकारी बैंक हैं। समितियाँ इन बैंकों की नीति को निर्धारित करती हैं तथा बैंक का प्रबन्ध भी उन्हीं के हाथ में रहता है। इन बैंकिंग यूनियनों की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि समितियों के सदस्य योग्य तथा प्रभावशाली व्यक्ति हों। यही कारण है कि बैंकिंग यूनियन संख्या में अधिक नहीं है। दूसरे प्रकार की केन्द्रीय बैंक ही अधिक हैं। इस प्रकार केन्द्रीय बैंकों में योग्यता और व्यापारिक कुशलता की दृष्टि से कुछ योग्य व्यक्तियों को लेने की सुविधा रहती है।

केन्द्रीय बैंक का क्षेत्र प्रत्येक प्रान्त में भिन्न होता है, उस क्षेत्र की सहकारी समितियाँ उसी बैंक से ऋण लेती हैं। दक्षिणी तथा पश्चिमी भारत में केन्द्रीय बैंक का क्षेत्र एक जिला है, परन्तु उत्तर भारत में केन्द्रीय बैंक का क्षेत्र अधिकतर एक तहसील होती है। इस कारण इन प्रान्तों के केन्द्रीय बैंकों से सम्बन्धित समितियों की संख्या तथा पूँजी कम होती है।

बैंकिंग यूनियन में केवल समितियाँ ही अंश खरीद सकती हैं किन्तु केन्द्रीय बैंकों में व्यक्ति भी अंश क्रय कर सकते हैं। साधारणतया केन्द्रीय बैंकों के अंश ५० रुपये से लेकर १०० रु० तक के होते हैं। समितियाँ अपने ऋण के अनुपात में अंश लेती हैं। साधारणतया अंशधारियों का दायित्व अंशों के मूल्य तक ही सीमित है किन्तु कुछ प्रान्तों में अंशधारियों का दायित्व चार गुने से लेकर दस गुने तक है। कानून के अनुसार प्रत्येक परिमित दायित्व वाली समिति को २५ प्रतिशत लाभ रक्षित कोष में जमा करना होता है। केन्द्रीय बैंक इस २५ प्रतिशत के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिये विशेष कोष जमा करते हैं।

अंश पूँजी तथा रक्षित कोष तो बैंक की निजी पूँजी होती है, और डिपाजिट तथा उधार ली हुई पूँजी होती है, भारत के प्रत्येक प्रान्त में निजी पूँजी तथा ऋण ली हुई पूँजी का अनुपात १:८ है।

सदस्यों तथा गैर सदस्यों की डिपाजिट ही कार्यशील पूँजी का बड़ा भाग होती है। केन्द्रीय बैंक में दो प्रकार की डिपाजिट होती है—मुद्दती तथा सेविंग्स। अधिकतर केन्द्रीय बैंक चालू खाता नहीं रखतीं। कुछ प्रान्तों में रखती भी हैं। चालू खाता जोखिम का काम है। उसके लिये संचालकों में यथेष्ट व्यापारिक कुशलता होनी

चाहिये। केन्द्रीय बैंकों के पास निजी पूँजी भी बहुत कम होती है। इस कारण भी यह बैंक सफलतापूर्वक चालू खाता नहीं रख सकतीं। कहीं-कहीं सेविंग्स डिपाजिट भी नहीं ली जाती। किन्तु अधिकतर यह बैंक सेविंग्स डिपाजिट लेती हैं। इन बैंकों में अधिकतर मुद्दती जमा ली जाती है। यह अधिकतर एक वर्ष के लिये जमा लेती हैं। केवल बिहार-उड़ीसा में यह नियम है कि चाहे जब रुपया जमा किया जावे। ३१ मई को रुपया वापस दे दिया जाता है। केन्द्रीय बैंकों में अधिकतर जमींदार, नौकरी करने वाले तथा संस्थायें ही रुपया जमा करती है।

डिपाजिट के अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर बैंक ऋण भी लेती है। केन्द्रीय बैंक, स्टेट बैंक आदि दूसरी बैंकों से तथा प्रान्तीय सरकारी बैंक से भी ऋण लेती हैं। पञ्जाब को छोड़ कर केन्द्रीय बैंक प्रान्तीय सरकार से सीधे ऋण नहीं लेती किन्तु देशी राज्यों में केन्द्रीय बैंक राज्य से ही ऋण लेती हैं। केवल मैसूर में बैंक राज्य से ऋण नहीं लेतीं।

केन्द्रीय बैंक सरकारी कागज तथा प्रारम्भिक साख समितियों के प्रामिसरी नोट की जमानत पर ऋण लेती हैं। कुछ समय से स्टेट बैंक ने प्रारम्भिक सरकारी समितियों को प्रामिसरी नोट पर ऋण देना बन्द कर दिया है और केवल सरकारी कागज पर ही ऋण देती है, क्योंकि सहकारी समितियों की आर्थिक दशा शोचनीय है। जहाँ प्रान्तीय सहकारी बैंक स्थापित हो चुकी हैं वहाँ केन्द्रीय बैंक अन्य मिश्रित पूँजी वाली व्यापारिक बैंकों तथा दूसरी केन्द्रीय बैंकों से सीधा संबन्ध नहीं रख सकतीं।

केन्द्रीय बैंक केवल सहकारी साख समितियों को ही ऋण देती है। व्यक्तियों को ऋण नहीं देती। सहकारी समितियों के पास जमा करने के लिये अधिक पूँजी तो होती नहीं, इस कारण बैंक समितियों को ऋण देने का ही कार्य अधिक करती है।

यह जानने के लिये कि प्रत्येक सहकारी साख समिति को अधिक से अधिक कितना ऋण देना उचित है केन्द्रीय बैंक अपने से संबन्धित साख समितियों की साख का अनुमान लगाती हैं। जो ऋण साख समितियों को दिया जाता है वह निश्चित वर्षों में प्राप्त कर लिया जाता है। ऋण की स्वीकृति देने में बहुत सी कानूनी कार्यवाही करनी पड़ती है, अतः ऋण प्राप्त होने में विलंब हो जाता है। इस दोष को दूर करने के लिये कुछ केन्द्रीय बैंक एक रकम निश्चित कर देती हैं। उस सीमा तक समितियों को बिना किसी विलंब के ऋण दे दिया जाता है। अधिक रकम के लिये नियमित कार्यवाही करनी पड़ती है, कुछ प्रांतों में समितियों की सामान्य साख निर्धारित कर दी जाती है। समिति की सामान्य साख निश्चित करने से पूर्व उसके सदस्यों की सम्पत्ति,

उनकी आवश्यकता, उनकी आय तथा उनकी बचाने की शक्ति का ब्यौरा रहता है। इस लेखे के आधार पर बैंक समिति की अधिकतम साख निर्धारित कर देती है।

केन्द्रीय बैंक भिन्न-भिन्न प्रांतों में भिन्न-भिन्न समय के लिए ऋण देती है। फसल उत्पन्न करने के लिये जो ऋण लिया जाता है वह एक-दो वर्षों के लिये होता है और जो ऋण भूमि में सुधार के लिये अथवा पुराने ऋण को चुकाने के लिये दिया जाता है वह ५ से १० वर्षों के लिये होता है। अब यह धारणा प्रत्येक प्रांत में बल पकड़ती जाती है कि केन्द्रीय बैंक अधिक समय के लिये ऋण नहीं दे सकती। इसके लिये भी बन्धक बैंक स्थापित करनी चाहिये।

केन्द्रीय बैंक अभी तक ८ से १२ प्रतिशत ब्याज समितिओं से लेती रही हैं। जब बाजार में ब्याज की दर बहुत घट गई तब इन बैंकों ने दर घटाई। अब यह प्रयत्न किया जा रहा है कि ब्याज की दर और घटाई जावे। भारतीय सहकारिता आंदोलन की सबसे बड़ी कमी यह है कि समितियाँ ऋण को उचित समय पर नहीं चुकातीं और बहुत सा रुपया शेष रह जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि सदस्य अशिक्षित हैं, सहकारिता के सिद्धांतों का उन्हें ज्ञान नहीं, वे अत्यंत निर्धन हैं। कभी-कभी फसल के नष्ट हो जाने के कारण वे ऋण भी नहीं चुका पाते। यदि फसल नष्ट हो जाने से समितियाँ अपना ऋण नहीं चुकातीं तो बैंक जहाँ तक हो सकता है रुपया प्राप्त करती है। यदि रुपया किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं होता तो बैंक रजिस्ट्रार से समिति को तोड़ देने के लिये कहता है अथवा न्यायालय से डिग्री करवाता है।

जब समितियाँ केन्द्रीय बैंक को ऋण का रुपया चुकाती है उस समय बैंक के पास अधिक रुपया जमा हो जाता है। यह स्थिति वर्ष में दो-चार मास तक रहती है। इस समय केन्द्रीय बैंक प्रांतीय सहकारी बैंकों में रुपया जमा कर देती है, जहाँ प्रांतीय बैंक नहीं है वहाँ इम्पीरियल बैंक में रुपया जमा कर दिया जाता है, इसके अतिरिक्त बैंक के पास कुछ रुपया स्थायी रूप से अधिक होता है जो समितियों को ऋण देने में नहीं लगाया जा सकता। यह कोष प्रांतीय बैंक में अधिक समय के लिये जमा कर दिया जाता है अथवा ट्रस्टी प्रतिभूतियों में लगा दिया जाता है। इस समय केन्द्रीय बैंकों की नीति यह है कि वे आवश्यकता से अधिक डिपाजिट नहीं लेना चाहती। अतः डिपाजिट पर ब्याज की दर बहुत घटा दी गई है।

सहकारिता आंदोलन की जाँच के लिये बिठाई गई मैकलेगन कमेटी ने केन्द्रीय बैंकों को नकदी रखने की आवश्यकता इस प्रकार बतलाई थी—जिन बैंकों में चालू खाता तथा सेविंग्स बैंक खाता दोनों ही हों उन्हें चालू खाते की रकम तथा बचत की ७५ प्रतिशत रकम नकदी अथवा प्रतिभूति में रखनी चाहिये जो तुरंत ही

नकदी में परिणत की जा सके। मुद्दती जमा के लिये कमेटी का सम्मति यह है कि जो डिपाजिट अगले १२ मास में देनी हो उसकी आधी रकम नकदी में रहे। किन्तु इस नियम के अनुसार कहीं भी कार्य नहीं होता। प्रायः नकदी इससे बहुत कम रहती है।

केन्द्रीय बैंक प्रति वर्ष वार्षिक लाभ का २५ प्रतिशत रक्षित कोष में जमा करके शेष अंशधारियों में विभाजित कर सकते हैं किन्तु केन्द्रीय बैंकों के उपनियमों में अधिक से अधिक लाभ की दर निश्चित कर दी जाती है जिससे अधिक लाभ अंशधारियों में नहीं विभाजित किया जा सकता।

केन्द्रीय बैंक ६ प्रतिशत से १० प्रतिशत तक लाभ बाँटते हैं। अधिकतर प्रांतों में ६ प्रतिशत लाभ भी बाँटा जाता है। साधारण रक्षित कोष के अतिरिक्त कोई-कोई केन्द्रीय बैंक इमारत, बहीखाता तथा लाभ-हानि संतुलन के लिये, विशेष कोष जमा करते हैं। रक्षित कोष का रुपया तो प्रतिभूतियों में अथवा प्रांतीय बैंकों में लगा दिया जाता है अथवा वह बैंक में ही रहता है और कार्यशील पूँजी की वृद्धि करता है।

केन्द्रीय बैंकों की ब्याज की दर भिन्न भिन्न प्रांतों में भिन्न-भिन्न है किन्तु डिपाजिट पर ब्याज की दर तथा प्रारम्भिक समितियों में जो ब्याज ली जाती है उसमें २ से ५ प्रतिशत तक का अंतर रहता है।

केन्द्रीय बैंक अपने से संबन्धित समितियों की देखभाल रखते हैं तथा उन पर अपना नियन्त्रण भी रखते है। इस कार्य के लिये उन्हें कुछ कर्मचारी रखने पड़ते हैं। ये कर्मचारी ऋण के लिये आये हुए प्रार्थनापत्रों की जाँच करते हैं। जो समितियाँ अपने पुराने ऋण को चुकाने के लिये अधिक समय माँगती हैं, उनके प्रार्थनापत्रों की जाँच करते है और समिति को सदस्यों से रुपया प्राप्त कराने में सहायक होते हैं।

प्रांतीय सहकारी बैङ्क अथवा सर्वोपरि बैङ्क—देश में सहकारिता आन्दोलन के क्रमशः फैलने पर अनुमान होने लगा कि केवल केन्द्रीय बैङ्क, आन्दोलन के लिये जितनी पूँजी की आवश्यकता होती है, उसका उचित प्रबन्ध नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैङ्कों का नियंत्रण तथा उनके द्वारा साख समितियों के लिये आवश्यक पूँजी का प्रबन्ध करने के लिये भी प्रान्तीय बैंकों की आवश्यकता प्रतीत हुई। मैकलेगन कमेटी ने जो १६१५ में सहकारिता आन्दोलन की जाँच करने के लिये बिठाई गई थी, प्रत्येक प्रांत में केन्द्रीय बैङ्कों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये ऐसी संस्था की अत्यन्त आवश्यकता बतलाई गई थी। प्रांतीय बैङ्कों से पूर्व यह कार्य रजिस्ट्रार करता था। यदि किसी केन्द्रीय बैङ्क को पूँजी की अधिक आवश्यकता होती तो रजिस्ट्रार सूचना पाने पर प्रान्त की प्रत्येक केन्द्रीय बैंक को गश्तीपत्र लिख देता था। पर इससे रजिस्ट्रार का उद्देश्य ठीक प्रकार से पूरा नहीं होता था और साथ ही उसका बहुत-सा समय इस कार्य में लग जाता था। कुछ केन्द्रीय बैंक ऐसी थीं, जो अपनी आवश्यकता

से अधिक पूँजी आकर्षित कर लेती थीं और कुछ ऐसी भी थीं जिनको यथेष्ट पूँजी नहीं मिल पाती थी। अतः ऐसी प्रान्तीय बैङ्कों की आवश्यकता थी जो पहले प्रकार की बैंकों की अतिरिक्त पूँजी को जमा करें और दूसरे प्रकार की बैंकों को पूँजी दें। इसके अतिरिक्त द्रव्य बाजार तथा सहकारिता आन्दोलन के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिये भी प्रान्तीय बैंकों की आवश्यकता हुई।

प्रान्तीय बैङ्क तथा केन्द्रीय बैङ्क—प्रान्तीय सहकारी बैंकों तथा केन्द्रीय बैंकों का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न है। वे केन्द्रीय बैंकों पर कोई नियंत्रण नहीं रखतीं। केन्द्रीय बैंक अपना रुपया प्रायः प्रान्तीय बैंकों में अथवा सुदृढ़ व्यापारिक बैंकों में जमा करती हैं। मद्रास प्रान्त में केन्द्रीय बैंक अपना सारा रक्षित कोष प्रान्तीय सहकारी बैंकों में जमा करती हैं। बम्बई प्रान्तीय बैंक सहकारी संस्थाओं की मुद्दती जमा पर व्यक्तियों से अधिक ब्याज देती है, यहाँ प्रान्तीय बैंक के नेतृत्व में बम्बई सहकारी बैंक ऐसोसिएशन स्थापित की गई है जो केन्द्रीय बैंकों को सम्बद्ध करती है। मद्रास प्रान्तीय बैंक केन्द्रीय बैंकों का वार्षिक सम्मेलन करती है जिसमें उन बैंकों की नीति और उनके सम्बन्ध में विचार होता है। मद्रास प्रान्तीय बैंक ने सम्बन्धित केन्द्रीय बैंकों का अपने संचालकों द्वारा निरीक्षण करने की परिपाटी पहले ही स्थापित कर दी थी। किन्तु अब मद्रास सहकारिता कानून के अनुसार उसके कर्मचारी उन बैंकों का निरीक्षण कर सकेंगे। उत्तर प्रदेश में भी प्रान्तीय बैंक अपने निरीक्षक द्वारा सम्बन्धित केन्द्रीय बैंकों का निरीक्षण करता है।

उन सभी प्रान्तों में जहाँ प्रांतीय बैंक स्थापित हैं केन्द्रीय बैंक एक दूसरे को सीधे ऋण नहीं दे सकतीं। वास्तव में प्रांतीय बैंक का कार्य तो यह है कि वे केन्द्रीय बैंकों के संतुलन केन्द्र का काम करें, उन्हें बैंकिंग, द्रव्य बाजार, ऋण देने और ब्याज की दर निर्धारित करने के संबंध में परामर्श दें। यद्यपि प्रांतीय बैंकों का केन्द्रीय बैंकों पर नियंत्रण वांछनीय नहीं है, प्रांतीय बैंकों द्वारा उनका नियंत्रण आवश्यक है।

प्रान्तीय बैङ्क तथा सहकारिता विभाग—पिछले दिनों इस प्रश्न को लेकर बहुत खींचातानी रही कि सहकारिता विभाग के रजिस्ट्रार द्वारा बहुत हस्तक्षेप और कड़ा नियंत्रण होता है। इससे बड़ी उलझन उत्पन्न होती है। बंगाल, बिहार तथा उत्तर प्रदेश में केन्द्रीय बैंकों में रुपया जमा करने वालों का अधिकांश रुपया मारा गया क्योंकि प्रारम्भिक साख समितियों से ऋण प्राप्त नहीं किया जा सका। वहाँ यह प्रश्न उठाया गया कि यह रुपया सरकार दे क्योंकि समितियों को वह रुपया सहकारिता विभाग की सिफारिश पर दिया गया था जो सरकार का एजेंट है। बर्मा में प्रांतीय बैंक जब (१९२८-२९) अपने जमा करने वालों का रुपया चुका नहीं सका तो वहाँ की सरकार को ३० लाख रुपया देना पड़ा। इसी प्रकार की स्थिति बंगाल में उत्पन्न हो गई जब

कि सहकारिता विभाग के रजिस्ट्रार ने प्रान्तीय बैंक को जूट-विक्रय समितियों को ऋण देने का अनुरोध किया और वे समितियाँ ऋण न चुका सकीं। फलतः सरकार को २४ लाख रुपये प्रान्तीय बैंक की क्षति पूर्ति के देने पड़े। परन्तु बंगाल, बिहार तथा मध्य प्रदेश और बरार में केन्द्रीय बैंकों को जो भीषण क्षति उठानी पड़ी उसे देना सरकार ने स्वीकार नहीं किया। प्रान्तीय बैंक के कार्य में रजिस्ट्रार और उसका विभाग केवल अपना परामर्श प्रान्तीय बैंक को दे। यह भी आवश्यक है कि रजिस्ट्रार बैंक का संचालक न हो। प्रान्तीय बैंक ऋण देने अथवा न देने का निर्णय स्वयं करे।

प्रान्तीय बैङ्क तथा रिजर्व बैङ्क—बैंकों और उनसे सम्बन्धित बैंकों को सरकारी प्रतिभूतियों की जमानत पर नकद साख देती है परन्तु जहाँ तक सहकारी कागज को भुनाने का प्रश्न है, प्रान्तीय बैंक तथा केन्द्रीय बैंक जब रिजर्व बैंक की इच्छानुसार अपनी आर्थिक स्थिति और कारबार को बना लेंगे तभी वह उनके सहकारी कागज को भुनाने की सुविधा प्रदान करेगा। इस कार्य के लिये रिजर्व बैंक ने केन्द्रीय बैंकों को प्रान्तीय सहकारी बैंक की शाखा मान लिया है। कुछ प्रान्तीय बैंकों ने रिजर्व बैंक की योजना को स्वीकार कर लिया है तथा ये उसमें सम्मिलित हो गई हैं। रिजर्व बैंक ने प्रान्तीय बैंकों को अपना लेन देन का लेखा एक निश्चित रूप में तैयार करने को कहा है और कुछ बैंक वैसा भी करने लगी हैं। जैसे-जैसे प्रान्तीय बैंक रिजर्व बैंक की इच्छानुसार अपने कारबार करती जायेंगी वैसे ही वैसे पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ट होता जायेगा। यद्यपि रिजर्व बैंक की स्थापना से सहकारी बैंकों को अभी तक वे सुविधायें नहीं मिली हैं जो वे चाहती थीं, परन्तु अब अखिल भारतीय सहकारी अथवा सर्वोपरि बैंक की आवश्यकता नहीं रही।

भूमिबंधक बैङ्क—कृषक को साधारण खेतीबारी के कार्य को चलाने के लिये थोड़े समय और मध्यम समय के लिये ऋण की आवश्यकता होती है इसके अंतर्गत वह सभी ऋण आ जाता है जो पशु, बीज, खाद, हल तथा अन्य यंत्र क्रय करने के लिये, लगान देने के लिये तथा अपने कुटुम्ब के पालन के लिये लिया जाता है। इसके अतिरिक्त कृषक को पुराने ऋण को चुकाने के लिये भूमि की चकबंदी करने तथा उसको उपजाऊ बनाने के लिये, अन्य सुधार करने के उद्देश्य से, भूमि क्रय करने के लिये तथा मूल्यवान यंत्र क्रय करने के लिये अधिक समय के लिये ऋण चाहिये।

ग्राम सहकारी साख समितियाँ कृषकों को थोड़े समय और मध्यम समय के लिये ऋण देती हैं। जब सहकारिता आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ था तब लोगों की धारणा थी कि साख समितियाँ अधिक समय के लिये भी ऋण दे सकेंगीं। आरंभ में ग्राम्य साख समितियों ने अधिक रुपये के लिये ऋण दिया भी। किन्तु न तो साख

समितियों के पास इतनी पूँजी थी कि वे सदस्यों के पुराने ऋण को चुका सकें तथा न यह उनके हित में ही थी। इस कारण साख समितियों ने अधिक समय के लिये ऋण लेना बंद कर दिया। सभी प्रान्तीय बैंकिंग जाँच कमेटियाँ तथा विशेषज्ञों की यही सम्मति थी कि अधिक समय के लिये ऋण देना साख समितियों के लिये उचित नहीं है। कारण यह है कि सरकारी केन्द्रीय बैंकों तथा अन्य समितियों में जमा थोड़े रुपये के लिये ली जाती है और थोड़े समय के लिये जमा किये हुए रुपये से अधिक समय के लिये ऋण देना जोखिम से खाली नहीं है। यह बैंकिंग सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त अधिक समय के लिये ऋण देने में सम्पत्ति की जमानत लेते समय उसके मूल्य को आँकने तथा उसे स्वामित्व की जाँच करने के लिये अपने अनुभवी कार्यकर्त्ताओं तथा कर्मचारियों की आवश्यकता होती है जो ग्रामीण समितियों के पास नहीं हैं। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई यह भी है कि भूमि बंधक रखने पर उसके सम्बन्ध के कागज ग्राम्य साख समितियों के पास रखने में जोखिम हैं तथा सबसे अंतिम कठिनाई यह है कि सदस्यों के ऋण न चुकाने पर समिति की पूँजी फँस जायेगी और समिति को सदस्य के विरुद्ध डिग्री कराकर उस भूमि को नीलाम करवाना होगा। यह सब काम सहकारी समिति सफलतापूर्वक नहीं कर सकती। फिर यदि ग्राम्य सहकारी साख समितियाँ भूमि बंधक रख कर लम्बे समय के लिये ऋण दे दें तो व्यक्तिगत साख का महत्व कम हो जाने की सम्भावना रहेगी जो सहकारिता के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। यही कारण था कि केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी, प्रान्तीय बैंकिंग जाँच समितियाँ, रिजर्व बैंक तथा बैंकिंग विशेषज्ञों ने एक मत से यह निर्णय दिया कि लम्बे समय के लिये ऋण केवल भूमि बंधक बैंक ही दे सकती है। साख समितियों को थोड़े समय तक मध्यम समय के लिये ऋण देना चाहिये। अब साख समितियों तथा केन्द्रीय बैंक लम्बे समय के लिये ऋण सर्वथा नहीं देतीं। ऐसा ऋण भूमि बंधक बैंक द्वारा दिया जाता है।

भूमि बंधक बैङ्क का अर्थ—भूमि बन्धक बैङ्क वे संस्थायें हैं जो भूमि को बन्धक रखकर दीर्घकाल के लिये कृषकों को ऋण देती हैं। दीर्घकाल के लिये, पुराने ऋण चुकाने के लिये, भूमि की चकबन्दी और उसे उपजाऊ बनाने के सुधारों के लिये, भूमि क्रय करने के लिये तथा खेतों की चकबन्दी करने के लिये ये बैंक कृषकों को ऋण देती हैं।

सहकारी भूमि बन्धक बैंक केवल अपने सदस्यों को ही ऋण देती है। बैंक की अपनी निजी पूँजी नहीं होती। जो भूमि बन्धक रख दी जाती है उसी की जमानत पर बन्धक बौंड बेचे जाते हैं और उनसे पूँजी प्राप्त की जाती है। सहकारी भूमि बन्धक बैंक

लाभ को लक्ष्य करके कार्य नहीं करती वरन् ब्याज की दर को घटाने का प्रयत्न करती हैं।

गैर सरकारी भूमि बन्धक बैंक मिश्रित पूँजी की होती हैं। जिस प्रकार अन्य व्यापारिक बैंक लाभ की दृष्टि से स्थापित की जाती हैं वैसे ही ये बैंक भी अंशधारियों की सम्पत्ति होती है तथा लाभ की दृष्टि से चलाई जाती है। कृषक तथा जमींदार अपनी भूमि बन्धक रखकर उनसे ऋण लेते हैं। इस प्रकार मिश्रित पूँजी वाली भूमि बन्धक बैंक योरोप में सर्वत्र पाई जाती है किन्तु राज्य उन पर नियंत्रण रखता है जिससे कि वे ऋण लेने वालों को मनमाने ढंग पर लूटने न लगें तथा ब्याज की दर बहुत अधिक न रखें। अर्ध सरकारी भूमि बन्धन न तो पूर्ण रूप से सरकारी होते हैं और न गैर सरकारी।

भूमि बंधक बैङ्क के कार्य—भूमि को बन्धक रख कर दीर्घकाल के लिये कृषकों को ऋण देती हैं। दीर्घकाल के लिये ऋण निम्नलिखित कार्यों के लिये दिया जाता है :—

(क) पुराने ऋण चुकाने के लिये।

(ख) भूमि की चकबन्दी कराने के लिये तथा उसे उपजाऊ बनाने के अन्य सुधारों के लिये।

(ग) भूमि क्रय करने के लिये

(घ) सिंचाई के लिये कुआ बनवाने, मूल्यवान यंत्र क्रय करने के लिये।

यह ऋण प्रायः ५ वर्ष से २० वर्ष की अवधि तक ही दिये जाते हैं। व्यवहार में अभी तक भूमि बन्धक बैंक केवल पुराने ऋण को चुकाने के लिये ही ऋण देते हैं।

भूमि बंधक बैङ्कों का प्रबंध—भूमि बन्धक बैंक का संचालन संचालकों के प्रमंडल द्वारा होता है। ऋण लेने वाला कृषक अपने ऋण लेने के ब्यौरे और अपने भूमि सम्बन्धी कागजों सहित ऋण लेने के लिये भूमि बन्धक बैंक के पास भेज देता है। बैंक का एक संचालक तथा सुपरवाइजर भूमि की जाँच तथा मूल्यांकन करके केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक को रिपोर्ट देते हैं। फिर बैंक का वैधानिक परामर्शदाता कृषक की भूमि पर दायित्व की जाँच करके अपनी रिपोर्ट देता है। इसके पश्चात् केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक कृषक से भूमि सम्बन्धी कागजों को अपने नाम करवा लेती है तथा ऋण की रकम भूमि बन्धक बैंक द्वारा कृषक को दे देती है। ऋण ६ से ६ प्रतिशत की दर से प्रायः २० वर्ष के लिये दिया जाता है। भूमि विशेषज्ञ द्वारा निर्धारित मूल्य के ५० प्रतिशत से अधिक रकम का ऋण नहीं दिया जाता। बहुत से स्थानों पर भूमि बन्धक बैंक कृषकों को १० हजार रुपये से अधिक का ऋण नहीं देतीं। ऋण की रकम कृषक ब्याज सहित किश्तों में चुकाता है तथा किश्तों का समय ऐसा निर्धारित किया

जाता है जब कृषक की फसल तैयार होकर बाजारों में बिक जाता है और कृषक को ऋण का भुगतान करने में सुविधा रहे।

वर्तमान स्थिति—भारतवर्ष में सर्व प्रथम ऐसी बैंक १९२० में पंजाब में स्थापित हुई थी। परन्तु भूमि हस्तांतर कानून के लागू होने तथा पैदावार कम होने के कारण भूमि के मूल्य गिरने से यह असफल हो गई। बाद में १९२९ में मद्रास में ऐसी बैंक खुली। १९४२-४३ में भारतवर्ष में अर्ध सरकारी भूमि बन्धक बैंकों की संख्या मद्रास, बम्बई, मैसूर, मध्य प्रांत, बरार, पंजाब, बंगाल, उत्तर प्रदेश और उड़ीसा में क्रमानुसार १२०,२८,६७,२१,१०,१०,४,५,१, थी और उनकी पूँजी ९७,७८,४०,१४, ७,६,२, और २ लाख थी। ऐसी बैंक मद्रास में अधिक उन्नति पर हैं। मद्रास की भूमि बन्धक बैंक के बनाने से द्रव्यबाजार में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा भी नहीं रही है। केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक को अन्य बैंकों के निरीक्षण करने का अधिकार है तथा मद्रास सरकार ने एक ऐक्ट के अनुसार इन बैंकों के ऋण-पत्र के मूलधन और ब्याज की गारंटी दे दी है तथा भुगतान न होने पर कृषक की भूमि और उपज बिना न्यायालय की आज्ञा लिये जब्त करके बेच सकते हैं, बम्बई में उनका संगठन मद्रास जैसा नहीं है।

सुधार के सुझाव—मार्च सन् १९५४ में भूमि बन्धक बैंकों का एक सम्मेलन हुआ। उस सम्मेलन में भूमि बन्धक बैंकों की कठिनाइयों पर विशेष रूप से विचार किया गया। सम्मेलन के सदस्यों के अनुसार मुख्य कठिनाइयाँ धन की कमी, ऊँची ब्याज की दर, ऋण देने में अधिक समय का लगना तथा ऋण वापसी में अनेक कठिनाइयों का होना था।

भूमि बन्धक बैंक के कार्यों में सुधार करने के लिये निम्नलिखित तीन सुझाव दिये जाते हैं :—

(१) पहले ऋण के पश्चात् दूसरे तथा अगले ऋणों की ब्याज की दर अधिक कर देनी चाहिये।

(२) ऋण को थोड़े काम के लिये दिया जाना चाहिये, जिससे थोड़े कोषों से अधिक लोगों को ऋण दिये जा सकें।

(३) ऋणों के प्रयोग से जो लाभ हो उसे ऋण के भुगतान के लिये ही उपयोग करना अनिवार्य कर दिया जाना चाहिये।

द्वितीय योजना काल में भारत सरकार ने भूमि बन्धक बैंकों के विकास तथा सुधार करने के सम्बन्ध में ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति के सुझावों के आधार पर नीति बनाई है। समिति ने सुझाव दिया है कि प्रत्येक राज्य में एक केन्द्रीय भूमि बन्धक

बैंक होनी चाहिये। भूमि को बन्धक रखने के वैधानिक ढंग सस्ते और सरल बनाने चाहिये। बैंकों की पूँजी में सरकार का ५१% भाग होना चाहिये। केन्द्रीय बैंकों को प्रारम्भिक बैंकों की पूँजी में भाग लेने का अधिकार होना चाहिये। उत्पादन कार्यों के लिये ऋणों को प्राथमिकता देनी चाहिये। इसी प्रकार प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों को बड़ी सावधानी से पूर्णतया जाँच-पड़ताल करके स्थापित करना चाहिये। सरकार को इन बैंकों की पूँजी में साझीदार होनी चाहिये।

सहकारी बैङ्कों को रिजर्व बैंक की सहायता—रिजर्व बैंक का एक कृषि साख विभाग भी है। उसमें विशेषज्ञ कर्मचारी होते हैं। उनके कार्य निम्न लिखित हैं :—

(क) कृषि साख सम्बन्धी सभी प्रश्नों का अध्ययन करना और सभी बैंकों को आवश्यकता पड़ने पर परामर्श देने के लिये उपलब्ध होना, तथा

(ख) कृषि साख के सम्बन्ध में बैंक के कार्यों में राज्य सहकारिता बैंक तथा व्यापारिक बैंकों को समान रूप में सहयोग देना। इस प्रकार उसका कार्य मुख्य रूप से एक परामर्शदाता के रूप में है और वह सीधे सहायता नहीं करता।

१९३५ में श्री एम०एल० डार्लिङ्ग से सहकारिता संस्थाओं के कार्य की जाँच करने को कहा गया। उनकी रिपोर्ट से इस बात का पता चलता है कि रिजर्व बैंक कृषि अर्थ व्यवस्था में किस प्रकार सहायता कर सकता है। १९४७ में रिजर्व बैंक ने एक विधान बनाया। उसने अनेक विज्ञप्तियाँ भी निकालीं। उसमें उन कठिनाइयों को बतलाया गया जो उधार देने वाले साहूकारों के बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य कार्य को छोड़ने तथा आधुनिक बैंकिंग प्रणाली को अपनाने के लिये तैयार करने के मार्ग में आती हैं।

सहकारी आन्दोलन भूमि बन्धक बैंकों, ऋण विधानों, बाजार में बेचने तथा अन्य सम्बन्धी विषयों की समस्याओं का यह विभाग बराबर अध्ययन करता रहा। इस विभाग में सहकारी आंदोलन के सम्बन्ध में लंका, मस्कट, चीन आदि अनेक देशों तथा भारत के आसाम एवं बम्बई जैसे कुछ चुने हुए प्रांतों के सम्बन्ध में अनेक पुस्तिकायें प्रकाशित कर चुका है।

रिजर्व बैंक पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह कृषकों को प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता प्रदान नहीं करती, किन्तु आरोप लगाने वाले यह भूल जाते हैं कि रिजर्व बैंक अंतिम ऋणदाता के रूप में कार्य करती हैं और साधारण समय में किसी को ऋण प्रदान करना उसके लिये उपयुक्त नहीं है। वह तो केवल संकट काल में अथवा मौसमी कमी दूर करने के लिये अस्थायी आर्थिक सहायता दे सकती है। किन्तु धारा

१७ (२) (ब), (४अ,स,द) के अंतर्गत रिजर्व बैंक प्रांतीय सहकारी बैंकों को तथा उनके द्वारा साख समितियों को नीचे लिखी शर्तों के अंतर्गत आर्थिक सहायता करती हैं :—

(अ) ६० दिन तक के लिये सरकारी प्रतिभूतियों की जमानत पर प्रांतीय सहकारी तथा केन्द्रीय सहकारी बैंकों को ऋण दे सकती है।

(ब) इसी प्रकार के ऋण मान्य भूमि बंधक बैंकों के ऋण-पत्रों तथा अन्य ट्रस्टी प्रतिभूतियों की जमानत पर इसी प्रकार का ऋण दिया जा सकता है।

(स) सरकारी खजाने की हुण्डियों की कटौती कर सकती है।

(द) प्रान्तीय सहकारी बैंकों को ६० दिन तक के लिये मान्य सहकारी विपणन तथा गोदाम समितियों के ऋण-पत्रों पर ६० दिन तक के ऋण दे सकती है। किन्तु यह आवश्यक है कि ये ऋण-पत्र कृषि उपज के विक्रय के लिये लिखे गये हों।

(ई) इसी प्रकार के ऋण उन प्रतिज्ञापत्रों की पुनर्कटौती करके दिये जा सकते हैं जो अगले १५ मास में देय हैं।

(फ) इसी प्रकार के ऋण प्रान्तीय सहकारी बैंकों के उन ऋण-पत्रों की जमानत पर दिये जा सकते हैं जिनके साथ गोदामों की रसीद अथवा अन्य अधिकार प्रपत्र (Documents of Title) बन्धक रख दिये गये हैं।

(ज) ऐसे ऋण केन्द्रीय सहकारी बैंकों के ऋण-पत्रों पर भी दिये जा सकते हैं, यदि इन ऋण-पत्रों का बेचान किसी प्रान्तीय सहकारी बैंक ने कर दिया है।

उपरोक्त सहायता तभी प्रदान की जा सकती है जब रिजर्व बैंक सम्बन्धित प्रान्तीय सहकारी बैंक तथा केन्द्रीय सहकारी बैंक की आर्थिक स्थिति से संतुष्ट हो जाये।

ऋण माँगने वाले प्रान्तीय सहकारी बैंक को निम्नलिखित बातों की पूर्ति भी करनी होती है—

(१) अनुसूचित बैंकों की भाँति अपने माँग-दायित्व का २½ प्रतिशत तथा सामयिक-दायित्व का १ प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास जमा रखना।

(२) अपने चिट्ठे को ठीक ढंग से बनाना तथा समय-समय पर निर्धारित नक्शे भेजना।

(३) समय-समय पर रिजर्व बैंक द्वारा अपना निरीक्षण कराना।

केन्द्रीय सहकारी बैंकों को निम्नलिखित बातों की पूर्ति करनी होती है—

(१) अपनी आर्थिक अवस्था तथा अपने से सम्बन्धित प्रारम्भिक समितियों की कार्य प्रणाली की पूर्ण सूचना प्रदान कराना।

(२) अपने यहाँ जमा का ४० प्रतिशत नकदी तथा सरकारी प्रतिभूतियों में रखना।

(३) केवल अल्पकालीन ऋण प्रदान करना तथा किसी भी अवस्था में स्वर्ण से अधिक की अवधि के ऋण न देना।

रिजर्व बैंक द्वारा सहायता की आलोचना—रिजर्व बैंक ने प्रान्तीय सहकारी बैंक तथा केन्द्रीय सहकारी बैंकों के ऋण प्रदान करने के लिये इतने प्रतिबन्ध लगा दिये हैं कि उन सबका किसी भी समय में पूरा किया जाना असम्भव है। जमा का ४० प्रतिशत नकदी तथा सरकारी प्रतिभूतियों में रखने से केन्द्रीय सहकारी बैंकों का व्यवसाय प्रायः ठप हो जायगा। सहकारी बैंक अपनी रकम को कम ब्याज वाली प्रतिभूतियों में अपना रुपया लगाने में असमर्थ हैं। इससे बैंकों की आय कम हो जायगी और वे अपने साधारण व्यय भी पूरे करने में असमर्थ रहेंगी। न अंशधारियों को लाभांश दिया जा सकता है और न वैधानिक संचिति बनाकर आर्थिक अवस्था सुदृढ़ की जा सकती है।

रिजर्व बैंक का यह प्रतिबन्ध भी कठोर है कि केवल उन्हीं हुन्डियों की पुनर्कटौती की जा सकती है जिन पर किसी प्रान्तीय सहकारी बैंक ने यह प्रमाणित कर दिया हो कि ये हुन्डियाँ उपज की बिक्री के सम्बन्ध में लिखी गई हैं। इस प्रकार के प्रतिबन्धों से प्रगति को ठेस पहुँचती है और सहकारी बैंक रिजर्व बैंक से पूर्ण आर्थिक सहायता प्राप्त नहीं कर सकती। रिजर्व बैंक भी इतनी अधिक सावधानी रखना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। किन्तु रिजर्व बैंक शनैः-शनैः अपनी कठोर नीति में परिवर्तन करके उदार नीति अपनाती जा रही है। रिजर्व बैंक के लिये भी यह उचित ही है कि वह सहकारी बैंकों को ऋण प्रदान करने से पूर्व उनकी सुदृढ़ आर्थिक स्थिति पर बल दे।

१९५१ में रिजर्व बैंक ने अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण का कार्य अपने ऊपर लिया। इस कार्य को पूरा करने के लिये गोरावाला की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इसने सहकारी बैंकों के पुनर्निर्माण के लिये कुछ सुझाव दिये।

सहकारी साख के विकास के हेतु अखिल भारतीय कृषि साख सर्वेक्षण समिति के सुझाव

गोरावाला समिति ने पूर्ण अध्ययन के पश्चात् सहकारी साख का विकास करने के लिये निम्नलिखित सुझाव प्रदान किये—

(१) सहकारी साख समितियों के समक्ष सम्बन्धी योजना बनाने के लिये रिजर्व बैंक राज्य सहकारों के सम्बन्ध स्थापित करे तथा राज्य सरकारों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करे जिससे राज्य सरकार सहकारी बैंकों के अंश तथा ऋण-पत्र क्रय कर सके।

(२) रिजर्व बैंक प्रान्तीय सहकारी बैंकों तथा उनके द्वारा केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा समितियों को १५ मास की अवधि से लेकर ५ वर्ष की अवधि तक के लिये मध्य-कालीन ऋण प्रदान करे और यह प्रतिबन्ध उठा दिया जाये कि रिजर्व बैंक केवल ५ करोड़ के ऋण प्रदान कर सकती है।

(३) रिजर्व बैंक भूमिबंधक बैंकों को ५ वर्ष से अधिक अवधि के लिये दीर्घ-कालीन सहायता ऋण देकर अथवा ऋण-पत्र क्रय करके प्रदान करे।

(४) रिजर्व बैंक के कृषि साख विभाग का पुनर्गठन किया जाये और अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिये उसे अधिक शक्तिशाली बनाया जाय। राष्ट्रीय आधार पर भिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिये एक परामर्श समिति बनाई जाय तथा यह समिति रिजर्व बैंक कृषि-मंत्रालय तथा सहकारी विकास एवं गोदाम संघ को परामर्श प्रदान करे।

(५) राज्य सरकारें रिजर्व बैंक के परामर्श से सहकारी साख संस्थाओं का पुनर्गठन करें। पुनर्गठन में राज्य सरकार सहकारी बैंकों के साझेदार के रूप में कार्य करे। राज्य सरकार सहकारी सर्विस चालू करके सहकारी संस्थाओं के संचालन के लिये योग्य अधिकारी उपलब्ध करे तथा सभी बड़ी-बड़ी सहकारी संस्थाओं का संगठन एवं प्रबन्ध इन्हीं अधिकारियों के हाथ में हो जिससे इनका संचालन योग्यता के साथ हो सके।

(६) अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋणों के मध्य समन्वय स्थापित किया जाये। सहकारी बैंक एवं भूमि बंधक बैंक एक-दूसरे से पृथक रहते हुए भी पारस्परिक परामर्श से कार्य करें। इनके उच्चाधिकारी सम्मिलित हों तथा हो सके तो इनकी संचालन समिति भी एक ही हो। यदि यह संभव नहीं है तो कम-से-कम कुछ संचालक ऐसे हों जो दोनों प्रकार की संस्थाओं में ही संचालक रहे।

(७) अल्पकालीन ऋण केवल दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये एवं उत्पादन कार्यों के लिये ही प्रदान किये जाये तथा जिस समय कृषि उपज बिके उसी समय ले लिये जायें। मध्यकालीन ऋण कृषि, पशु तथा यंत्र-क्रय करने के लिये प्रदान किये जायें।

(८) भावी विकास के लिये प्रारम्भिक साख समितियाँ वृहत रूप में सीमित दायित्व के साथ स्थापित की जायें तथा समितियों के निरीक्षण का दायित्व प्रांतीय तथा केन्द्रीय सहकारी बैंकों पर हो, किन्तु अंकेक्षण का दायित्व राज्य सरकार पर ही होना चाहिये।

(९) सहकारी विभाग राज्य सरकारों से मिलकर सहकारी कर्मचारियों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध करे तथा केन्द्रीय सरकार एवं रिजर्व बैंक इस कार्य के लिये

आर्थिक सहायता प्रदान करें। यह प्रशिक्षण न केवल सहकारी विभाग के कर्मचारियों के विपत्ति वरन् सहकारी संस्थाओं के कर्मचारियों के लिये भी हो। उन्हें विशेष रूप से बैंकिंग विपणन तथा औद्योगिक प्रशिक्षण के साधन जुटाये जायें।

यदि रिजर्व बैंक ने तथा राज्य सरकारों ने समिति के उपरोक्त सुझावों को कार्यान्वित किया तो यह आशा की जाती है कि सहकारी आन्दोलन विशेषकर सहकारी बैंकों की स्थिति सुदृढ़ हो जायेगी और वे कृषि वित्त में पूरा हाथ बँटा सकेंगी।

पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारी साख का स्थान—ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के सुझावों को भारत सरकार ने स्वीकार करके उन्हीं के आधार पर अपनी नवीन नीति निर्धारित की है। सरकार सहकारी संस्थाओं के कार्य में हस्तक्षेप एवं नियंत्रण नहीं करेगी। भविष्य में सरकार हर प्रकार से सहकारी संस्थाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करेगी। इसके लिये रिजर्व बैंक ने दो कोष स्थापित किये हैं: (१) राष्ट्रीय कृषि साख दीर्घकालीन कोष तथा (२) राष्ट्रीय कृषि साख कोष। प्रथम कोष में रिजर्व बैंक ने प्रारम्भ में १० करोड़ रुपये दिये और १९५६ के पश्चात् ५ करोड़ रुपये प्रति वर्ष दिये जाते हैं। इस प्रकार १९६० में इस कोष की राशि ३५ करोड़ हो जायेगी। इसी कोष से राज्य सरकारों को सहकारी संस्थाओं की पूँजी में भाग लेने के लिये ऋण दिये जायेंगे। भूमि बन्धक बैंकों के लिये ऋणपत्र क्रय करने के लिये भी इस कोष का उपयोग किया जायेगा। राष्ट्रीय कृषि साख कोष में १९६० तक रिजर्व बैंक ५ करोड़ रुपया देगी और इसी कोष से राज्य बैंकों के अल्पकालीन ऋणों को मध्यकालीन ऋणों में परिवर्तित किया जा सकेगा।

द्वितीय योजना में सहकारी साख संगठन के विकास के निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं—

बड़े आकार की समितियाँ	१०,४००
अल्पकालीन साख	१५० करोड़ रु०
मध्यकालीन साख	५० करोड़ रु०
दीर्घकालीन साख	२५ करोड़ रु०

प्रश्न

1. Briefly explain the functions of the co-operative credit societies.

सहकारी साख समितियों के कार्यों की विवेचना कीजिये।

2. Carefully describe the constitution and functions of a primary credit society in India.

भारतीय सहकारी साख समितियों के विधान तथा कार्यों का वर्णन कीजिये।

3. What are Land Mortgage Banks ? How do they help agricultural finance ?

भूमि बन्धक बैंक किसे कहते हैं ? वे ग्रामीण साख में किस प्रकार सहायता करती हैं ?

4. What are the agencies that supply rural credit in India ? Discuss the part played by each agency and suggest improvements.

भारतवर्ष में ग्रामीण साख की पूर्ति किनके द्वारा होती है ? हर एक मध्यस्थ इस सम्बन्ध में क्या कार्य करता है ? उनके सुधार के सुझाव दीजिये ।

5. What part has the Co-operative Department in India played in regard to the rural finance ?

ग्रामीण साख के सम्बन्ध में सहकारी विभाग ने क्या कार्य किया है ?

6. What do you understand by Land Mortgage Banks ? What are their functions ? What is their present position in India ?

भूमि बन्धक बैंक का क्या अर्थ है ? उसके कार्य क्या हैं ? भारतवर्ष में उनकी वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालिये ।

7. How does the Reserve Bank of India help agricultural credit ? Explain in detail.

भारतीय रिजर्व बैंक कृषि साख को क्या सहायता प्रदान करती है ? पूर्ण वर्णन कीजिये ।

8. Describe the organization and functions of co-operative credit societies.

9. What is an Apex Bank ? What is relationship with Reserve Bank and agricultural finance ?

शीर्ष अथवा प्रांतीय सहकारी बैंक किसे कहते हैं ? इसका रिजर्व बैंक तथा कृषि वित्त से क्या सम्बन्ध है ?

अध्याय ११

देशी बैंकर तथा साहूकार

(Indigenous Bankers and Moneylenders)

देशी बैंकर का अर्थ—केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी के शब्दों में देशी बैंकर वे व्यक्ति अथवा निजी फर्म हैं जो जनता का धन जमा पर प्राप्त करते हैं तथा जो इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया, विनिमय बैंक, सहकारी बैंक तथा व्यापारी बैंक से भिन्न हैं। अतः द्रव्य का व्यवसाय करने वाले व्यक्ति अथवा निजी फर्म जो धन पर जमा करते हैं अथवा उधार देते हैं वे देशी बैंकर कहाते हैं। देशी बैंकर्स साधारणतया बैंकिंग का वह काम करते हैं जिसे आजकल भी बैंक करती हैं तथा देश के भीतरी व्यापार और उद्योग-धंधों की आर्थिक सहायता करने में बड़ा महत्व रखते हैं। वे रुपया उधार देते, चालू अथवा मुद्दती खातों में डिपाजिट लेने, दर्शनी और मुद्दती हुण्डियाँ जारी रखने तथा कमीशन लेकर उन्हें भुनाने का काम करते हैं। परन्तु देशी बैंकर्स तथा संयुक्त पूँजी बैंकों के कार्यों में पर्याप्त अंतर है, भारतीय बैंकिंग का काम या तो प्राइवेट व्यक्तियों द्वारा अथवा कुटुम्बों द्वारा होता है परन्तु संयुक्त पूँजी के आधार पर नहीं होता। देशी बैंकर्स डिपाजिटों से थोड़ी ही पूँजी इकट्ठी करते हैं तथा उनके यहाँ डिपाजिट का जो रुपया निकाला जाता है अथवा वापस लिया जाता है वह चेक द्वारा नहीं लिया जाता वरन् नकदी के रूप में लिया जाता है। दूसरा अंतर यह है कि देशी बैंकर्स बैंक के कार्य के अतिरिक्त दूसरे अनेक कार्य करते हैं जैसे, धान्य बेचना, कमीशन एजेंट, दलाल तथा उद्योग-धंधे चलाने वाले सभी का कार्य करते हैं। इन सभी प्रकार के कार्यों को एक साथ करने से देशी बैंकर्स के बैंकिंग के कार्यों की अवनति हो रही है। इसके अतिरिक्त उनकी अवनति के और भी कई कारण हैं। फिर भी यह कहना सत्य है कि आजकल भी देश की आर्थिक व्यवस्था में इन सर्राफों का बड़ा महत्व है, क्योंकि ये भारत के द्रव्य बाजार तथा देश के विस्तृत व्यापार में एक अनिवार्य शृङ्खला-सी बनाये रखते हैं। ये कृषकों को स्थानीय साहूकारों की मार्फत आर्थिक सहायता पहुँचाता, छोटे-छोटे कारीगरों तथा व्यापारियों को धन द्वारा सहायता देता है तथा जहाँ आवश्यकता

हो ऐसे स्थानों तथा बंदरगाहों पर फसल पहुँचाने में, देश में सभी प्रकार की वस्तुओं का वितरण करने में सहायता करता है।

इन बैंकरों का कारबार पारिवारिक होता है और पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है। अतः इनको बैंकिंग की शिक्षा स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। देशी बैंकरों का कारबार सरल तथा झंझटों से मुक्त होता है। इस कारण देशी बैंकर से काम कराने में देर नहीं लगती। ग्राहक किसी समय भी बैंकर के पास जा सकता है क्योंकि उनके कार्य का कोई समय निश्चित नहीं होता। वह हर समय काम करता है। उसके काम करने का ढंग बहुत कम व्यय साध्य है क्योंकि वह किसी प्रकार का आधुनिक ढंग का कार्यालय, फर्नीचर इत्यादि नहीं रखता। उसके यहाँ तो जमीन पर बैठनेवाले मुनीम तथा रुपया रखने की एक तिजोरी होती है। हिसाब रखने का ढंग बहुत सादा है, उसमें कोई गड़बड़ी नहीं होती क्योंकि वह अपने कारबार का स्वयं स्वामी होता है। अतः हिसाब को आडिट कराना वह आवश्यक नहीं समझता। इन बैंकरों का कारबार भी अधिकतर पुराने ग्राहकों से पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है। बैंकर अपने पुराने ग्राहकों के परिवार से, उनकी आर्थिक स्थिति तथा व्यापार की दशा से भली-भाँति परिचित होता है। अतः उसे इस बात का निश्चय करने में देर नहीं लगती कि किस ग्राहक को कितना रुपया दिया जाय क्योंकि ऋण प्रायः जाने-पहचाने व्यक्तियों को दिया जाता है। अतः ये देशी बैंकर ऋण देने के पश्चात् भी अपने ऋणी के कार्यों की देखभाल करता रहता है जो अन्य बैंकों के लिये सम्भव नहीं। इससे ऋणदाता तथा ऋणी के मध्य अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं तथा बैंकर का रुपया मारे जाने की सम्भावना नहीं रहती।

संयुक्त पूँजी वाली बैङ्कों तथा देशी बैंकरों में निम्नलिखित अंतर है—

(१) संयुक्त पूँजीवाली बैंक १६१६ के कम्पनी कानून के अंतर्गत स्थापित की जाती हैं। मेमोरेंडम आफ एसोसियेशन तथा आर्टिकिल्स आफ एसोसियेशन बनाकर इन बैंकों की कम्पनी रजिस्ट्रार के यहाँ रजिस्ट्री होनी आवश्यक है। देशी बैंकर किसी कानून के अंतर्गत नहीं होते तथा न उनकी रजिस्ट्री होनी आवश्यक है।

(२) व्यक्तिगत पूँजीवाली बैंकों का संचालन अंशधारियों द्वारा नियुक्त किये गये संचालक करते हैं और उनको इस प्रबन्ध के लिये कुछ कमीशन अथवा भत्ता मिलता है। देशी बैंकर अपना प्रबन्ध स्वयं करते हैं और अपनी सहायता के लिये मुनीमों के अतिरिक्त किसी प्रबन्धकर्त्ता को नहीं रखते।

(३) संयुक्त पूँजीवाली बैंक अपना कारबार तब तक चालू नहीं कर सकतीं जब तक रिजर्व बैंक के प्रमाण-पत्र प्राप्त न कर लें और रिजर्व बैंक प्रमाण-पत्र देते समय उन बैंकों की पूँजी कार्य-पद्धति इत्यादि पर कुछ प्रतिबन्ध लगा देती है। देशी बैंकरों को इस प्रकार का कोई प्रमाण-पत्र प्राप्त नहीं करना पड़ता।

(४) संयुक्त पूँजीवाली बैंक रिजर्व बैंक से सम्बन्धित रहती है तथा उन्हें अपनी जमाओं का कुछ अंश हर समय रिजर्व बैंक में रखना पड़ता है। रिजर्व बैंक इन बैंकों के कार्यों पर पूरा नियंत्रण रखकर समय पर इनकी सहायता भी करती है। इन बैंकों को प्रति सप्ताह अपने कारबार का ब्यौरा रिजर्व बैंक को भेजना पड़ता है। देशी बैंकरों का रिजर्व बैंक से ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं होता। न उनके कार्यों पर कोई नियंत्रण होता है तथा न उनको अपने कारबार का ब्यौरा भेजना पड़ता है। अतः उनको रिजर्व बैंक से कोई सहायता प्राप्त नहीं होती।

(५) सम्मिलित पूँजीवाली बैंक क्योंकि अधिकतर जनता का रुपया लेकर ही अपना कार्य चलाती हैं अतः उन्हें इस पूँजी के लगाने में पर्याप्त सतर्क रहना पड़ता है। ये केवल व्यापारियों से ही अधिकाधिक ६ मासों के लिये जमानत लेकर ऋण देती हैं। परन्तु देशी बैंकर अधिकतर अपनी पूँजी का प्रबन्ध करते हैं, अतः वे व्यापारियों के अतिरिक्त कृषकों तथा उद्योगपतियों को भी ऋण देते हैं। ६ मास से अधिक के लिये भी ऋण देने में आपत्ति नहीं उठाते। देशी बैंकरों का व्यवहार अपने ग्राहकों के साथ वंशपरंपरागत चलता है।

(६) संयुक्त पूँजीवाली बैंक केवल १०½ से १½ बजे तक ही जनता से व्यवहार करते हैं और इसके पश्चात् जनता का कैसा ही आवश्यक कार्य हो उनसे रकम सम्बन्धी लेन-देन नहीं करते जब कि देशी बैंकरों का लेन-देन ग्राहकों से हर समय चलता रहता है तथा आवश्यकता पड़ने पर देशी बैंकरों के ग्राहक रात्रि में भी रुपया उधार ले सकते हैं अर्थात् किसी भी समय रुपया ले सकते हैं।

(७) सम्मिलित पूँजीवाली बैंकों को वर्ष भर में एक बार अपने लेन-देन का चिट्ठा (Balance Shet) छाप कर जनता के सूचनार्थ प्रकाशित करनी पड़ती है। परन्तु देशी बैंकरों का व्यवहार प्रायः गोपनीय होता है तथा वे अपने लेन-देन का चिट्ठा प्रकाशित नहीं करते।

(८) संयुक्त पूँजीवाली बैंक बैंकिंग कारबार के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं कर सकतीं। न वे सट्टा लगा सकती हैं, न व्यापार कर सकती हैं, न अचल सम्पत्ति क्रय-विक्रय कर सकती हैं तथा न अचल सम्पत्ति पर ऋण दे सकती हैं। देशी बैंकर रुपये के लेन-देन के अतिरिक्त व्यापार भी करते हैं, सट्टा भी लगाते हैं तथा अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण भी देते रहते हैं।

(९) संयुक्त पूँजीवाली बैंकों में जनता जो रुपया जमा करती है उसे चेक द्वारा वापस ले लिया जाता है। देशी बैंकर जनता का रुपया जमा पर बहुत कम प्राप्त करते हैं तथा जो जमा होता भी है उसे चेक द्वारा निकालने की प्रथा नहीं है।

देशी बैंकरों के कार्य—देशी बैंकर साधारणतया वह कार्य करते हैं जिसे वर्तमान बैंक करती हैं तथा देश की भीतरी व्यापार तथा उद्योग-धंधों की आर्थिक सहायता करने में बड़ा महत्व रखते हैं। वे रुपया उधार देने, चालू अथवा मुद्दती खातों में जमा प्राप्त करने, दर्शनी तथा मुद्दती हुंडियाँ चालू करने तथा कमीशन लेकर उन्हें भुनाने का कार्य करते हैं। परन्तु देशी बैंकर्स तथा संयुक्त पूँजी बैंकों के कार्यों में बड़ा अंतर है। भारतीय बैंकिंग का कार्य या तो प्राइवेट व्यक्तियों द्वारा अथवा कुटुम्बों द्वारा होता है। परन्तु संयुक्त पूँजी के आधार पर नहीं होता। देशी बैंकर्स जमाओं से थोड़ी ही पूँजी इकट्ठी करते हैं तथा उनके यहाँ जमा की जो रुपया निकाला जाता है अथवा वापस किया जाता है वह चैक द्वारा नहीं लिया जाता परन्तु नकद लिया जाता है। दूसरा कार्य यह है कि देशी बैंकर्स बैंकिंग के कार्य के अतिरिक्त अन्य अनेक कार्य करते हैं। वे व्यापार जैसे धान्य बेचना, कमीशन एजेंट दलाल और उद्योग धंधे चलाने वालों सभी का कार्य करते हैं। इन सभी प्रकार के कार्यों को एक साथ करने से देशी बैंकर्स के बैंकिंग कार्यों की अवनति हो रही है। यद्यपि उसकी अवनति के और भी कई कारण हैं फिर भी यह कथन सत्य है कि आजकल भी देश की आर्थिक व्यवस्था में इन सर्राफों का बड़ा महत्व है। क्योंकि वे भारत के द्रव्य बाजार और देश के विस्तृत व्यापार में एक अनिवार्य श्रंखला-सी बनाये रहते हैं। वे कृषकों को स्थानीय साहूकारों की मार्फत आर्थिक सहायता पहुँचाता, छोटे-छोटे कारीगरों तथा व्यापारियों को भी धन से सहायता देता है और आवश्यकता के स्थानों में अथवा बन्दरगाहों पर अथवा उपज पहुँचाने में तथा देश में सर्व प्रकार की वस्तुओं का वितरण करने में सहायता करता है।

देशी बैंकर्स के मुख्यतः ३ कार्य हैं—

(१) **जमा स्वीकार करना**—देशी बैंकर निश्चित को जमा प्राप्त करते हैं और ऐसी भी जमा प्राप्त करते हैं जिसका भुगतान माँगने पर तुरन्त कर दिया जाये। इनकी ब्याज की दर प्रायः ५ से ७ प्रतिशत होती है।

(२) **ऋण देना**—ये प्रत्येक प्रकार की प्रतिभूति पर ऋण देते हैं। यदि जमानत अच्छी है तो वे ६ प्रतिशत से १८ प्रतिशत की दर पर ही ऋण देते हैं अन्यथा उसके ब्याज की दर ४४ प्रतिशत तक होती है। यह कृषकों को उनकी तैयार फसल और कारीगरों को इस प्रतिज्ञा पर ऋण देते हैं कि ये लोग तैयार माल उन्हीं को बेचेंगे। सारांश यह है कि ये केवल गोदामों में रखे हुए माल पर ऋण नहीं देते वरन प्रत्येक प्रकार की जमानत पर ऋण देते हैं।

(३) **हुंडियों का व्यवसाय करना**—देशी बैंकर हुंडियों का व्यवसाय करते हैं और ये हुंडियों को भुनाते भी हैं।

बैंकिंग का कार्य करने के अतिरिक्त देशी बैंकर अन्य व्यापार भी करते हैं। उनकी जो पूँजी बैंकिंग के व्यापार में लगी होती है उसमें तथा व्यापार में लगी पूँजी में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता। जब भी आवश्यकता हुई इधर की पूँजी उधर लगा दी जाती है। केवल मद्रास प्रान्त के नट्टू कोटाई, चेट्टी तथा बम्बई प्रान्त के मुल्तानी ही ऐसे देशी बैंकर है जो कि बैंकिंग के साथ अन्य व्यापार नहीं करते हैं। नहीं तो अधिकांश देशी बैंकर अनाज, कपास, जूट तथा अन्य कृषि की उपजों, वस्त्र तथा सोना-चाँदी का व्यापार अथवा सट्टा करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जनरल मर्चेंट, आढ़त, ब्रोकर, ज्वेलर्स का भी कार्य करते हैं। व्यापार के साथ-साथ वे शक्कर, तेल, आटे के कारखानों तथा कपास, जूट, धान, रेशम तथा शीशे के कारखानों को भी चलाते हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि देशी बैंकर्स बैंकिंग के साथ साथ और भी व्यापार तथा व्यवसाय करते हैं और बहुधा उनको व्यवसायिक कारखाने से बैंकिंग की अपेक्षा अधिक लाभ होता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि पिछले दिनों देशी बैंकर्स का बैंकिंग कारबार कम होता जा रहा है। इस कारण उन्होंने अपना ध्यान व्यापार तथा व्यवसाय की ओर अधिक लगाना प्रारम्भ कर दिया है।

देशी बैंकर्स की कमियाँ—(१) देशी बैंकर आधुनिक बैंकिंग प्रणाली से बहुत दूर हैं।

(२) साहूकारों में पारस्परिक ईर्षा है जिससे इनका कोई अच्छा संगठन नहीं है। इनके किसी भी संगठन ने आधुनिक कंपनी में अपने को परिणत नहीं किया है तथा इनके आधुनिक संगठनों में से भी केवल इनेगिने संगठन रहे हैं, जैसे बम्बई सर्राफ एसोसियेशन, मारवाड़ी चैम्बर आफ कामर्स तथा मुल्तानी बैंकर्स एसोसियेशन आदि।

(३) ये लोग बहुत धन जमा के रूप में प्राप्त करते हैं। अतः जनता को केवल ऋण देते हैं और उनमें मितव्ययता के बजाय अपव्ययता बढ़ाते हैं।

(४) प्रायः सारी हुण्डियों का नकद रुपयों में लेन-देन होता है।

(५) ये लोग बैंकिंग व्यवसाय के साथ-साथ अन्य वस्तुओं का भी व्यवसाय करते हैं।

(६) ये लोग सोना-चाँदी के बाजारों में सट्टा करते हैं।

(७) इनकी पूँजी बहुत कम है क्योंकि ये लोग जमा धन पर बहुत कम प्राप्त करते हैं।

(८) ये अपना हिसाब ठीक आधुनिक ढंग से नहीं रखते तथा न तो उसका अंकेक्षण ही कराते हैं और न उनको जनता के सामने प्रकाशित करते हैं।

(६) ये हुण्डी तथा चेक आदि द्रव्य बाजार के प्रमुख साखपत्रों में कार्य करवे उन्हें उत्साहित नहीं करते हैं।

देशी बैंकर्स की स्थिति में सुधार के सुझाव

(१) रिजर्व बैंक को अपनी स्वीकृत तालिका (Approved List) में उनके नाम अंकित करके उनसे निम्न प्रकार से संबन्ध स्थापित करना चाहिये :—

(अ) अन्य बैंकों की तरह उन्हें भी हुण्डियों की पुनर्कटौती की सुविधा देनी चाहिये।

(ब) एक न्यूनतम पूँजी की रकम निश्चित कर देनी चाहिए जो हर एक बैंकर के लिये आवश्यक है। यह रकम व्यापारिक बैंकों की न्यूनतम रकम से कम होनी चाहिये।

(स) उनका ठीक हिसाब रखना चाहिये। उनका रजिस्टर्ड अंकेक्षक के द्वारा वार्षिक अंकेक्षण होना चाहिये तथा रिजर्व बैंक जब चाहे तब हिसाबों का निरीक्षण करा सके।

(द) अन्य बैंकों की तरह ये भी रिजर्व बैंक के पास अपने दायित्वों का विशेष प्रतिशत जमा रखें। परन्तु उन बैंकरों को जिनकी जमा पाँच गुनी से अधिक नहीं हैं, उन्हें ५ वर्ष तक इससे छूट मिलनी चाहिये। यह बहुत कठिन है, क्योंकि देशी बैंकर का जमा धन बहुत कम है तथा उसके पास स्टाक भी नहीं है।

(ई) देशी बैंकों को एक निश्चित नकद कोष भी रखना चाहिये।

(फ) अन्य बैंकों को दी जाने वाली दूसरी सुविधायें देकर रिजर्व बैंक को इन्हें अपना आढ़तिया बना देना चाहिये जो ग्रामों में यह कार्य करे।

वे अपने को निम्न प्रकार के रूपों में परिवर्तित कर सकते हैं—

(क) अपने को निजी सीमित दायित्व की कंपनियों (Private Limited Liability Companies) में परिवर्तित कर लें।

(ख) वे अपने को संयुक्त पूँजी की बैंकों में सम्मिलित कर लें।

(ग) वे अपने आप को जर्मनी की कोमंडित (Comandit) सिद्धान्त की बैंकों के रूप में स्थापित कर लें। इन बैंकों को भागीदार व्यवस्थित करते हैं। अतः संचालकों का असीमित दायित्व होता है। अतः बड़ी बैंक इन बैंकर्स के साथ भागीदार के रूप में कार्य करके देशी बैंकर की कार्य कुशलता का पूरा लाभ उठा सकती हैं।

(घ) स्वदेशी बैंकर संयुक्त-पूँजी बैंकों के आढ़तिये बन कर बैंकिंग के कार्य करें।

(ङ) एक विशेष स्थान के सारे ऐसे बैंकर्स का एक संयुक्त पूँजी का सहकारी

बैंक अथवा एसोसियेशन बना दिया जाये जिसमें पूँजी का अभाव नहीं रहेगा तथा सब मिलकर अच्छी प्रकार कार्य कर सकेंगे।

(च) स्वदेशी बैंकर हुन्डी के दलालों के कार्य को सबसे अधिक महत्व दें।

(छ) केन्द्रीय बैंक कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार देशी बैंकरों को सम्पूर्ण भारत के बैंकरों के एसोसियेशन का सदस्य बनना चाहिये। इससे उनके व्यापार में पर्याप्त उन्नति होगी।

(ज) देशी बैंकर तथा संयुक्त पूँजी वाली बैंक दोनों मिल कर बैंकिंग का कार्य साझे में करें। इससे वे जनता के बेकार पड़े धन को संचित करके [illegible] वालों को उधार देने में समर्थ होंगे तथा इससे हुंडी बाजार की उन्नति होगी।

(३) रिजर्व बैंक, इम्पीरियल बैंक, संयुक्त पूँजी की बैंकों को इनके द्वारा हुंडी तथा चैक के रुपये एकत्रित करवाने चाहिये तथा इनको द्रव्य भेजने की सुविधा भी दें।

(४) बैंक की किताबों सम्बन्धी कानून (Bank Books Evidence Act) की सुविधायें इनको भी दी जानी चाहिये।

(५) स्थानीय परामर्श बोर्ड भी स्थापित किये जावें जिनमें ये बैंकर सम्मिलित हों तथा वे बैंकों को ग्राहकों की आर्थिक अवस्था के विषय में बतलायें। अन्य बैंकों को उन देशी बैंकर्स की हुन्डी भुना देनी चाहिये जो पूरी जमानत देते हैं तथा बोर्ड जिनके विषय में ठीक परामर्श देती है।

(६) देशी बैंकर्स को आधुनिक बैंकिंग के ढंग पर अपने हिसाब रखने चाहिये, उनका अंकेक्षण करवाना चाहिये तथा चैक और हुन्डियों का प्रयोग करना चाहिये।

(७) उनको अपनी सट्टेबाजी का कार्य बन्द कर देना चाहिये। उनको अपने सहकारी माल गोदाम बनाने चाहिये तथा इनसे हुन्डी बाजार की उन्नति करने का प्रयत्न करना चाहिये।

(८) उनको ब्याज दर कम कर देनी चाहिये तथा अपनी दूषित पद्धतियों को त्याग देना चाहिये।

(९) प्रमाणित तथा रजिस्टर्ड बैंकर्स को कुछ सुविधायें देते हुए उनका एक समुदाय बनाना चाहिये।

(१०) उन्हें अपने बैंकिंग तथा अन्य व्यापारों के हिसाबों की किताबें अलग-अलग रखनी चाहिये।

(११) उनको अपनी हुन्डियों के कटौती के ढङ्ग को सुधार कर अपना सारा कृषि का व्यापार उन्हीं के द्वारा करना चाहिये।

कृषि के ऋण सम्बंधी तथा उनके हिसाबों सम्बन्धी कई कानूनों के बनने के कारण ये सुझाव कुछ सीमा तक सफल हुए हैं।

साहूकार—साहूकारी प्रथा भारतवर्ष में प्राचीन काल से चली आ रही है। साहूकार लोग, महाजन, बनिया, सेठ, बोहरा, चेट्टी आदि अनेक नामों से भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पुकारे जाते हैं। बम्बई के मारवाड़ी, पञ्जाब के खत्री और अरोड़ा, दक्षिण के चेट्टी, सिंध तथा गुजरात में मुल्तानी तथा रेहती तथा उत्तरी भारत में बनिया, सर्राफ इत्यादि नामों से रुपये के लेन-देन का कार्य करते हैं। भारत एक कृषि-प्रधान देश है और यहाँ का कृषक सदैव ही अत्यंत गरीब और दुखी रहा है। सूखा पड़ जाने, बाढ़ आ जाने तथा अन्य कारणों से किसी समय भी उसे हानि उठानी पड़ती है तथा इसी लिये कार्य चलाने के लिये उसे हर समय दूसरों का मुँह ताकना पड़ता है। लगान तथा आबपाशी का भुगतान करने के लिये, बैल, बीज तथा लेने के लिये, विवाह-शादी-बारात इत्यादि पर व्यय करने के लिये तथा फसल नष्ट हो जाने पर अपने जीवन निर्वाह के लिये भारतीय कृषक को हर समय ऋण की आवश्यकता पड़ती रहती है। भारत में थोड़ी बहुत जितनी भी बैंक स्थापित हुई हैं वे सब व्यापारियों की सहायता करती हैं और कृषक को ऋण देने में असमर्थ हैं। इसका कारण यह है कि भारतीय कृषकों के पास कोई ऐसी अच्छी सम्पत्ति नहीं जिससे उनको सरलता से ऋण प्राप्त हो सके। सहकारी आन्दोलन का भी जन्म भारत में बहुत देर से हुआ है। सहकारी आन्दोलन सुसंगठित रूप से अपना कार्य करने में असफल रहा है। ऐसी अवस्था में कृषकों के लिये ग्रामीण साहूकार ही एक जीवनाधार है। वे कृषकों को फसल, धान्य, चल-अचल सम्पत्ति की जमानत पर, ऋण लेने वालों की व्यक्तिगत जमानत पर धान्य, बीज, रुपया अथवा पशु के रूप में ऋण देते हैं। वास्तव में यदि ये महाजन लोग कृषकों की समय पर सहायता न करें तो खेती का काम नहीं चल सकता। समय पर बीज न मिलने से फसल बोई नहीं जा सकती। ग्रामीण साहूकार हर समय कृषक की सहायता करने को तत्पर रहता है। यदि आधी रात को आवश्यकता पड़े तो उस समय भी कृषक बे रोक टोक जाकर साहूकार से रुपया ला सकता है। साहूकार अपने ग्राहक की सारी आवश्यकताएँ चाहे वे व्यक्तिगत हों अथवा सामाजिक, कृषि सम्बन्धी हों अथवा उद्योग सम्बन्धी पूरा करने का वचन देता है। कोई भी बैंकिंग संस्था बिना जमानत के ऋण देने को तैयार नहीं होती जब कि साहूकार केवल लेने वाले के हस्ताक्षर करवा कर अथवा अँगूठा लगवा कर बिना किसी जमानत के ऋण देता है। अच्छी जमानत मिल जाने पर भी बैंक ६ मास से अधिक के लिये ऋण नहीं देते। परन्तु कृषक तो ऋण तब तक के लिये चाहिये जब तक कि उसको नवीन फसल न आ जाये तथा ऐसा करने के लिये ६ मास से वर्ष भर तक का समय लग जाता है। संसार में भारतीय साहूकार ही एक ऐसा ऋणदाता है जो आर्थिक संकट आ जाने पर ही अपने ग्राहकों को ऋण देता है। बैंक इत्यादि तो मौसमी मित्र होते हैं तथा संकट

काल में ऋणी की सहायता करने से मुख नहीं मोड़ लेते किन्तु अपने ऋण की वसूली की धमकी देकर उसके संकट को और बढ़ाते हैं जब कि साहूकार संकट काल में ऋणी की और भी अधिक सहायता करता है। भारतीय साहूकार दिये हुए ऋण को गोपनीय रखता है और इस प्रकार ग्राहक की प्रतिष्ठा को भी बट्टा नहीं लगने देता। इसके अति-रिक्त समय-समय पर अपने ऋणी को आर्थिक परामर्श भी देता रहता है। और कृषक फसल को बिकवाने तथा उसके लिये आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध करता है। इस प्रकार भारतीय साहूकार भारतवर्ष में एक बहुत महत्वपूर्ण कार्य करता है तथा निर्धन कृषकों को समय-समय पर ऋण देकर उनकी आर्थिक सहायता करता है।

उपरोक्त का यह तात्पर्य नहीं कि साहूकार सर्वथा दोषरहित है। वह ऋणी से बहुत अधिक ब्याज लेता है तथा एक बार ऋण लेने पर ऋणी को सदैव ही अपने चंगुल में फँसाये रखता है। कुछ साहूकार थोड़ी रकम देकर अधिक लिख लेते हैं तथा ऋणी से अधिक रुपया लेकर उनको कष्ट पहुँचाते हैं। साहूकार लोग विवाह-शादी, मकान इत्यादि के लिये भी ऋण देकर कृषकों को अपव्यय के लिये प्रोत्साहित करते हैं जिससे अंत में उनको हानि उठानी पड़ती है। साहूकार लोग लेन-देन के साथ-साथ व्यापार का भी कार्य करते हैं तथा ऋणी कृषकों की फसल को स्वयं कम मूल्य पर क्रय करके अनुचित लाभ उठाते हैं। परन्तु इन दोषों का यह अर्थ नहीं कि साहूकारी प्रथा का अंत कर दिया जाये। रोग को समाप्त करने के लिये रोगी को समाप्त कर देना कोई अच्छी बात नहीं हैं। यदि साहूकारों के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया जाय तो इसमें कोई संदेह नहीं कि वह और अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

साहूकार और देशी बैंकर्स में अंतर

(१) देशी बैङ्कर धन जमा करते हैं और हुंडियों का लेन देन करते हैं, परन्तु साहूकार और महाजन बहुत कम ही बैंकिंग कार्यों को करते हैं।

(२) देशी बैंकर महाजनों की अपेक्षा ऋण के उद्देश्यों की ओर बहुत अधिक ध्यान देते हैं।

(३) महाजनों की अपेक्षा देशी बैङ्कर्स की ब्याज की दर कम होती है।

(४) देशी बैङ्कर व्यापार तथा उद्योग को आर्थिक सहायता देते हैं परन्तु महाजन और साहूकार उपयोग के लिये ऋण देते हैं।

(५) देशी बैङ्करों का कार्य क्षेत्र महाजनों की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। यद्यपि देशी बैंकर व्यवसाय ही में भाग लेते हैं और इनको यदि बैंक कहा

जाये तो कोई त्रुटि न होगी। किन्तु फिर भी इनमें और आधुनिक बैंकों में पर्याप्त अंतर है।

बम्बई राज्य में देशी बैंकर्स—बम्बई राज्य के देशी बैंकर्स साधारण अधिकोषण जैसे सभी कार्य करते हैं। वे हर प्रकार की जमायें प्राप्त करते हैं, चालू खाते खोलते हैं, खातेदारों के लिखित आदेशों का पालन करते हैं, ऋण प्रदान करते हैं। हुंडियों की कटौती करते हैं तथा आन्तरिक व्यापार को आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। ये बैङ्कर्स उन सभी ग्राहकों से सम्बन्ध स्थापित करते हैं जिनके पूर्वजों से उनका व्यापार होता आया है और जिनसे वे भली भाँति परिचित हैं। किसी समय इंगलैंड में भी तो ऐसा होता था। इससे लोगों को बचत करके जमा करने का प्रोत्साहन मिलता है। भारत के अन्य भागों की तरह बम्बई के देशी बैंकर्स भी बैंकिंग के साथ अन्य व्यापार भी चलाते हैं तथा अपना हिसाब पुराने ढंग से रखते हैं। ये बैंकर्स चालू खाते में अधिविकरण (overdraft) की सुविधा देकर ऋण प्रदान करते हैं। जो ऋण किसी निश्चित समय के लिये दिया जाता है उसे खाता-पेटा कहते हैं। ये बैंकर्स दो-दो, चार-चार दिन के लिये हथउधार के ढंग पर भी ऋण प्रदान कर देते हैं। ये लोग व्यापारियों को, लघु-उद्योगपतियों, तथा सुनार इत्यादि को भी ऋण देते हैं। कृषकों की सहायतार्थ ये लोग साहूकारों को ऋण प्रदान करते हैं, क्योंकि कृषक अपना संबंध साहूकारों से अधिकतर रखते हैं। ये बैंकर्स जिन्हें सर्राफ भी कहते हैं दर्शनी हुण्डी की कटौती करते हैं। अधिकतर ये लोग कमीशन एजेंट का भी कार्य करते हैं और इनके पास जो माल बिकने आता है उसके मूल्य का ७५ से ९० प्रतिशत तक पेशगी दे देते हैं जो माल की बिक्री पर काट लिया जाता है। ये सर्राफ कटौती की हुई हुंडियाँ व्यापारिक बैंकों से पुनर्कटौती करके धन प्राप्त करके अपना कारबार चलाते हैं। मुल्तानी सर्राफ स्टेट बैङ्क से इस प्रकार की सहायता प्राप्त करते हैं।

बंगाल में देशी बैंकर्स—बंगाल के अधिकांश देशी बैंकर्स मारवाड़ी हैं जो बैङ्किंग के साथ साथ अन्य व्यापार भी करते हैं। ये लोग जनता से जमायें प्राप्त न करके अपनी ही पूँजी से कारबार करते हैं। बंगाल में कम्पनी अधिनियम के अंतर्गत लगभग १२०० ऋण कार्यालय पंजीकृत हैं और देशी बैङ्कर्स से प्रतिस्पर्धा करके ये लोग जनता से जमायें प्राप्त करते हैं। बङ्गाल के देशी बैंकर्स हुन्डियों की कटौती करके आन्तरिक व्यापार को आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। अधिकतर ऋण उन व्यापारियों को प्रदान किये जाते हैं जो ग्रामों से माल क्रय करके निर्यात करते हैं। ये लोग आभूषण तथा भूमि गिरवीं रखकर और अन्य व्यक्तियों की जमानत पर भी ऋण प्रदान करते हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजने के लिये तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ये बैंकर्स हुण्डियाँ लिखते हैं और इन हुण्डियों को

४ प्रतिशत से लेकर १८ प्रतिशत तक बट्टे की दर से पुनर्कटौती करते हैं। व्यापारिक बैंक तथा स्टेट बैंक भी इन बैंकर्स को इनकी हुंडियाँ क्रय करके आर्थिक सहायता प्रदान करते है।

मद्रास में देशी बैंकर्स—मद्रास में देशी बैंकिंग का अधिकांश कार्य नटूकोटाई चेट्टी करते हैं। ये लोग जनता की जमायें प्राप्त करते हैं जो चैक के द्वारा निकाली जा सकती हैं। इन लोगों की आर्थिक अवस्था सुदृढ़ है और इनसे बैंकिंग व्यापार की बड़ी योग्यता है। ये लोग अपने कर्मचारियों को बैंकिंग व्यवसाय के प्रशिक्षण की उसी प्रकार सुविधायें प्रदान करते हैं जैसे व्यापारिक बैंक। ये लोग अधिकतर कृषकों को उनकी भूमि बन्धक रखकर अथवा उनके प्रतिज्ञापत्र पर ऋण प्रदान करते हैं। चेट्टियों के अतिरिक्त कुछ मुल्तानी व्यापारिक बैंकों से ऋण लेकर व्यापारियों को ऋण प्रदान करते हैं। कुछ मुल्तानी अपनी पूँजी से तथा कभी-कभी जनता से जमायें प्राप्त करके भी अपना कारबार चलाते हैं, मद्रास में मारवाड़ी भी बड़ी संख्या में हुण्डियों, आभूषणों तथा माल की जमानत पर व्यापारियों को ऋण प्रदान करते हैं किन्तु इन लोगों की ब्याज तथा बट्टे की दर ऊँची होती है। लघु-उद्योगपतियों को तो ये लोग ऋण प्रदान करते ही नहीं।

रामनद तथा तिनेवली में कालीदाई कुरीची ब्राह्मण भी अधिकोषण का कार्य करते हैं। ये लोग अधिकांश हुण्डी की जमानत पर ही अन्य साहूकारों को ऋण प्रदान करते हैं।

देशी बैंकर्स का महत्व—देशी कार्यों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि भारत में इनका कितना महत्व है। इस देश में आधुनिक बैंकिंग की इतनी सुविधायें प्राप्त नहीं हैं जितनी पाश्चात्य देशों में। ये देशी बैंकर्स तथा साहूकार ही इस अभाव को पूरा करते हैं। व्यापारिक बैङ्क ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी शाखायें स्थापित करने में असमर्थ हैं। अतः वहाँ साहूकार ही लोगों के एक मात्र जीवनाधार हैं। नगरों में भी देशी बैंकर्स का बड़ा महत्व है। बम्बई, इंदौर, अहमदाबाद, कलकत्ता इत्यादि औद्योगिक केन्द्रों में सर्राफ तथा साहूकार उद्योगपतियों को आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं, कभी-कभी ये लोग प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं से उनके कमीशन का भाग प्राप्त करने के लिये उन्हें ऋण देते हैं। भोली-भाली जनता जितना इन साहूकारों का विश्वास करती हैं, उतना व्यापारिक बैंकों का नहीं। अतः अधिकतर लोग अपनी बचत इन्हीं के पास जमा करते हैं। इन कारणों से देशी बैंकर्स तथा साहूकारों को प्रोत्साहन देना अति आवश्यक है। यदि ये बैंकर्स अपने कारबार करने के ढंग में कुछ सुधार करें और आधुनिक बैंकिंग प्रणाली को अपनायें तथा अपने कारबार में एकरूपता लाने का प्रयत्न करें तो ये देश की आर्थिक व्यवस्था में पूर्ण सहयोग प्रदान

कर सकते हैं। बैंकों को भी चाहिये कि देशी बैंकर्स से अपना सम्बन्ध स्थापित करके अपनी सेवाओं को अधिकतम उपयोगी बनायें। रिजर्व बैंक का भी यह कर्त्तव्य है कि वह देशी बैंकर्स को हर प्रकार का प्रोत्साहन देकर देश का कल्याण करे।

देशी बैंकरों से रिजर्व बैंक का सम्बन्ध—केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी ने यह अनुरोध किया था कि रिजर्व बैंक स्थापित हो जाने पर देशी बैंकर का उससे सीधा संबन्ध स्थापित हो जाना चाहिये। इस अनुरोध को कार्यान्वित करने के लिये सन् १६३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना हो जाने के पश्चात् तुरन्त ही रिजर्व बैंक ने देशी बैंकरों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये एक योजना तैयार की। योजनानुसार जो भी देशी बैंकर योजना से सम्बन्धित होगा ये तथा रिजर्व बैंक से सुविधायें चाहेगा उसे शुद्ध बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य व्यापार को छोड़ देना होगा। उन्हें अपना हिसाब ठीक प्रकार से जिस प्रकार से रिजर्व बैंक कहे उस प्रकार रखना होगा। अपने हिसाब को नियमित रूप से अंकेक्षण करवाना होगा। रिजर्व बैंक के आवश्यकता समझने पर उनके हिसाब तथा कारबार का निरीक्षण कर सकेगा। उन्हें रिजर्व बैंक को समय-समय पर अपने कारबार के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी तथा सूचनाएँ देनी होंगी तथा रिजर्व बैंक को उनके बैंकिंग के कारबार का नियन्त्रण करने का अधिकार होगा। प्रत्येक देशी बैंकर की निज की पूँजी कम से कम ५ लाख होगी। उनको अपनी जमा का एक निश्चित प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास जमा करना होगा। फिर भी रिजर्व बैंक उनसे सीधा सम्बन्ध स्थापित न करके अप्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने के पक्ष में था।

उपरोक्त प्रस्ताव केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी के मत के विरुद्ध था। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी का यह मत था कि आरम्भ में देशी बैंकरों के साथ नरमी का व्यवहार करना चाहिये। उन पर कड़े प्रतिबन्ध न लगाना चाहिये। उदाहरण के लिये आरम्भ में कुछ वर्षों तक देशी बैंकर्स को रिजर्व बैंक में अनिवार्य रूप से जमा रखने पर विश्वास करना चाहिये। किन्तु पहली गश्ती चिट्ठी में रिजर्व बैंक ने उपरोक्त शर्तें लिख भेजी। वे इतनी कठोर थीं कि कोई देशी बैंकर उनको स्वीकार करने के लिये तैयार न था। इससे पहले प्रस्ताव का ऐसा घोर विरोध हुआ कि रिजर्व बैंक को २६ अगस्त १६३७ को एक दूसरी योजना उपस्थित करनी पड़ी जो कि केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी के अनुरोध के अनुरूप थी तथा उसमें देशी बैंकर्स का रिजर्व से सीधा संबन्ध स्थापित हो जाने की व्यवस्था थी। जिन शर्तों पर रिजर्व बैंक देशी बैंकरों को अपने से सम्बन्वित करने के लिये तैयार थी वे ये थीं—

जो देशी बैंकर रिजर्व बैंक से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं उन्हे अपने कारबार को शुद्ध बैंकिंग तक ही सीमित रखना होगा। वे दूसरे प्रकार का व्यापार न सकेंगे। उन्हें अपने हिसाब को ठीक-ठीक रखना होगा तथा रजिस्टर्ड एकाउंटेन्ट से

उसकी जाँच करवानी होगी और जब रिजर्व बैंक चाहेगी तो उनके हिसाब का निरीक्षण कर सकेगी। रिजर्व बैंक उनकी स्थिति की जानकारी प्राप्त करने के लिये जो भी सूचना चाहेगी देनी होगी। शिड्यूल बैंक जो भी विवरण-पत्र अपने कारबार के सम्बन्ध में समय-समय पर रिजर्व बैंक को भेजते हैं वे उन्हें भी भेजने होंगे। और लेनदेन का लेखा (Balance sheet) इत्यादि जो कम्पनी ऐक्ट के अनुसार बैंक को प्रकाशित करना अनिवार्य है वे उन्हें भी प्रकाशित करने होंगे। जब कि देशी बैंकरों की जमा उनकी पूँजी से पाँच गुनी अधिक हो जावे तभी उन्हें रिजर्व बैंक में अनिवार्य जमा रखनी होगी। अन्यथा उन्हें रिजर्व बैंक में अनिवार्य जमा रखने की कोई आवश्यकता न होगी। प्रत्येक देशी बैंकर को कम से कम २ लाख की पूँजी (Capital) रखनी होगी जिसे ५ वर्षों में बढ़ाकर ५ लाख करनी होगी। जो देशी बैंकर इन शर्तों को पूरा करेंगे रिजर्व बैंक उनकी हुण्डियों तथा बिलों को भुनावेगा। सरकारी प्रतिभूति की जमानत पर ऋण देगा तथा रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिये वही सुविधायें देगा जो वह शिड्यूल बैंक को देता है।

इस प्रस्ताव को भी देशी बैंकों ने स्वीकार नहीं किया। वे न तो अन्य व्यापार को छोड़ना ही चाहते हैं और न अपने हिसाब का निरीक्षण सही कराने के लिये तैयार हैं। रिजर्व बैङ्क का इस प्रस्ताव से उद्देश्य यह था कि देशी बैंकर अन्य कारबार को छोड़कर अधिकाधिक डिपाजिट बैंकिंग की ओर लावें तथा जिस प्रकार से संयुक्त पूँजी वाले कारबार करते हैं वे भी कारबार करें। किन्तु देशी बैंकर अपने पुराने ढंग को छोड़ने को तैयार न थे और न वे यही पसंद करते थे कि वे किसी को अपना हिसाब दिखलावें। इसमें कोई संदेह नहीं कि अन्त में देशी बैंकर्स को रिजर्व बैंक के बतलाये हुए मार्ग पर ही चलना होगा। किन्तु रिजर्व बैंक के अधिकारियों को यह समझना चाहिये कि देशी बैंकर एकरात्रि में अपनी पुरानी पद्धति को छोड़कर आधुनिक बैंकिंग पद्धति को किस प्रकार अपना सकते हैं। रिजर्व बैंक और देशी बैंकर्स का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका। यद्यपि रिजर्व बैंक ने अपनी ओर से उपरोक्त शर्तों पर देशी बैंकर्स को सम्बन्धित करने का प्रस्ताव वापस नहीं लिया है। इस प्रकार देशी बैंकर्स तथा रिजर्व बैंक के सम्बन्ध का प्रश्न समाप्त नहीं हुआ है। यदि दोनों ही पक्ष अपने-अपने दृष्टिकोण में थोड़ा परिवर्तन कर दें तो इस समस्या का हल शीघ्र हो सकता है।

कुछ प्रान्तीय बैंकिंग जाँच समितियों ने बैंकिंग के साथ अन्य व्यवसाय को बुरा नहीं बतलाया। उनके कथनानुसार भारत जैसे देश में यह सर्वथा उपयुक्त है। देशी बैंकर्स अन्य व्यापार को प्राचीन काल से करते सफलतापूर्वक करते चले आ रहे हैं। अतः रिजर्व बैंक को उन्हें बन्द करने का आग्रह नहीं करना चाहिये। देशी

बैंकर्स को भी चाहिये कि वे अपनी कार्य पद्धति में सुधार करके संसार की प्राप्त का अनुगमन करें। हिसाब-किताब के अंकेक्षण से भयभीत न हों, क्योंकि अंकेक्षण से गोपनीयता भंग नहीं होती।

यदि रिजर्व बैंक से देशी बैंकर का सीधा सम्बन्ध कुछ समय तक करते हैं तो इनका सम्बन्ध अनुसूचित बकों के द्वारा स्थापित करने के प्रश्न विचार करना चाहिये। कुछ व्यापारिक बैंक देशी बैंकर्स तथा साहूकारों की हुंडियाँ को क्रय कर लेते हैं। यदि ये बैंक देशी बैंकर्स से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करें तो रिजर्व बैंक का कार्य सरल हो सकता है। व्यापारिक बैंक देशी बैंकर्स के सम्बन्ध में जो सूचनायें प्राप्त करते हैं उससे रिजर्व बैङ्क लाभ उठा सकती है। अनुसूचित बैंकों से देशी बैंकर्स का जितना घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित होगा उतने ही देशी बैंकर्स रिजर्व बैंक के निकट आ जायेंगे।

२१ जुलाई सन् १९५१ को अखिल भारतीय सर्राफ कान्फ्रेंस में भाषण देते हुए रिजर्व बैंक के गवर्नर श्री रामाराव ने देशी बैंकर्स के महत्व पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा—"रिजर्व बैंक को इस बात से प्रसन्नता होगी कि देश के आर्थिक विकास में देशी बैंकर्स पूरा सहयोग प्रदान करें। किन्तु यह सहयोग तभी सफल हो सकता है जब देशी बैंकर्स अपने पुरानी पद्धति में परिवर्तन करके आधुनिक ढंग से कार्य करें।"

रिजर्व बैंक ने ग्रामीण साख की जाँच करने के लिये एक अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति नियुक्त की। इस समिति ने भी देशी बैंकर तथा साहूकारों के महत्व को स्वीकार किया और रिजर्व बैंक से यह अनुरोध किया कि देशी बैंकर्स की सेवाओं को अधिकतम लाभदायक बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। रिजर्व बैंक ने समिति की सिफारिशों को सिद्धांततः मान लिया है और देशी बैंकर्स को अधिक उपयोगी बनाने तथा उनसे घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने के प्रश्न पर विचार कर रही है।

प्रश्न

1. Describe briefly the functions of indigeneous bankers. Point out the criticisms that have been levelled against them. Suggest remedies to remove those defects.

देशी बैंकरों के कार्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिये। उनकी क्या आलोचनायें हुई हैं? उनके दोषों को दूर करने के सुझाव दीजिये।

2. What part is played by the indigenous bankers in financing the inland trade of this country? Examine their principal defects, and suggest measures for improvement.

इस देश के आंतरिक व्यापार की आर्थिक सहायता में देशी बैंकर क्या

कार्य करते हैं ? इनके मुख्य दोषों की विवेचना कीजिये तथा सुधार के सुझाव दीजिये ।

3. What do you understand by 'Indigeneous Banking in India ? What attitude has been adopted by the Reserve Bank of India in linking indigeneous bankers with it ?

भारतीय देशी बैंकरों से आपका क्या तात्पर्य है ? रिजर्व बैंक ने इनसे सम्बन्ध स्थापित करने के लिये क्या नीति अपनाई है ?

4. Do you consider the services of moneylenders in India useful to society ? What part do they play in helping agriculture ? What are their defects ?

क्या आप भारतीय साहूकारों की सेवाओं को समाज के लिये लाभदायक समझते हैं ? ये कृषि की सहायता में किस प्रकार भाग लेते हैं ? इनकी कमियाँ बतलाइये ।

5. What are the functions of a joint-stock bank ? In what respects does it differ from indigeneous banker ?

सम्मिलित पूँजी वाली बैंक देशी बैंकर्स से किस प्रकार भिन्न होती हैं । दोनों के कार्यों की तुलना कीजिये ।

अध्याय १२

बैंकिग के सिद्धान्त

(Principles of Banking)

बैंक की वित्तराशि के साधन—बैंक अपनी वित्तराशि की निम्नलिखित साधनों से एकत्रित करती हैं :—

(१) **पूँजी**—प्रत्येक बैंक के लिये यह आवश्यक है कि वह कुछ न कुछ निजी पूँजी लगाकर अपना कार्य प्रारम्भ करे। अंशधारियों की बैंकों के लिये यह आवश्यक है कि उनकी चुकता पूँजी, चालू पूँजी के ५० प्रतिशत से कम न हो। पर्याप्त मात्रा में चालू पूँजी रखने के लिये बैंक की चुकता पूँजी निम्न प्रकार से निश्चित की गई है :—

यदि बैंक दो राज्यों में काम करती है तो उसकी चुकता पूँजी तथा सुरक्षित कोष कम से कम ५ लाख होना आवश्यक है।

यदि बैंक बम्बई अथवा कलकत्ते में है तो चुकता पूँजी १० लाख होना चाहिये।

यदि बैंक की सारी शाखायें एक ही राज्य में हैं तो प्रधान कार्यालय के लिये १ लाख रुपया और जिले की अन्य शाखाओं के लिये १० हजार रुपया प्रति शाखा और अन्य शाखाओं के लिये २५ हजार रुपया प्रति शाखा होना चाहिये। परन्तु यह कुल ५ लाख रुपये से अधिक होना आवश्यक नहीं है।

यदि बैंक का केवल एक ही कार्यालय है तो उसकी चुकता पूँजी तथा सुरक्षित कोष ५० हजार रुपया पर्याप्त है। यदि शाखायें कलकत्ता, बम्बई में हैं तो ५ लाख रुपये और ५ लाख रुपये के अतिरिक्त कलकत्ता, बम्बई की प्रत्येक शाखा के लिये २५ हजार रुपया होना अनिवार्य है। कुल मिलाकर १० लाख रुपये से अधिक होना आवश्यक नहीं।

(२) **सुरक्षित कोष**—बैंकों के लिये यह आवश्यक है कि वे लाभ वितरण करने से पहले कुछ लाभ का कम से कम २० प्रतिशत सुरक्षित कोष में तब तक रखती रहें जब तक सुरक्षित कोष चुकता पूँजी के समान न हो जाय। सुरक्षित कोष का रखना इसलिये अनिवार्य कर दिया गया है जिससे संकट काल में उस कोष दो काम में लाया जा सके। बहुत-सी बैंक सुरक्षित कोष चुकता पूँजी के समान हो जाने के पश्चात् भी

लाभ वितरित करने से पहले लाभ का कुछ न कुछ प्रतिशत अपने कोष में रखकर अपनी आर्थिक स्थिति को दृढ़ बनाती हैं।

(३) जनता से जमा प्राप्त करना—बैंकों का मुख्य कार्य जनता की बचत को अपने यहाँ जमा करके उसका अधिकाधिक लाभ उठाना है। जनता बैंकों में चार प्रकार से रुपया जमा किया करती है :—

(अ) स्थाई जमा खाता (Fixed Deposit Account)—बैंक के इस खाते में धन एक निश्चित समय के लिये जमा किया जाता है और धन वापस होने की अवधि समाप्त होने अथवा बैंक को आवश्यक सूचना देने पर निकाला जा सकता है। बाजार दर धनराशि और अवधि के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। जमा खाते समय बैंक जमा रसीद देती है जिसको निकालते समय लौटाना अनिवार्य है। यह रसीद हस्तांतरित नहीं की जा सकती है।

(ब) चालू खाता (Current Account)—इसमें धन चाहे जब जमा कराया अथवा चेक द्वारा निकाला जा सकता है। इसे व्यापारिक खाता भी कहते हैं। और बैंक इस पर बहुत कम ब्याज देती है। परन्तु इसमें एक न्यूनतम रकम जमा होनी चाहिये तथा इसके न होने पर बैंक कुछ फीस ग्राहक से लेती है। कोई भी नया आदमी बैंक के किसी पुराने ग्राहक की साक्षी से ही यह हिसाब खोल सकता है। उसके हस्ताक्षर ऑटोग्राफ बुक में लिये जाते हैं तत्पश्चात् बैंक के साथ सारे लेन-देन के कागज-पत्रों पर वे ही हस्ताक्षर होने चाहिये। बैंक ग्राहक को एक पास बुक, एक जमा बुक और एक चेक बुक भी देती है।

(स) गोलक खाता (Home Safe Account)—मितव्ययता की आदत डालने के लिये एक गोलक ग्राहक को घर ले जाने के लिये दी जाती है जिसमें वह धन डालता रहता है। एक निश्चित समय के पश्चात् बैंक उसे खोलकर ग्राहक के नाम में यह रकम जमा कर देती है। इस पर बहुत कम ब्याज दी जाती है। वह ग्राहक को पास बुक और चेक बुक भी देती है।

(द) चालू खाता (Current Account)—यह खाता एक खुला हिसाब होता है जिसमें रुपया जमा करने वाला किसी समय भी रुपया जमा कर सकता है तथा निकाल सकता है। इस हिसाब पर प्रथम श्रेणी की बैंक कोई ब्याज नहीं देती। यदि चालू खाते में एक निश्चित रकम से रुपया कम हो जाता है तो जमा करने वाले को कुछ व्यय करना पड़ता है। इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया में कम से कम ५०० रुपये की रकम रहनी चाहिये। यदि हिसाब रखने वाले के रुपये ५०० से कम होंगे तो स्टेट बैंक प्रति ६ मास में ५ रुपया व्यय के रूप में लेगी।

चालू खाता खोलने की विधि—चालू खाता खोलने के लिये सर्वप्रथम आवश्यकता यह होती है कि बैंक के किसी पुराने और विश्वसनीय ग्राहक अथवा अन्य किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति द्वारा खाता खोलने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को अपनी साख के विषय में बैंक के उच्चाधिकारियों को आवश्यक ज्ञान कराया जाये। यह ज्ञान प्राप्त करना बैंक इसलिये आवश्यक समझती है कि जिससे उसे भविष्य में अविश्वस्त, जाल-साज तथा दिवालिया व्यक्तियों से हानि न हो।

बैंक ग्राहक की आर्थिक दशा से संतुष्ट हो जाते ही हस्ताक्षर बही पर उसके हस्ताक्षरों का नमूना (Speciman Signature in Autograph Book) लेती है जिससे उसके धनादेशों पर हुए हस्ताक्षरों को नमूने के हस्ताक्षरों से मिलाया जा सके। जो बैंक ऐसा किये बिना ही जाली एवं झूठे धनादेशों का भुगतान कर देती हैं उन्हें ग्राहकों को उक्त प्रकार से हुई क्षति की पूर्त्ति करनी होती है। जहाँ कोई व्यापारिक फर्म चालू खाता खोलती है तो उसके सभी साझेदारों को हस्ताक्षर करने पड़ते हैं, जहाँ यह अधिकार एक अथवा दो साझेदारों को देना आवश्यक हो वहाँ पर सभी साझे-दारों को एक घोषणा-पत्र भर कर बैंक को दे देना चाहिये। कम्पनियाँ चालू खाता खोलते समय बैंक के पास सिद्धान्त-पत्र (Memorandum), अधिकार-पत्र (Articles) तथा प्रार्थना-पत्र (Resolution) जमा कर देती हैं। इससे बैंक के अधिकारी यह जान लेते हैं कि उक्त खाता कम्पनी के नाम से ही खोला जा रहा है। स्कूल, कालेज, अस्पताल, नगरपालिका आदि के खाते खोलने के लिये भी बैंक के पास प्रस्ताव-पत्र जमा करना आवश्यक है।

चालू खाता खोलने वाले को प्राप्त होने वाली बहियाँ

(अ) पास बुक—इस चालू खाता खोलने वाले व्यक्ति के दिन-प्रति-दिन होने वाली जमा और नाम की रकमों का उल्लेख तिथिवार दिया जाता है। उसे अपनी पास बुक को प्रति मास, पखवारे अथवा इसी प्रकार निश्चित की गई अन्य अवधि के पश्चात् बैंक भेजना पड़ता है जिससे उसमें इस अवधि के मध्य में किये गये समस्त जमा तथा नाम के लेखों को दिया जा सके। पास बुक में तिथि, विवरण, धनादेश, संख्या निकाली गई रकम तथा खजान्ची के हस्ताक्षर के लिये भिन्न-भिन्न खाने बने रहते हैं। प्रत्येक जमा नाम के समय खजान्ची अथवा अन्य अधिकारी इनमें आवश्यक लेखा कर देते हैं।

(आ) जमा की बही (Pay-in-Book)—इस बही में १०, २०, ५० अथवा १०० की संख्या में छपे फार्म होते हैं। इन फार्मों को रुपया जमा करते समय प्रयोग करना आवश्यक होता है, क्योंकि उस समय इनमें उनकी क्रम संख्या, जमा की

कम, जमा खाते वाले ग्राहक का नाम तथा जमा की तिथि लिखनी पड़ती है। इसके पश्चात् इसे बैङ्क के खजान्ची को दे दिया जाता है। खजान्ची इसके दाहिनी ओर के भाग को अपने पास रख लेता है तथा बाईं ओर के भाग को हस्ताक्षर करने के प्रमाण रूप में लौटा देता है। इस पर बैङ्क की मुहर भी लगा दी जाती है। आवश्यकता के समय इसे ग्राहक रुपया जमा करने के प्रमाण-स्वरूप न्यायालय में प्रस्तुत कर सकता है।

चेक बुक—इसमें १०, २५, ५०, १०० पृष्ठों के रूप में चेक जुड़े रहते हैं तथा इनका प्रत्येक पृष्ठ पुस्तिका से निकाला जाने पर चेक (धनादेश) कहलाता है। इसमें चेक एवं उसका प्रतिरूपक दो भाग होते हैं जिसमें चेक लिखने की तिथि, भुगतान की रकम, (अक्षरों तथा शब्दों में), भुगतान करने वाले तथा पाने वाले व्यक्ति का नाम आदि सभी बातों का उल्लेख रहता है। यद्यपि बैङ्क में साधारण कागज पर लिखे गये आदेश पर रुपया भुगतान करने पर कोई रोक-टोक नहीं है तथापि भुगतान की सुविधा, जाल से सुरक्षा, धोखेबाजी से बचत तथा आकृति की समानता लाने के लिये चेक का विशेष एवं निश्चित रंग-रूप होना आवश्यक है। बैङ्क इन्हें अपने ग्राहकों को निःशुल्क वितरित करती है।

ग्राहकों के चेकों का संग्रह—बैङ्क अपने ग्राहकों के चेकों तथा हुण्डियों का रुपया संग्रह करके उसके चालू खाते में जमा करती है। इस संबन्ध में बैङ्क का यह कर्त्तव्य है कि पूरी सावधानी से कार्य करे। चेक तथा हुण्डी को उचित समय पर प्रस्तुत करके रुपया प्राप्त करे। ग्राहक से बैङ्क को जिस दिन चेक प्राप्त हुआ है उसी दिन या अधिक से अधिक अगले दिन उस चेक को उस बैङ्क पर प्रस्तुत करे जिसके लिये यह लिखा गया है। यदि बैङ्क ने चेक प्रस्तुत करने में देर की और इस बीच बैङ्क लिखने वाले ने अपने भुगतान स्थगित कर दिये तो इससे चेक जमा करने वाले को हानि होगी उसका उत्तरदायित्व संग्रह करने वाली बैङ्क पर है। यदि चेक अनादृत होकर वापस आ गया है तो वह चेक आपत्ति-पत्र सहित ग्राहक के पास तुरन्त भेज देना चाहिये।

जमा करने वाले द्वारा लिखे गये चेकों का भुगतान—बैङ्क का कर्त्तव्य है कि वह जमा करने वाले द्वारा लिखे गये चेक का, यदि चेक नियमानुसार लिखा गया है और वह बैङ्क के कार्य-समय में प्रस्तुत किया गया है; तुरन्त भुगतान कर दे। क्योंकि ऐलान करने पर चेक लिखने वाले की प्रतिष्ठा को धक्का लगता है। यदि बैङ्क ने सद्विश्वास के साथ चेक का भुगतान कर दिया है तो यह भुगतान जमा करने वाले के नाम लिखा जायगा। बैङ्क को निम्नलिखित अवस्थाओं में भुगतान अस्वीकृत देकर ना चाहिये—

(१) जब चेक लिखने वाले ने चेक का भुगतान रोक दिया हो तथा इसकी सूचना बैङ्क को दे दी हो।

(२) जब चेक लिखने वाले की मृत्यु हो गई है और उसकी मृत्यु का बैङ्क को पता चल गया हो।

(३) यदि चेक लिखने वाला दिवालिया हो गया हो और न्यायालय ने उसे दिवालिया घोषित कर दिया हो।

(४) जब चेक लिखने वाला पागल हो गया हो और उसे न्यायालय ने पागल घोषित कर दिया हो।

(५) जब चेक लिखने वाले ने अपने खाते की समस्त रकम किसी अन्य व्यक्ति के नाम हस्तांतरित कर दी हो।

(६) जब चेक का भुगतान माँगने वाले के अधिकार में कोई दोष हो और बैङ्क को इस दोष का पता हो।

(७) जब न्यायालय द्वारा भुगतान न करने का आदेश प्राप्त हो गया हो।

निम्नलिखित अवस्थाओं में भी बैङ्क चेक का भुगतान करने से इनकार कर सकती है, किन्तु यदि सद्विश्वास के साथ चेक का भुगतान कर दिया है तो चेक की रकम खातेदार के खाते में नाम डाल दी जायेगी।

(१) जब चेक पर कोई तारीख न पड़ी हो। ऐसी अवस्था में बैङ्क को यह समझने का अधिकार है कि जिस तारीख को चेक प्रस्तुत किया है, चेक उसी तारीख को लिखा गया है।

(२) चेक पर आगामी तारीख पड़ी है।

(३) यदि चेक लिखने वाले के हस्ताक्षर भिन्न हैं।

(४) यदि चेक में बिना चेक लिखने वाले के कोई परिवर्तन न हो गया है।

(५) जब शब्दों और अंकों में लिखी रकम में भिन्नता है। ऐसी अवस्था में जो रकम शब्दों में लिखी गई है वही ठीक मानी जाती है; किन्तु सावधानी के तौर पर बैङ्क उस रकम का भुगतान करता है जो शब्दों तथा अंकों में लिखी दोनों में से जो भी कम है।

(६) जब जमा करने वाले के खाते में अपर्याप्त रकम है अथवा अभी तक जमा किया हुआ कोई चेक संग्रह नहीं हुआ है।

(७) जब रेखांकित चेक खिड़की पर नकद भुगतान के लिये प्रस्तुत हुआ है।

उपरोक्त परिस्थितियों में यदि बैङ्क ने चेक का भुगतान करने से इनकार कर दिया है तो इसके लिये बैङ्क को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

चेक के संबन्ध में अन्य सब बातों का अध्ययन एक पृथक अध्याय में किया जायेगा।

बैंक के धन का उपयोग—बैङ्क जनता से जमा प्राप्त करती है और उस रुपये को जमा करने वालों के हितों को दृष्टि में रखते हुए इस प्रकार उपयोग करती है जिससे बैङ्क को अधिक से अधिक लाभ भी हो जाये और किसी प्रकार की जोखिम भी न उठानी पड़े। इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए बैङ्क अपने धन को दो प्रकार के विनियोगों में लगाती है—

(१) लाभ न देने वाले विनियोग तथा (२) लाभ देने वाले विनियोग।

लाभ देने वाले विनियोग में नकद कोष तथा भवन इत्यादि आते हैं। नकद कोष का अर्थ है कि बैङ्कों के कोष में तथा केन्द्रीय बैङ्क के कोष में रखा हुआ धन। इसको हस्तस्थ राशि भी कहते हैं। यह बैङ्क की प्रथम रक्षा पंक्ति है। यह निश्चित करना बहुत कठिन है कि नकद कोष और माँग पर देय धन का क्या अनुपात होना चाहिये। साधारणतया बहुत कम धन माँग पर लगाया जाता है। एक सुन्दर बैङ्क का भवन ग्राहकों को लुभाता है। परन्तु श्री राऊ के अनुसार तुरन्त उनका विक्रय होना कठिन है तथा इससे बैङ्क की बदनामी भी होती है। इसलिये बैङ्क को इनमें बहुत कम रुपया लगाना चाहिये।

लाभ देने वाले विनियोगों में निम्नलिखित आते हैं :—

(१) याचना द्रव्य तथा अल्पकालीन ऋण (Money at Call and Short Notice)—यह बैङ्क की दूसरी रक्षा पंक्ति बनाती है। जहाँ द्रव्य बाजार उन्नत अवस्था में है वहाँ बैङ्क बिलों और स्टाक बाजार के दलालों को उच्च श्रेणी की देखनहार प्रतिभूतियाँ गिरवीं रखकर थोड़े से समय के लिये ऋण देती हैं तथा आवश्यकता के समय वापस ले लेती हैं। भारतवर्ष में बड़े नगरों के अतिरिक्त हुण्डी बाजार उन्नत नहीं है। अतः बैङ्क नकद साख (Cash credit) अथवा अधिविकर्ष (Overdraft) पर जमानत लेकर ऋण लेती है। ऐसे ऋण यदि माँग पर तुरन्त ही नहीं लौटाये जाते तो बैङ्क जमानतों को बेचकर अपना नकद कोष बढ़ा लेती है। ऐसे ऋण शांति के समय अच्छे है, संकट काल में नहीं।

Cash Credit—यह वह प्रकार है जिसमें बैङ्क व्यापारी के चालू खाते में ली गई रकम को जमा कर दे और व्यापारी के नाम से एक ऋण खाता खोल कर व्यापारी के नाम डाल दे। इस प्रकार ऋण देने में बैङ्क व्यापारी की व्यक्तिगत साख के अतिरिक्त व्यापारी के माल को अपने यहाँ सुरक्षित रखती है। इस प्रकार माल की व्यक्तिगत जमानत पर ही नकद साख दी जाती है। माल के पूरे मूल्य के बराबर

ऋण नहीं मिल सकता। बैङ्क प्रायः माल के मूल्य के ६० प्रतिशत से अधिक ऋण नहीं देती। शेष को मार्जिन के तौर पर इसलिये रख लिया जाता है कि माल के मूल्य में सदैव उतार-चढ़ाव होता रहता है। शीघ्र खराब होने वाले माल पर ऋण नहीं दिया जाता। यदि किसी समय जमानत में रखे हुए माल का मूल्य पर्याप्त कम होने लगता है तो बैङ्क ऋणी व्यापारी को यह सूचना देती है कि ऋण का कुछ रुपया वापस कर दिया जाये नहीं तो माल को बेचकर ऋण का भुगतान कर दिया जायगा। नकद साख में बैङ्क की जोखिम कुछ कम होती है। अतः ब्याज की दर भी कम होती है। परन्तु ब्याज के अतिरिक्त ऋणी व्यापारी को बैङ्क के गोदाम का किराया भी देना पड़ता है जिससे बैङ्क माल सुरक्षित रखती है। नकद साख में यदि किसी समय व्यापारी थोड़ा बहुत माल छुड़ाना चाहे तो यह उसी अनुपात से ऋण का भुगतान करके छुड़ा सकता है क्योंकि वह समस्त माल को अपने पास न रख कर उतना ही लाते रहते हैं और बेचते रहते हैं।

Overdraft—यह पहले ही बैङ्क के साथ तय कर लिया जाता है कि आवश्यकता पड़ने पर व्यापारी अपने चालू खाते के समय जमा की हुई रकम से अधिक कितनी रकम निकाल सकता है। व्यापारी को अधिक निकाले हुए धन पर ब्याज देनी पड़ती है। इस प्रकार का ऋण व्यापारी को व्यक्तिगत साख पर अथवा प्रतिभूतियों की जमानत पर मिलता है। इसमें व्यापारी को पूरी तय की हुई रकम पर ब्याज नहीं देनी पड़ती क्योंकि इसमें नकद साख की तरह से व्यापारी का ऋण खाता नहीं खोला जाता। इसमें तो जिस समय जितनी रकम व्यापारी की जमा की हुई रकम से अधिक निकाल देता है उसे उतने ही पर ब्याज देनी पड़ती है। ओवर ड्राफ्ट द्वारा दिया हुआ ऋण हर Transaction के पश्चात् घटता-बढ़ता रहता है। मान लीजिये किसी व्यापारी के चालू खाते में १००० रुपये जमा हैं तथा जमानत दे कर उसने तय कर लिया कि उसको २००० रुपये तक ओवर ड्राफ्ट मिल सकता है। इस प्रकार व्यापारी अपने जमा किये हुए १००० रुपये जमा समेत अपने चालू खाते से ३००० रुपये निकाल सकता है। मान लीजिये उसने १५०० रुपये की रकम एक मास के पश्चात् पहली नवम्बर को निकाली और फिर ५०० रुपये की रकम पहली दिसम्बर को फिर ५०० रुपये पहली जनवरी को निकाले, ३०० रुपये पहली फरवरी को अपने हिसाब में जमा कर दिये और फिर ५०० रुपये अपने चालू खाते में पहली मार्च को निकाले। इस प्रकार पहली मार्च को उसके पास १००० रुपये का ओवरड्राफ्ट हुआ जिसका भुगतान वह ३१ मार्च तक १००० रुपये पर ब्याज नहीं देगा। पहली नवम्बर को उसने ५०० रुपये का ओवरड्राफ्ट लिया है। अतः पहली नवम्बर को ५०० की ब्याज होगी। पहली दिसम्बर को ५०० रुपये फिर निकालने से

१००० रुपये का ओवरड्राफ्ट हो गया इसलिये दिसम्बर मास की ब्याज १००० रुपये पर देगा। पहली जनवरी को फिर ५०० रुपये निकालने पर १५०० रुपये का ओवर-ड्राफ्ट हो गया। अतः जनवरी मास का ब्याज १५०० रुपये पर देगा। पहली फरवरी को ३०० रुपये जमा कर देने से ओवरड्राफ्ट १२०० रुपये का रह गया। इसलिये फरवरी मास का ब्याज १२०० रुपये पर देगा। पहली मार्च को ५०० रुपये फिर निकालने से ओवरड्राफ्ट १७०० रुपये का हो गया। इसलिये केवल मार्च मास का ब्याज १७०० रुपये पर देगा। ये सब सुविधाएँ होने के कारण व्यापारी लोग ओवरड्राफ्ट करते हैं; परन्तु ओवरड्राफ्ट के द्वारा अधिक ऋण नहीं मिलता।

(२) बिलों की कटौती (Discounting of Bills)—यह बैङ्क की तीसरी रक्षा-पंक्ति है। बिल कटौती का अर्थ है कि बिल का आज का मूल्य ब्याज घटा कर चुकाना। केवल निजी जमानत पर यह ऋण दिया जाता है। बिल कटौती घरों तथा बिल के दलालों से भी भुनाये जाते हैं। जो बाद में बैङ्क से बिल भुनवा लेते हैं। बैङ्क को यह कार्य करते समय सावधानी से यह देख लेना चाहिये कि बिल ठीक प्रकार से नियमानुसार लिखे, बेचे तथा स्वीकृत किये गये हैं और ऐसा करने वालों की आर्थिक दशा अच्छी है, बैङ्क को लगातार पकने वाले बिलों पर रकम लगानी चाहिये जिससे ग्राहकों की माँग पूरी होती रहे।

(३) विनियोग (Investment)—बैङ्क अपनी रकम सरकारी साख-पत्र, जनहित के लिये बनी अर्ध सरकारी संस्थाओं तथा उद्योग-धन्धों सम्बन्धी साख-पत्रों में लगाती हैं। यह बैङ्क की चौथी रक्षा पंक्ति है।

जिन प्रतिभूतियों में बैङ्क अपना धन लगाती हैं वे निम्नलिखित हैं:—

(अ) सरकारी प्रतिभूतियाँ—के अंतर्गत वे सारी प्रतिभूतियाँ आ जाती हैं जो केन्द्रीय, प्रान्तीय, तथा रियासतों की सरकार बेचती हैं। ये सबसे अधिक सुरक्षित तथा सरलता से वसूल की जाने वाली लाभप्रद प्रतिभूतियाँ हैं। बैङ्क में जनता का विश्वास भी इनसे जमता है। अतः वे इनमें अपना धन लगाती हैं। परन्तु संकट काल में ये अच्छी नहीं हैं।

(ब) अर्ध सरकारी प्रतिभूतियाँ—के अंतर्गत स्थानीय नगरपालिका, अंतरिम जिला परिषद तथा ट्रस्ट द्वारा बेची जाने वाली प्रतिभूतियाँ आती हैं जो अपना दूसरा स्थान रखती हैं।

(स) रेलवे की प्रतिभूतियाँ—के अंतर्गत रेलवे कम्पनियों द्वारा बेची जाने वाली प्रतिभूतियाँ आती हैं जिनकी सरकारी जमानत भी होती है। भारतवर्ष में रेलें सरकारी हो गई हैं। अतः प्रतिभूतियाँ यहाँ कुछ Light Railway Companies द्वारा बेची जाती हैं।

(२) जनहित संस्थाओं की प्रतिभूतियाँ—के अंतर्गत, बैङ्क, अंश, तथा ऋणपत्र आते हैं जो पानी बिजली आदि कम्पनियों द्वारा बेचे जाते हैं।

(३) अन्य ऋणपत्र तथा स्टाक—के अंतर्गत अन्य खनिज आदि की कम्पनियाँ आती हैं। बैङ्कर को इनमें रुपये नहीं लगाने चाहिये।

(४) अन्य प्रकार के ऋण—के अंतर्गत वे सारे ऋण आते हैं जो बैङ्कर अधिक समय के लिये नकद साख अथवा मुख्य ऋण अथवा अधिविकर्ष के रूप में देता है। ये दो प्रकार के होते हैं:—

अ—सुरक्षित—भारतीय बैंक प्रायः इसी प्रकार का ऋण देती है। बैङ्क जमानत रख कर रुपया देती हैं और समय पर भुगतान न होने पर उन्हें तुरन्त बेच देती हैं। अथवा किसी अन्य बैङ्क में गिरवी रख कर रुपया प्राप्त कर लेती हैं। इस प्रकार के ऋणों पर कम ब्याज मिलता है। बैङ्क निम्नलिखित जमानतों पर ऋण देती हैं:—

(क) स्टाक बाजार में बिकने वाले पत्र—के अंतर्गत वे सरकारी तथा अन्य कम्पनियों के स्टाक आते हैं जो अच्छा अधिकार देने वाले तथा न देने वाले दोनों ही होते हैं।

(ख) अच्छा अधिकार देने वाले पुर्जे—के अंतर्गत विनिमय के बिल आते हैं जिनका मूल्य निर्धारित रहता है। अवधि बीतने पर वसूली होना निश्चित है तथा उनको दुबारा केन्द्रीय या अन्य बैङ्क से भुनाया भी जा सकता है। यदि बैङ्कर ने इनको अच्छी नीयत से प्राप्त किया है तो इसका इन पर अच्छा अधिकार रहता है। बैंकर को ध्यान रहना चाहिये कि उसे उनको गिरवीं रखने के बजाय भुना ही लेना चाहिये। इनमें दोष यह है कि इनके बीतने पर बैंकर को इनकी वसूली करनी पड़ती है।

(ग) माल अथवा माल के अधिकार-पत्र—माल गोदाम की कुन्जी लेकर जहाज, बिल्टी, डाकपत्र तथा रेलवे बिल्टी आदि को रख कर धन उधार दिया जाता है। भारतवर्ष में गोदामों की कमी प्रमापीकरण (Standardisation) तथा संगठित बाजार न होने के कारण यह उन्नति नहीं कर पाया है।

(घ) जानबीमा-पत्र—बैंकों का बहुत थोड़ा धन इन पर उधार दिया जाता है क्योंकि बीमा कम्पनी स्वयं ही अपने बीमा पत्रों के आधार पर ऋण देती हैं। इसका ब्याज मूल्य (Surrender Value) सरलता से या तो उसी में लिखा रहता है नहीं तो बीमा कम्पनी से ज्ञात किया जा सकता है। इसकी आवश्यकता पड़ने पर अन्य व्यक्ति के नाम बेची भी जा सकती है। ऋण लेने वाले के एक विशेष आयु तक पहुँचने पर अथवा मृत्यु होने पर बीमा-पत्र स्वयं ही प्रक जाता है।

(५) अचल सम्पत्ति—बैंकर को अचल सम्पत्ति पर धन नहीं देना चाहिये

क्योंकि उसके खराब होने, आग लगने का भय रहता है तथा इसको बेचने से पहले कई वैधानिक कार्यवाहियाँ करनी पड़ती हैं तथा ऋण लेने वाले के वह पूर्ण अधिकार में है अथवा नहीं, यह ज्ञात करने में बहुत कठिनाई पड़ती है ।

बैंक जो धन ब्याज पर लगाती है वह दूसरों का होता है तथा उसको सुरक्षित रखने के लिये यह आवश्यक है कि ब्याज पर पूँजी लगाते समय निम्नलिखित सावधानी से काम लें—

(१) बैंक को अपने ग्राहक को इतनी पूँजी उधार नहीं देनी चाहिये जिसके ऋण मात्र से ही उसका व्यापार चल सके । बैंक को उसे कम पूँजी नहीं देनी चाहिये जिससे कि वह निजी पूँजी भी व्यापार में लगा सके तथा एक स्थान पर पूँजी भी संग्रहीत न होने पाये ।

(२) अपने ऋणों को चुकाने के लिये उसे अपनी सम्पत्ति इस प्रकार रखनी चाहिये कि आवश्यकता के समय तुरन्त ही वह रुपयों में परिवर्तित की जा सके । इसीलिये उसे लम्बे ऋणों तथा ऋणपत्रों पर अचल सम्पत्ति गिरवीं रखकर रकम नहीं देनी चाहिये । क्योंकि एक मकान अथवा इमारत को तुरन्त ही बेचना कठिन है । परन्तु एक बिल के रुपये प्राप्त करना सरल है । अतः बैंकर वही है जो बिल का औ रेहन का अंतर समझता है तथा रेहन पर बहुत कम उधार देता है, क्योंकि इसका उद्देश्य रुपये को चलायमान रखना है, रोकना नहीं ।

(३) उसे ग्राहक को बड़ी रकम उधार नहीं देना चाहिये किन्तु उनकी अल्प आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिये तथा धनराशि को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का उधार देनी चाहिये । उसे सारे अंडे एक ही टोकरी में न रखने चाहिये क्योंकि इससे सारे के सारों का टूटने का भय रहता है ।

(४) बैंक को सुरक्षितता का ध्यान रखना चाहिये, क्योंकि वह पूँजी उसकी निजी नहीं है दूसरों की है तथा बैंकर तो केवल मध्यस्थ है ।

(५) उसे यह ध्यान रखना चाहिये कि उसको व्यापारियों के चालू लेन-देन का प्रबन्ध रखना है । उसको न तो सब प्रकार के न बिकने वाले धन को द्रव्य में परिणत करना है तथा उसे भविष्य की आवश्यकता की पूर्ति के लिये साख ही उत्पन्न करना है ।

(६) उसको अपने पक्ष में यथेष्ट गुंजायश (margin) रख लेनी चाहिये ।

(७) ऋणों का बराबर नवीनीकरण नहीं करना चाहिये । उपभोग के लिये ऋण नहीं देना चाहिये । यदि असावधानी से ऐसा हो भी जाय तो अन्य जमानत माँग कर शीघ्र ही कमी की पूर्ति कर लेनी चाहिये ।

(९) कम ब्याज की नीति भी सदैव ठीक नहीं रहती है। इससे अत्यधिक उधार हो जाता है।

(१०) ऋण लेने वाले का चरित्र भी अच्छा होना चाहिये यदि वह विश्वास पात्र, तत्पर तथा ईमानदार है तो इससे बढ़कर कोई जमानत नहीं होती।

ऋण की सुरक्षा—ऋण देते समय बैंक ऋणी से कुछ जमानतें माँगती है। परन्तु कभी-कभी ग्राहक की व्यक्तिगत जमानत पर भी उसे ऋण दे दिया जाता है और उससे एक प्रतिज्ञापत्र लिखवा लिया जाता है। यह अरक्षित ऋण कहलाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बैंक अपने रुपये की सुरक्षा का ध्यान किये बिना ही ऋण देती है। इस प्रकार के ऋण की जमानत ऋणी की तात्कालिक आर्थिक स्थिति तथा भविष्य में ऋणी के व्यापार अथवा कारबार की कैसी सम्भावना है, इस पर निर्भर होती है। इस प्रकार का ऋण देने से पूर्व बैंक ऋणी से पिछले कुछ समय का उसका लाभ-हानि खाता तथा लेन-देन का लेखा माँगती है। इसका एक विश्वसनीय अंकेक्षक द्वारा प्रमाणित होना आवश्यक है। बैंक इनका अध्ययन करती है और ऋण लेने वाले की आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाती है। इसके अतिरिक्त उस ऋणी की बाजार में कैसी साख है तथा उसका चरित्र कैसा है? इसका ज्ञान बैंक प्रायः करती है। यदि ऋण लेने वाला बैंक का ग्राहक रहा है तो उसकी ईमानदारी, उसके कारबार की स्थिति तथा आर्थिक अवस्था का बैंक को ज्ञान होता ही है। इन पर अवलम्बित होकर बैंक व्यक्तिगत जमानत पर ऋण देना स्वीकार करती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि ऋण देते समय बैंक ऋण लेने वाले के चरित्र, योग्यता तथा पूँजी इन तीन बातों का ज्ञान प्राप्त करती है। यदि बैंक ऋण लेने वाले की व्यक्तिगत जमानत को यथेष्ट नहीं समझती तथा ऋण माँगने वाला कोई अन्य आनुसंगिक जमानत भी नहीं दे सकता तो बैंक जमानत माँगती है। ऐसा कोई व्यक्ति जिसकी साख में बैंक का विश्वास हो ऋण माँगने वाले की गारंटी देने वाला व्यक्ति बैंक के लिये उत्तरदायी होगा अर्थात् उस रुपये को स्वयं चुकायेगा। गारंटी ऋण माँगने वाले के लिये भी सुविधाजनक है तथा बैंक के लिये भी एक अच्छी जमानत होती है। इसका एक दुर्गुण भी है कि यदि गारंटी का लेख अच्छे प्रकार से ठीक-ठीक तैयार नहीं किया गया है तो आगे चलकर बहुत झंझट खड़े हो सकते हैं तथा इस जमानत की उपयोगिता जमानत करने वाले की आर्थिक स्थिति पर ही निर्भर होती है। यदि गारंटी देने वाला दिवालिया हो जावे तो वह बेकार हो जाती है। बैंक को गारंटी देने वाले के चरित्र, उसकी योग्यता तथा साख का भी पता लगाना पड़ता है। बैंक को जब गारंटी-पत्र पर गारंटी करने वाले से हस्ताक्षर कराने हों तब उसे उसकी शर्तों को बतला देना चाहिये जिससे कि वह आगे चलकर यह न कह सके कि उसे शर्तों का पता न था अथवा

गारंटी-पत्र में क्या लिखा है यह ज्ञात न था। साथ ही गारंटी-पत्र में इस बात का भी उल्लेख कर दिया जाता है कि ऋण की राशि चाहे घटती-बढ़ती रहे किन्तु गारंटी पूरे ऋण के समान होगी।

व्यक्तिगत जमानत तथा गारंटी के अतिरिक्त अन्य आनुसंगिक जमानत भी ली जाती है। ऋण लेने वाला कम्पनियों के अंश, डिबेंचर तथा बौंड इत्यादि कच्चा माल तथा तैयार माल अथवा उस माल सम्बन्धी कागज पत्र (जिनसे माल का स्वामित्व हस्तान्तरित होता है) तथा अचल सम्पत्ति इमारत इत्यादि जमानत के रूप में बैंक के पास रखता है।

बैंक नीचे लिखी हुई वस्तुओं की सुरक्षा के ऊपर भी ऋण प्रदान करती हैं। किन्तु यह वस्तुयें ऐसी होनी चाहिये जो सरलता से बिक सकें। इन वस्तुओं के सम्बन्ध में बैंक को कुछ सावधानी रखनी चाहिये जिनका वर्णन नीचे किया जाता है :—

(१) सरकारी प्रतिभूतियों की सुरक्षा पर—सरकारी प्रतिभूतियाँ स्टाक एक्सचेंज में क्रय-विक्रय होती हैं। अतः यह बहुत अच्छी सुरक्षा समझी जाती हैं, क्योंकि ऋण न चुकने पर इन प्रतिभूतियों को सुगमता से बाजार में बेचकर धन प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध में बैंक को यह देखना चाहिये कि ये सरकारी प्रतिभूतियाँ रिजर्व बैंक के लिये कार्यालय में पंजीकृत हैं। एक रुपया शुल्क देकर उन प्रतिभूतियों को अपने नाम में करा लेना चाहिये। प्रतिभूतियों के मूल्य में उतार-चढ़ाव होता रहता है, अतः इनके तत्कालीन मूल्य के ८०-९० प्रतिशत से अधिक ऋण न देना चाहिये। यदि इन प्रतिभूतियों की सुरक्षा पर कोई कंपनी ऋण ले रही है तो इसके साथ संचालक समिति के प्रस्ताव की एक प्रति भी माँगनी चाहिये।

(२) अंश तथा ऋणपत्रों की सुरक्षा पर—सार्वजनिक कम्पनी के अंश तथा ऋणपत्रों का भी बाजार में क्रय-विक्रय होता है। यद्यपि यह पत्र इतने अधिक सुरक्षित नहीं समझे जाते जितनी सरकारी प्रतिभूतियाँ फिर भी कुछ अच्छी कम्पनियों के पत्र पूर्ण सुरक्षित होते हैं। इन पत्रों की सुरक्षा पर भी बैंक ऋण प्रदान कर देती है। अंश पत्रों से ऋणपत्र अधिक सुरक्षित समझे जाते हैं, क्योंकि अंश-पत्रों पर तो लाभांश तभी मिलता है जब कम्पनी को लाभ हो। किन्तु ऋणपत्रों पर तो ब्याज देनी ही पड़ती है कम्पनी को लाभ हो अथवा हानि। अंश तथा ऋणपत्रों के सम्बन्ध में बैंक को चाहिये कि सर्वप्रथम यह देखे कि कम्पनी कैसी है और उसके प्रबंध अभिकर्त्ताओं की बाजार में क्या साख है? अंशों पर पीछे कितना लाभांश घोषित किया गया है, कम्पनी की आर्थिक अवस्था कैसी है, ऋणपत्रों पर ब्याज की दर क्या है, यदि ब्याज की दर अधिक है तो कम्पनी की आर्थिक अवस्था की पूरी जाँच करनी

चाहिये, क्योंकि अधिक ब्याज देनी वाली कम्पनी की साख में सन्देह होना प्राकृतिक है। ऋणपत्रों का भुगतान कम होना, उनके लिये कम्पनी की कोई स्थायी अथवा अस्थायी सम्पत्ति बंधक है या नहीं, सभी बातों की जाँच-पड़ताल करनी चाहिये। यह तो देखना आवश्यक है ही कि अंश-पत्र अथवा ऋणपत्र ऋण माँगने वाले के नाम हैं अथवा नहीं और उनका कोरा बेचान (Blank transfer) कम्पनी के नाम में हो गया है या नहीं।

(३) जीवन बीमा पालिसियों की सुरक्षा पर—जीवन बीमा पालिसियों के सम्बन्ध में बीमा अधिनियम का यह विधान है कि कोई भी पालिसी जो दो वर्ष पुरानी है बाद में यह प्रमाणित करने पर रद्द नहीं हो सकती कि बीमित ने कपट द्वारा पालिसी प्राप्त की थी। दो वर्ष पश्चात् प्रत्येक जीवन बीमा पालिसी पर कुछ न कुछ तात्कालिक मूल्य देय हो जाता है। भले ही बीमित पालिसी को भविष्य में चालू रखे अथवा नहीं अतः तात्कालिक मूल्य तक जीवन बीमा पालिसियों की सुरक्षा पर बैंक ऋण दे सकती हैं। किन्तु उन्हें यह देखना चाहिये कि पालिसी किस कम्पनी की है और उसकी आर्थिक अवस्था कैसी है, उसका तात्कालिक मूल्य कितना है और उसे तात्कालिक मूल्य के ८० प्रतिशत से अधिक ऋण प्रदान न करना चाहिये और यह भी देखना चाहिये कि बीमित की आयु कम्पनी ने स्वीकार कर ली है या नहीं और पालिसी किसी अन्य कम्पनी के नाम तो की हुई नहीं है।

(४) व्यापारिक माल की सुरक्षा पर—पूर्वकाल में ऋणदाता के गोदाम में माल रखकर ऋण लेने की प्रथा बुरी समझी जाती थी। किन्तु अब ऐसी नहीं है। आज तो सभी व्यापारी अपने माल की सुरक्षा पर ऋण प्राप्त करते हैं। बैंक के लिये ऐसी सुरक्षा पर ऋण प्रदान करना कुछ जोखिम से रहते हैं, क्योंकि माल सम्बन्धी विशेष ज्ञान की आवश्यकता है और उसकी पूरी देखभाल आवश्यक है। थोड़ी सी भी असावधानी से माल नष्ट हो सकता है। उसकी नापतोल तथा मूल्यांकन का काम भी कठिन है। कृषि-उपज एक प्रकार की नहीं होती। अतः उसके सम्बन्ध में बैङ्क के कर्मचारियों को धोखे का भय रहता है। भारत में अच्छे गोदामों की भी कमी है। और कभी-कभी अच्छे गोदामों की कमी से भी माल खराब हो जाता है। माल की सुरक्षा पर ऋण प्रदान करते समय बैङ्क को विशेष सावधान रहना चाहिये।

बैङ्क को चाहिये कि माल पर अपना अधिकार रखे और यह देख ले कि ऋण प्राप्त करने वाले का अधिकार दूषित तो नहीं है। जिस गोदाम में यह माल रखा जाता है, उसमें बैङ्क प्रायः अपना चिन्ह लगाकर अपने नाम का ताला डाल देती है। गोदाम की ताली सुरक्षित अलमारी में रखनी चाहिये, क्योंकि कभी-कभी ऋणी झूठा बहाना बनाकर ताली ले जाते हैं और अच्छा माल निकाल कर उसके स्थान

पर खराब माल अथवा नकली वस्तु रख देते हैं। गोदाम का समय-समय पर निरीक्षण करते रहना चाहिये तथा भाव के उतार-चढ़ाव पर दृष्टि रखनी चाहिये। यदि भाव में कमी आ गई है तो ऋणी को इसकी सूचना देनी चाहिये और उसके कुछ और माल अथवा ऋण की कुछ रकम माँग लेनी चाहिये। माल को अधिक दिन अपनी सुरक्षा में नहीं रखना चाहिये। उसकी बाजार में माँग हो जाने पर उसे तुरन्त बिकवा देना चाहिये। यदि ऋणी ऋण का भुगतान करके माल न छुड़ाये तो उस माल को नीलाम द्वारा बेच देना चाहिये। यह तो अति आवश्यक है ही कि माल का अग्नि, चोरी तथा दुर्घटना का बीमा करना चाहिये।

(५) निर्मित माल की सुरक्षा पर—कृषि माल की अपेक्षा निर्मित माल में कुछ अधिक समस्याएँ होती हैं, क्योंकि इसका बाजार अधिक विस्तृत नहीं होता। निर्मित माल असंख्य प्रकार का होता है तथा कोई भी व्यक्ति उनके सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान नहीं रख सकता। फिर भी निर्मित माल में कुछ गुण भी होते हैं। गोदाम में वह कम स्थान घेरता है। उसे दूर के स्थानों पर ले जाकर सुगमता से बेचा जा सकता है तथा यह वर्ष भर बिकता रहता है। अतः बड़े-बड़े केन्द्रों में विशेष कर बन्दरगाहों पर बैंक निर्मित माल की सुरक्षा पर ऋण प्रदान कर देती है। इस सम्बन्ध में बैङ्क को चाहिये कि माल के बीजक को भली प्रकार देख ले जिससे माल की मात्रा, प्रकार तथा मूल्य का ठीक ज्ञान हो जाये। माल के मूल्य के ८० प्रतिशत से अधिक ऋण प्रदान नहीं करना चाहिये तथा ऐसे माल की सुरक्षा पर ही ऋण देना चाहिये जिस की माँग विस्तृत हो।

(६) अधिकार-पत्रों (Documents of title to goods) की सुरक्षा पर—जहाजी बिल्टी, रेल बिल्टी, डाक वारन्ट, गोदाम का प्रमाणपत्र इत्यादि अधिकार पत्र कहलाते हैं। जब माल एक देश से दूसरे देश जहाज द्वारा भेजा जाता है तो भेजने वाले को जहाजी कम्पनी से जहाजी बिल्टी प्राप्त होती है। जब माल रेल द्वारा भेजा जाता है तो रेल बिल्टी मिलती है। इसी प्रकार सार्वजनिक गोदाम में माल रख देने पर गोदाम का स्वामी एक प्रमाणपत्र देता है। इन पत्रों के वापस कर देने पर ही माल वापस मिलता है। माल का स्वामी इन पत्रों का जिस व्यक्ति के नाम भी पृष्ठांकन करे वही माल प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। अतः बैङ्क भी इन अधि-कार-पत्रों की सुरक्षा पर ऋण प्रदान कर देती है। बैङ्क को चाहिये कि ऋण प्रदान करने से पूर्व माल को अपने सामने पैक कराये जिससे धोखाधड़ी की गुंजायश न रहे। कभी-कभी चालाक व्यापारी मिट्टी अथवा रद्दी कागज पैक करके भेज देते हैं और उस पर अच्छे माल का लेबिल लगा देते हैं। बैंक से ऋण प्राप्त करके तिरोहित हो जाते हैं। बैङ्क जब माल को खोलती है तो उसे असली माल के स्थान पर कुछ

और ही वस्तु मिलती है। अतः माल को अपने सामने पैक कराना अति आवश्यक है। फिर भी अधिकार-पत्रों की सुरक्षा पर केवल जाने पहचाने व्यक्तियों को ही ऋण प्रदान करना चाहिये और उनकी आर्थिक स्थिति एवं साख की पूरी जाँच कर लेनी चाहिये। अधिकार-पत्रों का पृष्ठांकन अपने नाम करा लेना चाहिये तथा साथ-साथ बीमा पालिसी भी ले लेनी चाहिये किसी भी अवस्था में माल के मूल्य के ६०-७० प्रतिशत से अधिक ऋण नहीं देना चाहिये।

(७) **अन्य वस्तुओं की सुरक्षा पर**—बहुमूल्य धातु, स्वर्ण-रजत-पाट, आभूषणों तथा अपनी ही मुद्दती जमा की रसीदों पर भी बैंक सुरक्षापूर्वक ऋण प्रदान कर देती हैं। स्वर्ण तथा रजत के मूल्य में अधिक उतार-चढ़ाव नहीं होते किन्तु आभूषणों के सम्बन्ध में बैंक को विशेष सावधान रहना चाहिये। उसमें कितनी मिलावट है तथा शुद्ध धातु की कितनी मात्रा है इसका रकम हर व्यक्ति को नहीं हो सकता। आभूषणों के सम्बन्ध में यह और भी आवश्यक है कि ऋण लेने वाले का अधिकार देख लिया जाये। कभी-कभी आभूषण स्त्री-धन होते हैं। और उस पर पति का अधिकार नहीं होता। अतः ऋण माँगने वाले से एक घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर कराने चाहिये कि आभूषण उसी की सम्पत्ति है। स्वर्ण तथा रजत पाट पर ६० प्रतिशत तथा आभूषणों पर ७०प्रतिशत तक ऋण प्रदान किया जा सकता है। मुद्दती जमा की रसीदों पर ऋण प्रदान करने में कोई जोखिम नहीं है। इतनी बात अवश्य है कि उसकी ब्याज की सुरक्षा पर कोई ऋण नहीं देना चाहिये।

किसी भी अवस्था में बैंक को अचल-सम्पत्ति की सुरक्षा पर ऋण नहीं देना चाहिये, क्योंकि अचल-सम्पत्ति में बहुत से वैधानिक झंझट होते हैं और उसका बेच देना कठिन होता है। कोई भी व्यापारिक बैंक भूमि तथा भवन की सुरक्षा पर ऋण प्रदान नहीं करता। उनके मूल्य का ठीक अनुमान लगाना भी असम्भव है।

बैङ्क लेखे (Bank Accounts)—प्रत्येक बैंक की अपनी-अपनी बही खाते की पद्धति होती है, किन्तु बैंक की सामान्य खाता बही के लक्षण निम्नलिखित हैं:—बैंक की खाता बही में मुख्य कर प्राप्त किये हुए और दी हुई नकदी का विस्तारपूर्वक विभाजन कर दिया जाता है। खाता बहियाँ दो शीर्षकों में विभाजित की जा सकती है :—

(क) सहायक रोकड़ बहियाँ तथा सहायक खाता बहियाँ।

(ख) साधारण रोकड़ बही तथा साधारण खाता बही। सहायक बहियाँ निम्नलिखित है :—

(क) प्राप्त किये गये सारे 'नकदी' के लेखे के लिये "प्राप्त करने वाले रोकड़िये की काउन्टर रोकड़ बही।"

(ख) दिये हुए सारे नकदी के लेखे के लिये "देने वाले रोकड़िये की काउन्टर रोकड़ बही" और

(ग) सहायक खाता बहियाँ, जैसे चालू खातों की खाता बही, स्थायी जमा खाता बही, नकद प्रमाण पत्र खाता बही, विनियोग खाता बही, ऋण खाता बही, नकद साख खाता बही, क्रय किये हुए बिलों तथा हुन्डियों की खाता बही, बिल संचय खाता बही, ग्राहकों की सरकारी हुन्डी खाता बही, प्रत्येक सहायक बही में उससे सम्बन्धित लेन देनों के खाते होंगे।

साधारण रोकड़ बही में प्राप्त करने वाले और भुगतान करने वाले रोकड़ियों की रोकड़ बहियों में लिखे हुए लेन देनों का क्रमबद्ध सारांश होता है। साधारण खाता बही में दिखाई देने वाले भिन्न-भिन्न खाते इस बही से [illegible] ।

साधारण खाता बही बहुत अधिक मुख्य खाता बही है, इसमें प्रत्येक सहायक खाता बही सम्बन्धी कुल खाता होता है तथा इसमें वे खाते भी होते हैं जिनके लिये पृथक खाता-बहियाँ नहीं रखी गई हैं। यह आत्मविश्वासी खाता बही और इसमें सारे लेन देनों का लेखा होता है। अत: बैंक के अंतिम खाते इस साधारण खाता बही से लिये गये कच्चे आँकड़ों से तैयार किये जाते हैं।

उन व्यापारिक बहियों के अतिरिक्त बैंक की कई एक स्मृति बहियाँ (Memorandum Banks) भी रखनी चाहिये। उदाहरणार्थ; सुरक्षित रक्षा के लिये प्राप्त किये गये सारे मूल्यवान पदार्थों के विवरण लिखने का रजिस्टर। उन स्मृति बहियों में दुहरी इन्दराज पद्धति नहीं होती।

खाते तथा उनका अंकेक्षण : वार्षिक खाते—प्रत्येक अंग्रेजी वर्ष के अंत में भारतवर्ष में प्रत्येक संस्थापित बैंकिंग कम्पनी अपने सारे व्यवसाय से सम्बन्धित तथा भारतवर्ष के बाहर संस्थापित कम्पनी अपने भारतवर्ष में किये गये व्यापार से सम्बन्धित उस वर्ष का चिट्ठा तथा लाभ हानि खाता बनायेगी।

चिट्ठे तथा लाभ-हानि खाते पर (क) भारतवर्ष में संस्थापित बैंकिंग कम्पनी में व्यवस्थापक के हस्ताक्षर होंगे और जहाँ पर तीन से अधिक संचालक हों वहाँ कम से कम तीन संचालकों के और जहाँ तीन से अधिक संचालक नहीं हों वहाँ सारे संचालकों के हस्ताक्षर होंगे। और (ख) भारतवर्ष के बाहर संस्थापित बैंकिंग कम्पनी में भारत की कम्पनी के प्रधान कार्यालय के व्यवस्थापक के हस्ताक्षर होंगे।

खातों का अंकेक्षण—बैंकिंग कम्पनी के चिट्ठे तथा लाभ-हानि खाते का अंकेक्षण होगा तथा अंकेक्षक की योग्यता वही होगी जो कि कम्पनियों के अंकेक्षकों की होती है। बैंकिंग कम्पनी के अंकेक्षकों की नियुक्ति, उनके अधिकार, तथा कर्त्तव्य और उनके व्यक्तित्व Indian Companies Act 1913 में लिखे अनुसार होंगे।

खातों का रजिस्ट्रार के कार्यालय में भेजना—अंकेक्षण किया हुआ चिट्ठा और लाभ हानि-खाते की तीन प्रतियाँ तथा अंकेक्षक की रिपोर्ट रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के पास ब्योरे के रूप में उनकी अवधि की समाप्ति के तीन मास के भीतर भेज देनी चाहिये। रिजर्व बैंक इन तीन मास की अवधि को और बढ़ा सकती है।

धारा २७ (२) के अंतर्गत रिजर्व बैंक को ऐसी कम्पनी के व्यवसाय सम्बन्धी और सूचना बैंकिंग कम्पनी से माँगने का अधिकार है।

बैंकिंग कम्पनी को अंकेक्षण किया हुआ चिट्ठा और लाभ-हानि खाते की तीन प्रतियाँ तथा अंकेक्षक की रिपोर्ट रजिस्ट्रार को भी भेजनी होती है और यदि रिजर्व बैंक खातों से सम्बन्धित सूचनायें माँगती है तो ऐसी अतिरिक्त सूचना की एक प्रतिलिपि रजिस्ट्रार को भी भेजनी पड़ती है।

खातों का प्रकाशन—प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को चिट्ठा, लाभहानि खाता तथा अंकेक्षक की रिपोर्ट कम्पनी के प्रधान कार्यालय के स्थान पर आने वाले किसी भी समाचार-पत्र में बही खाते के वर्ष के अन्त से ६ मास के भीतर-भीतर प्रकाशित कर देनी चाहिये।

बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम के अन्तर्गत बैंक का चिट्ठा निम्न प्रकार तैयार किया जाता है जो अगले पृष्ठ संख्या ३५५ पर छपा है।

३१ दिसम्बर १९५८ को हिंद बैंक लिमिटेड का नमूने का चिट्ठा

देनदारियाँ		लेनदारियाँ	
निर्धारित, प्रचारित तथा चुकता पूँजी ५०)-५०) के १०,००० अंश	५,००,०००	रोकड़ बाकी तथा रिजर्व बैंक में जमा	६,००,०००
सुरक्षित कोष	१,००,०००	अल्पकालीन माग का ऋण	१,८०,०००
जमायें		अन्य बैंकों में शेष सरकारी विनियोग	१,२०,०००
मुद्दती खाते में ४,१०,०००		अन्य विनियोग	२,००,०००
चालू खाते में ११,१५,१००		ऋण तथा अग्रिम ऋण	१,५५,०००
बचत खाते में ४५,०००	१५,८०,०००	वे ऋण जो सुरक्षित समझे जाते हैं जिनके लिये बैंक सुरक्षित हैं २,००,०००	
ग्राहकों की ओर से स्वीकार किये हुए बिल (दूसरी तरफ भी देखिए)	२०,०००	बिलों की पुनर्कटौती पर ऋण १,००,०००	
संग्रहार्थ विपत्र दूसरी ओर भी देखिये	३०,०००	मिश्रित प्रामिसरी नोट पर ऋण २५,०००	
वितरित लाभ जो माँगा नहीं गया	१०,०००	नगद साख तथा ओवरड्राफ्ट ७५,०००	
लाभ-हानि खाता	४०,०००	बैंक में संचालकों पर ऋण ५,०००	
		ऋण जो जोखिम में समझा जाता है १५,०००,	४२०,०००
		संग्रहार्थ विपत्र दूसरी ओर भी देखिये	३०,०००
		ग्राहकों का उत्तरदायित्व बिलों के लिये दूसरी ओर भी देखिये	२०,०००
		फर्नीचर इत्यादि	५५,०००
		भवन इत्यादि	७,००,०००
	२२,८०,०००		२२,८०,०००

बैंक की देनदारियाँ—निर्धारित पूँजी उस रकम को कहते हैं [illegible] के अधिकार-पत्र में निर्धारित किया गया है। प्रचारित पूँजी उस रकम को कहने हैं जिसमें मूल्य के अंश जनता को बेचने के लिये बैंक ने घोषणा की है।

चुकता पूँजी—उस राशि को कहते हैं जितने की रकम क्रेताओं को प्राप्त हो चुकी है।

सुरक्षित कोष—प्रति वर्ष बैंक अपने लाभ का २० प्रतिशत सुरक्षित कोष में तब तक जमा करती है जब तक यह कोष चुकता पूँजी के बराबर न हो जाये। प्रत्येक अच्छी बैंक अपने लाभ का एक अंश सुरक्षित कोष में अवश्य ही जमा करती है, क्योंकि इससे बैंक की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है और बैंक की प्रतिष्ठा बढ़ती है। यह ध्यान में रखने की बात है कि सुरक्षित कोष और न वसूल की हुई पूँजी अथवा दायित्व में बहुत अंतर है। सुरक्षित कोष को अंशधारी नहीं देते हैं वरन् वे वार्षिक लाभ में से एक पृथक् भाग निकाल कर रखने से बनता है। सुरक्षित कोष प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों में लगाया जाता है। चुकता पूँजी (Paid up Capital) तथा सुरक्षित कोष मिल कर बैंक की कार्यशील पूँजी (Working Capital) बनती है। यदि कभी बैंक को भारी हानि हो जाये तो वह अपने सुरक्षित कोष में से उसकी पूर्ति कर सकती है। इस प्रकार सुरक्षित कोष ग्राहकों के लिये सुरक्षा का काम देता है तथा उसका उपयोग अंशधारियों को बोनस अंश देने तथा लाभ की दर को समान करने (Equalisation of Divident) में किया जा सकता है।

लेन-देन के लेखे में जो सुरक्षित कोष प्रगट रूप से दिखलाया जाता है उसके अतिरिक्त बहुत सी बैंक इस सुरक्षित कोष का भी निर्माण करती है जिन्हें लेन-देन के लेखों में नहीं दिखलाया जाता। इस सुरक्षित कोष से बैंक की आर्थिक स्थिति और भी दृढ़ होती है और उसकी सुरक्षा तथा प्रतिष्ठा बढ़ती है। गुप्त सुरक्षित कोष का निर्माण सम्पत्ति अथवा लेनी (Assets) का मूल्य कम निर्धारित करके किया जाता है।

चालू खाता तथा अन्य खाते (Current Account and other Accounts)—जो रुपया बैंक में सर्वसाधारण जमा करते हैं वह इस शीर्षक में दिखलाया जाता है। यह बैंक की सब से महत्वपूर्ण देना (Liability) होती है। बैंक जमा रूप में पाई हुई इस धन राशि को अधिक ब्याज पर लगा देती है तथा इससे लाभ कमाती है। किन्तु इस जमा किये रुपये को लाभदायक ढंग से लगाने में बैंक को यह ध्यान रखना पड़ता है कि जमा करने वालों ने जो धनराशि बैंक के पास अमानत के रूप में रखी है वह सुरक्षित रहे। उसकी सुरक्षा को खतरा न हो।

बैंक चालू खातों में रुपया लेती है। जमा करने वाला जब चाहे चेक काट कर इस खाते में से रुपया निकाल सकता है। इसके अतिरिक्त मुद्दती जमा एक निश्चित समय का नोटिस देने के उपरांत ही निकाली जा सकती है। इनके अतिरिक्त हमारे देश में बैंक बचत जमा लेती है और कैश सार्टीफिकेट भी बेचती है। सेविंग जमा में से रुपया सप्ताह में एक या दो बार ही निकाला जा सकता है। कुछ बैंक बचत खाते पर भी चेक काटने की सुविधा देती हैं। परन्तु कुछ बैंक यह सुविधा नहीं देतीं। यही नहीं, सेविंग बैंक खाते में कुल अधिक से अधिक कितना रुपया जमा किया

जा सकता है यह भी निश्चित होता है। कैश सार्टीफिकेट २ अथवा ५ वर्षों के लिए होते हैं।

बिलों को स्वीकार करने तथा उन पर बेचान करने के संबन्ध में बैङ्क का दायित्व—बैङ्क अपने ग्राहकों को ऋण देने तथा थोड़े समय के लिये साख देने के उद्देश्य में हुंडियों को स्वीकार करती है अथवा उन पर बेचान (Endorsement) करती है। किन्तु बैङ्क के बिलों पर हस्ताक्षर होने के कारण यदि बैङ्क का ग्राहक उस बिल के पकड़ने पर उसका भुगतान न करे तो बैङ्क को उस बिल का भुगतान करना पड़ सकता है। वास्तव में इन बिलों का भुगतान बैङ्क को ग्राहक ही करते हैं तथा वे ही उसके लिये उत्तरदायी होते हैं। परन्तु यदि वे समय पर बिलों का भुगतान न करें तो बैंक को उनका भुगतान करना पड़ता है और इसके पश्चात् बैंक अपने ग्राहक से रकम प्राप्त करते हैं। किन्तु एक देनी (Liability) से विरुद्ध में लेनी (Assets) की ओर भी इतनी ही रकम दिखाई जाती है, क्योंकि उतनी रकम के लिये ग्राहक बैंक के लिये उत्तरदायी है।

बैंक के ग्राहक आये हुए चेक तथा प्राप्त हुण्डियों को बैङ्क में संग्रह के लिये भेज देते हैं। जब तक इनका धन प्राप्त न हो जाये ये विपत्र बैङ्क की सम्पत्ति समझे जाते हैं, क्योंकि बैङ्क को इनका धन प्राप्त करने का अधिकार है किन्तु साथ ही धन प्राप्त हो जाने पर यह रकम ग्राहक को देय है। अतः यह बैंक का दायित्व भी है। इसीलिये इन विपत्रों को चिट्ठे में दोनों ओर दिखलाया जाता है।

कभी-कभी समस्त लाभ को अंशधारियों में वितरित नहीं किया जाता तथा इस प्रकार यह लाभ हानि-लाभ खाते में ही पड़ा रहता है। अतः वह भी बैंक चिट्ठे के देनी अर्थ में दिखलाया जाता है।

बैंक की लेनी—बैंक को कुछ नकदी हर समय इसलिये रखनी पड़ती है कि जो चेक आवे उसका भुगतान कर दिया जाये। इसके अतिरिक्त अपने यहाँ जमा हुए धन का कुछ अंश हर समय बैंक में रखना पड़ता है जिसे संकट काल में बैंक से निकालकर काम में लाया जा सके। बैंक एक दो दिन अथवा एक-दो घन्टे के लिये व्यापारियों को ऋण देती हैं, जिसे द्रव्य अथवा अल्पकालीन ऋण कहते हैं। ये ऋण बिना किसी जमानत के केवल उन्हीं बड़े-बड़े व्यापारियों को दिया जाता है जिनका बैंक को पूर्ण विश्वास प्राप्त है। इस प्रकार का दिया हुआ ऋण एक प्रकार की नकदी ही है, क्योंकि यह माँगने पर तुरन्त मिल सकता है। समाशोधन के लिये कुछ बैंक अन्य बैंकों में कुछ धन जमा करती हैं जिसे निकालने का उन्हें किसी भी समय पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है। बैंक की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि बैंक अपने कोष को भिन्न-भिन्न प्रकार के विनियोग में इस प्रकार लगाये कि

बैंक अपनी कार्यशील पूँजी पर अधिक-से-अधिक ब्याज लगा सके तथा साथ ही आवश्यकता पड़ने पर विनियोग को बेचकर रोक में परिवर्तित किया जा सके। इसी लिये बैंक अपना रुपया सरकारी विनियोग तथा अन्य कम्पनियों के ऋणपत्र इत्यादि में लगाती है जो स्टाक एक्सचेंज पर किसी समय बेचे जा सकते हैं। बैंकों का मुख्य कार्य व्यापारियों को ऋण देना होता है। अधिकतर रुपया व्यापारियों को दिए हुए समस्त ऋण को व्यौरेवार दिखलाना पड़ता है जैसे यह ऋण जिसमें कोई भय नहीं है। और जिसके लिये बैंक सुरक्षित भी नहीं है। यह ऋण जो हुण्डियाँ की पुर्नकटौती पर दिया गया है यह ऋण जो व्यापारियों को उनकी निजी जमानत पर दिया गया है। यह ऋण जो बैंक के संचालक को दिया गया है अथवा दिखलाना पड़ता है, जिसकी साधारण जनता को पता चल जाये कि बैंक के संचालक किस सीमा तक बैंक के धन को अपने कार्य में लगा लेते हैं यह ऋण भी पृथक रूप से दिखलाना पड़ता है जिसके प्राप्त होने में जोखिम है जिसके लिये बैंक सुरक्षित नहीं हैं। बैंक के भवन तथा अचल सम्पति एक प्रकार का अचल विनियोग होता है जो शीघ्र ही रोकड़ में परिणत नहीं किया जा सकता। अतः बैंक की इस प्रकार की अचल सम्पत्ति को सबसे अलग खाते दिखलाते हैं। बैङ्क को अपने लेन-देन का लेखा बैंकिंग नियमानुसार ही बनाना पड़ता है जिससे जनता बैंक की वास्तविक आर्थिक स्थिति को समझ सके।

समाशोधन गृह—बैंकिंग विभाग के साथ-साथ प्रायः प्रत्येक व्यापार केन्द्र में बैंकों की शाखायें खुल गई हैं। भिन्न-भिन्न व्यापारी भिन्न-भिन्न बैंकों में अपना हिसाब रखते हैं। आधुनिक काल में बैंक, बिल, हुण्डी चेक, इत्यादि भुगतान के माध्यम बन गये हैं। अतः व्यापारी के पास अनेकों स्थानों के चेक आया करते हैं। इस प्रकार प्राप्त समस्त चेकों को व्यापारी अपनी बैंक में जमा करने के लिये भेज देता है। यह बैंक उन सब चेकों का भुगतान उन सब बैंकों से प्राप्त करती हैं जिन पर वे लिखे गये हैं तथा ऐसा करने में बैंक समाशोधन गृह की सहायता लेती हैं, क्योंकि ऐसी सहायता प्राप्त किये बिना भिन्न-भिन्न बैंकों से सहायता प्राप्त करना कठिन कार्य है। मान लीजिये कि कानपुर में अमरनाथ अपना हिसाब बंगाल बैंक में रखता है तथा बसन्त लाल अपना हिसाब पंजाब नेशनल बैंक में रखता है। अमरनाथ ने १०,०००) की चीनी बसंत लाल के हाथ बेची तथा मूल्य का भुगतान करने के लिये बसंत लाल ने १०,०००) का चेक पंजाब नेशनल बैंक पर काट कर अमरनाथ को दे दिया। अमरनाथ इस चेक को अपनी बंगाल बैंक में भेज देगा जिससे बंगाल बैंक पंजाब नेशनल बैंक से रुपया प्राप्त करके अमरनाथ के हिसाब में जमा कर दे। इसी प्रकार मान लीजिये बङ्गाल बैंक के पास अन्य ग्राहकों के हिसाब

में जमा होने के लिये स्टेट बैंक, सेन्ट्रल बैंक, हिन्दुस्तान कमर्शियल बैंक, यूनाइटेड कमर्शियल बैंक, तथा जयपुर बैंक पर काटे हुए चेक आये हैं। इन सब चेकों को वसूल करने की, यदि समाशोधन गृह न हो, तो एक ही उपाय है कि प्रति दिन प्रत्येक बैंक अपने एक क्लर्क और चपरासी को केवल इसीलिये नियुक्त करे कि वह सब चेकों को लेकर प्रत्येक बैंक के कार्यालय जाये और वहाँ उन चेकों का रुपया वसूल करे। इस प्रकार प्रत्येक बैंक के कर्मचारियों को बार-बार चेक तथा ड्राफ्ट इत्यादि का रुपया प्राप्त करने के लिये भिन्न-भिन्न बैंकों को जाना पड़ेगा। इससे कर्मचारियों का समय तो नष्ट होता ही है, सवारी इत्यादि का व्यय भी होता ही है तथा रुपये को लाने-ले जाने में उसके खो जाने अथवा लुट जाने का भय रहता है। इसके अतिरिक्त जब प्रत्येक बैंक को अपने ऊपर काटे गये चेकों अथवा ड्राफ्टों का नकद रुपया देना पड़ता है तो उन्हें अपने पास नकदी भी अधिक रखनी पड़ती है। ऊपर का ढंग अवैज्ञानिक, कष्टसाध्य तथा जोखिम का है। साथ ही इसमें अधिक व्यय होता है और बैंकों को अपने पास नकदी भी अधिक रखनी पड़ती है। यही कारण है कि जब बैंकिंग कारबार बढ़ा तथा अधिकांश लोग अपना कारबार बैंकों की सहायता से करने लगे तो इस बात की आवश्यकता हुई कि एक-दूसरे पर काटे हुए चेकों की प्राप्ति का अधिक सुविधाजनक तथा सरल ढंग निकाला जाये। अतः समाशोधन गृह की व्यवस्था की गई। चेक निष्कासन में एक बैंक की दूसरी बैंक पर जितनी माँग होती है उसको काटकर शेष को चुका दिया जाता है। निष्कासन समाशोधन गृह द्वारा होता है। इस ढंग से बहुत लाभ होते हैं। समाशोधन-गृह की व्यवस्था होने से बैंक के कर्मचारियों को चेक इत्यादि की वसूली के लिये बार-बार अन्य बैंकों के चक्कर नहीं लगाने पड़ते तथा न बैंकों तथा ड्राफ्टों की नकदी में वसूल करने की आवश्यकता पड़ती है। इससे लाभ यह होता है कि मार्ग में रुपये लुट जाने अथवा मारे जाने की जोखिम नहीं रहती। यही नहीं बैंकों को अपने पास अधिक नकदी रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह पद्धति बहुत ही सुविधाजनक, सरल, जोखिम रहित और लाभदायक है।

प्रत्येक बैंक का हिसाब केन्द्रीय बैंक में होता है तथा समाशोधन गृह का हिसाब भी केन्द्रीय बैंक में होता है। जिस बैंक को किसी दिन समाशोधन-गृह के हिसाब में देना निकलता है तो केन्द्रीय बैंक उस बैंक के हिसाब में से उतना रुपया कम करके समाशोधन-गृह के हिसाब में जमाकर देती है। और जिस बैंक को समाशोधन गृह के हिसाब में लेना होता है उसे समाशोधन गृह उतने की केन्द्रीय बैंक पर चेक काट देता है। केन्द्रीय बैंक उतना रुपया समाशोधन-गृह के हिसाब में लिखकर उस बैंक के हिसाब में जमा कर देती है। इस प्रकार समाशोधन-गृह का हिसाब प्रति दिन पूर्ण

संतुलित हो जाता है तथा प्रत्येक सदस्य बैंक की केन्द्रीय बैंक जमा घटती-बढ़ती रहती है।

भारतवर्ष में रिजर्व बैंक अन्य देशी केन्द्रीय बैंकों की भाँति देश के समाशोधन गृह का कार्य करती है। रिजर्व बैंक के बम्बई, दिल्ली, मद्रास आदि स्थानों पर अपने समाशोधन गृह हैं। अन्य स्थानों पर रिजर्व बैंक की ओर से स्टेट बैंक आफ इंडिया समाशोधन गृह का कार्य करके बैंकों को पर्याप्त सुविधा प्रदान करती है।

समाशोधन-गृह की आर्थिक सेवायें—यदि समाशोधन-गृह न हो तो एक-दूसरे पर काटे हुए चेकों को वसूल करने के लिये प्रति दिन प्रत्येक बैंक अपने एक क्लर्क तथा चपरासी को केवल इसीलिये नियुक्त करेगी कि वह सब चेकों को लेकर प्रति दिन वहाँ जाये और रुपया वसूल करे। इस प्रकार प्रत्येक बैंक के कर्मचारियों को बार-बार चेक अथवा ड्राफ्ट का रुपया प्राप्त करने के लिये भिन्न-भिन्न बैंकों को जाना पड़ेगा। इससे कर्मचारियों का समय तो नष्ट होगा ही सवारी इत्यादि का व्यय भी होगा और रुपये को लाने ले जाने में उसके खो जाने अथवा लुट जाने का भी भय रहेगा। इसके अतिरिक्त जब प्रत्येक बैंक को अपने ऊपर काटे गये चेकों अथवा ड्राफ्टों का नकद रुपया देना पड़ेगा तो उन्हें अपने पास नकदी भी अधिक रखनी पड़ेगी। यह ढंग अवैज्ञानिक, कष्टसाध्य और जोखिम का है। साथ ही इसमें अधिक व्यय होगा और बैंकों को अपने पास नकदी भी अधिक रखनी पड़ेगी। यही कारण है कि जब बैंकिंग कारबार बढ़ा और अधिकांश लोग अपना कारबार बैंकों की सहायता से करने लगे तो इस बात की आवश्यकता हुई कि एक दूसरे पर काटे हुए चेकों की वसूली का सुविधाजनक और सरल ढंग निकाला जाये। अतः समाशोधन-गृह की आवश्यकता प्रतीत हुई, और उसकी व्यवस्था की गई। चेकों के निष्कासन में एक बैंक की दूसरी बैंक पर जितनी माँग होती है उसको काटकर शेष को चुका देती है। निष्कासन का कार्य समाशोधन-गृह द्वारा होता है। इस ढंग से बहुत-से लाभ होते हैं। समाशोधन गृह की व्यवस्था होने से बैंक के कर्मचारियों को चेक इत्यादि की वसूली में अन्य बैंकों के बार-बार चक्कर नहीं लगाने पड़ते और न चेकों तथा ड्राफ्टों को वसूल करने की आवश्यकता पड़ती है। इससे लाभ यह होता है कि मार्ग में लुट जाने अथवा मारे जाने की जोखिम नहीं रहती। यही नहीं, बैंकों को अपने पास अपनी नकदी रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह पद्धति बहुत ही सुविधाजनक, सरल तथा जोखिम रहित और लाभदायक है।

प्रश्न

1. What are the various forms of security against whcih advances may be made by a banker? Discuss the merits of each form of security.

बैंकर कितने प्रकार की सुरक्षाओं पर ऋण प्रदान करता है? हर एक सुरक्षा के गुणों का वर्णन कीजिये।

2. How does a bank get its funds? Explain in detail.

बैंक अपनी निधि किस प्रकार प्राप्त करती है? विस्तारपूर्वक बतलाइये।

3. Examine the different ways in which a bank utilizes its working capital. What precautions are necessary for a bank in making advances to its customers?

बैंक अपनी कार्यशील पूँजी को जिन विभिन्न प्रकारों से उपयोग करती है; उनकी विवेचना कीजिये। अपने ग्राहकों को ऋण प्रदान करते समय बैंक को क्या सावधानियाँ व्यवहार में लानी चाहिये?

4. Distinguish between a 'Cash Credit' and a 'Over Draft.' Discuss their relative merits and demerits.

अधिविकरण तथा नकद साख का भेद बतलाइये। उनके सापेक्षिक गुण तथा दोषों का वर्णन कीजिये।

5. How does a person open his current account at a bank? Explain the procedure and enumerate the documents he will be supplied by the bank.

बैंक में चालू खाता किस प्रकार खोला जाता है? इसकी कार्यविधि बतलाइये तथा उन प्रपत्रों का वर्णन कीजिये जिन्हें बैंक खाता खोलने वालों को देती है?

6. What are the different types of loans usually granted by a Commercial Bank? What precautions should be observed by a bank while granting these loans.

व्यापारिक बैंक प्रायः कितने प्रकार के ऋण प्रदान करती है? ऋण प्रदान करते समय बैंक किन सावधानियों को व्यवहार में लाती है?

7. Draw an imaginary Balance Sheet of a Bank and explain various items appearing therein.

बैंक का एक काल्पनिक चिट्ठा बनाइये तथा उसकी भिन्न मदों को समझाइये।

8. Describe the functions of a Clearing House and its economic services.

समाशोधन-गृह के कार्यों का वर्णन कीजिये तथा उनकी आर्थिक सेवायें बतलाइये।

9. Discuss carefully the advantages of a banker's clearing-house and also the part usually played by Central Bank in this connection.

बैंकों के समाशोधन-गृह के लाभों का वर्णन कीजिये। केन्द्रीय बैंक इस संबन्ध में क्या कार्य करती है?

10. What is the importance of a Bankers' Clearing-House? How does it work?

बैंकों के समाशोधन-गृह का महत्व बतलाइये। यह किस प्रकार कार्य करता है?

साख एवं साखपत्र

(Credit and Credit Instruments

साख का महत्व—साख ही आधुनिक व्यापार और
शिला है। वर्तमान आर्थिक व्यवसाय में साख का महत्व अत्यन्त अधिक बढ़ गया है। जितने विशाल पैमाने पर आज उत्पत्ति और विनिमय होता है वह बिना साख की सहायता के कदापि संभव नहीं हो सकता। संसार का अधिकतर व्यापार आज साख के आधार पर होता है न कि रोकड़ी रुपयों के आधार पर। यही कारण है कि आधुनिक आर्थिक संगठन में साख को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। आर्थिक जीवन के प्रत्येक पहलू में इसका बोलबाला है। फुटकर विक्रेता थोक विक्रेता से, थोक विक्रेता कारखाने वाले से, कारखाने वाले स्वयं अन्य व्यापारियों से साख पर वस्तुयें क्रय करते हैं। इस प्रकार समस्त आर्थिक ढाँचा साख के धागे में बँधा हुआ है।

साख का अर्थ—साधारणतः साख का अर्थ 'विश्वास' अथवा भरोसे से लिया जाता है। यह पर्याप्त व्यापक अर्थ है। अर्थशास्त्र में इसका अर्थ विशेष रूप से संकुचित होता है। यहाँ पर इसका अभिप्राय केवल ऋण लौटाने अथवा भुगतान करने की शक्ति के विश्वास से होता है। इस प्रकार यदि हम किसी व्यक्ति विशेष के बाजार में साख का वर्णन करते हैं तो इससे हमारा अभिप्राय यह होता है कि अधिक साख वाले व्यक्ति पर लोगों को उसकी ऋण लौटाने की शक्ति का अधिक विश्वास होता है, अर्थात् उसे बाजार में सरलतापूर्वक अधिक मात्रा में ऋण प्राप्त हो सकता है। इसके विपरीत कम साख वाले व्यक्ति को कम मात्रा में ऋण प्राप्त होता है, क्योंकि उस पर लोगों का कम विश्वास होता है।

भिन्न-भिन्न विद्वानों ने साख की भिन्न-भिन्न परिभाषायें की हैं। मैकोलियड ने लिखा है कि साख भविष्य में भुगतान पाने का वर्तमान अधिकार है। वालरस ने साख को पूँजी का उधार देना कहा है। जेवन्स का कथन है कि साख भुगतान कुछ विलम्ब के पश्चात् करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जीड के अनुसार साख वर्तमान धन को भविष्य में परिवर्तित कर देती है। साख (Credit) शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द

Credu से हुई है जिसका अर्थ है 'मैं विश्वास करता हूँ।' व्यापारिक अर्थ में साख शब्द किसी व्यापारी अथवा व्यापार संस्था की उस द्रव्य सम्बन्धी प्रतिष्ठा तथा विश्वसनीयता का द्योतक है जिसके आधार पर वह अन्य किसी व्यापारी अथवा संस्था से ऋण लेता है। यह ध्यान देने योग्य है कि साख एक अदृश्य वस्तु होने के कारण साखपत्रों से सर्वथा भिन्न होती है। साख के आधार पर आजकल [illegible], बैंक तथा महाजन रुपया उधार लेते हैं। यदि किसी व्यापारी की साख अच्छी है तो उसे बड़ी रकम उधार मिल सकती है। किन्तु संदेहपूर्ण साख वाले व्यापारी को रुपया उधार देने में सब कोई हिचकते हैं।

इस प्रकार साख का अर्थ किसी व्यक्ति का किसी अन्य व्यक्ति की ईमानदारी में उस विश्वास से है जिसके आधार पर वह व्यक्ति अन्य व्यक्ति की कोई भी मूल्यवान वस्तु एक निश्चित समय के लिए एक निश्चित मात्रा में अथवा ब्याज सहित वह वस्तु लौटा देगा।

किसी व्यापारी की साख निम्नलिखित बातों पर निर्भर है :—

(१) व्यक्ति के भुगतान करने की योग्यता— [illegible] में साख प्राप्त करने की शक्ति उनके भुगतान करने की योग्यता पर निर्भर है। योग्यता से अभिप्राय उन साधनों से है जिनके द्वारा व्यक्ति विशेष भुगतान कर सके। यदि किसी व्यक्ति के पास साधन पर्याप्त मात्रा में है तो उसकी साख बाजार में अधिक होगी तथा यदि साधनों का अभाव है तो कोई व्यक्ति भी ऋण देने को प्रस्तुत न होगा। इस दृष्टिकोण से प्रत्येक व्यक्ति की बाजार में पृथक-पृथक साख होती है। धनी व्यापारी से अधिक मात्रा में ऋण प्राप्त हो सकता है जब कि थोड़ी आय वाले व्यक्ति को थोड़ा ऋण मिलना भी कठिन हो जाता है। किसी व्यक्ति के पास यदि पर्याप्त साधन नहीं हैं और उसमें अनेकों व्यक्तिगत गुण हैं, जैसे ईमानदारी, सच्चाई, वह शिक्षित है और बाजार में उसका सम्मान है, तो ये सब इस बात के सूचक हैं कि उस व्यक्ति में भुगतान के समय पर्याप्त मात्रा में साधन प्राप्त करने की शक्ति निहित है। इस प्रकार यदि देखा जाये तो चरित्र ही व्यक्ति विशेष में भुगतान करने की योग्यता उत्पन्न कर देता है।

(२) व्यक्ति की सम्पत्ति—व्यक्ति विशेष का चरित्र तथा ऋण का भुगतान करने की योग्यता केवल छोटे ऋण प्राप्त करने में ही सहायता दे सकते हैं। परन्तु बड़े ऋणों के लिये व्यक्तिगत पूँजी और सम्पत्ति ही आधार का कार्य करते हैं। बड़े ऋण अधिकतर बैंकों द्वारा प्राप्त होते हैं। व्यक्ति विशेष की पूँजी ही उसके ऋण लेने की शक्ति को निर्धारित करते हैं, क्योंकि बैंक ऋण देने से पहले ऋण लेने वाले की पूँजी का पूर्ण रूप से निरीक्षण कर लेती है। इस प्रकार अधिक सम्पत्ति अधिक साख की सूचक है।

(३) चरित्र—किसी भी व्यक्ति की साख उसके चरित्र पर निर्भर होती है। इसका अभिप्राय यह है कि भूतकाल में ऋण भुगतान के सम्बन्ध में उसका चरित्र कैसा रहा है। यदि किसी व्यक्ति ने भूतकाल में लिये हुए ऋणों का भुगतान ठीक समय पर अथवा ठीक प्रकार से नहीं किया है तो उसका चरित्र विश्वसनीय नहीं है। लोग उसे संदेह की दृष्टि से देखेंगे और उसे ऋण प्राप्त करने में पर्याप्त कठिनाइयाँ उठानी पड़ेगी। उसके विपरीत यदि किसी व्यक्ति ने अपने ऋणों का भुगतान भूतकाल में ठीक प्रकार से किया है तो बाजार में वह व्यक्ति चरित्रवान् कहलायेगा—उसकी प्रतिष्ठा और मान बाजार में बहुत ऊँचा होगा—लोग उसका विश्वास करेंगे। उसकी साख अधिक होगी तथा उसे सरलता से ऋण प्राप्त हो जायेगा।

(४) सामाजिक प्रतिष्ठा—किसी व्यापारी की साख उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा पर भी निर्भर होती है, क्योंकि अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के उद्देश्य से वह ऋणों का भुगतान करने में दिलचस्पी रखता है। कभी-कभी लोग प्रतिष्ठा भंग न हो इस भय से अपने आभूषण तथा वस्त्र बेचकर भी अपना ऋण भुगतान करते हैं। प्रायः कुटुम्ब वाले व्यक्ति बिना बच्चों वालों से अधिक ईमानदार हुआ करते हैं, क्योंकि उन्हें यह भय रहता है कि ऋणों का भुगतान न करने से उनके बच्चों की शादी-विवाह में कोई कठिनाई उत्पन्न न हो जाये तथा ऋणदाता रकम प्राप्त न होने के कारण उनके बच्चों को किसी प्रकार का शाप न दे। किन्तु इसके विपरीत कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो आय कम होने के कारण दूसरों का रुपया ऐंठ कर अपने बच्चों का पालन-पोषण करते हैं।

(५) वैधानिक सुविधा—साख बहुत कुछ सीमा तक सरकार की नीति एवं विधान पर भी निर्भर होती है। कभी-कभी विधान का अनुचित लाभ उठाकर ही ऋणी, ऋण का भुगतान करना नहीं चाहता। दिवालिया अधिनियम के कारण कुछ व्यक्ति दिवाला निकालकर दूसरों का रुपया हज्म कर जाते हैं और ऐसा करने से वे तनिक भी नहीं हिचकते, क्योंकि यह कार्य अवैधानिक नहीं है।

साख का वर्गीकरण—कुछ अर्थशास्त्री साख का वर्गीकरण साख की अवधि के अनुसार करते हैं, किन्तु साख का ठीक वर्गीकरण उसके उपयोग तथा साख प्राप्त करने वालों के अनुसार होना चाहिये। अतः सर्वप्रथम साख को दो भागों में विभाजित किया जाता है—सार्वजनिक साख तथा व्यक्तिगत साख। सार्वजनिक साख उस ऋण को कहते हैं जो विभिन्न सरकारें सार्वजनिक कार्यों के लिये लेती हैं। व्यक्तिगत साख के अंतर्गत व्यक्तियों, व्यापारिक एवं व्यवसायिक संस्थाओं की साख सम्मिलित होती है। इस व्यक्तिगत साख को साख के उद्देश्यानुसार व्यवसायिक साख एवं उपयोग तथा

उत्पादन साख में विभाजित कर सकते हैं। बैङ्क साख व्यवसायिक साख का ही एक अंग है।

व्यवसायिक साख—जब किसी ऋण की आवश्यकता किसी व्यापार अथवा उद्योग-धन्धों को चलाने को होती है तो इसे ही व्यवसायिक साख कहते हैं। यह ऋण कार्यशील पूँजी प्राप्त करने के लिये अथवा स्थायी सम्पत्ति क्रय करने के लिए लिये जाते हैं। कभी-कभी व्यापारी ऋणों को अपनी सम्पत्ति बन्धक रख कर प्राप्त करता है।

बैङ्क साख—बैंक अपनी व्यक्तिगत पूँजी एवं प्रतिभूतियों द्वारा जो रकम प्राप्त करती है उसे बैंक साख कहते हैं। इसके अंतर्गत सभी प्रकार की जमायें, प्रतिज्ञायें, ऋणपत्र इत्यादि सम्मिलित होते हैं। बैंक अपनी साख जनता से, संस्थाओं से तथा देश के केन्द्रीय बैंक से प्राप्त करती है।

उपभोग एवं उत्पादन साख—उपभोग सम्बन्धी साख के अंतर्गत वे सभी ऋण आते हैं जिनसे ऋणी को कोई आय प्राप्त नहीं होती। केवल उसकी आवश्यकतायें संतुष्ट हो जाती हैं। अतः ऐसे ऋणों तथा उसकी ब्याज का भुगतान ऋणी अपनी अन्य आय में से करता है। इस प्रकार के ऋण भवन, भोजन, शादी-विवाह, मुकदमेबाजी इत्यादि के लिए लिये जाते हैं। उत्पादन साख के अंतर्गत लिये गये ऋण उत्पादक कार्यों पर व्यय किये जाते हैं जिनसे ऋणी को आय प्राप्त होती है और इस आय में से ही ऋण तथा उसकी ब्याज का भुगतान किया जाता है।

साख के लाभ—

(१) साख द्वारा धातु द्रव्य के प्रयोग की बचत होती है तथा इस प्रकार अधिक व्यय वाले विनिमय के माध्यम के स्थान पर क्रय व्यय वाला माध्यम प्राप्त हो जाता है। आजकल की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये वह अपर्याप्त है। साख-पत्रों द्वारा द्रव्य को एक स्थान से दूसरे स्थान तक सुविधा से तथा कम व्यय में भेजा जा सकता है।

(२) साख द्वारा बचत करने के लिये प्रोत्साहन मिलता है और पूँजी बनाना संभव होता है। लोग पैसा बचाते हैं तथा अपनी बचत अपने ग्राहकों को उस विश्वास पर दे देते हैं कि वे उससे अधिक उत्पादन करेंगे। बैंक लाभप्रद पूँजी लगाने के अवसर उत्पन्न करती है तथा अपने ग्राहकों को निश्चित समय पर उस पूँजी के भुगतान का विश्वास दिलाती है जिससे रुपया जमा करने वालों के द्रव्य खींचती है तथा वह द्रव्य उद्योग धंधे और व्यापार लाभ के कार्यों में संयुक्त होता है।

(३) आजकल साख मुख्यतः उत्पादन की वृद्धि के लिये है। यह वृद्धि योग्य व्यापारियों के हाथों को अधिक उत्पादक बनाने से होती है। उत्पादन करने वाले ये

व्यक्ति, जो अपने व्यवहार तथा व्यापारिक योग्यता का लोगों में विश्वास करा सकते हैं, अपने लाभ-हानिपूर्ण व्यापारिक कार्यों के लिये साख प्राप्त कर सकते हैं। साख सम्बन्धी सुविधाओं के अभाव में ऐसे बहुत से उत्पादन करने वालों के लिये, जिनके पास पर्याप्त साधन नहीं हैं, व्यापार करना अथवा व्यापारिक कार्यों को प्रारम्भ करना बड़ा कठिन है।

(४) सुचारु रूप से व्यवस्थित साख के कारण मूल्यों की घटती-बढ़ती में कमी होती है तथा व्यापार की दशा, भावों की बढ़ती के समय साख सुविधाओं पर रोक लगाकर तथा भावों की घटती के समय साख की सुविधाओं को बढ़ाकर स्थिर होती है। संक्षेप में, आजकल साख उद्योग-धन्धों तथा व्यापार को उन्नत बनाने का एक महान् समर्थ साधन है।

साख के दोष—साख की वृद्धि की कोई सीमा नहीं है। सिक्कों को तो धातु की मात्रा से अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता, किन्तु साख की बढ़ोतरी पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। कभी-कभी साख इतनी मात्रा में प्रदान कर दी जाती है जिसका वापस करना प्राप्त करने वाले की शक्ति के बाहर है। इससे क्रय-शक्ति में वृद्धि होती है और भावों में तेजी का भय रहता है। इससे अत्यधिक उत्पादन एवं सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है। अयोग्य व्यक्ति भी ऋण प्राप्त करके हानि पर ही अपने व्यापार को चलाते रहते हैं जिससे राष्ट्र को हानि होती है, साख लोगों की असफलता पर पर्दा डाल देती है। साख के कारण ही एकाधिकार स्थापित हो जाता है। सरकार भी ऋण प्राप्त करके अपव्यय कर सकती तथा अपनी कुव्यवस्था को जनता से छिपा सकती है।

किन्तु इस सबका यह अर्थ नहीं कि साख इतनी बुरी है कि उसको समाप्त कर दिया जाये। उपरोक्त दोष साख के नहीं हैं वरन् साख देने वालों के हैं। यदि साख प्रदान करने वाला सब बातों पर विचार करके विवेकपूर्ण कार्य करे तो साख के दोष स्वतः ही समाप्त हो जायें तथा साख आवश्यकता पड़ने पर जीवनाधार बनकर जनता की सेवा करेगी।

साख की मात्रा को प्रभावित करने वाले तत्व—साख की मात्रा निम्न-लिखित तत्वों से प्रभावित होती है—

सट्टेबाजी—सट्टेबाजी के अधिकतर व्यवहार उधार ही चलते हैं। सट्टेबाजी के विकास के साथ साख का भी विकास होता है तथा साख के विकास के साथ सट्टे-बाजी को प्रोत्साहन मिलता है। साख कम हो जाने पर सट्टा स्वतः ही कम हो जाता है।

व्यापारिक एवं औद्योगिक दशायें—व्यापार तथा उद्योग-धन्धों के विकास के कारण ऋणों की माँग बढ़ती है। ऋणों की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के

लिये साख का विस्तार होता है। व्यापारिक एवं औद्योगिक चहल-पहल के साथ साख प्रदान करने वालों को उत्साह मिलता है। व्यापारिक मन्दी में व्यापारी तथा उद्योगपतियों की हानि सहन करने की शक्ति कम हो जाती है। ऐसे समय में लोग उन्हें कम ऋण प्रदान करते हैं जिससे साख में कमी आ जाती है। अतः व्यावसायिक उन्नति के साथ साख का विस्तार होता है तथा शिथिलता के साथ साख में कमी होती है।

ब्याज तथा लाभ की दर—यदि व्यवसाय से प्राप्त लाभ की दर अधिक है तो विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है और ऋणों की माँग बढ़ती है। अधिक ब्याज के लालच में बहुत से लोग अपनी बचत को ऋण पर देने को तैयार हो जाते हैं जिससे साख का विस्तार होता है। इसके विपरीत लाभ तथा ब्याज की दर कम हो जाने से साख में भी कमी आ जाती है।

बैंकिंग व्यवस्था—बैंक ही साख की महत्वपूर्ण स्रोत हैं और इन्हीं के द्वारा साख का निर्माण होता है। जिस देश में बैंकिंग की सुदृढ़ व्यवस्था होती है वहीं पर साख का भी अधिक विस्तार होता है। उन्नतिशील देशों में साख का जितना विस्तार है उतना पिछड़े हुए देशों में नहीं। बैंक की ऋण प्रदान करने की नीति भी साख की मात्रा निर्धारित करती है। सरकारी मौद्रिक नीति का भी साख पर भारी प्रभाव पड़ता है। केन्द्रीय बैंक की दर कम होने से साख को बढ़ावा मिलता है जब कि बैंक दर ऊँची होने से साख का विस्तार तथा तेज मुद्रा नीति से साख का संकुचन होता है।

राजनीतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय हलचल--यदि देश में शान्ति तथा स्थिरता है तो लोगों का आर्थिक जीवन भी स्थिर रहता है। आर्थिक विकास के साथ-साथ नवीन योजनाओं का निर्माण होता है। ऋणों की प्रति दिन माँग बढ़ती है और साख का विस्तार होता है। अशांति काल में आर्थिक जीवन स्थिर नहीं रह पाता। अतः ऋण प्रदान करने तथा माँगने वालों की संख्या में कमी हो जाती है। सरकार के बदल जाने पर भी साख के विस्तार में कम हो जाती है। अंतर्राष्ट्रीय वातावरण दूषित हो जाने पर व्यापार में अनिश्चितता आती है जिसके कारण साख में कमी हो जाती है। युद्ध-काल में धनी लोग ऋण प्रदान न करके सोना क्रय करके रखना पसंद करते हैं जिसके कारण साख में कमी हो जाती है।

साख तथा पूँजी—साख पूँजी से भिन्न होती है। साख से द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती। अतः साख स्वयं उत्पादन का साधन है। यह तो केवल उत्पादन करने में सहायता प्रदान करती है। साख केवल उन व्यक्तियों से जो धन का अच्छा उपयोग नहीं कर सकते, धन लेकर उन व्यक्तियों के पास पहुँचाती है जो इसका अच्छा उपयोग करना जानते हैं। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि "साख पूँजी है।" मैकलौयड ने

साख को पूँजी ही माना है। किन्तु अधिकांश अर्थशास्त्री इस बात से सहमत नहीं क्योंकि वास्तव में साख उत्पत्ति का साधन नहीं है। यह तो केवल वह रीति है जिसके द्वारा वस्तुओं में उपयोगिता सन्निहित होती है। अतः साख एक विनिमय मात्र है। साख स्वयं पूँजी नहीं वरन् पूँजी प्राप्त करने का एक साधन है। इससे पूँजी उत्पन्न नहीं होती। केवल यह बात निर्धारित होती है कि पूँजी का प्रयोग किसके द्वारा किया जाये। मिल के कथनानुसार ऋण प्रदान करने से पूँजी का केवल एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तांतरण हो जाता है; नवीन पूँजी उत्पन्न नहीं होती। कुछ लोग साख पत्रों को पूँजी मानते हैं। किन्तु ये पत्र पूँजी नहीं। केवल पूँजी के प्रतिनिधि हैं। तथा पूँजी के हस्तांतरण में सुविधा प्रदान करते हैं। इससे केवल पूँजी में गतिशीलता उत्पन्न होती है और पूँजी की उत्पादनशक्ति में वृद्धि हो जाती है। किसी भी अवस्था में इससे पूँजी की मात्रा नहीं बढ़ती। अतः साख को पूँजी मानना उचित नहीं है।

बैंकों द्वारा साख की उत्पत्ति—साख ही आधुनिक व्यापार और व्यवसाय की आधार-शिला है। वर्तमान आर्थिक व्यवसाय में पैमाने पर आज उत्पत्ति और विनिमय होता है। वह बिना साख की सहायता के कदापि सम्भव नहीं हो सकता। संसार का अधिकतर व्यापार आज साख के आधार पर ही होता है न कि रोकड़ी रुपयों के आधार पर। यही कारण है कि आधुनिक आर्थिक संगठन में साख को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसका आर्थिक जीवन के प्रत्येक पहलू में बोलबाला है। फुटकर विक्रेता थोक विक्रेता से, थोक विक्रेता कारखाने वाले से तथा कारखाने वाले स्वयं व्यापारियों से साख पर वस्तुएँ क्रय करते हैं। साख-व्यवस्था में बैंक बड़ा महत्व रखती हैं। बैंक तथा साख में गहरा सम्बन्ध है। बैंक समय-समय पर व्यापारियों को निम्न प्रकार की साख प्रदान करती है :—

(१) **व्यक्तिगत साख**—इस साख को विशुद्ध साख भी कहते हैं। इसमें गिरवी इत्यादि की कोई आवश्यकता नहीं होती। इस साख में बैंक बिना किसी गिरवी अथवा जमानत के उधार देती है।

(२) **नकद साख**—इस साख के अनुसार बैंक अपने गोदाम में माल रख लेती हैं और अपने लेनदार को उधार देती है।

(३) **अपरिमाणित साख**—इस साख के अनुसार बैंक यह उत्तरदायित्व नहीं लेती। किन्हीं विशेष दशाओं और शर्तों पर वह भुगतान दे देती है। बैंक चाहे तो भुगतान दे सकती है और न चाहे तो नहीं भी दे सकती। इसे संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रत्यादेश्य (Revocable Credit) कही जाती है।

(४) **निश्चित साख**—यह साख किसी विशेष समय तक निश्चित धन के

लिये होती है। इसमें एक साथ अथवा कई बार में उधार का निश्चित धन दे दिया जाता है।

(५) चालू साख—यह साख लगभग निश्चित साख की उल्टी होती है। इसमें हर समय नया हिसाब होता रहता है तथा पुरानी बिलें चुका दी जाती हैं। जैसे-जैसे नई बिलों के चुकाने का समय आता है उसी प्रकार नई बिलें आती रहती हैं।

(६) सीमांत साखपत्र—यह वह पत्र है जो बिल के साथ रहता है तथा जिसकी शर्तों और रकम के अनुसार बिल का भुगतान होता है। यह बिल का मुख्य अंग होता है और इसके अनुसार निर्यात करने वाले को उधार मिलता है। इसमें बिल लिखने के समय आर्थिक स्थिति का पूर्ण ज्ञान रहता है।

(७) खाते की साख—आजकल इस प्रकार की साख बहुत प्रचलित है। इसके अनुसार दो संस्थायें अथवा व्यापारी एक दूसरे को किसी सीमा तक उधार देना निश्चित कर लेते हैं तथा उधार लेते-देते रहते हैं तथा हर समय नकद नहीं देते। अंत में हिसाब करते समय नकद लेन-देन होता है।

(८) विपत्र साख—इसके अनुसार लिखे जाने वाले बिलों के साथ रेल की रसीद अथवा बिल आफ लैंडिंग लगा दिये जाते हैं जो कि एक रेहन के समान होते हैं तथा इन विपत्रों के होने पर इस प्रकार के बिल का भुगतान अथवा स्वीकृति होती है।

(९) सांकेतिक साख—जब विदेश में भ्रमण करने वाला विदेश में रहता है तो वह सांकेतिक साखपत्र को प्रस्तुत करके बैङ्क से रुपया प्राप्त करता है। यह ग्रान्टर द्वारा साखपत्र के साथ दिया जाता है। इसका भुगतान देते समय बैङ्क रुपया लेने वाले का हस्ताक्षर करवा लेती है।

इसके अतिरिक्त भ्रमण करने वाले यात्रियों को सुविधा प्रदान करने के लिये बैङ्क यात्री साखपत्र, यात्रियों को चेक तथा गश्ती चेक इत्यादि देकर भी सहायता प्रदान करती है।

साखपत्र—साखपत्र सरकार अथवा किसी संस्था द्वारा जारी किया गया वह लिखित दस्तावेज है जिसमें भविष्य की तिथि पर रुपया चुकाने की प्रतिज्ञा की जाती है। द्रव्य की भाँति साखपत्रों से भी विनिमय के कार्यों में बड़ी सुविधा रहती है किन्तु उनका चलन सीमित रहता है। जारी करने वाली पार्टी की साख जितनी अधिक दृढ़ तथा प्रसिद्ध होगी उतना ही अधिक उसके साखपत्रों का चलन होगा।

साखपत्र निम्न प्रकार के होते हैं—

(१) प्रतिज्ञापत्र—इंडियन निगोशियेबिल इन्स्ट्रुमेंट ऐक्ट के अनुसार प्रतिज्ञापत्र एक लिखित दस्तावेज हैं जिसमें लिखनेवाले के हस्ताक्षर रहते हैं और बिना

किसी शर्त के एक निश्चित रकम चुकाने की वह प्रतिज्ञा करता है। इसकी रकम उसी को मिल सकती है जिसके नाम वह दस्तावेज हो और जिसके लिये कहा गया हो अथवा जो उस दस्तावेज को लाया हो।

प्रतिज्ञापत्र का नमूना

१०००)   मेरठ

२३ नवम्बर, १९५८

मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से ३ मास पश्चात् १००) श्री रत्नलाल गोयल को अथवा उनकी आज्ञानुसार किसी अन्य व्यक्ति को भुगतान कर दूँगा जिसका मूल्य मुझे मिल चुका है।

पीतम चन्द

१०००)   मेरठ

२३ नवम्बर, १९५८

मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि माँगने पर १०००) श्री रत्नलाल गोयल को अथवा उनकी आज्ञानुसार किसी अन्य व्यक्ति को भुगतान दूँगा, जिसका मूल्य मुझे मिल चुका है।

पीतम चन्द

संयुक्त प्रतिज्ञापत्र—इस प्रकार के प्रतिज्ञापत्र दो अथवा अधिक व्यक्तियों द्वारा लिखे जाते हैं तथा इनके भुगतान का उत्तरदायित्व लिखने वालों पर केवल संयुक्त रूप से रहता है। दूसरे शब्दों में यदि ऐसे प्रतिज्ञापत्र की अप्रतिष्ठा हो जावे तो पत्रवाहक प्रतिज्ञा की रकम को प्राप्त करने के लिये प्रतिज्ञा करने वाले सभी व्यक्तियों पर सम्मिलित रूप से दावा कर सकता है। दुर्भाग्य से, यदि वह किसी एक का नाम देने में भूल जाये तो बाद में उस पर अलग से मुकदमा नहीं चलाया जा सकता।

(२) विपत्र अथवा बिल आफ एक्सचेंज—यह एक लिखित आज्ञा होती है। इसका लिखने वाला अपने देनदार अन्य व्यक्ति को अपने हस्ताक्षर करके यह आज्ञा लिखता है कि वह बिना किसी शर्त के तीसरे व्यक्ति को अथवा उसकी आज्ञानुसार अन्य किसी व्यक्ति को अथवा आज्ञापत्र पेश करने वाले व्यक्ति को उसमें लिखित रकम दे दे।

भुगतान की दृष्टि से बिल दो प्रकार के होते हैं—

(१) दर्शनी बिल—जिसका भुगतान बिल पेश होते ही किया जाता है।

(२) मुद्दती बिल—जिनमें दर्ज रकम का भुगतान एक निश्चित अवधि के पश्चात् जैसे बिल स्वीकृति के ३० अथवा ६० दिन पश्चात् किया जाता है। हुन्डी का

ातान करने के लिये ३ दिन तक का अधिक समय जिसे रियायत के दिन कहते हैं, ालता है। दर्शनी बिल बिल्कुल चेक की तरह होती है किन्तु बिल आफ एक्सचेंज ायः मुद्दती ही होता है।

बिल आफ एक्सचेंज देशी बिल और विदेशी बिल के रूप में होते हैं। जो बिल क ही देश के भीतर जारी किया जाय और उसका भुगतान भी वहाँ ही किया जाये ब वह देशी बिल कहलाता है। और जो बिल एक देश से जाये और दूसरे देश में सका भुगतान किया जाये वह विदेशी बिल कहलाता है। विदेशी बिल विदेशों में भुगतान करने के लिये बनाये जाते हैं। जिस प्रकार विदेशी बिल एक बड़ी मात्रा में ातु द्रव्य की आवश्यकता को कम करके विनिमय के कार्य को सरल बना देते हैं उसी प्रकार विदेशी बिल भी विदेशों से व्यापार करने का कार्य सरल कर देते हैं।

बिल अथवा विपत्र के नमूने :—

देशी बिल का नमूना

रु० ५००-०-० पटना

२१-११-५८

स्टाम्प

आज के ३ मास पश्चात्, हमारी आज्ञानुसार, केवल पाँच सौ रुपये प्राप्त मूल्य के बदले भुगतान कीजिये।

श्री रामचन्द्र
बोरिंग रोड,
पटना।

ब्रह्मदेव आचार्य

विदेशी बिल का नमूना

स्टाम्प

संख्या—क ५५७
पौंड ५००

७४५, लौंगऐकरे
रीडिंग
नवम्बर २२, १९५८

इस प्रथम विपत्र के दर्शन के ६० दिन पश्चात् (यदि उक्त तिथि एवं विवरण के द्वितीय एवं तृतीय विपत्र का भुगतान न किया गया हो), स्टेट बैंक आफ इंडिया को, केवल पचास पौंड प्राप्त मूल्य के बदले भुगतान कीजिये।

सेवा में,
श्री मैनेजर महोदय,
माडर्न ट्रेडर्स, एक्सपोर्टर ऐन्ड इम्पोर्टर
४२, थर्ड ए गेरी लेन, बम्बई।

रेमंड ऐन्ड एटकिंसन के लिये
ऐम, मास्टर्स
मैनेजर

हुण्डी—हुण्डी बिल के ही समान होती है। उसका प्रयोग बाजार के व्यापारी तथा सर्राफ बहुत करते हैं। इनका चलन व्यापार के रीति-रिवाज के अनुसार होता है। जब बिल की आवश्यक बातें पूरी करती हैं तो वे भारतीय विनिमय साध्य पुर्जा कानून के अन्तर्गत आ जाती हैं। बिल की हुण्डियाँ तीन प्रकार की होती हैं:—

(१) दर्शनी हुण्डी—जिसका भुगतान माँगने पर करना पड़ता है।

दर्शनी हुण्डी का नमूना

सिद्ध श्री कानपुर शुभस्थान श्री पत्री भाई हर प्रसाद बालमुकुन्द जोग लिखी प्रयाग जी से बंशीधर रामचन्द्र की राम राम बाँचना। आगे हुण्डी कीनी एक। आप ऊपर दिया रुपया ५०० आँकड़े पाँच सौ के नीमे दो सौ पचास के दूने पूरे देना। यहाँ राखा भाई दी स्टेट बैंक आफ इंडिया, इलाहाबाद वाले के मिती फागुन बदी २ को पहुँचे। दान धनीजोग बिना जाप्ता बाजार चलन हुण्डी की रीति ठिकाने लगाय दाम चौकस कर देना। फागुन बदी २, सं० २०१५

विशेष—यह हुण्डी इलाहाबाद (प्रयाग जी) के बंशीधर रामचन्द्र ने कानपुर के हरप्रसाद बालमुकुन्द पर ५००) के लिये की है। स्टेट बैंक आफ इंडिया के माँगने पर फागुन बदी २, सं० १६१५ के पश्चात् इसका भुगतान कर देगा।

(२) मिती हुण्डी—जिसका भुगतान देखने के उपरान्त कुछ दिनों पश्चात् होता है। मिती हुण्डी अधिकतर देखने के ६१ दिन पश्चात् भुगतान के लिये की जाती है। मिती हुण्डी पर रियायती दिन उस स्थान की रिवाजों के अनुसार दिये जाते हैं जहाँ हुण्डी का भुगतान होता है। हुण्डी अधिकतर मुड़िया में लिखी जाती है।

मिती हुण्डी का नमूना

रु० २-४ स्टाम्प

सिद्ध श्री देहली शुभस्थान भाई मगनलाल शिवप्रसाद लिखी हापुड़ से रामस्वरूप की राम-राम बाँचना। अपरंच हुण्डी एक रुपया २५०० आँकड़े पच्चीस सौ जिसका नीमा रुपया बारह सौ का दूना पुरा। अट्टे राखा दि स्टेट बैंक लिमिटेड पास मिती फागुन सुदी दसमी (१०) से दिन इकसठ (६१) पीछे नामे साह जोग हुण्डी चलन कल्दार दी जो मिती सावन सुदी दसमी (१०) सम्वत् २०१५।

(३) साह जोग हुण्डी—यह वह हुण्डी होती है जिसका भुगतान बाजार चलन के अनुसार किसी प्रतिष्ठित साह अथवा सेठ को ही किया जा सकता है। यदि हुन्डी किसी अन्य व्यक्ति के नाम में है तो उसका भुगतान लेने के पहले उसका बेचान किसी सेठ के नाम होना आवश्यक है। इस प्रकार की हुंडियों का भुगतान करने वाले को कोई जोखिम नहीं है।

हुन्डी एक प्रकार की देशी बिल ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि बिल प्रायः अंग्रेजी में लिखे जाते हैं और हुन्डी किसी भारतीय भाषा अथवा देवनागरी या विशेष कर सराफी में लिखी जाती हैं।

बिलों का चलन भारतीय निगोशियेबिल इन्स्ट्रूमेंट ऐक्ट के अनुसार होता है जब कि हुन्डी का चलन बाजार प्रथा के अनुसार होता है।

चेक—उन्नत देशों में मनुष्य सुविधा के कारण बैंकों में रुपया जमा करना और आवश्यकता पड़ने पर बैंकों द्वारा रुपया निकालना पसन्द करते हैं जिसे रुपया जमा करने वाला अपनी बैंक के नाम जारी करता है और जिसमें उस बैंक के लिये यह आदेश रहता है कि उस व्यक्ति को जिसका नाम बैंक में लिखा है अथवा उसकी आज्ञानुसार किसी अन्य व्यक्ति को जिसका नाम चेक में लिखा है अथवा उसकी आज्ञानुसार किसी अन्य व्यक्ति को अथवा चेक लाने वाले को चेक में लिखी रकम तुरन्त चुका दूँगा। माँग होने पर चेक का भुगतान करना पड़ता है तथा बैंक चेक का रुपया देने से इन्कार नहीं कर सकती जब तक कि चेक जारी करने वाले का उतना रुपया बैंक में जमा रहता है। सुविधा, क्षमता तथा जालसाजी से बचने के लिये बैंक रुपया जमा करने वालों को एक छपी किताब अर्थात् चेक बुक देता है। वह व्यक्ति जो रुपया निकालता अथवा चेक लिखता है Drawer कहलाता है। बैंक अथवा जिसके नाम चेक जारी किया जाता है और जो चेक का रुपया देता है Drawee कहलाता है और जिस व्यक्ति के नाम लिखा जाता है Payee कहलाता है। कभी-कभी जब कभी वह निजी आवश्यकता के लिये रुपये निकालता है (Self) लिख कर चेक जारी करता है। हस्तान्तरण की योग्यता की दृष्टि से Order Cheque अथवा Bearer Cheque हो सकता है।

हस्तान्तरण की दृष्टि से चेक दो प्रकार के होते हैं—वाहक चेक तथा आदेशात्मक चेक।

वाहक चेक(Bearer Cheque) अथवा धनाजोग चेक की रकम चेक रखने वाले अथवा लाने वाले को मिलती है। चेक पेश करने वाले को उसकी रकम तुरन्त मिल जाती है। वाहक चेक की रकम यदि किसी अन्य गलत आदमी को दे दी जाती है तो बैंक उसके लिए दोषी नहीं ठहरती क्योंकि ऐसे चेक में बैंक को यह जानने

की आवश्यकता नहीं है कि पेश करने वाला उसका वास्तविक अधिकारी है अथवा नहीं।

यदि चेक में Bearer शब्द काटकर Order शब्द लिख दिया जाये तो Bearer चेक ही Order चेक अथवा शाहजोग चेक बन जाता है। यह अधिक सुरक्षित होता है, क्योंकि बैङ्क उस चेक का रुपया तब तक नहीं देती जब तक रुपया लेने वाला यह सिद्ध न कर सके कि वह वही व्यक्ति है जिसके नाम चेक है। यह दूसरे के नाम तभी हस्तान्तरित किया जा सकता है जब रुपया पाने वाला उस चेक पर अपने हस्ताक्षर न कर दे।

वाहक चेक का नमूना

भुगतान कीजिये श्रीराम मेहता अथवा वाहक को

आदेशात्मक चेक का नमूना

भुगतान कीजिये श्री सुरेशराम भाई अथवा आदेश प्राप्त को

चेक का रेखांकन (Crossing of Cheques)

रेखांकन शब्द का सीधा-साधा अर्थ है रेखायें बनाना। अतः चेक पर दो समानान्तर रेखायें खींचने का अर्थ चेक का रेखांकन करना होता है।

रेखाङ्कन के भेद—(१) साधारण रेखांकन (Ordinary Crossing)—यदि किसी चेक पर दो तिर्छी समानान्तर रेखायें खींच दी जाती है, परन्तु उनमें बैङ्क विशेष का नाम नहीं दिया होता तो उसे साधारण रेखांकन कहते हैं। इस प्रकार के चेंकों को खिड़की पर भुगतान किया जा सकता है। यही कारण है कि इनके भुगतान में कभी-कभी धोखेबाजी हो जाती है। साधारण रेखांकन निम्नांकित ढंग से किया जा सकता है :—

(अ) केवल समानान्वर रूप से दो तिरछी रेखायें खींचकर,

(आ) रेखाओं के बीच में 'एन्ड कम्पनी' आदि महत्वहीन शब्द लिखकर।

(इ) रेखाओं में केवल भुगतान वाला खाते में (Account payee only) लिखकर। इसका प्रभाव यह होता है कि बैंक चेक की रकम केवल उसी खाते में जमा करती है, जिसका नाम लेखक ने पाने वाले के रूप में दिया है। अन्य को नहीं। अतः इनका भुगतान खिड़की पर धोखेबाज अथवा चोर नहीं पा सकते।

(ई) रेखाओं में केवल पचास रुपये के अंतर्गत जैसे शब्द लिखकर इन शब्दों को लिखने के दो उद्देश्य होते हैं। प्रथम, साहूकार की रकम का अनुमान तो हो परन्तु वास्तविक रकम का पता न हो। ऐसी दशा में चेक में रकम नहीं लिखी जाती।

केवल रुपये की अनुमान से गोल संख्या में लिख दी जाती है। भुगतानदाता इनमें उक्त रेखांकित रकम तक कोई भी रकम पाने का अधिकारी हो जाता है। दूसरे, उक्त रकम से अधिक रकम जालसाजी द्वारा नहीं घटाई जा सकती है। ऐसी दशा में सिद्धहस्त जालसाजों की दाल नहीं गल पाती।

(उ) रेखाओं में 'बेचान साध्य नहीं' (Not Negotiable) लिखकर—इसका प्रभाव यह होता है कि चेक पाने वाला देने वाले के अधिकार के विषय में भली प्रकार निश्चित करने के पश्चात् ही चेक प्राप्त करने का साहस करता है। यदि उसे उसके अधिकार के दूषित होने की किंचित भी गंध आ जाती है तो वह भुगतान को अस्वीकृत कर सकता है। यह ध्यान में रखने की बात है कि चेक को स्वीकार करने के लिये किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता। यदि वह इसका ज्ञान होने पर भी चेक स्वीकार करता है तो उसका अधिकार भी दूषित हो जाता है। यही कारण है कि विद्यार्थी कभी-कभी अबेचानसाध्य का अर्थ 'अहस्तांतर योग्य' लगा बैठते हैं। परन्तु यह समझना भारी भूल है। जो चेक पूर्ण विश्वास के साथ, वस्तु विशेष के प्रतिफल में तथा ठीक प्रकार से लिखा जा रहा है, उसके स्वामी को उस चेक पर अच्छा अधिकार प्राप्त होता है। और देने वाले के दूषित अधिकार का प्रभाव उस पर किंचित मात्र भी नहीं पड़ता। परन्तु यदि उस पर 'अबेचानसाध्य' शब्द लिखा रहता है तो उक्त शर्तों की पूर्ति पर भी पाने वाले का अधिकार देने वाले के अधिकार से अच्छा नहीं होता। अतः पाने वाले को ऐसे हस्तांतर कर्त्ताओं से चेक प्राप्त करते समय विशेष सावधानी रखनी चाहिए।

(२) **विशेष रेखांकन** (Special Crossing)—इस प्रकार के रेखांकन में साधारण रेखांकन की तरह दो तिरछी समानान्तर रेखायें खिंची रहती हैं; रेखांकन के मध्य में साधारण रेखांकन के संबन्ध में अलिखित सभी शब्द दिये जा सकते हैं, तथा उनके बीच में किसी बैंक का नाम आवश्यक रूप से दिया रहता है। बिना बैंक के नाम से रेखांकन को विशेष रेखांकन नहीं कहा जा सकता। इनका भुगतान बैंक की खिड़की पर नहीं होता वरन् बेचान द्वारा बैङ्क से चालू खाते में जमा की रकम के रूप में किया जाता है। अतः यदि कोई व्यक्ति धोखेबाजी, चोरी अथवा जाल द्वारा इनका भुगतान प्राप्त कर ले, तो बैङ्क की सहायता से उसका पता सरलता से लगाया जा सकता है।

साधारण तथा विशेष रेखांकन के उदाहरण

१—साधारण रेखांकन

एण्ड कम्पनी

केवल पचास रुपये तक

केवल भुगतानदाता के खाते में

बेचान साध्य नहीं

२—विशेष रेखांकन

पंजाब बैंक एण्ड कम्पनी

पंजाब बैंक केवल पचास रुपये तक

पंजाब बैंक केवल भुगतानदाता के खाते में

पंजाब बैंक अबेचान साध्य

रेखाङ्कन करने वाले पक्ष—चेक निम्नांकित पक्षों द्वारा रेखांकित किया जाता है :—

(१) **लेखक**—वह स्वयं उपरोक्त उल्लिखित दोनों प्रकार से चेक का रेखांकन कर सकता है। इतना ही नहीं, वह 'रुपया भुगतान कीजिये' (Pay Cash) शब्द लिखकर पहले किये गये रेखांकन को समाप्त कर सकता है। इस प्रकार का चेक 'वाहक चेक' समझा जाता है।

(२) **धारक**—कोई भी धारक अरेखांकित चेक को साधारण अथवा विशेष

रेखांकित, साधारण रेखांकित को विशेष रेखांकित तथा बेचान साध्य को अबेचान साध्य कर सकता है।

(३) बैंक—वह बैंक जिसके नाम कोई चेक लिखा गया हो, दूसरी बैंक अथवा अपने प्रतिनिधि के नाम साधारण अथवा विशेष रेखांकित कर सकती है। इस प्रकार उसे धारक के भी अधिकार प्राप्त होते हैं।

चेक का रेखांकन निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया जाता है—

(१) इन्हें अनुचित अधिकारी (जैसे चोर, धोखेबाज, बेईमान आदि) पहले तो प्राप्त ही नहीं कर सकते तथा यदि किसी प्रकार उनका भुगतान भी पा लेते हैं तो उसका पता लगाना सरल हो जाता है।

(२) इसे डाक द्वारा भेजने में सुविधा और सुरक्षा रहती है, क्योंकि उसके रास्ते में खो जाने पर भी हानि होने की कोई संभावना नहीं रहती।

(३) बैंक इन्हें बड़ी सावधानी से भुगतान करती है। साधारण रेखांकन होने पर किसी बैंक द्वारा तथा विशेष बैंक द्वारा उल्लिखित रकम जमा के रूप में भुगतान की जाती है। अतः उसका रुपया नकद खिड़की पर नहीं दिया जाता।

(४) उनके पाने वाला अपने अथवा अन्य किसी जानकार व्यक्ति के चालू खाते में रेखांकित चेक की रकम जमा करने के पश्चात् ही नकद रकम पा सकता है। यदि इनका किसी भी बैंक में निजी चालू खाता नहीं होता तो वे बेचान द्वारा चेक की रकम को अन्य व्यक्ति के खाते में डलवा देते हैं। बैंक किसी अनधिकृत चेक अथवा व्यक्ति को भूल से खिड़की पर अथवा जमा द्वारा भुगतान करने पर स्वयं उत्तरदायी होती है।

(५) इन्हें प्राप्त करने वाले को भी सावधानी रखनी पड़ती है। यदि उसका अधिकार दूषित होता है तो वह वास्तविक स्वामी के प्रति उत्तरदायी ठहराया जाता है तथा उसको पहुँची हुई क्षति की पूर्ति करनी पड़ती है।

चेक का बेचान

बहुधा व्यापारी लोग चेक, विपत्र अथवा प्रतिज्ञापत्र आदि सभी विनिमय-साध्य पत्रों को अपने साहूकारों को ऋण के भुगतान में सौंप देते हैं। साहूकार इनको भुना कर अथवा निश्चित तिथि तक अपने पास रख कर प्राप्त हुए पत्र में उल्लिखित रकम पा लेते हैं।

बेचान के भेद

(१) साधारण बेचान (General Endorsement)—जिस विनिमय साध्य पत्र को केवल हस्ताक्षर मात्र से हस्तांतरित किया जाता है उस पर किये गये बेचान

को साधारण बेचान कहते हैं। यदि किसी चेक अथवा विपत्र में परिवर्तन करना हो तो उस पर खुला बेचान कर देना चाहिये। इनका भुगतान किसी भी व्यक्ति को बैंक द्वारा किया जा सकता है।

(२) पूर्ण बेचान (Special Endorsement)—इस प्रकार के बेचान के लिये यह आवश्यक है कि बेचानकर्ता न केवल हस्ताक्षर ही करे वरन् बेचान पाने वाले का नाम तथा बेचान तिथि उल्लेख भी करे। इस प्रकार के बेचान के पश्चात् किये गये सभी बेचान उक्त रीति से ही होने चाहिये अन्यथा उन्हें अपूर्ण समझा जायेगा। कोई भी धारक साधारण बेचान में बेचान पाने वाले व्यक्ति का नाम लिख सकता है। ऐसा करने से वह न केवल हस्ताक्षर करने से ही वरन् विपत्र के उत्तरदायित्व से अपने को बचा लेता है।

(३) प्रतिबन्धित बेचान (Restrictive Endorsement)—ये वे साधारण अथवा विशेष बेचान होते हैं, जिनके भुगतान के संबन्ध में किसी न किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। अतः इसके पाने वाले के अधिकार सीमित हो जाते हैं।

(४) आंशिक बेचान (Partial Endorsement)—यह वह बेचान है जिनमें बेचान का अधिकारी बेचान-पत्र की रकम के कुछ अंश का ही बेचान करता है। यह बहुधा उसी समय आवश्यक होता है जब बेचान पाने वाले को बेचान-पत्र की शेष रकम पहले ही प्राप्त हो गई हो। आजकल इसका चलन कम हो गया है।

(५) दायित्व रहित बेचान—इस बेचान के द्वारा बेचानकर्ता बेचान-पत्र के उत्तरदायित्व से छुट्टी पा लेता है। यदि इसे भुगतानकर्ता भुगतान नहीं करता तो धारक को यह अधिकार नहीं होता कि यदि वह चाहे तो उसे अस्वीकार न करे।

(६) प्रतिबंधित बेचान (Condit onal Endorsement)—इस प्रकार की बेचान में बेचान कर्ता बेचान पाने वाले को बेचान-पत्र पर अधिकार देने से पूर्व कुछ शर्तें पालन करने का अधिकार देता है। इसे अनुबंधित आज्ञा कहना अनुपयुक्त न होगा।

(७) सुविधा युक्त बेचान (Facultative Endorsement)—जहाँ बेचान कर्ता यह स्पष्ट कर देता है कि उसे विपत्र के भुगतान न होने अथवा अप्रतिष्ठा की सूचना देना आवश्यक नही वहाँ पर बिना सूचना दिये हुए भी बेचानकर्त्ता को उत्तरदायी बनाया जा सकता है। इस प्रकार के बेचान 'सुविधा युक्त बेचान' कहलाते हैं।

चेक के सम्बन्ध में अन्य बातें :—

(१) पूर्व तिथि का चेक—इसमें चैक लिखने वाला लिखने वाली तारीख के पूर्व की कोई तारीख डाल देता है। यदि बैंक में उपस्थित करते समय चेक ६ मास से अधिक पुराना है तो बैंक ऐसे चेक का भुगतान नहीं करती। ऐसे चेकों को पुराने चेक अथवा Stale Cheque भी कहते हैं।

(२) भविष्य की तारीख का चेक—(Post-dated Cheque)—इन चेकों पर आने की तारीख पड़ी रहती है। जब तक भविष्य की वह तारीख न आ जाये जो चेक पर पड़ी है तब तक बैंक इसका भुगतान नहीं करती। किन्तु वह तारीख आने से पूर्व ऐसे चेकों का बेचान किया जा सकता है और वह वैध होता है।

(३) अपूर्ण चेक (Inchoate Cheque)—यदि चेक में तारीख, रकम, पाने वाले का नाम अथवा कोई और बात लिखने से रह गई है तो ऐसे चेक का भुगतान बैंक नहीं करती। यदि चेक पर लिखने वाले के हस्ताक्षर हैं तो भुगतान माँगने वाला अपूर्ण चेक को वे सारी बातें लिख कर पूर्ण कर सकता है जिन्हें लिखने वाला लिखना चाहता था। ऐसे चेकों में यह समझा जाता है कि लिखने वाले ने चेक के धारक को पूर्ण करने का अधिकार दे दिया है।

(४) कटा-फटा चेक (Mutilated Cheque)—जो चेक कटा-फटा होता है अथवा जिस पर किसी प्रकार का धब्बा पड़ गया है। बैंक उस चेक का भुगतान नहीं करता। किन्तु धारक उसके बदले चेक लिखने वाले से दूसरा चेक प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

(५) चिन्हित चेक (Marked Cheque)—यदि धारक किसी कारण से चेक का भुगतान तुरन्त न लेना चाहे तो वह चेक पर बैंक से यह प्रमाणित करा सकता है कि चेक लिखने वाले के हिसाब में चेक का भुगतान करने के लिये पर्याप्त रुपया है। किन्तु इस प्रमाण का यह अर्थ नहीं कि बैंक ने भुगतान का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया है। प्रमाणित करने के पश्चात् चेक लिखने वाला अपना रुपया निकाल लेता है अथवा उसके हिसाब में से किसी दूसरे चेक का भुगतान हो जाता है अथवा न्यायालय भुगतान पर प्रतिबन्ध लगा देता है तो चेक का धारक बैंक को भुगतान देने के लिये विवश नहीं कर सकता।

अन्य साख पत्र :—

बैंक ड्राफ्ट (Bank Draft)—यह एक प्रकार का चेक ही है जिसे एक बैंक दूसरी बैंक के नाम अथवा अन्य स्थान पर स्थित अपनी बैंक की शाखा के नाम जारी करता है तथा यह लिखा रहता है कि अमुक व्यक्ति को अथवा

ड्राफ्ट पेश करने वाले को इसमें लिखित रकम दे दी जाये। ऐसी अवस्था में जो बैंक ड्राफ्ट बनता है वह Drawee और जिसे रकम का भुगतान दिया जाता है वह Payee कहलाता है। व्यापारियों को प्रायः दूरस्थ देशों में रहने वाले लोगों को रुपया देना पड़ता है। ऐसी रकम का भुगतान करने का सबसे सस्ता तरीका यही है कि वह रकम अपने शहर के किसी बैंक में जमा कर उस व्यक्ति के नाम जिसको रुपया भेजना है, बैंक ड्राफ्ट बनवा लें। बैंक ऐसे चेक जारी करने के लिये कुछ कमीशन लेती है। विदेशों का भुगतान प्रायः बैंक ड्राफ्ट द्वारा किया जाता है। आई० ओ० यू० (I. O. U.) इसका अर्थ होता है कि मुझ पर आपका चाहिये। कभी-कभी अल्प काल के लिये सूदन सा ऋण इस प्रकार का पत्र लिख कर ही ले लिया जाता है। ऋण लेने वाला एक कागज के टुकड़े पर केवल वह लिख कर अपना हस्ताक्षर कर देता है कि मुझ पर आपके इतने रुपये चाहिये। ऐसे पत्र पर किसी टिकट की आवश्यकता नहीं और इसीलिये वह पत्र केवल २०) तक के लिये लिखा जाता है। अधिक के लिये नहीं। इस पत्र का बेचान नहीं होता। यह पत्र केवल व्यवहारिक है, वैधानिक महत्व नहीं रखता।

प्रश्न

1. What is credit? Discuss the limitations on the power of banks to create credit.

साख किसे कहते हैं? बैंक की साख उत्पन्न करने की शक्ति की सीमाओं का वर्णन कीजिये।

2. Explain the processes by which banks create credit. What is the effect of credit on prices?

बैंक साख की उत्पत्ति किस प्रकार करती है? साख का मूल्यों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

3. What is a Darshani Hundi? Draw up a Darshani Hundi in proper form.

दर्शनी हुन्डी किसे कहते हैं? उपयुक्त रूप में दर्शनी हुन्डी लिखिये।

4. What is a cheque? Illustrate the different ways of crossing a cheque and indicate the implication of each type of crossing.

चेक की परिभाषा दीजिये। चैक को विभिन्न प्रकार से रेखांकित करने के उदाहरण दीजिये तथा हर प्रकार के रेखांकन का प्रभाव बतलाइये।

5. Why and how are cheques crossed? Explain "Not Negotiable Crossing."

चेक क्यों और किस प्रकार रेखांकित किये जाते हैं? अविनिमय साध्य रेखांकन का क्या अर्थ है?

6. What is meant by endorsement of a negotiable instrument.

विनिमय साध्य प्रपत्र के बेचान का क्या अर्थ है ? भिन्न प्रकार के बेचान का वर्णन कीजिये।

7. What is a P/N ? What are its advantages ? Prepare a P/N in proper form with imaginary data.

प्रतिज्ञापत्र किसे कहते हैं ? इसके क्या लाभ हैं ? उपयुक्त रूप से एक काल्पनिक प्रतिज्ञापत्र लिखिये।

8. What are the important credit instruments used in India ?

भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न प्रकार के कौन से महत्वपूर्ण साख-पत्र उपयोग में आते हैं ?

9. Distinguish between (a) cheque ; (b) P/N ; and (c) Bill of exchange.

(अ) चेक, (ब) प्रतिज्ञापत्र, (स) हुन्डी में भेद बतलाइये।

10. Describe the circumstances under which a Banker (a) may, (b) must refuse payment of a cheque.

उन परिस्थितियों का वर्णन कीजिये जिनमें बैंकर (अ) चेक का भुगतान करने से इनकार कर सकता है, (ब) चेक का भुगतान करने से अवश्य इनकार करना चाहिए।

11. Is credit capital ? Explain fully.

क्या साख पूँजी है ? पूर्णतया विवेचना कीजिये।

अध्याय १४

बैंकिंग विधान

(Banking Law in India)

भारतवर्ष में सन् १६३६ तक बैंकिंग कम्पनियों के लिये कोई विशेष विधान नहीं था और उसमें इंडियन कम्पनीज ऐक्ट १६१३ ही लागू होता था। सन् १६१३ के पश्चात् बहुत सी बैंकों के असफल हो जाने के कारण देश में बैंकिंग व्यवसाय की व्यवस्था की माँग हुई। सन् १६११ में स्थापित की हुई सेंन्ट्रल बैंकिंग जांच कमेटी ने बैंकिंग कम्पनियों की व्यवस्था के लिये एक योजना रखी। किन्तु सन् १६३६ तक भारतीय कम्पनी ऐक्ट में बैंकिंग कम्पनियों से संबन्धित कोई विशेष नियम नहीं जोड़ा गया। ये नियम जमा करने वालों के हित की रक्षा के लिये अपर्याप्त थे। अतः पृथक बैंकिंग कम्पनी विधान का बनाया जाना आवश्यक हो गया।

सन् १६४१ का बैंकिंग कम्पनीज ऐक्ट १६४६ में पारित किया गया और १६ मार्च १६४६ से लागू हुआ। यह जम्मू-काश्मीर की रियासत को छोड़ कर सम्पूर्ण भारतवर्ष पर लागू होता है तथा इस ऐक्ट में भारतवर्ष शब्द का अर्थ है—वे राज्य जिनमें यह लागू होता है। इस ऐक्ट के कुछ मुख्य नियम निम्नलिखित हैं:—

बैंकिंग व्यवसाय—बैंकिंग का अर्थ है उधार देने तथा विनियोग करने के लिये जनता के द्रव्य को जमा करना, वह द्रव्य माँग पर अथवा अन्य किसी प्रकार से लौटाया जा सकता है। और चेक, ड्राफ्ट, आर्डर अथवा किसी प्रकार लौटाया जा सकता है। अतः बैंकिंग कम्पनी वह कम्पनी है जो बैंकिंग का व्यवसाय करती है तथा कम्पनी शब्द का अर्थ है—कोई भी कम्पनी जिसकी समाप्ति भारतीय कम्पनी ऐक्ट के अन्तर्गत हो सकती है।

१६ मार्च १६५६ के पश्चात् बैंकिंग कम्पनी को छोड़ कर और कोई कम्पनी अपने नाम से बैंक, बैंकर बैंकिंग आदि शब्दों का प्रयोग नहीं करेगी। और भारतवर्ष में कोई भी कम्पनी अपने नाम में ऐसे कम से कम एक शब्द का प्रयोग किये बिना बैंकिंग की व्यवसाय नहीं करेगी।

बैंकिंग कम्पनी ट्रस्टों के आरंभ करने तथा पूर्ण करने, ट्रस्टी या अन्य किसी रूप में जायदाद के शासन का दायित्व लेने तथा जमा करने वालों को सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से सहायक कम्पनियों का निर्माण नहीं कर सकती। और न कोई बैंकिंग कम्पनी किसी कम्पनी में अपनी प्राप्त अंश पूँजी के ३० प्रतिशत से अधिक अथवा उस कम्पनी की प्राप्त अंश पूँजी के ३० प्रतिशत से अधिक अंश दोनों में जो भी रकम कम प्राप्त कर सकती है। बैंकिंग कम्पनी उस कम्पनी के अंश भी नहीं रख सकती जिसके प्रबन्ध में बैंकिंग कम्पनी के प्रबन्ध संचालक अथवा मैनेजर का हित हो।

अन्य व्यापार पर प्रतिबंध—बैंक बैंकिंग व्यवसाय के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार का व्यवसाय नहीं कर सकती, क्योंकि अन्य व्यापार करने में सदैव ही जोखिम रहती है। दूसरों के धन से जोखिम वाला व्यापार चलाने का बैंक को अधिकार नहीं है। यदि किसी कारण से दिये हुए ऋणों की प्रगति में बैंक को कोई अन्य व्यापार लेना पड़े तो बैंक को चाहिये कि उसे शीघ्रतम बेच दे। इस प्रकार बैंक केवल बैंकिंग का ही व्यवसाय कर सकती है। अन्य प्रकार का व्यापार नहीं।

बैंकों का लाइसेन्स लेना—कोई भी कम्पनी तब तक भारतवर्ष में बैंकिंग व्यवसाय नहीं कर सकती जब तक उसके पास रिजर्व बैंक के द्वारा स्वीकृत लाइसेन्स न हो। उसके लिये रिजर्व बैंक को व्यवस्थित रूप में एक प्रार्थनापत्र देना पड़ता है। लाइसेन्स स्वीकार करने के पहले रिजर्व बैंक को यह संतोष हो जाना चाहिये कि :—

(क) कम्पनी इस स्थिति में है कि वह जमा करने वालों को उनके दावों की पूरी रकम चुका देगी,

(ख) कम्पनी का कार्य इस प्रकार से तो नहीं चलाया जा रहा है जिससे जमा करने वालों के हितों की हानि हो, तथा

(ग) भारतवर्ष में रजिस्टर्ड विदेशी बैंकों के विरुद्ध उनका मूल देना किसी प्रकार का अन्तर तो नहीं समझता है।

बैंक का प्रबन्ध—बैंकिंग कम्पनी का प्रबन्धक प्रबन्ध अभिकर्त्ता अथवा कोई ऐसा व्यक्ति नहीं होना चाहिये जो कि अन्य बैंकिंग कम्पनी (बैंकिंग कम्पनी की सहायक कम्पनी के अतिरिक्त) का संचालक हो अथवा किसी दूसरे व्यवसाय में जमा हुआ हो अथवा किसी एक समय कम्पनी के उसके प्रबन्ध का पाँच वर्ष से अधिक का ठेका लिया हुआ हो।

बैंकिंग कम्पनियाँ अपने नौकरों को कमीशन के रूप में पारितोषिक अथवा लाभों में से अंश अथवा अपने साधनों के भिन्न अनुपात में वेतन नहीं दे सकती। अंतिम विषय में रिजर्व बैंक आफ इंडिया का अंतिम निर्णय होगा।

पर्याप्त साधन--१६ मार्च १९४९ की वर्तमान कोई भी बैंकिंग कम्पनी उस तिथि से तीन वर्ष की समाप्ति के पश्चात् भारतवर्ष में व्यापार नहीं करेगी तथा कोई भी अन्य बैंकिंग कम्पनी भारतवर्ष में तब तक व्यापार नहीं करेगी जब तक कि उसके पास निम्नलिखित मूल्य की प्राप्त की हुई पूँजी तथा रिजर्व न हो :—

(क) यदि उसके एक से अधिक राज्यों में व्यापारिक स्थान हों तो ५ लाख रुपये, और यदि ऐसे ही व्यापारिक स्थान बम्बई अथवा कलकत्ता अथवा दोनों स्थानों पर हों तो १० लाख रुपये।

(ख) यदि इसके सारे व्यापारिक स्थान एक राज्य में हों तो व्यापार के प्रधान

स्थान के लिये १ लाख रुपये तथा जिस जिले में प्रधान स्थान स्थित है उसी जिले में स्थित व्यापार के अन्य स्थानों में से प्रत्येक के लिए १० हजार रुपये तथा उनके अतिरिक्त अन्य राज्यों में स्थित प्रत्येक स्थान के लिये २५ हजार रुपये।

परन्तु जिस बैंकिंग कम्पनी में यह नियम लागू होता है उससे ५ लाख रुपयों से अधिक वाली प्राप्त अंश पूँजी तथा रिजर्व नहीं माँगे जायेंगे।

(ग) यदि इसके व्यापार के सारे स्थान एक ही राज्य में हैं, जिनमें एक अथवा अधिक बम्बई या कलकत्ता में हों तो ५ लाख रुपये, तथा बम्बई अथवा कलकत्ता के बाहर प्रत्येक स्थान के लिये २५,००० रुपये।

परन्तु जिन बैंकिंग कम्पनियों में यह नियम लागू होता है उनको १० लाख रुपयों से अधिक की प्राप्त की हुई पूँजी तथा रिजर्व रखने की आवश्यकता नहीं होगी।

भारतवर्ष से बाहर संस्थापित (Incorporated) बैंकिंग कम्पनी की प्राप्त पूँजी तथा रिजर्व १५ लाख रुपयों से कम नहीं होने चाहिये तथा यदि इनके व्यापार का स्थान बम्बई अथवा कलकत्ता में भी है तो २० लाख रुपये तथा वह रकम रिजर्व बैंक के पास नकद में अथवा ऋण से न दबी हुई स्वीकृत प्रतिभूतियों में जमा रखी जायेगी। यदि ऐसी कम्पनी भारतवर्ष में व्यापार करना बन्द कर देती है तो रिजर्व बैंक की जमा रकम कम्पनी की सम्पत्ति होगी जिसमें भारत के ऋणदाता सर्वप्रथम चुकाये जायेंगे।

पूँजी का निर्माण—बैंकिंग कम्पनी की बिकी हुई पूँजी उसकी अधिकृत पूँजी की आधी से कम नहीं होनी चाहिये तथा प्राप्त की हुई पूँजी बिकी हुई पूँजी के आधे से कम नहीं होनी चाहिये। तो भी यह आयोजन रख दिया गया है कि यदि कंपनी अपनी पूँजी बढ़ाती है तो उसे वे शर्तें रिजर्व बैंक के द्वारा स्वीकार की जा सकने वाली दो वर्ष की अवधि के भीतर पूरी कर देनी चाहिये।

पूँजी में केवल साधारण अंश ही होने चाहिये तथा प्रत्येक अंशधारी के मत देने के अधिकार उसके द्वारा प्राप्त की हुई पूँजी की रकम के अनुपात तक ही सीमित नहीं होने चाहिये किन्तु वे अंशधारियों के मत देने के कुल अधिकारों के ५ प्रतिशत से अधिक नहीं होने चाहिये।

पूँजी निर्माण सम्बन्धी उपर्युक्त नियम १५ जनवरी, १९३७ से पहले स्थापित बैंकिंग कम्पनियों में लागू नहीं होते।

बैंकिंग कम्पनी की उनके द्वारा निर्गमित अंशों पर उनके प्राप्त किये हुए मूल्य के २½ प्रतिशत से अधिक रकम कमीशन, दलाली, बट्टे अथवा पारितोषिक के रूप में अप्रत्यक्ष रूप से देने की स्वीकृति नहीं है।

कोई भी बैंकिंग कम्पनी अपनी न माँगी हुई पूँजी पर किसी प्रकार के क्रय का निर्माण नहीं कर सकती तथा इस प्रकार का कोई भी क्रय अथवा भार अवैधानिक है।

लाभांशों पर विरोध—जब तक किसी बैंकिंग कम्पनी के सारे पूँजीगत व्यय बट्टे खाते नहीं लिख दिये जाते हैं तब तक वह अपने अंशों पर कोई लाभांश नहीं दे सकती।

रिजर्व कोष—बैंकिंग कम्पनीज ऐक्ट १९४९ की धारा १७ के अनुसार भारतवर्ष में संस्थापित बैंकिंग कम्पनी को लाभांश घोषित करने के पहले कुछ रकम (जो प्रत्येक वर्ष के शुद्ध लाभों की २० प्रतिशत से कम न हो) तब तक रिजर्व कोष में हस्तान्तरित नहीं करनी चाहिये तब तक कि रिजर्व कोष की रकम प्राप्त की हुई पूँजी के समान न हो जावे। इस उद्देश्य के लिये शुद्ध-लाभ इंडियन कम्पनीज ऐक्ट १९१८ की धारा ८७३ (३) के अनुसार निकाला जाना चाहिये। अर्थात् ऋण ब्याज तथा कटौती देने के पश्चात् किन्तु आय-कर अथवा डिबेंचरों पर ब्याज सम्बन्धी रकम कम करने से पहले बचा लाभ।

रोकड़ी रिजर्व—प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी (प्रामाणिक बैंक न हो) को अपने पास रोकड़ी रिजर्व के रूप में, अथवा रिजर्व बैंक के पास कम से कम अपने समय-दायित्व की २ प्रतिशत तथा माँग दायित्व की ५ प्रतिशत रकम रखनी चाहिये।

इस नियम पर किये गये आचरण की पुष्टि के लिये प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी के प्रत्येक मास के १५ वें दिन के पहले पिछले मास के प्रत्येक शुक्रवार को इस प्रकार रखी रकम के ब्यौरे तथा प्रत्येक शुक्रवार को उसकी समय तथा माँग-दायित्व के विवरण की तीन प्रतिलिपियाँ रिजर्व बैंक के पास नत्थी करनी पड़ती हैं।

रिजर्व बैंक आफ इंडिया की धारा ४२ के अनुसार प्रमाणित बैंक भी रिजर्व बैंक के रूप में कुछ स्थायी रकम रखते हैं।

ऋणों पर विरोध—बैंकिंग कम्पनी भी (क) अपने अंशों की प्रतिभूति पर ऋण लेने अथवा (ख) अपने किसी संचालक की फर्म अथवा उस प्राइवेट कम्पनी को जिसमें इसका अथवा इसके किसी संचालक अथवा साझीदार अथवा प्रबन्ध अभिकर्त्ता के रूप में हित हो अथवा किसी एक व्यक्ति को, फर्म को, अथवा किसी निजी कम्पनी को, जहाँ इसका कोई संचालक जमानतदार हो, अरक्षित ऋण या एडवांस स्वीकृत करने की आज्ञा नहीं है।

प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को मास के मास रिजर्व बैंक के पास एक ब्यौरा भेजना पड़ता है जिसमें उनके द्वारा उन कम्पनियों को, जिसमें इसका अथवा किसी संचालक का, संचालक अथवा प्रबन्ध अभिकर्त्ता अथवा जमानतदार के रूप में हित हो, स्वीकार किये हुए अरक्षित ऋण तथा एडवांस दिखाये जाते हैं। यदि रिजर्व बैंक यह देखती है कि इस प्रकार स्वीकार किये गये अरक्षित ऋणों अथवा एडवांसों से जमा कराये जाने वालों के हितों की हानि होती है तो वह बैंकिंग कम्पनी को भविष्य में ऐसे ऋण देने के लिये मना कर सकती है अथवा बैंकिंग कम्पनी को ऐसे ऋणों अथवा एडवांसों के पुनर्भुगतान को सुरक्षित रखने के लिये आज्ञा दे सकती है।

तरल सम्पत्ति का रखना—१६ मार्च १९४९ के दो वर्ष पश्चात् प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी ने व्यापार के किसी भी दिन के अन्त में भारत में उसके समय और माँग-दायित्व की कुल रकम की कम से कम २० प्रतिशत रकम नकदी रुपये, स्वर्ण अथवा ऋण मुक्त, स्वीकृत प्रतिभूतियों के रूप में रखनी पड़ेगी। ऐसे दायित्व में से प्राप्त की हुई पूँजी और रिजर्व, लाभ-हानि खाते का जमा बैलेंस और रिजर्व बैंक से लिया हुआ कोई ऋण छोड़ दिये जाते हैं। रिजर्व बैंक के पास रखी प्रतिभूतियाँ अथवा नकद रकम को नकद ही समझा जायेगा।

इस नियम के द्वारा बैंकिंग की ठोस रीतियों को वैधानिक रूप से निश्चित करना है अर्थात् बैंक को अपने माँग-दायित्व को चुकाने के लिये नकद रिजर्व तथा तरल सम्पत्ति रखनी चाहिये। भारतीय बैंकिंग की सबसे बड़ी कमी यही है कि छोटे-छोटे बैंक तरलता के मूल्य पर पूँजी से अधिक व्यापार करने की ओर झुके हुए हैं। अतः बैंकों से उनकी सम्पत्ति की बहुत बड़ी रकम नकद अथवा ट्रस्ट प्रतिभूतियाँ (अचल सम्पत्ति को छोड़कर) के रूप में रखने के लिये आग्रह करना अच्छा जान पड़ता है।

भारतवर्ष में प्रत्येक चतुर्थांश के अंतिम दिन की सम्पत्ति के समय प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी की सम्पत्ति उसके माँग और समय दायित्वों के ७५ प्रतिशत से कम नहीं होनी चाहिये।

इन नियमों का पालन यह विश्वास दिलाने के लिये प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को रिजर्व बैंक के पास व्यवस्थित आकार में मासिक अथवा त्रैमासिक व्यौरा भेजना पड़ता है।

ऋण चुकाने की बढ़ी हुई अवधि—धारा ३७ में यह आयोजन है कि यदि कोई बैंकिंग कम्पनी अपने ऋणों को कुछ समय तक चुकाने में असमर्थ है तो उसके प्रार्थना-पत्र पर न्यायालय उचित शर्तों पर कुछ समय तक कम्पनी के विरुद्ध कदम उठाने से रुकने की आज्ञा दे सकता है। समय-समय पर यह अवधि बढ़ाई जा सकती है। पर ऋण चुकाने की कुल बढ़ी हुई अवधि ६ मास से अधिक नहीं होती। न्यायालय की आज्ञा की एक प्रतिलिपि रिजर्व बैंक के पास भेजनी होती है।

साधारणतया ऐसा प्रार्थना-पत्र तभी स्वीकार किया जायेगा जब उसके साथ रिजर्व बैंक की यह रिपोर्ट हो कि बैंक की सम्मति में यदि यह प्रार्थना-पत्र स्वीकार हो जाये तो बैंकिंग कम्पनी अपने ऋण चुकाने के योग्य हो जायेगी। किन्तु न्यायालय अपनी रीति से काम कर सकता है और यदि इसके पास पर्याप्त कारण है तो वह रिजर्व बैंक की रिपोर्ट के बिना भी अपनी धारा के अन्तर्गत उनको सहायता देना स्वीकार कर सकता है।

ऐसी सहायता दिये जाने के पश्चात् न्यायालय को रिजर्व बैंक से उस बैंकिंग कम्पनी के कारबार की रिपोर्ट माँगनी चाहिये तथा उसकी प्राप्ति पर या तो वह अपनी दी हुई आज्ञा को तोड़ सकता है अथवा अवस्थाओं के अनुसार अन्य आज्ञायें दे सकता है।

अनबैंकिंग सम्पत्ति का समापन—बैंकिंग कम्पनी को निजी प्रयोग के अतिरिक्त किसी भी अचल सम्पत्ति को ७ वर्ष से अधिक के लिये अपने नाम रखने का अधिकार नहीं है। यदि किसी कारण कोई अचल सम्पत्ति बैंक के अधिकार में न आ जाये तो इसे ७ वर्ष के भीतर बेच देना चाहिये। जमा करने वालों के हित में यदि आवश्यक है तो रिजर्व बैंक इस अवधि को ७ की अपेक्षा १२ वर्ष तक बढ़ा सकती है।

शाखाओं पर प्रतिबन्ध—रिजर्व बैंक की लिखित अनुमति प्राप्त किये बिना कोई बैंक नवीन शाखा स्थापित नहीं कर सकती और न शाखा को एक नगर से दूसरे नगर में ले जा सकती है। उसी नगर में स्थान परिवर्तन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इसी प्रकार कोई भी भारतीय बैंक रिजर्व बैंक की अनुमति प्राप्त किये बिना विदेश में न अपनी शाखा खोल सकती है और न व्यापार कर सकती है तथा उसी नगर के अतिरिक्त शाखा अथवा व्यापार का स्थान परिवर्तन भी नहीं कर सकती।

सामयिक विवरण—प्रत्येक बैंक के लिये यह अनिवार्य है कि प्रति मास के अन्तिम शुक्रवार को जो उसकी सम्पत्तियाँ तथा दायित्व हैं उनका निर्धारित विवरण रिजर्व बैंक के पास भेजे। रिजर्व बैंक को किसी भी अन्य विवरण एवं [illegible] का अधिकार है। विशेषकर उन ऋणों तथा विनियोगों का जो उद्योग, व्यवसाय एवं कृषि के लिये किये गये हैं। रिजर्व बैंक हर प्रकार की सूचनायें चाहे वे गोपनीय भी क्यों न हों, बैंक से माँगने की अधिकारी है।

बैंकों का निरीक्षण—रिजर्व बैंक स्वयं अथवा केन्द्रीय सरकार के आदेशानुसार किसी भी बैंक की पुस्तकों का निरीक्षण कर सकती है। बैंक के संचालकों का कर्त्तव्य है कि वे हर प्रकार की सूचना तथा विपत्र रिजर्व बैंक को भेजें। रिजर्व बैंक अपने निरीक्षण की एक प्रति सम्बन्धित बैंक को देने के लिये बाध्य है। यदि इस रिपोर्ट में बैंक के ऊपर कुछ आरोप लगाये गये हैं तो केन्द्रीय सरकार बैंकों को नवीन जमा प्राप्त न करने का आदेश दे सकती है अथवा रिजर्व बैंक को यह आदेश दे सकती है कि बैंक के निरीक्षण के लिये न्यायालय में प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करें। रिजर्व बैंक से रिपोर्ट पर विचार करने के लिए संचालकों की बैठक बुलाने का आदेश दे सकती है। अथवा यह भी आग्रह कर सकती है कि बैंक का कोई प्रमुख अधिकारी रिजर्व बैंक के प्रमुख अधिकारी से इस सम्बन्ध में वार्तालाप करे। संचालकों की मीटिंग पर दृष्टि रखने के लिए बैंक अपने किसी अधिकारी को भेज सकती है। रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार है कि वह बैंक से व्यवस्था में परिवर्तन करने को कहे।

रिजर्व बैंक बैंक को किसी विशेष लेन-देन न करने के लिये आग्रह कर सकती है तथा संकट काल में ऋण प्रदान करके उनकी सहायता कर सकती है। रिजर्व बैंक बैंकों को व्यवस्था में सुधार करने के संबन्ध में भी आदेश दे सकती है। यदि वे सुधार